घनश्यामदास बिड़ला

मेरे जीवन में गांधीजी

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

लेखक और गांधीजी

अपने जीतेजी महात्मा गांधी ने ऐसे आदमियों को गढ़ा, जो उनकी अनेक योजनाओं से सहमत न होते हुए भी उनसे स्फूर्ति पाते और अपने-अपने क्षेत्र में बहुमूल्य सेवाएं करते रहे। घनश्यामदासजी की गणना इन्हीं लोगों में थी। वह गांधीजी का मानस ठीक समझ पाते थे। वह उन इने-गिने व्यक्तियों में से थे, जो गांधीजी के लिए एक संतान के समान थे। गांधीजी की शिक्षा उनमें अंकुरित होकर फलित हुई। संबंध घनिष्ठ होने के साथ-साथ वह प्रभाव बढ़ता गया। दोनों का यह अंतरंग संबंध बत्तीस वर्ष तक बना रहा। मुझे उनका यह पारस्परिक संबंध वर्षों तक देखने का गौरव प्राप्त है, क्योंकि गांधीजी के जितना ही अंतरंग संबंध उनका मेरे साथ भी था।

गांधीजी की अनेक शिक्षाओं में [illegible]
कि लक्ष्मी के कृपा-पात्रों [illegible]
धारी और अपनी संपत्ति [illegible]
निमित्त एक धरोहर की [illegible]
बिड़लों ने यह शिक्षा भली [illegible]
के कोने-कोने में बिखरी [illegible]
मंदिर, धर्मशालाएं और [illegible]
पिलानी इनमें शीर्ष स्थान [illegible]
संबंध में भी यही बात थी [illegible]
मुक्तहस्त होकर निस्संको[illegible]
दिया।

इन पृष्ठों में यह भी [illegible]
प्रकार भांति-भांति के का[illegible]
गांधीजी बिड़लों से संबंध[illegible]

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

सस्ता

घनश्यामदास बिड़ला

गांधीजी के व्यक्तित्व तथा कृतित्व की एक झांकी
सजीव संस्मरणों और प्रेरक पत्रों में

१९७८

साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक : यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
दूसरी बार : १६७८
मूल्य : रु० १५.००
मुद्रक : रूपक प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली

प्रकाशकीय

श्री घनश्यामदास बिड़ला के नाम से हिन्दी जगत भली-भांति परिचित है। उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। अनेक विषयों पर उन्होंने लिखा है। भारत के बहुत-से विशिष्ट व्यक्तियों के निकट सम्पर्क में आने का उन्हें अवसर मिला है। उनमें से कुछेक के उन्होंने संस्मरण तथा रेखाचित्र अंकित किये हैं। साथ ही, ऐसे सामान्य व्यक्तियों के बारे में भी लिखा है, जिनकी विशेषताओं ने उनके मन पर अपनी छाप डाली थी।

लेखक ने निबन्ध भी लिखे हैं। उन निबन्धों में उन्होंने उन समस्याओं पर प्रकाश डाला है, जिनका संबंध प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के साथ आता है। अपने निबंधों में वह पाठकों को ऊपरी सतह पर ही घुमाकर सन्तुष्ट नहीं हुए, चिन्तन की गहराई में भी ले गये हैं।

फिर, देश-विदेश में यात्राएं भी वह खूब करते रहे हैं। उनकी अनेक यात्राओं का ऐतिहासिक मूल्य रहा है। इन प्रवासों में प्राप्त अनुभवों का लाभ उन्होंने पाठकों को दिया है।

लेखक का क्षेत्र मुख्यत: औद्योगिक तथा आर्थिक रहा है। अतः उन्होंने आर्थिक समस्याओं पर भी अधिकारपूर्वक कतिपय रचनाओं में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

वस्तुतः उनकी रचनाओं की, भले ही वे संस्मरण हों या निबंध या यात्रा-वृत्तान्त, अपनी एक विशेषता है। सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक बात कहने का प्रयत्न करते है और चूंकि उनके विचार स्पष्ट हैं, उनकी भाषा बहुत ही सरल और सुबोध है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि उनके भाव गहन, भाषा प्रांजल और शैली प्रवाहमयी है।

वैसे उन्होंने अधिक नहीं लिखा, लेकिन जो भी लिखा है, वह निस्संदेह पाठकों के लिए प्रेरणाप्रद सिद्ध हुआ है। उनके लेखन की लोकप्रियता का अनुमान इस बात से भी स्पष्ट लगाया जा सकता है कि उनकी कुछ कृतियों के कई-कई संस्करण हुए हैं।

उनका साहित्य बिखरा हुआ था। अत: पाठकों की सुविधा के लिए सोचा गया कि उसे दो खण्डों में प्रकाशित कर दिया जाय। फलत: उनके सम्पूर्ण साहित्य का वर्गीकरण करके उसे दो खण्डों में निकाला गया है।

पहले खण्ड 'मेरे जीवन में गांधीजी' में उनकी वे रचनाएं संग्रहीत की गई हैं, जो गांधीजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालती हैं। उनसे यह भी पता चलता है कि रचनात्मक प्रवृत्तियों तथा भारत की आजादी की लड़ाई के प्रति लेखक की कितनी उत्कंठा रही और उन्हें बल प्रदान करने के लिए उन्होंने कितना सहयोग दिया। पढ़ते समय स्वाधीनता के इतिहास के बहुत से पृष्ठ आंखों के सामने खुल जाते हैं।

भारतीय इतिहास के ज्ञाता जानते हैं कि गांधीजी के प्रति लेखक की गहरी आत्मीयता थी। उन्हें उनको निकट से देखने और समझने का भी मौका मिला था। इसलिए उन्होंने गांधीजी के बड़े ही सजीव चित्र खींचे हैं। कुछ चित्र तो इतने मार्मिक हैं कि पाठक उन्हें पढ़कर आनंद-विभोर हो उठते हैं।

गांधीजी के प्रति इतना अनुराग होते हुए भी उन्होंने उनकी हर बात को आंख मूंदकर स्वीकार नहीं किया। जो बात उनकी समझ में नहीं आई, उसके बारे में गांधीजी से खुलकर चर्चाएं कीं और कभी-कभी पत्रों द्वारा उनका स्पष्टीकरण भी कराया।

प्रस्तुत खण्ड में गांधीजी के महान् व्यक्तित्व और अपूर्व कृतित्व की मनोहारी झांकी हम देखते हैं। पुस्तक यह उपन्यास नहीं है, पर इसमें उपन्यास की रोचकता है। पुस्तक यह इतिहास नहीं है, पर इसमें इतिहास की दृष्टि और प्रामाणिकता है।

दूसरे खण्ड 'बिखरे विचारों की भरोटी' में उनकी शेष रचनाएं संग्रहीत की गई हैं।

हमें पूरा विश्वास है कि सभी वर्गों और क्षेत्रों के पाठक इन दोनों खण्डों को चाव से पढ़ेंगे और दूसरों को भी पढ़ने की प्रेरणा देंगे।

—मंत्री

अनुक्रम

□

मेरे जीवन में ... ४५३-४८०

लेखक गांधीजी के साथ

बापू

आदि वचन

यदि भगवद्‌गीता के बारे में लिखना आसान हो, तो गांधीजी के बारे में भी लिखना आसान हो सकता है, क्योंकि भगवद्‌गीता पर लिखा हुआ भाष्य न केवल गीता-भाष्य होगा, बल्कि भाष्यकार के जीवन का वह दर्पण भी होगा। जैसे 'गीता-रहस्य' लोकमान्य के जीवन का दर्पण है, वैसे ही 'अनासक्तियोग' गांधीजी के जीवन का दर्पण है। ठीक उसी तरह गांधीजी के जीवन की समीक्षा करने में लेखक अपने जीवन का चित्र भी उसी समीक्षा के दर्पण में खींच लेता है।

एक बात और। जैसे गीता सबके लिए एक खुली पुस्तक है, उसी तरह गांधीजी का जीवन भी एक खुली पुस्तक कहा जा सकता है। गीता को बड़े-बड़े विद्वान् तो पढ़ते ही हैं, हजारों श्रद्धालु लोग भी, जो प्रायः निरक्षर होते हैं, उसे प्रेम से पढ़ते हैं। गांधीजी के जीवन की—विशेषतः उनकी आत्मकथा की—भी यही बात है। जैसे गीता सबके काम की चीज है. वैसे ही गांधीजी भी सबके काम के हैं। गीता से बड़े विद्वान् अधिक लाभ उठाते हैं या निरक्षर, किन्तु श्रद्धालु भक्त अधिक उठाते हैं, यह विचारने योग्य प्रश्न है। यही बात गांधीजी के विषय में भी है। उनके जीवन को—उनके सिद्धान्तों को—समझने के लिए न तो विद्वत्ता की आवश्यकता है, न लेखन-शक्ति की। उसके लिए तो हृदय चाहिए। मुझे पता नहीं, श्री घनश्यामदासजी का नाम विद्वानों या लेखकों में गिना जाता है या नहीं, किन्तु धनिकों में तो गिना ही जाता है; परन्तु उन्होंने धन की माया से अलिप्त रहने और अपने हृदय को स्फटिक-स। निर्मल या बुद्धि एवं वाणी को सत्यपूत रखने का यथासाध्य प्रयत्न किया है, और उस हृदय, बुद्धि और वाणी से की गई यह समीक्षा, बिड़लाजी आज अच्छे विद्वान् या लेखक न माने जाते हों तो भी, समीक्षा की उत्तम पुस्तकों में स्थान पायेगी और हिन्दी के उत्कृष्ट लेखकों में उनकी गणना करायेगी।

यों तो श्री घनश्यामदासजी की लेखन-शक्ति का परिचय जितना मुझे है उतना हिन्दी-जगत् को शायद न होगा। मैं तो कई साल से उनके सम्पर्क में हूं, उनके

हिन्दी भाषा में लिखे हुए पत्र मुझे सीधी-सादी, नपी-तुली और सारगर्भित शैली के अनुपम नमूने मालूम हुए हैं और जब से मैं उस शैली पर मुग्ध हुआ हूं, तब से सोचता हूं कि बिड़लाजी कुछ लिखते क्यों नहीं ? मुझे बड़ा आनन्द होता है कि इस पुस्तक में उसी आकर्षक शैली का परिचय मिलता है, जिसका कि उनके पत्रों में मिलता था।

गांधीजी के सम्पर्क में आये बिड़लाजी को पच्चीस वर्ष हो गए हैं। इस पच्चीस साल के संबंध के बारे में वह लिखते हैं :

"जब से मुझे गांधीजी का प्रथम दर्शन हुआ, तब से मेरा उनका अविच्छिन्न संबंध जारी है। पहले कुछ साल मैं समालोचक होकर उनके पास जाता था, उनके छिद्र ढूंढ़ने की कोशिश करता था, क्योंकि नौजवानों के आराध्य लोकमान्य की ख्याति को इनकी ख्याति टक्कर लगाने लग गई थी, जो मुझे रुचिकर नहीं मालूम होता था; पर ज्यों-ज्यों छिद्र ढूंढ़ने के लिए मैं गहरा उतरा, त्यों-त्यों मुझे निराश होना पड़ा और कुछ अरसे में समालोचक की वृत्ति आदर में परिणत हो गई और फिर आदर ने भक्ति का रूप धारण कर लिया। बात यह है कि गांधीजी का स्वभाव ही ऐसा है कि कोई विरला ही उनके संसर्ग से बिना प्रभावित हुए छूटता है।" इतना मैं जानता हूं कि श्री घनश्यामदासजी बिड़ला तो नहीं छूटे। वह लिखते हैं, "गांधीजी से मेरा पच्चीस साल का संसर्ग रहा है। मैंने अत्यन्त निकट से, सूक्ष्मदर्शक-यंत्र की भांति, उनका अध्ययन किया है। समालोचक होकर छिद्रान्वेषण किया है। पर मैंने उन्हें कभी सोते नहीं पाया।" यह वचन गांधीजी के बारे में तो सत्य है ही, पर बिड़लाजी के बारे में काफी अंश में सत्य है, क्योंकि गांधीजी न सिर्फ खुद ही नहीं सोते हैं, बल्कि जो उनके प्रभाव में आते हैं उनको भी नहीं सोने देते।

यह पुस्तक इस जाग्रत अध्ययन, अनुभव और समालोचन का एक सुन्दर फल है। उन्होंने एक-एक छोटी-मोटी बात को लेकर गांधीजी के जीवन को देखने का प्रयत्न किया है। गांधीजी से पहले-पहल मिलने के बाद बिड़लाजी ने उनको एक पत्र लिखा। जवाब में एक पोस्टकार्ड आया, "जिसमें पैसे की किफायत तो थी ही, पर भाषा की भी काफी किफायत थी।" बात तो मामूली-सी है, परन्तु उसमें से गांधीजी के जीवन की एक कुंजी उन्हें मिल जाती है। "पता नहीं, कितने नौजवानों पर गांधीजी ने इस तरह छाप डाली होगी, कितनों को उलझन में डाला होगा, कितनों के लिए वह कुतूहल की सामग्री बने होंगे ! पर १९१५ में जिस तरह वह लोगों के लिए पहेली थे, वैसे ही आज भी हैं।" यह सही है, पर इस पुस्तक में हम देखते हैं कि उनके जीवन की कई पहेलियां घनश्यामदासजी ने अच्छी तरह सुलझाई हैं।

गीता इतना सीधा-सादा और लोकप्रिय ग्रंथ होने पर भी पहेलियों से भरा हुआ है। इसी तरह गांधीजी का जीवन भी पहेलियों से भरा पड़ा है। कुछ रोज पहले रामकृष्ण-मठ के एक स्वामीजी यहां आये थे। बड़े सज्जन थे, गांधीजी के

प्रति बड़ा आदर रखते थे और गांधीजी की ग्रामोद्योग-प्रवृत्ति अच्छी तरह समझने के लिए और कातने-बुनने की क्रिया सीखकर अपने समाज में उसका प्रचार करने के लिए वह यहां आये थे। एक रोज मुझसे वह पूछने लगे, "गांधीजी के जीवन की एकाग्रता देखकर मैं आश्चर्य-चकित होता हूं, और उनकी ईश्वर-श्रद्धा देखकर भी। क्या गांधीजी कभी भावावेश में आ जाते हैं ? क्या दिन में किसी समय वह ध्यानावस्थित होकर बैठते हैं ?" मैंने कहा, "नहीं।" उनके लिए यह बड़ी पहेली हो गई कि ऐसे कोई बाह्य चिह्न न होते हुए भी गांधीजी बड़े भक्त हैं और योगी हैं। गांधीजी के जीवन में ऐसी कई पहेलियां हैं। उनमें से अनेक पहेलियों को हल करने का सफल प्रयत्न इस पुस्तक में किया गया है।

एक उदाहरण लीजिए। अहिंसा से क्या सब वस्तुओं की रक्षा हो सकती है ? यह प्रश्न अक्सर उपस्थित किया जाता है। इस प्रश्न का कैसी सुन्दर भाषा में बिड़लाजी ने उत्तर दिया है :

"धन-सम्पत्ति-संग्रह, माल-जायदाद इत्यादि की रक्षा क्या अहिंसा से हो सकती है ? हो भी सकती है और नहीं भी। जो लोग निजी उपयोग के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, सम्भव नहीं कि वे अहिंसा-नीति के पात्र हों। अहिंसा यदि कायरता का दूसरा नाम नहीं, तो फिर सच्ची अहिंसा वह है जो अपने स्वार्थ के लिए संग्रह करना नहीं सिखाती। अहिंसक को लोभ कहां ? ऐसी हालत में अहिंसक को अपने लिए संग्रह करने की या रक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं होती। योग-क्षेम के झगड़े में शायद ही अहिंसा का पुजारी पड़े।

"'निर्योगक्षेम आत्मवान्'—गीता ने यह धर्म अर्जुन-जैसे गृहस्थ व्यक्ति का बताया है। यह तो संन्यासी का धर्म है—ऐसा गीता ने नहीं कहा। गीता संन्यास नहीं, कर्म सिखाती है, जो गृहस्थ का धर्म है। अहिंसावादी का भी शुद्ध धर्म उसे योग-क्षेम के झगड़े से दूर रहना सिखाता है। पर संग्रह करना और उसकी रक्षा करना 'स्व' और 'पर' दोनों के लाभ के लिए हो सकता है। जो 'स्व' के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, वे अहिंसा-धर्म की पात्रता सम्पादन नहीं कर सकते। जो 'पर' के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, वे गांधीजी के शब्दों में 'ट्रस्टी' हैं। वे अनासक्त होकर योग-क्षेम का अनुसरण कर सकते हैं। वे संग्रह रखते हुए भी अहिंसावादी हैं, क्योंकि उन्हें संग्रह में कोई राग नहीं। धर्म के लिए जो संग्रह है, वह धर्म के लिए अनायास छोड़ा भी जा सकता है और उसकी रक्षा का प्रश्न हो तो वह तो धर्म से ही की जा सकती है, पाप से नहीं। इसके विपरीत जो लोग संग्रह में आसक्त हैं, वे न तो अहिंसात्मक ही हो सकते हैं, न फिर अहिंसा से धन की रक्षा का प्रश्न ही उनके संबंध में उपयुक्त है। पर यह सम्भव है कि ऐसे लोग हों, जो पूर्णत: अहिंसात्मक हों, जो सब तरह से पात्र हों, और अपनी आत्म-शक्ति द्वारा, यदि उन्हें ऐसा करना धर्म लगे तो, किसी के संग्रह की भी वे रक्षा कर सकें।

"पर यह कभी न भूलना चाहिए कि अहिंसक और हिंसक मार्ग की कोई तुलना है ही नहीं। दोनों के लक्ष्य ही अलग-अलग हैं। जो काम हिंसा से सफलतापूर्वक हो सकता है—चाहे वह सफलता क्षणिक ही क्यों न हो—वह अहिंसा से हो ही नहीं सकता। मसलन हम अहिंसात्मक उपायों से साम्राज्य नहीं फैला सकते, किसी का देश नहीं लूट सकते। इटली ने अबीसीनिया में जो अपना साम्राज्य-स्थापन किया, वह तो हिंसात्मक उपायों द्वारा ही हो सकता था।

"इसके माने यह हैं कि अहिंसा से हम धर्म की रक्षा कर सकते हैं, पाप की नहीं, और संग्रह यदि पाप का दूसरा नाम है तो संग्रह की भी नहीं। अहिंसा में जिन्हें रुचि है, वे पाप की रक्षा करना ही क्यों चाहेंगे ? अहिंसा का यह मर्यादित क्षेत्र यदि हम हृदयंगम कर लें, तो इससे बहुत-सी शंकाओं का समाधान अपने-आप हो जायगा। बात यह है कि जिस चीज की हम रक्षा करना चाहते हैं, वह यदि धर्म है, तब तो अहिंसात्मक विधियों से विपक्षी का हम सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकते हैं और यदि यह पाप है, तो हमें स्वयं उसे त्याग देना चाहिए, और ऐसी हालत में प्रतिकार का प्रश्न ही नहीं रहता।

"यह निर्णय फिर भी हमारे लिए बाकी रह जाता है कि 'धर्म क्या है, अधर्म क्या है ?' पर धर्माधर्म के निर्णय में सत्य के अनुयायी को कहां कठिनता हुई है ?

जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ;
हौं बौरी ढूंढ़न गई, रही किनारे बैठ।

"असल बात तो यह है कि जब हम धर्म की नहीं, पाप की ही रक्षा करना चाहते हैं, और चूंकि अहिंसा से पाप की रक्षा नहीं हो सकती, तब अहिंसा के गुण-प्रभाव में हमें शंका होती है और अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित होते हैं।"

इसी तरह जितने प्रश्न बिड़लाजी ने उठाये हैं, उन सबकी चर्चा सूक्ष्म अवलोकन और चिंतन से भरी हुई है। उनके धर्म-चिंतन और धर्मग्रंथों के अध्ययन का तो मुझे तनिक भी खयाल नहीं था। इस पुस्तक से उसका पर्याप्त परिचय मिलता है। गीता के कुछ श्लोक जो कहीं-कहीं उन्होंने उद्धृत किये हैं, उनका रहस्य खोलने में उन्होंने कितनी मौलिकता दिखाई है !

बिड़लाजी की किफायती और चुभ जाने वाली शैली के तो हमको स्थान-स्थान पर प्रमाण मिलते हैं : "असल में तो शुद्ध मनुष्य स्वयं ही शस्त्र है और स्वयं ही उसका चालक है।" "गंदे कपड़े की गंदगी की यदि हम रक्षा करना चाहते हैं तो पानी और साबुन का क्या काम ? वहां तो कीचड़ की जरूरत है।" "आकाशवाणी अन्य चीजों की तरह पात्र ही सुन सकता है। सूर्य का प्रतिबिंब शीशे पर ही पड़ेगा, पत्थर पर नहीं।" "सरकार ने हमें शांति दी, रक्षा दी, परतंत्रता दी, नुमाइंदे भी वही नियुक्त क्यों न करे ?" "सूरज से पूछो कि आप सर्दी में दक्षिणायन और गर्मी में उत्तरायण क्यों हो जाते हैं, तो कोई यथार्थ उत्तर मिलेगा ? सर्दी-गर्मी

दक्षिणायन-उत्तरायण के कारण होती है, न कि दक्षिणायन-उत्तरायण सर्दी-गर्मी के कारण। गांधीजी की दलीलें भी वैसी ही हैं। वे निर्णय के कारण वनती हैं, न कि निर्णय उनके कारण वनता है।''

आखिरी तुलना कितनी मनोहर, कितनी मौलिक और कितनी अर्थपूर्ण है ! गांधीजी के जीवन के कई कार्यों पर इस दृष्टि से कितना प्रकाश पड़ता है।

गांधीजी की आत्मकथा तो हम सब पढ़ चुके हैं, परन्तु उसके कुछ भागों पर श्री घनश्यामदासजी ने जैसा भाष्य किया है वैसा हममें से शायद ही कोई करते हों। गांधीजी को मारने के लिए दक्षिण अफ्रीका में गोरे लोगों की भीड़ टूट पड़ती है। मुश्किल से गांधीजी उससे वचते हैं। बिड़लाजी को उस दृश्य का विचार करते ही दिल्ली के लक्ष्मीनारायण-मन्दिर के उद्घाटन के समय की भीड़ याद आ जाती है और दोनों दृश्यों का सुन्दर समन्वय करके अपनी वात का समर्थन करते हैं।

गांधीजी के उपवास, उनकी ईश्वर-श्रद्धा, उनके सत्याग्रह आदि कई प्रश्नों पर उनके जीवन के अनेक प्रसंग लेकर उसकी गहरी छानवीन करके, उन्होंने बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है।

उनकी समझ, उनकी दृष्टि, इतनी सच्ची है कि कहीं-कहीं उनका स्पष्टीकरण गांधीजी के स्पष्टीकरण की याद दिलाता है। यह पुस्तक तो लिखी गई थी कोई तीन महीने पहले, लेकिन उस समय उन्होंने अहिंसक सेनापति और अहिंसक सेना के वारे में जो-कुछ लिखा था वह मानो वैसा ही है, जैसा अभी कुछ दिन पहले गांधीजी ने 'हरिजन' में लिखा था :

''यह आशा नहीं की जाती कि समाज का हर मनुष्य पूर्ण अहिंसक होगा। पर जहां हिंसक फौज के बल पर शांति और साम्राज्य की नींव डाली जाती है, वहां भी यह आशा नहीं की जाती कि हर मनुष्य युद्ध-कला में निपुण होगा। करोड़ों की वस्ती वाले मुल्क की रक्षा के लिए कुछ थोड़े लाख मनुष्य काफी समझे जाते हैं। सौ में एक मनुष्य यदि सिपाही हो तो पर्याप्त माना जाता है। फिर उन सिपाहियों में से भी जो ऊपरी गणनायक होते हैं, उन्हीं की निपुणता पर सारा व्यवहार चलता है।

''आज इंग्लिस्तान में कितने निपुण गणनायक होंगे, जो फौज के संचालन में अत्यंत दक्ष माने जाते हैं ? शायद दस-वीस। पर वाकी जो लाखों की फौज है, उससे तो इतनी ही आशा की जाती है कि उसमें अपने अफसरों की आज्ञा पर मरने की शक्ति हो। इसी उदाहरण के आधार पर हम एक अहिंसक फौज की भी कल्पना कर सकते हैं। अहिंसात्मक फौज के जो गणनायक हों, उनमें पूर्ण आत्म-शुद्धि हो, जो अनुयायी हों, वे श्रद्धालु हों और चाहे उनमें इतना तीक्ष्ण विवेक न हो, पर उनमें सत्य-अहिंसा के लिए मरने की शक्ति हो। इतना यदि है तो काफी है।''

सारी पुस्तक विड़लाजी की तलस्पर्शी परीक्षण-शक्ति का सुन्दर नमूना है। केवल एक स्थान पर मुझे ऐसा लगा कि वह जितनी दूर जाना चाहिए, उतनी दूर नहीं गए। अहिंसा की समीक्षा करते हुए उन्होंने एक अबाध सत्य प्रतिपादित किया है—अनासक्त होकर, अरागद्वेष होकर जनहित के लिए की गई हिंसा अहिंसा है। यह अवाध सत्य तो गीता में है ही, पर उस पर से विड़लाजी ने जो अनुमान निकाला है, उसे शायद ही गांधीजी स्वीकारेंगे। बिड़लाजी कहते हैं—"गांधीजी स्वयं जीवन-मुक्त दशा में, चाहे वह दशा क्षणिक—जब निर्णय किया जा रहा हो उस घड़ी के लिए—ही क्यों न हो, अहिंसात्मक हिंसा भी कर सकें, जैसे कि बछड़े की हिंसा, पर साधारण मनुष्य के लिए तो वह कर्म कौए के लिए हंस की नकल होगी।" इस पर मैं दो बातें कहना चाहता हूं। बछड़े की हिंसा जीवन-मुक्त दशा में की गई हिंसा का उदाहरण है ही नहीं। थोड़े दिन पहले से सेवाग्राम में एक पागल सियार आ गया था। उसे मारने की गांधीजी ने आज्ञा दे दी थी, और वे मारने वाले कोई अनासक्त जीवन-मुक्त नहीं थे। वह आवश्यक और अनिवार्य हिंसा थी, जितनी कि कृषि-कार्य में कीटादि की हिंसा आवश्यक और अनिवार्य हो जाती है। हिंसा के भी कई प्रकार हैं। बछड़े की हिंसा का दूसरा प्रकार है। घुड़दौड़ में जिस घोड़े का पैर टूट जाता है या ऐसी चोट लगती है कि जिसका इलाज ही नहीं है, और पशु के लिए जीना एक यंत्रणा हो जाता है, उसे अंग्रेज लोग मार डालते हैं। वे प्रेम से, अद्वेष से मारते हैं, पर वे मारने वाले कोई अनासक्त या जीवन-मुक्त नहीं होते। जिस हिंसा को गीता ने विहित कहा है, वह हिंसा अलौकिक पुरुष ही कर सकता है—राम, कृष्ण कर सकते हैं; परन्तु राम और कृष्ण, गांधी-जी के अभिप्राय में, वहां ईश्वरवाचक हैं। गांधीजी अपने को जीवन-मुक्त नहीं मानते और न वह और किसीको भी संपूर्ण जीवन-मुक्त मानने के लिए तैयार हैं। संपूर्ण जीवन-मुक्त ईश्वर ही है और यह गांधीजी की दृढ़ मान्यता है कि 'हत्वाऽपि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते'—वचन भी ईश्वर के लिए ही है। इसलिए वह कहते हैं—मनुष्य चाहे जितना बड़ा क्यों न हो, चाहे जितना शुद्ध क्यों न हो, ईश्वर का पद नहीं ले सकता और न व्यापक जनहित के लिए भी उसे हिंसा करने का अधिकार है। इस निर्णय में से सत्याग्रह और उपवास की उत्पत्ति हुई।

इस एक स्थान को छोड़कर बाकी पुस्तक में मुझे कहीं कुछ भी नहीं खटका, बल्कि सारा विवेचन इतना तलस्पर्शी और सारा दर्शन इतना दोष-मुक्त मालूम हुआ है कि मैं पुस्तक को प्रूफ के रूप में ही दो बार पढ़ गया तथा और भी कई बार पढ़ूं तो भी मुझे थकान नहीं आयेगी। मुझे आशा है कि और पाठकों की भी यही दशा होगी और, जैसा कि मुझे मालूम हुआ है, औरों को भी इस पुस्तक का पठन शांतिप्रद और चेतनाप्रद मालूम होगा।

सेवाग्राम, ८-६-४० —महादेव देसाई

बापू

एक

गांधीजी का जन्म अक्तूबर सन् १८६९ ईस्वी में हुआ। इस हिसाब से वह इकहत्तर वर्ष समाप्त कर चुके। अनन्तकाल के अपरिमित गर्भ में क्या इकहत्तर और क्या इकहत्तर सौ! अथाह सागर के जल में विद्यमान एक बूंद की गणना भले ही हो सके, पर अनन्तकाल के उदर में बसे हुए इकहत्तर साल की क्या बिसात ? फिर भी यह सही है कि भारत के इस युग के इतिहास में इन इकहत्तर वर्षों का अपना महत्त्व है।

भारतवर्ष में इस समय एक नई तरह की मानसिक हलचल का दौरदौरा है, जागृति है, एक नये अनुभव में से हम पार हो रहे हैं। धार्मिक विप्लव यहां अनेक हुए हैं, पर राजनीति का जामा पहनकर धर्म किस तरह अपनी सत्ता जमाता है, यह इस देश के लिए एक नया ही अनुभव है। इसका अन्त क्या होगा, यह तो भविष्य ही बतायेगा।

पर जबकि सारा संसार अस्त्र-शस्त्रों के मारक गर्जन से त्रस्त है और विज्ञान नित्य ऐसे नये-नये ध्वंसक आविष्कार करने में व्यस्त है, जो छिन में एक पल पहले की हरी-भरी फुलवाड़ी को फूंककर श्मशान बना दें, जबकि स्वदेश और स्वदेश-भक्ति के नाम पर खून की नदियां बहाना गौरव की बात समझी जाती हो, जबकि सत्यानाशी कार्यों द्वारा मानव-धर्म की सिंहासन-स्थापना का सुख-स्वप्न देखा जाता हो, ऐसे अन्धकार में गांधीजी का प्रवेश आशा की एक शीतल किरण की तरह है, जो, यदि भगवान् चाहें तो, एक प्रचण्ड जीवक तेज में परिणत होकर संसार में फिर शांति स्थापित कर सकती है।

पर शायद मैं आशा के बहाव में बहा जा रहा हूं। तो भी इतना तो शुद्ध सत्य है ही कि गांधीजी के आविर्भाव ने इस देश में एक आशा, एक उत्साह, एक उमंग और जीवन में एक नया ढंग पैदा कर दिया है, जो हजारों साल के प्रमाद के बाद एक बिलकुल नई चीज है।

किसी एक महापुरुष की दूसरे से तुलना करना एक कष्टसाध्य प्रयास है। फिर गांधी हर युग में पैदा भी कहां होते हैं? हमारे पास प्राचीन इतिहास—जिसे दरअसल तवारीख कहा जा सके—भी तो नहीं है कि हम गणना करें कि कितने हजार वर्षों में कितने गांधी पैदा हुए। राम-कृष्ण चाहे देहधारी जीव रहे हों, पर कवि ने मनुष्य-जीवन की परिधि से बाहर निकालकर उन्हें एक अलौकिक रूप दे दिया है। कवि तो कवि ही ठहरा, इसलिए उसका दिया हुआ अलौकिक स्वरूप भी अपूर्ण है। ऐसे स्वरूप के विवरण के लिए तो कवि अलौकिक, लेखनी अलौकिक और भाषा भी अलौकिक ही चाहिए। पर तो भी कवि की कृति के कारण राम-कृष्ण को मानवी मापदण्ड से मापना दुष्कर हो गया है।

इसके विपरीत, कवि पुष्कल प्रयत्न करने पर भी बुद्ध की ऐतिहासिकता और उसका मानवी जीवन न मिटा सका। इसलिए संसार के ऐतिहासिक महापुरुषों में बुद्ध ने एक अत्यन्त ऊंचा स्थान पाया। पर कलियुग में एक ही बुद्ध हुआ है और एक ही गांधी। बुद्ध ने अपने जीवन-काल में एक दीपक जलाया, जिसने उनकी मृत्यु के बाद अपने प्रचण्ड तेज से एशिया-भर में प्रकाश फैला दिया। गांधीजी ने अपने जीवन-काल में उससे कहीं अधिक प्रखर अग्निशिखा प्रदीप्त की, जो शायद समय पाकर संसार-भर को प्रज्ज्वलित कर दे।

अपने जीवनकाल में गांधीजी ने जितना यश कमाया, जितनी ख्याति प्राप्त की और वह जितने लोकवल्लभ हुए, उतना शायद ही कोई ऐतिहासिक पुरुष हुआ हो। ऐसे पुरुष के विषय में कोई कहां तक लिखे? इकहत्तर साल की क्रमबद्ध जीवनी शायद ही कभी सफलता के साथ लिखी जा सके, और फिर गांधीजी को पूरा जानता भी कौन है?

'सम्यग् जानाति वै कृष्णः किंचित् पार्थो धनुर्धरः'

जैसे गीता के बारे में कहा गया है, वैसे गांधीजी के बारे में यह कहा जा सकता है कि उन्हें भली प्रकार तो स्वयं वही जानते हैं, बाकी कुछ-कुछ महादेव देसाई भी।

दो

मैंने गांधीजी को पहले-पहल देखा तव या तो उन्नीससौ चौदह का अन्त था या पन्द्रह का प्रारम्भ। जाड़े का मौसम था। लन्दन से गांधीजी स्वदेश लौट आये थे और कलकत्ते आने की उनकी तैयारी थी। जब यह खबर सुनी कि कर्मवीर गांधी कलकत्ते आ रहे हैं, तो सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के दिल में एक तरह का चाव-सा उमड़ पड़ा। उन दिनों का सार्वजनिक जीवन कुछ दूसरा ही था। अखबारों में लेख लिखना, व्याख्यान देना, नेताओं का स्वागत करना और स्वयं भी स्वागत की लालसा का व्यूह रचना—सार्वजनिक जीवन करीव-करीव यहीं तक सीमित था।

मैंने उन दिनों जवानी में पांव रखा ही था, वीसी बस खत्म हुई ही थी। पांच सवारों में अपना नाम लिखाने की चाह लिये मैं भी फिरता था। मेलों में वालंटियर बनकर भीड़ में लोगों की रक्षा करना, बाढ़-पीड़ित या अकाल-पीड़ित लोगों की सेवा के लिए सहायता-केन्द्र खोलना, चन्दा मांगना और देना, नेताओं का स्वागत करना, उनके व्याख्यानों में उपस्थित होना, यह उन दिनों के सार्वजनिक जीवन में रस लेनेवाले नौजवानों के कर्त्तव्य की चौहद्दी थी। उनकी शिक्षा-दीक्षा इस चौहद्दी के भीतर शुरू होती थी। मेरी भी यही चौहद्दी थी, जिसके भीतर रस और उत्साह के साथ मैं चक्कर काटा करता था।

नेतागण इस चौहद्दी के बाहर थे। उनके लिए कोई नियम, नियन्त्रण या विधान नहीं था। जोशीले व्याख्यान देना, चन्दा मांगना, यह उनका काम था। स्वागत पाना, यह उनका अधिकार था। इसके माने यह नहीं कि नेता लोग अकर्मण्य थे, या कर्त्तव्य में उनका मोह था। वात यह थी कि उनके पास इसके सिवा कोई कार्यक्रम ही नहीं था, न कोई कल्पना थी। जनता भी उनसे इससे अधिक की आशा नहीं रखती थी। नेता थे भी थोड़े-से, इसलिए उनका बाजार गरम था। अनुयायी भक्ति-भाव से पूजन-अर्चन करते, जिसे नेता लोग विना संकोच के ग्रहण करते थे।

उस समय के लीडरों की नुक्ताचीनी करते हुए अकबर साहब ने लिखा :

क़ौम के ग़म में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ,
रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ।

अवश्य ही अकबर साहब ने घोड़े और गधे को एक ही चाबुक से हांकने की कोशिश की, मगर इसमें सरासर अत्युक्ति थी, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। यदि कुछ लीडरों के साथ उन्होंने अन्याय किया, तो बहुतों के बारे में उन्होंने यथार्थ की बात भी कह दी।

गांधीवाद के आविर्भाव के बाद तो मापदण्ड कुछ न्यारा ही बन गया। नेताओं को लोग दूरबीन और खुर्दबीन से देखने लग गये। एक ओर चरित्र की पूछताछ बढ़ गई, तो दूसरी ओर उसके साथ-साथ पाखण्ड भी बढ़ा। स्वार्थ में वृद्धि हुई, पर त्याग भी बढ़ा। शांत सरोवर में गांधीवाद की मथनी ने पानी को बिलो डाला। उसमें से अमृत भी निकला और विष भी। उसमें से देवासुर-संग्राम भी निकला। गांधीजी ने न मालूम कितनी बार विष की कड़वी घूंटें पीं और शिव की तरह नीलकंठ बने। संग्राम तो अभी जारी ही है और सुरों की विजय अन्त में अवश्यं-भावी है, यह आशा लिये लोग बैठे हैं। पर जिस समय की मैं बातें कर रहा हूं, उस समय यह सब-कुछ न था। सरोवर का पानी शांत था। ऊषा की लालिमा शांतभाव से गगन में विद्यमान थी; पर सूर्योदय अभी नहीं हुआ था। पुनर्जन्म की तैयारी थी; पर या तो नये जन्म से पहले की मृत्यु का सन्नाटा था, या प्रसव-वेदना के बाद की सुषुप्ति-जनित शांति। न नेताओं को पाखण्ड में आत्मग्लानि थी, न अनुयायी ही इस चीज को वैसी बुरी नजर से देखते थे।

ऐसे समय में गांधीजी अफ्रीका से लन्दन होते हुए स्वदेश लौटे और सारे हिन्दुस्तान का दौरा किया। कलकत्ते में भी उसी सिलसिले में उनके आगमन की तैयारी थी।

मुझे याद आता है कि गांधीजी के प्रथम दर्शन ने मुझमें काफी कुतूहल पैदा किया। एक सादा सफेद अंगरखा, धोती, सिर पर काठियावाड़ी फेंटा, नंगे पांव, यह उनकी वेशभूषा थी। हम लोगों ने बड़ी तैयारी से उनका स्वागत किया। उनकी गाड़ी को हाथ से खींचकर उनका जुलूस निकाला; पर स्वागतों में भी उनका ढंग निराला ही था। मैं उनकी गाड़ी के पीछे साईस की जगह खड़ा होकर "कर्मवीर गांधी की जय !" गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहा था। गांधीजी के साथी ने, जो उनकी बगल में बैठा था, मुझसे कहा, " 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य बरान्निबोधत' ऐसा पुकारो। गांधीजी इससे प्रसन्न होंगे।" मैंने भी अपना राग बदल दिया।

पर मालूम होता था, गांधीजी को इन सब चीजों में कोई रस नहीं था। उनके व्याख्यान में भी एक तरह की नीरसता थी। न जोश था, न कोई अस्वाभाविकता थी, न उपदेश देने की व्यास-वृत्ति थी। आवाज़ में न चढ़ाव था, न उतार। बस एक तार था, एक तर्ज थी। पर इस नीरसता के नीचे दबी हुई एक चमक थी, जो श्रोताओं पर छाप डाल रही थी।

मुझे याद आता है कि कलकत्ते में उन्होंने जितने व्याख्यान दिये—शायद कुल पांच व्याख्यान दिये होंगे—वे प्रायः सभी हिन्दी भाषा में दिये। सभी व्याख्यानों में उन्होंने गोखले की जी-भरकर प्रशंसा की। उन्हें अपना राजनैतिक गुरु बताया और यह भी कहा कि श्री गोखले की आज्ञा है कि मैं एक साल देश में भ्रमण करूं,

अनुभव प्राप्त करूं। इसलिए जबतक मुझे सम्यक् अनुभव नहीं हो जाता, तबतक मैं किसी विषय पर अपनी पक्की राय कायम करना नहीं चाहता। नौजवानों को गोखले का ढंग नापसन्द था, क्योंकि वह होश की, न कि जोश की, बातें किया करते थे, जो उस समय के नौजवानों की शिक्षा-दीक्षा से कम मेल खाती थीं। लोकमान्य लोगों के आराध्य थे। इसलिए हम सभी नौजवानों को गांधीजी का बार-बार गोखले को अपना राजनैतिक गुरु बताना खटका।

पर तो भी गांधीजी के उठने-बैठने का ढंग, उनका सादा भोजन, सादा रहन-सहन, विनम्रता, कम बोलना, इन सब चीजों ने हम लोगों को एक मोहनी में डाल दिया। नये नेता की हम लोग कुछ थाह न लगा सके।

मैंने उन दिनों गांधीजी से पूछा कि क्या किसी सार्वजनिक मसले पर आपसे खतो-किताबत हो सकती है? उन्होंने कहा, "हां।" मुझे यह विश्वास नहीं हुआ कि किसी पत्र का उत्तर एक नेता इतनी जल्दी दे सकता है। वह भी मेरे-जैसे एक अनजान साधारण नौजवान को। पर इसकी परीक्षा मैंने थोड़े ही दिनों बाद कर ली। उत्तर में तुरन्त एक पोस्टकार्ड आया, जिसमें पैसे की किफायत तो थी ही, भाषा की भी काफी किफायत थी।

पता नहीं, कितने नौजवानोंपर गांधीजी ने इस तरह छाप डाली होगी, कितनों को उलझन में डाला होगा, कितनों के लिए वह कुतूहल की सामग्री बने होंगे! पर १९१५ में जिस तरह वह लोगों के लिए पहेली थे, वैसे ही आज भी हैं।

तीन

१९३२ के सत्याग्रह की समाप्ति के बाद लार्ड विलिंग्डन पर, एक मर्तबा, शायद १९३४ की बात है, मैंने जोर डाला कि आप इस तरह गांधीजी से दूर न भागें, उनसे मिलें, उनको समझने की कोशिश करें, इसीमें भारत और इंग्लिस्तान दोनों का कल्याण है। पर वाइसराय पर इसका कोई असर न हुआ। उन्हें भय था कि गांधीजी उन्हें कहीं फांस न लें। वह मानते थे कि गांधीजी का विश्वास नहीं किया जा सकता। मुझे मालूम है कि भारत-सचिव ने भी वाइसराय पर गांधीजी से मेल-जोल करने के लिए जोर डाला था, पर सारी क्रिया निष्फल गई। जिस मेल-मिलाप का अमल-दरामद अरविन के जाने के बाद टूटा, वह लिनलिथगो के आने तक न सध सका।

जिन गांधीजी पर मेरी समझ में निर्भय होकर विश्वास किया जा सकता है,

उनके प्रति वाइसराय विलिंग्डन का विश्वास न था ! वाइसराय ने कहा, "वह इतने चतुर हैं, बोलने में इतने मीठे हैं, उनके शब्द इतने द्विअर्थी होते हैं, कि जवतक मैं उनके वाक्पाश में पूरा फंस न चुकूंगा, तबतक मुझे पता भी न लगेगा कि मैं फंस गया हूं। इसलिए मेरे लिए निर्भय मार्ग तो यही है कि मैं उनसे न मिलूं, उनसे दूर ही रहूं।" मेरे लिए यह अचम्भे की बात थी कि गांधीजी के बारे में किसी के ऐसे विचार भी हो सकते हैं। पर पीछे मालूम हुआ कि ऐसी श्रेणी में वाइसराय अकेले ही न थे, और भी कई लोगों को ऐसी शंका रही है।

अमरीका के एक प्रतिष्ठित ग्रंथकार श्री गुन्थर ने गांधीजी के बारे में लिखा है :

"महात्मा गांधी में ईसामसीह, चाणक्य और बापू का अद्भुत सम्मिश्रण है। बुद्ध के बाद वह सबसे महान् व्यक्ति हैं। उनसे अधिक पेचदार पुरुष की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह एक ऐसे व्यक्ति हैं, जो किसी तरह पकड़ में नहीं आ सकते। यह मैं कुछ अनादर-भाव से नहीं कह रहा हूं। एक ही साथ महात्मा, राजनीतिज्ञ, अवतार और प्रतापी अवसरवादी होना, यह मानवी नियमों का अपवाद या अवज्ञा है। जरा उनकी असंगतियों का तो ख़याल कीजिये। एक तरफ तो गांधीजी का अहिंसा और असहयोग में दृढ़ विश्वास, और दूसरी ओर इंग्लिस्तान को युद्ध में सहायता देना ! उन्होंने नैतिक दृष्टि से कैदखाने में उपवास किये, पर वे उपवास ही उनकी जेलमुक्ति के साधन भी बने, यद्यपि उनको इस परिणाम से कोई गरज नहीं थी। जबतक आप यह न समझ लें कि वह सिद्धांत से कभी नहीं हटते, चाहे छोटी-मोटी विगतों पर कुछ इधर-उधर हो जायं, तबतक उनकी असंगतियां बेतरह अखरती हैं। इंग्लिस्तान से असहयोग करते हुए भी आज गांधीजी से बढ़कर इंग्लिस्तान का कोई मित्र नहीं है। आधुनिक विज्ञान से उन्हें सूग-सी है, पर वह थर्मामीटर का उपयोग करते हैं और चश्मा लगाते हैं। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य चाहते हैं, पर उनका लड़का थोड़े दिनों के लिए धर्म-परिवर्तन करके मुसलमान बन गया था, इससे उन्हें चोट लगी। कांग्रेस के वह प्राण हैं, उसके मेरुदण्ड हैं, उसकी आंखें हैं, उसके पांव हैं, पर कांग्रेस के वह चार आनेवाले मेम्बर भी नहीं। हर चीज को वह धार्मिक दृष्टि से देखते हैं। पर उनका धर्म क्या है, इसका विवरण कठिन है। इससे ज्यादा गोरखधंधा और क्या हो सकता है ? फिर भी सत्य यही है कि गांधीजी एक महान् व्यक्ति हैं, जिनका जीवन शुद्ध शौर्य की प्रतिमा है।

"इसमें कोई शक नहीं कि गांधीजी परस्पर-विरुद्ध-धर्मी गुणों के एक खासे सम्मिश्रण हैं। वह 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' हैं। अत्यन्त सरल, फिर भी अत्यन्त दृढ़; अतिशय कंजूस, पर अतिशय उदार। उनके विश्वास की कोई सीमा नहीं; पर मैंने उन्हें मौके-बेमौके अविश्वास भी करते पाया है। गांधीजी

एक कुरूप व्यक्ति हैं, जिनके शरीर, आंखों और हरेक अवयव से दैवी सौन्दर्य और तेज की आभा टपकती है। उनकी खिलखिलाहट ने न मालूम कितने लोगों को मोहित कर दिया। उनके बोलने का तरीका बोदा होता है, पर उसमें कोई मोहिनी होती है, जिसे पी-पीकर हजारों प्रमत्त हो गए।

"गांधीजी को शब्दांकित करना दुष्कर प्रयास है। कोई पूछे कि कौन-सी चीज है, जिसने गांधीजी को महात्मा बनाया, तो उसका विस्तारपूर्वक वर्णन करने पर भी शायद सफलता न मिले। बात यह है कि गांधीजी, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, इतने परस्पर-विरुद्ध और समान सम्मिश्रणों के पुतले हैं कि पूरा विश्लेषण करना एक कठिन प्रयत्न है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये सब चीजें हैं, जिनकी सारी शक्ति ने गांधीजी को बड़ा बनाया। गांधीजी को आदमी उनसे सम्वन्धित साहित्य को पढ़कर तो जान ही नहीं सकता, पास में रहकर भी सम्यक् नहीं जान सकता।

"गांधीजी का जीवन एक बृहत् दैवी जुलूस है, जिसने उनके होश सम्हालते ही गति पाई, जो अव भी द्रुतगति से चलता ही जा रहा है और मृत्यु तक लगातार चलता ही रहेगा। इस जुलूस में न मालूम कितने दृश्य हैं, न मालूम कितने अंग हैं। पर इन सब दृश्यों का, इन सब अंगों का, एक ही ध्येय है और एक ही दिशा में वह जुलूस लगन के साथ चला जा रहा है। हर पल उस जुलूस को अपने ध्येय का ज्ञान है, हर पल उग्र प्रयत्न जारी है और हर पल वह अपने ध्येय के निकट पहुंच रहा है।"

किसी ने गांधीजी को केवल 'वापू' के रूप में ही देखा है, किसी ने 'महात्मा' के रूप में, किसी ने एक राजनैतिक नेता के रूप में और किसी ने एक बाग़ी के रूप में।

गांधीजी ने सत्य की साधना की है। अहिंसा का आचरण किया है। ब्रह्मचर्य का पालन किया है। भगवान् की भक्ति की है। हरिजनों का हित साधा है। दरिद्रनारायण की पूजा की है। स्वराज्य के लिए युद्ध किया है। खादी-आन्दोलन को अपनाया है। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए अथक प्रयत्न किया है। प्राकृतिक चिकित्सा के प्रयोग किये हैं। गोवंश के उद्धार की योजना की है। भोजन के सम्बन्ध में स्वास्थ्य और अध्यात्म की दृष्टि से अन्वेषण किये हैं। ये सब चीजें गांधीजी का अंग बन गई हैं। इन सारी चीजों का एकीकरण जिसमें समाप्त होता है, वह गांधी है।

"मेरा जीवन क्या है?—यह तो सत्य की एक प्रयोगशाला है। मेरे सारे जीवन में केवल एक ही प्रयत्न रहा है—वह है मोक्ष की प्राप्ति, ईश्वर का साक्षात् दर्शन। मैं चाहे सोता हूं या जागता हूं; उठता हूं या बैठता हूं; खाता हूं या पीता हूं, मेरे सामने एक ही ध्येय है। उसीको लेकर मैं जिन्दा हूं। मेरे व्याख्यान

या लेख और मेरी सारी राजनैतिक हलचल, सभी उसी ध्येय को लक्ष्य में रखकर गति-विधि पाते हैं। मेरा यह दावा नहीं है कि मैं भूल नहीं करता। मैं यह नहीं कहता कि मैंने जो किया वही निर्दोष है। पर मैं एक दावा अवश्य करता हूं कि मैंने जिस समय जो ठीक माना, उस समय वही किया। जिस समय जो 'धर्म' लगा, उससे मैं कभी विचलित नहीं हुआ। मेरा पूर्ण विश्वास है कि सेवा ही धर्म और सेवा में ही ईश्वर का साक्षात्कार है।"

गांधीजी का जीवन क्या है, इसपर उनकी उपर्युक्त उक्ति काफी प्रकाश डालती है। ये बड़े बोल हैं, जो एक प्रकाश-पुंज से प्लावित व्यक्ति ही अपने मुंह से निकाल सकता है, पर—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

ये क्या कम बड़े बोल थे?

चार

मैंने एक बार कौतुकवश गांधीजी से प्रश्न किया कि आप अपने कौन-से कार्य के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि 'बस, यह मेरा काम मेरे सारे कामोंका शिखर है?'

गांधीजी इसका उत्तर तुरन्त नहीं दे सके। उन्हें एक पल—बस एक ही पल—ठहरना पड़ा, क्योंकि वह सहसा कोई उत्तर नहीं दे सकते थे। समुद्र से पूछो कि कौन-सा ऐसा विशेष जल है, जिसने आपको सागर बनाया, तो समुद्र क्या उत्तर देगा? गांधीजी ने कहा, "सबसे बड़ा काम कहो तो खादी और हरिजन-कार्य।" मुझे यह उत्तर कुछ पसन्द नहीं आया, इसलिए मैंने अपना सुझाव पेश किया, "और अहिंसा?—क्या आपकी सबसे बड़ी देन अहिंसा नहीं है?" "हां, है तो, पर यह तो मेरे हर काम में ओत-प्रोत है। पर यदि समष्टि अहिंसा से व्यष्टि कार्य का भेद करो, तो कहूंगा—खादी और हरिजन-कार्य, ये मेरे श्रेष्ठतम कार्य हैं। अहिंसा तो मानो मेरी माला के मनकों में धागा है, जो मेरे सारे कामों में ओत-प्रोत है।"

हरिजन-कार्य अत्यन्त महान् हुआ है, इसमें कोई शक नहीं। इनको यह चटक कब लगी, यह कोई नहीं बता सकता। पर जब यह बारह साल के थे, तभी इस विषय में इनका हृदय-मंथन शुरू हो गया था। इनके मेहतर का नाम ऊका था। वह पाखाना साफ करने आया करता था। इनकी मां ने इनसे कहा, "इसे मत

छूना।" पर गांधीजी को इस अछूतपन में कोई सार नहीं लगा। अछूतपन अधर्म है, ऐसा इनका विश्वास बढ़ने लगा था। उस समय के इनके बचपन के ख़यालात से ही पता लग जाता है कि इन्हें अछूतपन हिन्दू-धर्म में एक असह्य कलंक लगता था। जब इन्हें हिन्दू-धर्म में पूर्ण श्रद्धा नहीं थी, तब भी अछूतपन के कारण इन्हें काफी वेदना होती थी। यही संस्कार थे कि जिनके कारण आज से चालीस वर्ष पहले जब राजकोट में प्लेग चला और इन्होंने जन-सेवा का कार्यभार अपने ऊपर लिया, तब अछूतों की बस्ती का तुरन्त निरीक्षण किया। उस जमाने में इनके साथियों के लिए इनका यह कार्य अनोखा था, पर हरिजन-सेवा के बीज उस समय तक अंकुरित हो चुके थे, जो फिर समय पाकर पनपते ही गए और उस सेवा-वृक्ष की प्रचण्डता तो हरिजन-उपवास के समय ही प्रत्यक्ष हुई। हरिजन-उपवास तो क्या था, हिन्दू-समाज को छिन्न-भिन्न होने से बचाने का एक जबरदस्त प्रयत्न था, और उसमें गांधीजी को पूर्ण सफलता मिली।

एक भीषण षड्यन्त्र था कि पांच करोड़ हरिजनों को हिन्दू-समाज से पृथक् कर दिया जाय। इस षड्यन्त्र में बड़े-बड़े लोग शरीक थे, इसका पता कुछ ही लोगों को था। गांधीजी इससे परिचित थे। उन्होंने द्वितीय गोलमेज-परिषद् में ही अपने व्याख्यान में कह दिया था कि हरिजनों की रक्षा के लिए वह अपनी जान लड़ा देंगे। इस मर्मस्पर्शी चुनौती का उस समय किसी ने इतना गम्भीर अर्थ नहीं निकाला। पर गांधीजी ने तो अपना निर्णय उसी समय गढ़ डाला था। इसलिए प्रधान मन्त्री ने जब अपना हरिजन-निर्णय प्रकट किया, तब गांधीजी ने हरिजन-रक्षा के लिए सचमुच ही अपनी जान लड़ा दी। इस प्रकार गांधीजी ने आमरण उपवास करके हिन्दू-समाज और हरिजन, दोनों को उबार लिया। अहिंसात्मक शस्त्र का यह प्रयोग बड़ी सफलता के साथ कारगर हुआ। इसमें उनकी कोई राजनैतिक चाल नहीं थी, हालांकि इसका राजनैतिक फल भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं था। पर उनकी मंशा तो केवल धार्मिक थी।

"हरिजनों को हमने बहुत सताया है। हम अपने पापों का प्रायश्चित्त करके ही उनसे उऋण हो सकते हैं"—इस मनोवृत्ति में धर्म और अर्थ दोनों आ जाते हैं। पर धर्म मुख्य था, अर्थ गौण। इसका असर व्यापक हुआ। हिन्दू-समाज के टुकड़े होते-होते बच गए। षड्यन्त्र बेकार हुआ। जिन्हें इस षड्यन्त्र का पता नहीं, उनके लिए हरिजन-कार्य की गुरुता का अनुमान लगाना मुश्किल है। खादी को भी गांधीजी ने वही स्थान दिया, जो हरिजन-कार्य को। इसको समझना आज जरा कठिन है, पर शायद फिर कभी यह भी स्पष्ट हो जाय।

"और अहिंसा ?—क्या आपकी सबसे बड़ी देन अहिंसा नहीं है ?" "हां, है; पर यह तो मेरे काम में ओत-प्रोत है। अहिंसा तो मानो मेरी माला के मनकों में धागा है।" यह प्रश्नोत्तर क्या है, गांधीजी की जीवनी का सूत्र-रूप में वर्णन

है। सत्य कहो या अहिंसा, गांधीजी के लिए ये दोनों शब्द करीब-करीब पर्यायवाची हैं। इसी तरह सत्य और ईश्वर भी उनके पर्यायवाची शब्द हैं। पहले वह कहते थे कि ईश्वर सत्य है, अब कहते हैं कि सत्य ही ईश्वर है। अहिंसा यदि सत्य है और सत्य अहिंसा है, और ईश्वर यदि सत्य है और सत्य ईश्वर है, तो यह भी कहा जा सकता है कि ईश्वर अहिंसा है और अहिंसा ईश्वर है। चूंकि सत्य, अहिंसा और ईश्वर इन तीनों की सम्पूर्ण प्राप्ति शायद मानव-जीवन में असम्भव है, इसलिए गांधीजी तीनों को सिंहासन पर बिठाकर तीनों की एक-ही साथ पूजा करते हैं।

परिणाम यह हुआ कि प्राणवायु जैसे शरीर की तमाम क्रियाओं को जीवन देती है, वैसे ही गांधीजी की अहिंसा उनके सारे कामों का प्राण हो गई है। कितने प्रवचन गांधीजी ने इस विषय पर किये होंगे, कितने लेख लिखे होंगे ! फिर भी कितने आदमी उनके तात्पर्य को समझे ? और कितनों ने समझकर उसे हृदयंगम किया ? कितनों ने उसे आचरण में लाने की कोशिश की ? और कितने सफल हुए ? और दूसरी ओर गांधीजी की अहिंसा-नीति व्यंग्य का भी कम शिकार न वनी। कुतर्कों की कमी न रही; पर इन सवके बीच ऐसे प्रश्न भी उपस्थित होते ही हैं, जो सरल भाव से शंकास्पद लोगों द्वारा केवल समाधान के लिए ही किये जाते हैं।

"अहिंसा तो संन्यासी का धर्म है। राजधर्म में अहिंसा का क्या काम ? हम अपनी धन-सम्पत्ति की रक्षा अहिंसा द्वारा कैसे कर सकते हैं ? क्या कभी सारा समाज अहिंसात्मक वन सकता है ? यदि नहीं, तो फिर थोड़े-से आदमियों के अहिंसा धारण करने से उसकी उपयोगिता का महत्त्व क्या ? अहिंसा का उपदेश क्या कायरता की वृद्धि नहीं करता ? और गांधीजी के वाद अहिंसा की क्या प्रगति होगी ?"

ऐसे-ऐसे प्रश्न रोज किये जाते हैं। गांधीजी उत्तर भी देते हैं, पर प्रश्न जारी ही हैं, क्योंकि यदि हम केवल जिज्ञासा ही करते रहें और आचरण का प्रयत्न भी न करें, तो फिर शंका का समाधान भी क्या हो सकता है ? गुड़ का स्वाद भी तो आखिर खाने से ही जाना जाता है।

"हां, अहिंसा तो संन्यासी का धर्म है। राजधर्म में तो हिंसा, छल-कपट सव विहित हैं। हम निःशस्त्र होकर आततायी का मुकावला करें, तो वह हमें दवा लेगा, हमारी हार होगी और आततायी की जीत। 'आततायी वधार्हणः', 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' ये शास्त्रों के वचन हैं।

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिः धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः॥

ये सव कुकर्मी आततायी हैं। इन्हें मारना ही चाहिए। यदि हम आततायी

को दण्ड न दें, तो संसार में जुल्म की वृद्धि होगी, सन्तजनों के कष्ट बढ़ेंगे, अधर्म की वृद्धि और धर्म का ह्रास होगा।"

ऐसी दलीलें रोज सामने आती हैं। पर आश्चर्य तो यह है कि ऐसे तार्किक कोई राजा-महाराजा या राजधर्मी मनुष्य हों, सो नहीं। जज का क्या धर्म है, इसकी चर्चा रास्ता चलनेवाले मनुष्य क्वचित् ही करते सुने जाते हैं। फिर भी रास्ते चलते आदमी अपने को राजधर्म का अधिकारी क्यों मान लेते हैं? यदि जज किसी को फांसी की सजा दे सकता है, तो क्या रास्ते चलनेवाले सभी आदमी फांसी की सजा देने के अधिकारी हो सकते हैं? कोई तार्किक तर्क करने से पहले अपने-आपसे ऐसा प्रश्न नहीं करता, और हमारा विपक्षी ही आततायी है, हम तो दण्ड देने के ही अधिकारी हैं, ऐसा भी हम सहज ही क्यों मान लेते हैं? आततायी यदि हमीं हों तो फिर क्या?

हिटलर कहता है—चर्चिल आततायी है, चर्चिल कहता है—हिटलर आततायी है। परस्पर का यह आरोप पूरी सरगर्मी के साथ जारी है। अब दोनों ही अपने-आपको दण्ड देने का अधिकारी मानते हैं। ऐसी स्थिति में निर्णय तो तटस्थ पुरुष ही कर सकता है। पर तटस्थ पुरुष की बात दोनों-के-दोनों यदि स्वीकार करें, तो फिर दण्ड देने या लेने का सवाल ही नहीं रहता।

बात तो यह है कि अक्सर हम अपनी हिंसा-वृत्ति का पोषण करने के लिए प्रमाण का सहारा ढूंढ़ते हैं। 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' का उपयोग अपने विपक्षी के लिए ही हम करते हैं। ऐसा तो कोई नहीं कहता कि मैं आततायी हूं, इसलिए मेरा वध किया जाय। ऐसा कोई कहे तब तो तर्क में जान आ जाय। पर 'मो सम कौन कुटिल खल कामी'—ऐसा तो सूरदास ने ही कहा। यदि हम विपक्षी के दुर्गुणों की अवगणना करके अपने दोषों का आत्म-निरीक्षण ज्यादा जाग्रत होकर करें, तो संसार का सारा पाप छिप जाय।

धन-सम्पत्ति-संग्रह, माल-जायदाद इत्यादि की रक्षा क्या अहिंसा से हो सकती है? हो भी सकती है और नहीं भी। जो लोग निजी उपयोग के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, सम्भव नहीं कि वे अहिंसा-नीति के पात्र हों। अहिंसा यदि कायरता का दूसरा नाम नहीं, तो फिर सच्ची अहिंसा वह है जो अपने स्वार्थ के लिए संग्रह करना नहीं सिखाती। अहिंसक को लोभ कहां? ऐसी हालत में अहिंसक को अपने लिए संग्रह करने की या रक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं होती। योग-क्षेम के झगड़े में शायद ही अहिंसा का पुजारी पड़े। 'निर्योग क्षेम आत्मवान्—गीता ने यह धर्म अर्जुन-जैसे गृहस्थ व्यक्ति को बताया है। यह तो संन्यासी का धर्म है—ऐसा गीता ने नहीं कहा। गीता संन्यास नहीं, कर्म सिखाती है, जो गृहस्थ का धर्म है। अहिंसावादी का भी शुद्ध धर्म उसे योग-क्षेम के झगड़े से दूर रहना सिखाता है। पर संग्रह करना और उसकी रक्षा करना 'स्व' और 'पर'

दोनों के लाभ के लिए हो सकता है। जो 'स्व' के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, वे अहिंसा-धर्म की पात्रता सम्पादन नहीं कर सकते। जो 'पर' के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, वे गांधीजी के शब्दों में 'ट्रस्टी' हैं। वे अनासक्त होकर योग-क्षेम का अनुसरण कर सकते हैं। वे संग्रह रखते हुए भी अहिंसावादी हैं, क्योंकि उन्हें संग्रह में कोई राग नहीं। धर्म के लिए जो संग्रह है, वह धर्म के लिए अनायास छोड़ा भी जा सकता है और उसकी रक्षा का प्रश्न हो तो वह धर्म से ही की जा सकती है, पाप से नहीं। इसके विपरीत जो लोग संग्रह में आसक्त हैं, वे न तो अहिंसात्मक ही हो सकते हैं, न फिर अहिंसा से धन की रक्षा का प्रश्न ही उनके सम्बन्ध में उपयुक्त है। पर यह सम्भव है कि ऐसे लोग हों, जो पूर्णतः अहिंसात्मक हों, जो सब तरह से पात्र हों और अपनी आत्मशक्ति द्वारा, यदि उन्हें ऐसा करना धर्म लगे तो, किसी के संग्रह की भी रक्षा कर सकें।

पर यह कभी न भूलना चाहिए कि अहिंसक और हिंसक मार्ग की कोई तुलना है ही नहीं। दोनों के लक्ष्य ही अलग-अलग हैं। जो काम हिंसा से सफलतापूर्वक हो सकता है—चाहे वह सफलता क्षणिक ही क्यों न हो—वह अहिंसा से हो ही नहीं सकता। मसलन हम अहिंसात्मक उपायों से साम्राज्य नहीं फैला सकते, किसी का देश नहीं लूट सकते। इटली ने अबीसीनिया में जो अपना साम्राज्य स्थापित किया, वह तो हिंसात्मक उपायों द्वारा ही हो सकता था।

इसके माने यह हैं कि अहिंसा से हम धर्म की रक्षा कर सकते हैं, पाप की नहीं, और संग्रह यदि पाप का दूसरा नाम है, तो संग्रह की भी नहीं। अहिंसा में जिन्हें रुचि है, वे पाप की रक्षा करना ही क्यों चाहेंगे? अहिंसा का यह मर्यादित क्षेत्र यदि हम हृदयंगम कर लें, तो इससे बहुत-सी शंकाओं का समाधान अपने-आप हो जायगा। बात यह है कि जिस चीज की हम रक्षा करना चाहते हैं, वह यदि धर्म है, तब तो अहिंसात्मक विधियों से विपक्षी का हम सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकते हैं, और यदि वह पाप है तो हमें स्वयं उसे त्याग देना चाहिए और ऐसी हालत में प्रतिकार का प्रश्न ही नहीं रहता।

यह निर्णय फिर भी हमारे लिए बाकी रह जाता है कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है? पर धर्माधर्म के निर्णय में सत्य के अनुयायी को कहां कठिनता हुई है?

जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ;
हौं बौरी ढूंढ़न गई, रही किनारे बैठ।

असल बात तो यह है कि जब हम धर्म की नहीं, पाप की ही रक्षा करना चाहते हैं—और चूंकि अहिंसा से पाप की रक्षा नहीं हो सकती—तब अहिंसा के गुण-प्रभाव में हमें शंका होती है और अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित होते हैं।

राजनीति में अहिंसा के प्रवेश से नई उलझन इसलिए बढ़ गई है कि राज-

नीति का चित्र हमने वही खींचा है, जो यूरोप की राजनीति का हमारे सामने उपस्थित है। जातीयता का अभिमान, जातियों में परस्पर वैरभाव, दूसरे देशों को दबा लेने का लोभ, हमारा उत्थान दूसरों के नाश से ही हो सकता है, ऐसा भ्रम, उससे प्रभावित होकर सीमा की मोर्चाबन्दी करना और नाना प्रकार के मारण-जारण शस्त्रास्त्रों की पैदाइश बढ़ाना। घर के भीतर भी वही प्रवृत्ति है, जो बाहर के देशों के प्रति है। ऐसी हालत में अहिंसा हमारा शस्त्र हो या हिंसा, इसका निर्णय करने से पहले तो हमें यह निर्णय करना होगा कि हमें चाहे व्यक्ति के लिए चाहे समाज के लिए, शुद्ध धर्म का मार्ग ही अनुसरण करना है या पाप का ? अपनी राजनीति हम मानवता की विस्तृत बुनियाद पर रचना चाहते हैं या कुछ लोगों के स्वार्थ की संकुचित भित्ति पर ? फिर चाहे वे कुछ लोग हमारे कुटुम्ब के हों या कबीले के, प्रांत के या देश के।

यूरोप में कई ऐसे सच्चे त्यागी हैं, जो निजी जीवन में केवल सत्य का ही व्यवहार करते हैं, पर जहां स्वदेश के हानि-लाभ का प्रश्न उठता है, वहां सत्य, ईमानदारी, भलमनसाहत, सारी चीजों को तिलांजलि देने में नहीं हिचकते। उनके लिए—यदि वे अहिंसा धारण करना चाहें तो—एक ही मार्ग होगा—पापवृत्ति का त्याग, चाहे वह निजी स्वार्थ के लिए हो या स्वदेश के लिए। उनके लिए स्वदेश की कोई सीमा नहीं।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

ईश्वर की सारी सृष्टि उनके लिए स्वदेश है। दैवी संपदा की स्थापना और आसुरी का ह्रास, यह उनका ध्येय है।

गांधीजी इसीलिए आत्म-शुद्धि पर बार-बार जोर देते हैं। यह ठीक भी है, क्योंकि अहिंसा-शस्त्र का संचालन बाहर की वस्तुओं पर नहीं, भीतर की वृत्तियों पर अवलम्बित है। फूटी हुई बन्दूक में गोली भरकर चलाओ, तो क्या कभी निशाने पर जा सकती है ? वैसे ही, जो मनुष्य शुद्ध हृदयवाला नहीं है, दैवी-संपदा-वाला नहीं है, वह अहिंसा के शस्त्र को क्या उठायेगा ? असल में तो शुद्ध मनुष्य स्वयं ही शस्त्र है और स्वयं ही उसका चालक है। यदि आत्मशुद्धि नहीं है, आसुरी संपदावाला है, तो उसकी हालत फूटी बन्दूक जैसी है। उसके लिए अहिंसा के कोई माने नहीं। अहिंसक में ही अहिंसा रह सकती है। अहिंसा धारण करने से पहले मनुष्य को अहिंसक बनना है, और अहिंसक का संकुचित अर्थ भी किया जाय, तो वह है न्यायपूर्वक चलनेवाला नागरिक।

"क्या सारा समाज अहिंसात्मक हो सकता है ? यदि नहीं तो फिर इसका व्यावहारिक महत्व क्या ?" यह भी प्रश्न है। पर गांधीजी कहां यह आशा करते हैं कि सारा समाज हिंसा का पूर्णतया त्याग कर देगा ? उनकी व्यूह-रचना इस

बुनियाद पर है ही नहीं कि सारा समाज अहिंसा-धर्म का पालन करने लग जाय। उनकी यह आशा अवश्य है कि समाज का एक वृहत अंग हिंसा की पूजा करना तो कम-से-कम छोड़ दे, चाहे फिर वह आचरणों में पूर्ण अहिंसावादी न भी हो सके।

यह आशा नहीं की जाती कि समाज का हर मनुष्य पूर्ण अहिंसक होगा। पर जहां हिंसक सेना के वल पर शांति और साम्राज्य की नींव डाली जाती है, वहां भी यह आशा नहीं की जाती कि हर मनुष्य युद्ध-कला में निपुण होगा। करोड़ों की बस्तीवाले मुल्क की रक्षा के लिए कुछ थोड़े लाख मनुष्य काफी समझे जाते हैं। सौ में एक मनुष्य यदि सिपाही हो तो पर्याप्त माना जाता है। फिर उन सिपाहियों में से भी जो ऊपरी गणनायक होते हैं उन्हीं की निपुणता पर सारा व्यवहार चलता है।

आज इंग्लिस्तान में कितने निपुण गणनायक होंगे, जो फौज के संचालन में अत्यन्त दक्ष माने जाते हैं ? शायद दस-बीस। पर वाकी जो लाखों की फौज है, उससे तो इतनी ही आशा की जाती है कि उसमें अपने अफसरों की आज्ञा पर मरने की शक्ति हो। इसी उदाहरण के आधार पर हम एक अहिंसात्मक फौज की भी कल्पना कर सकते हैं। अहिंसात्मक फौज के जो गणनायक हों, उनमें पूर्ण आत्म-शुद्धि हो, जो अनुयायी हों, वे श्रद्धालु हों, और चाहे उनमें इतना तीक्ष्ण विवेक न हो, पर उनमें सत्य-अहिंसा के लिए मरने की शक्ति हो। इतना यदि है, तो काफी है। इस हिसाब से अहिंसात्मक फौज विल्कुल अव्यावहारिक चीज सावित नहीं होती।

हां, यदि हमारी महत्वाकांक्षा साम्राज्य फैलाने की है, यदि हमारी आंखें दूसरों की सम्पत्ति पर गड़ी हैं, यदि भूखे पड़ोसियों के प्रति हमें कोई हमदर्दी नहीं है, हम अपने ही स्वार्थ में रत रहकर भोगों के पीछे पड़े हुए हैं, या अपने ही भोगों को सुरक्षित रखना चाहते हैं, तो अहिंसा के लिए कोई स्थान नहीं है।

गन्दे कपड़े की गन्दगी की यदि हम रक्षा करना चाहते हैं, तो पानी और साबुन का क्या काम ? वहां तो कीचड़ की जरूरत है। गन्दगी रोग पैदा करती है, मृत्यु को समीप लाती है, इसका हमें ज्ञान है। इसलिए हम गन्दगी की रक्षा करना चाहते हैं तो हम दया के पात्र हैं। अहिंसा का पोषक हमें हमारी भूल से बचाने का प्रयत्न करेगा, पर हमारी गन्दगी का पोषण कभी नहीं करेगा, हम चाहे उसके स्वदेशवासी क्या, उसकी सन्तान ही क्यों न हों।

अहिंसा को राजनीति में गांधीजी ने जान-बूझकर प्रविष्ट किया है, क्योंकि राजनीति में अधर्म विहित है, ऐसा मानकर हम आत्मवंचना करते थे। हम उल-झन में इसलिए पड़ गये हैं कि जहां हम गन्दगी का पोषण करना चाहते थे, वहां गांधीजी ने हमें पानी और साबुन दिया है। हम हैरान हैं कि पानी और साबुन से

हमारी गन्दगी की रक्षा कैसे हो सकती है? और यह हैरानी सच्ची है; क्योंकि गन्दगी की रक्षा किसी हालत में न होगी। बस यही उलझन है, यही पहेली है और इसी के ज्ञान में शंका का समाधान है।

अहिंसा कहो, सत्य कहो, मोक्ष भी कहो, ये सभी वस्तुएं ऐसी नहीं हैं कि सम्पूर्णतया जबतक इन चीजों की प्राप्ति न हो तबतक ये बेकार हैं। दरअसल जीवन में इन चीजों की सम्पूर्णतया प्राप्ति असम्भव है। इतना ही कहा जा सकता है कि 'अधिकस्याधिकं फलम्' और 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्—' इसलिए ऐसी बात नहीं हैं कि बन्दूक की गोली दुश्मन के शरीर पर लगी तो सफल, वरना बेकार। यहां तो हार-जैसी कोई चीज ही नहीं है। जितनी भी आत्मशुद्धि हुई, उतना ही फल।

गांधीजी सत्य और अहिंसा का उपदेश देकर प्रकारांतर से लोगों को अच्छे नागरिक बनने का उपदेश देते हैं। वह कहते हैं, "अतिशय तृष्णा त्यागो", क्योंकि स्वार्थवश किये गए अतिशय संग्रह की रक्षा अहिंसा से याने धर्म से नहीं हो सकती। यदि अधर्म से रक्षा करने का कार्यक्रम गढ़ेंगे, तो फिर अधर्म की ही वृद्धि होगी। इसलिए कहते हैं, "अतिशय तृष्णा त्यागो, पड़ोसी की सेवा करना सीखो, व्यवहार में सचाई सीखो, सहिष्णु बनो, ईश्वर में विश्वास रखो। किसी पर लोभवश आक्रमण न करो। यदि कोई दुष्टता से आक्रमण करता है, तो बिना मारे मरना सीखो। कायरता और अहिंसा एक वस्तु नहीं है। शौर्य की आत्यंतिकता का ही दूसरा नाम अहिंसा है। क्षमा बलवान ही कर सकता है, इसलिए अत्यन्त शूर बनो। अत्यन्त शूर बनने के लिए जिन गुणों की जरूरत है, उनकी वृद्धि करो और शूर बनकर क्षमा करो। यदि इतना कर पाओ और ईश्वर में श्रद्धा है, तो निर्भय विचरो।"

गांधीजी के बाद क्या अहिंसा पनपेगी? अहिंसा को गांधीजी के जीवन के पश्चात् प्रगति मिलेगी या विगति?

बुद्ध और ईसामसीह के जीवन-काल में जितना उनके उपदेशों ने जोर नहीं पकड़ा, उससे अधिक जोर उनकी मृत्यु के बाद पकड़ा। यह सही है कि उनके जीवन के बाद उनके उपदेशों का भौतिक शरीर तो पुष्ट होता गया, पर आध्यात्मिक शरीर दुर्बल बनता गया। तो फिर क्या यह कह सकते हैं कि बुद्ध का उपदेश आज नष्ट हो गया है या ईसामसीह का तेज मिट गया है? वर्षा होती है तब सब जगह पानी-ही-पानी नजर आता है। शरद् में वह सब सूख जाता है, तब क्या हम यह कहें कि वर्षा का प्रभाव नष्ट हो गया? बात तो यह है कि शरद् में धान्य के खलिहानों से परिपूर्ण खेत वर्षा के माहात्म्य का ही विज्ञापन करते हैं। वर्षा का पानी खेतों की मिट्टी में अवश्य सूख गया; पर वही पानी अन्न के दानों में प्रविष्ट होकर जीवित है। खेतों में यदि पानी पड़ा रहता, तो गन्दगी फैलती;

कीचड़ वदबू और विष पैदा करता। अन्न में प्रवेश करके उसने अमृत पैदा किया।

महापुरुषों के उपदेश भी इसी तरह पात्रों के हृदय में प्रवेश करके स्थायी अमृत वन जाते हैं। गेहूं के दाने से पूछिए कि वर्षा का पानी कहां है? वह बतायेगा कि वह पानी उसके शरीर में जिन्दा है। इसी तरह सत्पुरुषों के जीवन का फल भी पात्रों के हृदय में अमर हैं। गांधीजी का जीवन अहर्निश काम किये जा रहा है—और उनकी मृत्यु के बाद भी वह अमर रहेगा। बातों-ही-बातों में एक रोज उन्होंने कहा, "मेरी मृत्यु के बाद यदि अहिंसा का नाश हो जाय, तो मान लेना चाहिए कि मुझमें अहिंसा थी ही नहीं।" यह सच्ची बात है; क्योंकि धर्म का नाश कैसे हो सकता है?

पर इस जमाने में तो हिंसा में श्रद्धा रखनेवालों की भी आंखें खुल रही हैं। पहले-पहल अवीसीनिया का पतन हुआ, पीछे धीरे-धीरे एक-के-बाद एक मुल्क गिरते गये। पर जर्मनी ने लड़ाई छेड़ी तब से तो बड़ी हिंसा के सामने छोटी हिंसा ऐसी निर्बल सावित हुई, जैसे फौलाद की गोली के सामने शीशे की हांडी। पोलैंड गया, फिनलैंड गया, नार्वे, वेल्जियम, हालैंड, फिर फ्रांस, सव बात-की-बात में मिट गये, और मिटने से पहले श्मशान हो गये। एक डेन्मार्क मिटा तो सही, पर श्मशान नहीं हुआ।

प्रश्न उठता है कि इन देशों के लोग यदि विना मारे मरने को तैयार होते, तो क्या उनकी स्थिति आज की स्थिति से कहीं अच्छी नहीं होती? आज तो उनका शरीर और आत्मा दोनों ही मर गये। यदि वे बिना मारे मरते, तो बहुत सम्भव है कि उनका मुल्क उनके हाथ से शायद छिन जाता, पर उनकी आत्मा आज से कहीं अधिक स्वतन्त्र होती और मुल्क भी शायद ही छिनता या न भी छिनता। आज तो छिन ही गया। ये लोग अहिंसा से लड़ते, तो इनकी इस अनुपम अहिंसा का जर्मनी पर सौगुना अच्छा प्रभाव पड़ता।

'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्' यह वाक्य निरर्थक नहीं है। यह यूरोप का 'यादव-संग्राम' आखिर है क्या? बढ़े हुए लोभ का ज्वालामुखी है, जो दहकती हुई आग से यूरोप के सारे मुल्कों को भस्म कर देना चाहता है। ऐसी अग्निवर्षा में अहिंसा अवश्य ही वर्षा का काम देती, पर हर हालत में यह तो सावित हो ही गया कि हिंसा भी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकी। वेल्जियम, फ्रांस और इंग्लैंड की सम्मिलित शक्ति वेल्जियम को नहीं बचा सकी। इसके बाद यदि कोई कहे कि "भाई, हिंसा की आजमाइश हो गई, अव अहिंसा, जो अत्यन्त शौर्य का दूसरा नाम है, उसको जाग्रत करो और उससे युद्ध करना सीखो," तो उसे कौन पागल बता सकता है, क्योंकि अहिंसा का उपदेशक प्रकारान्तर से इतना ही कहता है, "पाप छोड़ो, जो चीज जिसकी है वह उसे दे दो।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्

धर्म से चलो; क्योंकि पाप खा जायगा। धर्म ही रक्षा कर सकता है। न डरो न डराओ।"

धर्म-धारण के माने ही हैं उस स्वार्थ का संयम, जो आज के भीषण संग्राम का स्रोत है। धर्म धारण करने के बाद संग्राम कहां, हिंसा कहां ?

लोग कहते हैं, "पर यह क्या कोई मान सकता है ?" न माने, पर क्या इसलिए यह कहना चाहिए कि पाप करो, चोरी करो, झूठ बोलो, व्यभिचार करो ? ऐसे तार्किक तो गीताकार को भी कह सकते हैं कि क्या यह कोई मान सकता है ?

शौर्य की परमावधि का ही दूसरा नाम अहिंसा है। कायरता का नाम अहिंसा हर्गिज नहीं है। सम्पूर्ण निर्भयता में ही अहिंसा संभव हो सकती है, और जो अत्यन्त शूर है, वही अत्यन्त निर्भय हो सकता है। असावधानी और अभय, ये अलग-अलग चीजें हैं। जिसे प्रभाव के कारण या नशे में भय का ज्ञान ही नहीं, वह निर्भय क्या होगा ? मगर जिसके सामने भय उपस्थित है, पर निर्भय है, वही परम शूर है, वही अहिंसावादी है।

एक हट्टे-कट्टे पिता को एक नादान बालक क्रोध में आकर चपत जमा जाता है, तो पिता को न क्रोध आता है, न बदले में चपत जमाने को उसकी हिंसा-वृत्ति जाग्रत होती है। पर वही चपत यदि एक हट्टा-कट्टा मनुष्य लगाता है, तो क्रोध भी आता है और हिंसा-वृत्ति भी जाग्रत होती है। यह इसलिए होता है कि बच्चे की चपत में तो पिता निर्भय था, पर समवयस्क की चपत ने भय का संचार किया। इस तरह हिंसा और भय का जोड़ा है। भय के आविर्भाव में हिंसा और भय के अभाव में अहिंसा है। हिटलर और चर्चिल दोनों को एक-दूसरे का डर है। शौर्य का इस दृष्टि से दोनों ओर अभाव है। दोनों ओर इसीलिए हिंसा का साम्राज्य है। शौर्य की आत्यन्तिकता में अहिंसा है, वैसे ही भय की आत्यन्तिकता में कायरता है।

एक और बात है। किसी प्राणी का हनन-मात्र ही हिंसा नहीं है। एक ऐसे पागल की कल्पना हम कर सकते हैं, जिसके हाथ एक मशीनगन पड़ गई हो और वह पागलपन में यदि जिन्दा रहने दिया जाय तो हजारों आदमियों का खून कर डाले। ऐसे मनुष्य को मारना हिंसा नहीं कही जायगी। द्वेषरहित होकर समबुद्धि से लोक-कल्याण के लिए किया गया हनन भी हिंसा नहीं हो सकेगी। पोलैंड के स्वदेश-रक्षा के युद्ध के सम्बन्ध में लिखते समय गांधीजी ने कहा, "यदि पोलैंड में स्वार्थ-त्याग और शौर्य की आत्यन्तिकता है, तो संसार यह भूल जायगा कि पोलैंड ने हिंसा द्वारा आत्म-रक्षा की। पोलैंड की हिंसा करीब-करीब अहिंसा में ही शुमार होगी।"

पोलैंड की हिंसा करीब-करीब अहिंसा में शुमार क्यों होगी, इसका विवेचन भी गांधीजी ने पिछले दिनों कुछ जिज्ञासुओं के सामने एक मौलिक ढंग से किया।

मेरा खयाल है कि वह विवेचन भी सम्पूर्ण नहीं था, और हो भी नहीं सकता था। एक ही तरह का कर्म, एक समय धर्म और दूसरे समय अधर्म माना जा सकता है। एक कर्म धर्म है, इसका निर्णय तो स्वयं ही करना है; पर पोलैंड की हिंसा भी करीब-करीब अहिंसा में ही शुमार हो सकती है, यह कथन उलझन पैदा कर सकता है, पर इसमें असंगति नहीं है।

इस सारे विश्लेषण से अहिंसा का शुद्ध स्वरूप और इसकी व्यावहारिकता समझने में हमें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

पांच

गांधीजी में अहिंसा-वृत्ति कब जाग्रत हुई, राजनीति में, समाजनीति में और आपस के व्यवहार में इसका प्रयोग कैसे शुरू हुआ, इसके गुणों में श्रद्धा कब हुई, यह बताना कठिन प्रयास है। हम देखते हैं कि कितनी ही चीजें जो हमें मालूम होती हैं कि हमारे भीतर अचानक आ गई, वे दरअसल धीरे-धीरे पनपी हैं। गुणों के बीज हमारे भीतर रहते हैं, जो धीरे-धीरे अंकुरित होते हैं, फिर पनपते हैं। इसी तरह दुर्गुणों की भी बात है।

हम देखते हैं कि बचपन से ही गांधीजी के चित्त पर सत्य और अहिंसा के चिह्नों की एक अमिट रूप-रेखा खिंच चुकी थी। अत्यन्त बचपन में गांधीजी एक मित्र की सोहबत के कारण अधर्म को धर्म मानकर, यह समझकर कि मांसाहार समाज के लिए लाभप्रद है, स्वयं भी मांस खाने लगे। उन्हें यह कार्यक्रम चुभने लगा, क्योंकि यह काम वह लुक-छिपकर करते थे। उसमें असत्य था और मांस खाना उन्हें रुचिकर भी नहीं था। पर एक बुराई से दूसरी बुराई आती है। मांस खाने के बाद तम्बाकू पर मन गया। उसके लिए पैसे चाहिए, वे घर से चुराये। अब तो यह चीज असह्य हो गई और अन्त में उन्होंने यह तय किया कि सारी चीज पिता के सामने स्वीकार करके उनसे क्षमा-याचना करनी चाहिए। न जाने पिता को कितनी चोट लगे, गांधीजी को यह भय था। पर उन्होंने सारा किस्सा पत्र में लिखकर उसे पिता के हाथ में रखा। पिता ने पढ़ा और फूट-फूटकर रोने लगे। गांधीजी को भी रुलाई आगई। कौन बता सकता है कि पिता के ये आंसू, चित्त को चोट पहुंची उस दुःख का नतीजा थे, या पुत्र ने सत्य का आश्रय लिया, उसके आनन्दाश्रु थे? "मेरे लिए तो यह अहिंसा का पाठ था। उस समय मुझे अहिंसा का कोई ज्ञान नहीं था, पर आज मैं जानता हूं कि यह मेरी एक शुद्ध अहिंसा थी।"

पिता ने क्षमा कर दिया। गांधीजी ने इन बुरी चीजों को तलाक दिया। पिता-पुत्र दोनों का बोझ हलका हो गया।

इस घटना से गांधीजी के विचारों में क्या-क्या उथल-पुथल हुई, कोई नहीं बता सकता। पर अहिंसा का बीज, मालूम होता है, यहीं से अंकुरित हुआ। मगर गांधीजी उस समय तो निरे बच्चे थे। जब इंग्लैंड जाने लगे, तब तो सयाने हो आये थे। पिता का देहान्त हो चुका था। माता के सामने यूरोप जाने से पहले प्रतिज्ञा करली थी कि परदेश में कुछ भी कष्ट हो, मांस-मदिरा का सेवन न करूंगा। पर इतने से जात-बिरादरी वालों को कहां सन्तोष हो सकता था? उन लोगों ने इन्हें जाने से रोका। "वहां धर्म-भ्रष्ट होने का भय है।" "पर मैंने तो प्रतिज्ञा करली है कि मैं अभोज्य भोजन नहीं करूंगा।"—गांधीजी ने कहा। पर जाति वालों को कहां सन्तोष होता था? गांधीजी को जात-बाहर कर दिया गया।

गांधीजी इंग्लैंड गये। अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे। वापस लौटे, तब जाति-बहिष्कार सामने उपस्थित था। "पर मैंने जात में वापस दाखिल होने की न तो आकांक्षा ही की, न पंचों के प्रति मुझे द्वेष ही था। पंच मुझसे नाखुश थे, पर मैंने उनका चित्त कभी नहीं दुखाया। इतना ही नहीं, जाति वालों के बहिष्कार के सारे नियमों का मैंने सख्ती के साथ पालन किया, अर्थात् मैंने स्वयं ही जात-बिरादरी वालों के यहां खाना-पीना बन्द कर दिया। मेरी ससुराल वाले और बहनोई मुझे खिलाना-पिलाना चाहते भी थे, पर लुक-छिपकर, जो मुझे नापसन्द था। इसलिए मैंने इन निकटस्थों के यहां पानी पीना तक बन्द कर दिया। मेरे इस व्यवहार का नतीजा यह हुआ कि हालांकि जाति वालों ने मुझे बहिष्कृत कर दिया, पर उनका मेरे प्रति प्रेम बढ़ गया। उन्होंने मेरे अन्य कार्यों में मुझे काफी सहायता पहुंचाई। मेरा यह विश्वास है कि यह शुभ फल मेरी अहिंसा का परिणाम था।"

अफ्रीका में गांधीजी ने करीब इक्कीस साल काटे। गये थे एक साधारण काम के लिए वकील की हैसियत से, पर वहां कालों के प्रति गोरों की घृणा, उनका जोर-जुल्म इतना ज्यादा था कि गांधीजी महज सेवा के लिए वहां कुछ दिन रुक गये। फिर तो स्वदेशवासियों ने उन्हें वहां से हटने ही नहीं दिया और एक-एक करके उनके इक्कीस साल वहां बीते। इस अरसे में उन्हें काफी लड़ना पड़ा, पर अहिंसा-शस्त्र में जो श्रद्धा वहां जमी, वह अमिट बन गई। अहिंसा के बड़े पैमाने पर प्रयोग किये, उसमें सफलता मिली और जो विपक्षी थे उनका हृदय-परिवर्तन हुआ। जनरल स्मट्स, जिसके साथ उनकी लड़ाई हुई, अन्त में उनका मित्र बन गया। द्वितीय गोलमेज-परिषद् के समय जब गांधीजी लन्दन गये, तब स्मट्स वहीं था। उसने कहलाया कि यदि मेरा उपयोग हो सके, तो आप मुझसे निस्संकोच काम लें। गांधीजी ने उसका साधारण उपयोग किया भी।

पर अहिंसात्मक उपायों द्वारा शत्रु मित्र के रूप में कैसे परिणत हो सकता है, इसका ज्वलंत उदाहरण गांधीजी की इक्कीस साल की अफ्रीका की तपश्चर्या ने पैदा कर दिया। गांधीजी ने अफ्रीका में सूक्ष्मतया अहिंसा का पालन किया। मार खाई, गालियां खाईं, जेल में सड़े, सब-कुछ यंत्रणाएं सहीं, पर विपक्षी पर कभी क्रोध नहीं किया, धीरज नहीं खोया, हिम्मत नहीं छोड़ी, लड़ते गये, पर क्रोध त्याग कर। अन्त में सफलता मिली; क्योंकि 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।'

अफ्रीका में काले-गोरे का भेद इतनी गहराई तक चला गया था कि कालों को, जिनमें हिन्दुस्तानियों का भी समावेश था, पटरी पर चलने की भी मुमानियत थी। रात को अमुक समय के बाद घर से निकलने का भी निषेध था। गांधीजी को टहलने-फिरने की काफी आदत थी, समय-बेसमय घूमना भी पड़ता था। एक रोज प्रेसीडेंट क्रूगर के घर के सामने से गुजर रहे थे तो सन्तरी ने अचानक उन्हें धक्का मारकर पटरी से नीचे गिरा दिया और ऊपर से एक लात लगाई। गांधीजी चुपचाप मार खाकर खड़े हो गये। इन्हें तनिक भी क्रोध नहीं आया। इनके एक गोरे मित्र ने, जो पास से गुजर रहा था, यह घटना देखी। उसे क्रोध आगया। उसने कहा, "गांधी, मैंने सारी घटना आंखों देखी है। तुम अदालत में इस सन्तरी पर मुकदमा चलाओ, मैं तुम्हारा गवाह बनकर तुम्हारी ताईद करूंगा। मुझे दुःख है कि तुम्हारे साथ यह दुर्व्यवहार हुआ।" गांधीजी ने कहा, "आप दुखी न हों। मेरा नियम है कि व्यक्तिगत अन्याय के प्रतिकार के लिए मैं अदालत की शरण नहीं लेता। यह बेचारा मूर्ख क्या करे? यहां की आवहवा ही ऐसी है। मैं इस-पर मुकदमा नहीं चलाना चाहता।" इस पर उस सन्तरी ने गांधीजी से क्षमा-याचना की।

पर ऐसी तो अनेक घटनाएं हुईं। बीच में कुछ दिनों के लिए स्वदेश आकर गांधीजी अफ्रीका लौटे, तब वहां के गोरे अखबार वालों ने इनके सम्बन्ध में बहुत बढ़ा-चढ़ाकर झूठी-झूठी बातें अखबारों में लिखीं और गोरी जनता को इनके खिलाफ उभारा। जहाज पर से गांधीजी उतरने वाले थे, उस समय गोरी जनता ने इनके खिलाफ काफी प्रदर्शन किया। पुलिस ने और इनके कई मित्रों ने इन्हें कहलाया कि उतरने में खतरा है, रात को उतरना अच्छा होगा। जहाज के कप्तान ने कहा, "यदि गोरों ने आपको पीटा, तो आप अहिंसा से उनका प्रतिरोध कैसे करेंगे?" गांधीजी ने उत्तर दिया, "ईश्वर मुझे ऐसी बुद्धि और शक्ति देगा कि उन्हें मैं क्षमा कर दूं। मुझे उनपर क्रोध नहीं आ सकता, क्योंकि वे अज्ञान के शिकार हैं। उन्हें सचमुच मैं बुरा लगता हूं, तब वे क्या करें? और मैं उन पर क्रोध कैसे करूं?"

गांधीजी आखिर जहाज से उतरे। इनका एक गोरा मित्र इनकी रक्षा के लिए

इनके साथ हो लिया। इन्होंने पैदल घर पहुंचने का निश्चय किया, जिससे किसी तरह की कायरता साबित न हो। बस, गोरी जनता का इन्हें देखना था कि उसके क्रोध का पारा ऊंचा उठने लगा। भीड़ बढ़ने लगी। आगे बढ़ना मुश्किल हो गया। भीड़ ने इनके गोरे मित्र को पकड़कर इनसे अलहदा करके एक किनारे किया और इनपर होने लगी बौछार—पत्थर, ईंट के टुकड़ों और सड़े अंडों की। इनकी सिर की पगड़ी नोचकर फेंक दी गई। ऊपर से लात और मुक्कों के प्रहार होने लगे। गांधीजी बेहोश हो गये। फिर भी लातों का प्रहार जारी रहा। पर ईश्वर को इन्हें जिन्दा रखना था। पुलिस सुपरिंटेंडेंट की स्त्री ने, जो पास से गुजर रही थी, इस घटना को देखा। वह भीड़ में कूद पड़ी और अपना छाता तानकर इनकी रक्षा के लिए खड़ी हो गई। भीड़ सहम गई। इतने में तो पुलिस सुपरिंटेंडेंट खुद पहुंच गया और इन्हें बचाकर ले गया। गांधीजी जिन्दा बच गये।

उभरा हुआ जोश जब शान्त हुआ तब, सम्भव है, लोगों को पश्चात्ताप भी हुआ होगा। ब्रिटिश सरकार ने अफ्रीका की सरकार से कहा कि गुण्डे गोरों को पकड़कर सजा देनी चाहिए। पर गांधीजी ने कहा, "मुझे किसी से वैर नहीं है। जब सत्य का उदय होगा तब मुझे मारनेवाले स्वयं पश्चात्ताप करेंगे। मुझे किसी को सजा नहीं दिलवानी है।" आज तो यह कल्पना भी हमारे लिए असह्य है कि गांधीजी को कोई लात-मुक्का मारे या उनको गालियां दे।

उस समय की बात है जब गांधीजी ने दिल्ली में श्री लक्ष्मीनारायण के मन्दिर का उद्घाटन किया था। कोई एक लाख मनुष्यों की भीड़ थी। तिल रखने को भी जगह नहीं थी। बड़ी मुश्किल से गांधीजी को मन्दिर के भीतर उद्घाटन-क्रिया करने के लिए पहुंचाया गया। मन्दिर के बाहर नरमुण्ड-ही-नरमुण्ड दिखाई देते थे। वृक्षों की हरी डालियां भी मनुष्यों से लदी पड़ी थीं। भीड़ गांधीजी के दर्शन के लिए आतुर थी। गांधीजी ने मन्दिर के छज्जे पर खड़े होकर लोगों को दर्शन दिये। एक पल पहले ही भीड़ बुरी तरह कोलाहल कर रही थी। पर जहां गांधीजी छज्जे पर आये—हाथ जोड़े हुए, बिल्कुल मौन—वहां भीड़ का सारा कोलाहल बन्द हो गया और सहस्रों कण्ठों से केवल एक ही आवाज, एक ही स्वर, गगन को भेदता हुआ चला गया—"महात्मा गांधी की जय!"

यह दृश्य विचारपूर्वक देखनेवाले को गद्गद् कर देता था। मेरी घिग्घी बंध गई। मैं विचार के प्रवाह में बहा जा रहा था। सोचता था कि यह कैसा मनुष्य है! छोटा-सा शरीर, अर्द्धनग्न, जिसने इतने लोगों को मोहित कर दिया, जिसने इतने लोगों को पागल कर दिया! उस भीड़ में शायद दस मनुष्य भी ऐसे न होंगे, जिन्होंने गांधीजी से कभी बात भी की हो, पर तो भी उनके दर्शन-मात्र से सब-के-सब जैसे पागल हो गये। वृक्षों की डालियों पर हजारों मनुष्य लदे थे, जिन्हें

अपनी सुरक्षितता का भी भान नहीं था। वे भी केवल 'महात्मा गांधी की जय', बस इसी चिल्लाहट में मग्न थे।

एक वृक्ष की डाल टूटी। उस पर पचासों मनुष्य लदे थे। डाल कड़कड़ाती हुई नीचे की ओर गिरने लगी, पर ऊपर चढ़े लोग तो 'महात्मा गांधी की जय' की बुलन्द आवाज में मस्त थे। किसी को अपनी जोखिम का खयाल न था। डाल नीचे जा गिरी। किसी को चोट न आई। एक यह दृश्य था, जिसमें 'गांधीजी की जय' चिल्लानेवाले गांधीजी के पीछे पागल थे। उनके एक-एक रोम के लिए वह भीड़ अपना प्राण न्योछावर करने को तैयार थी, और एक वह दृश्य था, जिसमें गोरी भीड़ 'गांधी को मार डालो', इस नारे के पीछे पागल थी !

गांधीजी द्वितीय गोलमेज-परिषद् के लिए जब गये, तो वहां करीब साढ़े तीन महीने रहे। जहां भी गये, वहां भीड़ इन पर मोहित थी, प्रेम से मुग्ध थी। आज यदि यह अफ्रीका भी जायें तो इनके प्रेम के पीछे वहां की गोरी जनता भी पागल हो जाय। यह सब पागलपन इसलिए है कि गांधीजी ने मार खाकर, लातें खाकर भी क्षमाधर्म को नहीं छोड़ा। अफ्रीका की गोरी भीड़ के पागलपन का वह दृश्य हमारी आंखों के सामने आने पर हमें चाहे क्रोध आ जाय; पर वही दृश्य था, वही घटना थी, और ऐसी अनेक घटनाएं थीं, जिन्होंने आज के गांधी को जन्म दिया। ईसामसीह सूली पर न चढ़ता, तो उसकी महानता प्रकट न होती। गांधीजी ने यदि शान्तिपूर्वक लातें न खाई होतीं, तो उनकी क्षमा कसौटी पर सफल न होती।

गांधीजी महात्मा हैं, क्योंकि उन्होंने मारने वालों के प्रति भी प्रेम किया। "मेरी इस वृत्ति ने जिन-जिनके समागम में मैं आया, उनसे मेरी मैत्री करा दी। मुझे अक्सर सरकारी महकमों से झगड़ना पड़ता था, उनके प्रति सख्त भाषा का प्रयोग भी करना पड़ता था, पर फिर भी उन महकमों के अफसर मुझसे सदा प्रसन्न रहते थे। मुझे उस समय यह पता भी न था कि मेरी यह वृत्ति मेरा स्वभाव ही बन गई है। मैंने पीछे यह जाना कि सत्याग्रह का यह अंग है और अहिंसा का यह धर्म है कि हम यह जानें कि मनुष्य और उसके कर्म, ये दो भिन्न-भिन्न चीजें हैं। जहां बुरे काम की हमें निन्दा और अच्छे की प्रशंसा करनी चाहिए, वहां बुरे मनुष्य के साथ हमें दया का और भले के साथ आदर का वर्ताव करना चाहिए। 'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं' यह मन्त्र बहुतों की समझ में तो आ जाता है; पर व्यवहार में बहुत कम लोग इसके अभ्यस्त हैं। यही कारण है कि संसार में वैर का विष-वृक्ष इतनी सफलता से पनपता है।

"अहिंसा सत्य की बुनियाद है। मेरा यह विश्वास दिन-पर-दिन बढ़ता जाता है कि यदि वह अहिंसा की भित्ति पर नहीं तो, सत्य का पालन असम्भव है। दुष्ट प्रणाली पर हमें आक्रमण करना चाहिए, उससे टक्कर लेनी चाहिए। पर उस

प्रणाली के प्रणेता से वैर करना, यह आत्म-वैर सरीखा है। हम सब-के-सब एक ही प्रभु की सन्तान हैं। हमारे सबके भीतर एक ही ईश्वर व्याप्त है, धर्मात्मा के भीतर और पापी के भीतर भी। इसलिए एक भी जीव को कष्ट पहुंचाना मानो ईश्वर का अपमान और सारी सृष्टि को कष्ट पहुंचाने-जैसी बात है।"

ये शब्द उस व्यक्ति के हैं, जिसने श्रद्धा के साथ अहिंसा का सेवन किया है।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

गीता में काम एवं क्रोध को दुश्मन बताया है और कहा है कि इन्हें वैरी समझो। पर यह बुराई के लिए घृणा है, न कि बुरे के लिए। बुरे के लिए तो दूसरा आदेश है :

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां, सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(पा० यो० द०)

बुरे अर्थात् पापी के लिए करुणा और उपेक्षा का आदेश है।

छह

गांधीजी ने अफ्रीका में जो आश्रम बसाया था, उसका नाम रखा था 'टालस्टॉय फार्म'। फिर स्वदेश लौटने पर साबरमती में सत्याग्रह-आश्रम बसाया और अब सेवाग्राम में आश्रम बनाकर रहते हैं। कुछ संयोग की बात है कि इन सभी आश्रमों में सांप-बिच्छुओं का बड़ा उपद्रव रहा है। गांधीजी स्वयं सर्प को भी नहीं मारते। उन्होंने सर्प मारने का निषेध नहीं कर रखा है; पर चूंकि गांधीजी सर्प की हत्या नहीं करते, इसलिए और आश्रमवासी भी इस काम से परहेज ही करते हैं।

सेवाग्राम में एक बार रात को एक बहन का पांव बिच्छू पर पड़ा कि बिच्छू ने बड़े जोर से डंक मारा। रात-भर वह बहन दर्द के मारे परेशान रही। न अफ्रीका में, न हिन्दुस्तान में—आजतक आश्रम में सर्प ने किसीको नहीं काटा है। पर सर्प आएदिन पांव के सामने आ जाते हैं और आश्रमवासी उन्हें पकड़कर दूर फेंक आते हैं। बिच्छू तो कई मर्तबा आश्रमवासियों को डंक मार चुके। एक दिन महादेवभाई ने कहा, "बापू, आप सर्प नहीं मारने देते, इसलिए आपको कभी बहुत पछताना पड़ेगा। आएदिन सांप आश्रमवासियों के पांवों में लोटते हैं। अबतक किसीको नहीं काटा, पर यदि दुर्घटना हुई और कोई मर गया तो आप कभी अपने-आपको

सन्तोष न दे सकेंगे।" "पर, महादेव," गांधीजी ने कहा, "मैंने कब किसीको मारने से मना किया है ? यह सही है कि मैं नहीं मारता; क्योंकि मुझे आत्मरक्षा के लिए भी सांप को मारना रुचिकर नहीं है पर अन्य किसीको मैं जोखिम में नहीं डालना चाहता। इसलिए लोगों को मारना हो, तो अवश्य मारें।" पर कौन मारे? गांधीजी नहीं मारते, तो फिर दूसरा कौन मारे ?

"हमारे किसी आश्रम में अबतक ईश्वर-कृपा से किसीको सांप ने नहीं काटा। सभी जगह सांपों की भरमार रही है, तथापि एक भी दुर्घटना नहीं हुई। मैं इसमें केवल ईश्वर का ही हाथ देखता हूं। कोई यह तर्क न करे कि क्या ईश्वर को आपके आश्रमवासियों से कोई खास मुहब्बत है, जो आपके नीरस कामों में इतनी माथा-पच्ची करता होगा ? तर्क करनेवाले ऐसे तर्क किया करें; पर मेरे पास इकरंगे इस अनुभव की व्याख्या करने के लिए सिवाय इसके कि यह ईश्वर का हाथ है, और कोई शब्द नहीं है। मनुष्य की भाषा ईश्वर की लीला को क्या समझा सकती है ? ईश्वर की माया तो अवाच्य और अगम्य है। पर यदि मनुष्य साहस करके समझाये, तो भी आखिर उसे अपनी अस्पष्ट भाषा की ही तो शरण लेनी पड़ती है। इसलिए कोई चाहे मुझे यह कहे कि आपके आश्रमों में यदि सांप से डसा जाकर अबतक कोई न मरा तो यह महज अकस्मात् था, इसे ईश्वर की कृपा कहना एक वहम है, पर मैं तो इस वहम से ही चिपटा रहूंगा।"

इस तरह गांधीजी की अहिंसा अग्नि-परीक्षा में सफल होकर सान पर चढ़ी है।

सात

"अहिंसा सत्य की बुनियाद है।" प्रायः गांधीजी जब-जब अहिंसा की बात करते हैं तब-तब ऐसा कहते हैं और सत्य पर जोर देते हैं। हमारे यहां आपद्धर्म के लिए कई अपवाद शास्त्रों में विहित माने गये हैं। प्राचीनकाल में जब बारह साल का घोर दुर्भिक्ष पड़ा, तब विश्वामित्र भूख से व्याकुल होकर जहां-तहां खाद्य-पदार्थ ढूंढ़ने निकले। जब कहीं भी उन्हें कुछ खाने को नहीं मिला, तो एक चाण्डाल-बस्ती में पहुंचे और रात को एक चाण्डाल के यहां से कुत्ते का मांस चुराने का निश्चय किया। पर चोरी करते समय उस चाण्डाल की आंख खुल गई और उसने ऋषि से कहा, "आप यह अधर्म क्यों कर रहे हैं ?" विश्वामित्र की तो दलील यही थी कि आपद्काल में ब्राह्मण के लिए चोरी भी विहित है।

आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टं च महीयसः।
विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्त्तव्यमिति निश्चयः॥

चाण्डाल ने उन्हें काफी धर्मोपदेश दिया। उन्हें समझाया कि आप पाप कर रहे हैं। अन्त में विश्वामित्र उपदेश सुनते-सुनते ऊब गये। कहने लगे कि "मेंढकों की टर्राहट से गाय सरोवर में जल पीने से विरत नहीं होती। तू धर्मोपदेश देने का अधिकारी नहीं है, इसलिए क्यों वृथा बकवाद करता है ?

पिबन्त्येवोदकं गावो मण्डूकेषु रुवत्स्वपि।
न तेऽधिकारो धर्मेऽस्ति मा भूरात्मप्रशंसकः॥

"और क्या मैं धर्म नहीं जानता ? यदि जिन्दा रहा तो फिर धर्म-साधन हो ही जायगा, पर शरीर न रहा तो फिर धर्म कहां ? इसलिए इस समय प्राण बचाना ही धर्म है।"

गांधीजी ने इस तरह का तर्क कभी नहीं किया। न उन्हें तर्क पसंद है।

कुछ काम उन्होंने आत्मा के विरुद्ध किये हैं। जैसे, उन्होंने दूध न पीने का व्रत लिया था। व्रत की बुनियाद में कई तरह के विचार थे। दूध ब्रह्मचारी के लिए उपयुक्त भोजन नहीं है, यह भी उनका मानना था, यद्यपि हमारे प्राचीन शास्त्रों से यह बात सिद्ध नहीं होती। पर जब व्रत लिया, तब गायों पर फूंके की प्रथा का अत्याचार, जो कलकत्ते में ग्वालों द्वारा प्रचलित था, उनकी आंख के सामने था। व्रत ले लिया। कई सालों तक चला। अन्त में अचानक रोग ने आ घेरा। सबने समझाया कि दूध लेना चाहिए। गांधीजी इन्कार करते गये। गोखले ने समझाया, अन्य डाक्टरों ने कहा, पर किसी की न चली। फिर दूसरी बीमारी का आक्रमण हुआ। वह ज्यादा खतरनाक थी। पर दूध के बारे में वही पुराना हठ जारी रहा। एक रोज बा ने कहा, "आपने प्रतिज्ञा ली तब आपके सामने गाय और भैंस के दूध का ही प्रश्न था, बकरी का तो नहीं था। आप बकरी का दूध क्यों न लें?" गांधीजी ने बा की बात मानकर बकरी का दूध लिया, और तब से बकरी का दूध लेते हैं। पर गांधीजी को यह शंका है कि उन्होंने बकरी का दूध लेकर भी व्रत-भंग का दोष किया या नहीं।

असल में तो गांधीजी की आदत है कि जो प्रतिज्ञा या व्रत लिया, उसका अधिक-से-अधिक व्यापक अर्थ करना और उसपर अटल रहना। यदि किया हुआ काम अनीतियुक्त मालूम हुआ, तो चट उस मार्ग से बिना किसीके आग्रह किये हट जाते हैं। पर जबतक उन्हें अपना मार्ग अनीतियुक्त नहीं लगता, तबतक छोटी-छोटी चीजों में भी वह परिवर्तन नहीं करते। घूमने जाते हैं तो उसी रास्ते से। सोने का स्थान वही, खाने का स्थान वही, बर्तन वही, चीजें वही। मैंने देखा है कि दिल्ली आते हैं तो आती बार निजामुद्दीन स्टेशन पर उतरते हैं और जाती बार बड़े स्टेशन पर गाड़ी में सवार होते हैं। मेरे यहां ठहरते हैं तो उसी कमरे में, जिसमें

बार-बार ठहरते आये हैं। मोटर बदलना भी नापसन्द है। किसी भी आदत को ख्वाहमख्वाह नहीं बदलते। छोटी चीजों में भी एक तरह की पकड़ है।

"सत्य मेरा सर्वोत्तम धर्म है, जिसमें सारे धर्म समा जाते हैं। सत्य के माने केवल वाणी का सत्य नहीं है, बल्कि विचार में भी सत्य। मिश्रित सत्य नहीं, पर वह नित्य, शुद्ध, सनातन और अपरिवर्तनशील सत्य, जो ईश्वर है। ईश्वर की तरह-तरह की व्याख्याएं हैं, क्योंकि उसके अनेक स्वरूप हैं। इन व्याख्याओं को सुनकर मैं आश्चर्यचकित हो जाता हूं और स्तब्ध भी हो जाता हूं। पर मैं ईश्वर को सत्यावतार के रूप में पूजता हूं। मैंने उसे प्राप्त नहीं किया है। पर उसकी मैं खोज में हूं। इस खोज में मैं फ़ना होने को भी तैयार हूं। पर जबतक मैं शुद्ध सत्य नहीं पा लेता तबतक उस सत्य का, जिसको मैंने सत्य माना है, अनुसरण करता हूं। इस सत्य की गली संकरी है और उस्तरे की धार की तरह पैनी है, पर मेरे लिए यह सुगम है। चूंकि मैंने सत्य-मार्ग को नहीं छोड़ा, इसलिए मेरी हिमालय जितनी बड़ी भूलें भी मुझे परेशानी में नहीं डालतीं।"

मालूम होता है कि सत्य, अहिंसा और ईश्वर में श्रद्धा, इन तीनों चीजों के अंकुर उनके हृदय में बचपन से ही थे। कौन बता सकता है कि कौन-सी चीज उनको पहले मिली ? पूर्वजन्म के बीज तो साथ ही आये थे, पर मालूम होता है कि इस जन्म में सत्य सबसे पहले अंकुरित हुआ। "बचपन में ही," वह कहते हैं, "एक चीज ने मेरे दिल में गहरी जड़ कर ली है, वह यह कि धर्म सब चीजों का मूल है। इसलिए सत्य मेरा परम लक्ष्य बन गया। इसका आकार ज्यों-ज्यों मेरे दिल में घर करता गया, त्यों-त्यों इसकी व्याख्या भी विस्तृत होती गई।"

गांधीजी बचपन में बड़ी लज्जाशील प्रकृति के थे। दस-बीस दोस्तों के बीच भी उनका मुंह नहीं खुलता था, और सार्वजनिक सभा में तो उनकी जबान एक तरह से बंद हो जाती थी। लन्दन में जब वह विद्याध्ययन में लगे थे तब छोटी-छोटी सभाओं में खड़े होकर बोलने का मौका आया तो जबान ने उनका साथ न दिया। लोगों ने इनकी शर्मीली प्रकृति का मजाक उड़ाया। इन्हें भी इसमें अपमान लगा; पर यह चीज जवानी तक बनी रही। बैरिस्टर बनकर भारत लौटने पर भी यह कमी बनी रही। बम्बई की अदालत में एक मुकदमे की पैरवी करने के लिए खड़े हुए तो घिग्घी बंध गई। मुवक्किल को कागज वापस लौटाकर इन्होंने अपने घर का रास्ता नापा।

यह शर्माऊ प्रकृति क्यों थी ? आज गांधीजी की जबान धाराप्रवाह चलती है, पर उस धाराप्रवाह में एक शब्द भी निरर्थक नहीं आता। क्या वह शर्माऊ प्रकृति सत्य का दूसरा नाम था ? क्या उनकी हिचकिचाहट इस बात की द्योतक थी कि वह बोलों को तोल-तोलकर निकालना चाहते थे, और क्या इस शर्माऊ प्रकृति ने सत्य की जड़ को नहीं पोसा ? "सिवा इसके कि मेरे शर्माऊपन के कारण

मैं वाज-वाज लोगों के मजाक का शिकार बन जाता था, मेरी इस प्रकृति से मुझे कभी हानि नहीं हुई, उलटा मेरा तो खयाल है, कि इससे मुझे लाभ ही हुआ। सवसे बड़ा लाभ तो मुझे यह हुआ कि मैं शब्दों की किफायत करना सीख गया। स्वभावतः मेरे विचारों पर एक तरह का अंकुश आ गया और अब मैं यह कह सकता हूं कि शायद ही कोई विचारहीन शब्द मेरी ज़बान या क़लम से निकलते हैं। मुझे ऐसा स्मरण नहीं कि जो-कुछ मैंने कभी कहा या लिखा, उसके लिए मुझे पश्चात्ताप करना पड़ा हो। अनुभव ने मुझे यह बताया कि मौन सत्य के पुजारी के लिए आत्मनिग्रह का एक जबरदस्त साधन है। अतिशयोक्ति या सत्य को दबाने या विकृत करने की प्रवृत्ति मनुष्य में अक्सर पाई जाती है। मौन एक ऐसा शस्त्र है, जो इन कमजोर आदतों का छेदन करता है। जो कम बोलता है, वह हर शब्द को तोल-तोलकर कहता है और इसलिए विचारहीन वाणी का कभी प्रयोग नहीं करता। मेरी इस लज्जाशील प्रकृति ने मेरी सत्य की खोज में मुझे अत्यन्त सहायता दी है।"

भगवान् जिसके सिर पर हाथ रखते हैं, उसके दूषण भी उसके लिए भूषण वन जाते हैं। शिव ने विषपान करके संसार का भला किया। इसके कारण उनका कण्ठ नीला पड़ गया, पर उसने शिव के सौन्दर्य को और भी बढ़ा दिया और शंकर नीलकंठ कहलाये। गांधीजी की लज्जाशील प्रकृति ने, मालूम होता है, उनके लिए कई अच्छी चीजें पैदा कर दीं—शब्दों की किफायतशारी और तोल-तोलकर शब्दों का प्रयोग।

सत्य में गांधीजी की इतनी श्रद्धा जम गई थी कि वह उनका एक स्वभाव-सा वन गया। सत्य के लाभ को वह युवावस्था में ही हृदयंगम कर चुके थे। जव लन्दन गये, तव अभोज्य भोजन और ब्रह्मचर्य के विषय में माता के सामने प्रतिज्ञा करके गये थे। चूंकि सत्य पर वह दृढ़ थे, उन्हें इस प्रतिज्ञा को निवाहने में कोई परिश्रम नहीं करना पड़ा। लक्ष्य के प्रति उनकी श्रद्धा ने उन्हें गड़हों में गिरने से बचा लिया।

आठ

"ईश्वर के अनेक रूप हैं, पर मैं उसी रूप का पुजारी हूं जो सत्य का अवतार है—वह नित्य, सनातन और अपरिवर्तनशील सत्य है, जो ईश्वर है।" हमारे पुराणों में कई जगह कहा है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये एक ही ईश्वर के तीन

रूप हैं। यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होता है कि गांधीजी की अहिंसा, सत्य और ईश्वर ये एक ही वस्तु हैं। रामनाम के माहात्म्य को गांधीजी ने पीछे पहचाना, पर इसमें श्रद्धा पहले हुई।

कहते हैं कि गांधीजी को बचपन में भूत का डर लगता था, इसलिए वह समय-कुसमय अंधेरे में जाने से डरते थे, पर इनकी नौकरानी रंभा ने इन्हें बताया कि रामनाम की ऐसी शक्ति है कि उसके उच्चारण से भूत भागता है। बालक गांधी को यह एक नया शस्त्र मिला और उसमें श्रद्धा जमती गई। पहले जो श्रद्धा अंधी थी, ज्ञानविहीन थी, वह धीरे-धीरे ज्ञानवती होने लगी और बाद में उस श्रद्धा के पीछे अनुभव भी जमा होने लगा।

मैंने देखा है कि गांधीजी जब उठते हैं, बैठते हैं, जंभाई लेते हैं, या अंगड़ाई लेते हैं, तो लम्बी सांस लेकर "हे राम, हे राम" ऐसा उच्चारण करते हैं। मैंने ध्यानपूर्वक अवलोकन किया है कि इनके "हे राम, हे राम" में कुछ आह होती है, कुछ करुणा होती है, कुछ थकान होती है। मैंने मन-ही-मन सोचा कि क्या वह यह कहते होंगे, "हे राम, अब बुड्ढे को क्यों तेली के बैल की तरह जोत रक्खा है? जो करना हो सो शीघ्र करो। जिस काम के लिए मुझे भेजा है उसकी पूर्णाहुति में विलम्ब क्यों?"

जयपुर के महाराज प्रतापसिंह कवि थे। अपनी बीमारी के असह्य दुःख को जब बर्दाश्त न कर सके, तब उन्होंने ईश्वर को उलाहना देते हुए गाया :

ग्वालीड़ा, थे काईं जाणो रे पीड़ पराई।
थारे हाथ लकुटिया, कांधे कमलिया, थे बन-बन धेनु चराई॥

पर गांधीजी के सम्बन्ध में शायद ऐसा न होगा, क्योंकि गांधीजी में धीरज है। वह जानते हैं, ईश्वर की उन पर अत्यन्त अनुकंपा है। उन्हें ईश्वर में विश्वास है। यश-अपयश और हानि-लाभ की चिन्ता उन्होंने भगवान् के चरणों में समर्पण कर दी है, इसलिए उन्हें अधैर्य नहीं है, उन्हें असंतोष नहीं है। पर तो भी उनका करुणामय "हे राम, हे राम" कुछ द्रौपदी की पुकार या गज के आर्त्तनाद की-सी कल्पना कराता है।

कुछ वर्षों पहले की बात है। एक सज्जन ने, जो भक्त माने जाते हैं, गांधीजी को लिखा, "मुझे रात को एक स्वप्न आया। स्वप्न में मैंने श्रीकृष्ण को देखा। श्रीकृष्ण ने मुझसे कहा, 'गांधी से कहो कि अब उसका अन्त नजदीक आ गया है, इसलिए उसे चाहिए कि वह सारे काम-धाम छोड़कर केवल ईश्वर-भजन में ही लगे।'" गांधीजी ने उस मित्र को लिखा, "भाई, मैं तो एक पल के लिए भी ईश्वर-भजन को नहीं बिसारता। पर मेरे लिए लोक-सेवा ही ईश्वर-भजन है। दूसरी बात, समय नजदीक आ गया है, क्या इसीलिए हम ईश्वर-भजन करें? मैं तो यह मानता हूं कि हमारी गर्दन हम जन्मते हैं उसी दिन से यमराज के हाथ में है।

फिर ईश्वर-भजन करने के लिए हम बुढ़ापे तक क्यों ठहरें ? ईश्वर-भजन तो हर अवस्था में हमें करना चाहिए।"

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

ईश्वर में उनकी श्रद्धा इस जोर के साथ जम गई है कि हर चीज में वह ईश्वर की ही कृति देखते हैं। आश्रमों में सांपों ने किसी को नहीं काटा, यह ईश्वरीय चमत्कार है। छोटी-मोटी कोई घटना होती, तो वह कहते हैं—"इसमें ईश्वर का हाथ है।"

गांधी-अरविन-समझौते के बाद वाइसराय के मकान से आते ही उन्होंने पत्र-प्रतिनिधियों को एक लम्बा बयान दिया, जो उस समय एक अत्यन्त महत्त्व का वक्तव्य समझा गया था। वक्तव्य देने से पहले उन्हें खयाल भी न था कि क्या कहना उचित होगा, पर ज्योंही बोलना शुरू किया कि जिह्वा धाराप्रवाह चलने लगी, मानों सरस्वती वाणी पर बैठी हो। इसी तरह गोलमेज-परिषद् में उनका पहला व्याख्यान महत्त्वपूर्ण व्याख्यानों में से एक था। उस व्याख्यान के देने से पहले भी उन्होंने कोई सोच-विचार नहीं किया था। वैसे तो उनके लिए यह साधारण घटना थी, पर दोनों घटनाओं के पश्चात् जब मैंने कहा, "आपका यह वक्तव्य अनुपम था, आपका यह व्याख्यान अद्वितीय था"—तो उन्होंने कहा, "इसमें ईश्वर का हाथ था।"

हम लोग भी, यदि हमसे कोई कहे कि आपका अमुक काम अच्छा हुआ तो, शायद यह कहेंगे, "हां, आपकी दया से अच्छा हुआ" या "ईश्वर का अनुग्रह था।" पर हम लोग जब ईश्वर के अनुग्रह की बात करते हैं, तब एक तरह से वह सौजन्य या शिष्टाचार की बात होती है, किन्तु गांधीजी जब यह कहते हैं कि 'इसमें ईश्वर का हाथ था', तब दरअसल वह इसी तरह महसूस भी करते हैं। उनकी श्रद्धा एक चीज है, केवल शिष्टाचार या सौजन्य की वस्तु नहीं।

एक इनका प्रिय साथी है, जो दुश्चरित्र है। उसको यह अपने घर में रखते थे। यह अफ्रीका की घटना है। यद्यपि वह साथी चरित्रहीन था, पर उसपर निश्शंक होकर गांधीजी विश्वास करते थे। उसकी कुछ त्रुटियों का इन्हें ज्ञान था, पर इन्हें यह विश्वास था कि इनकी संगति से सुधर जायगा। एक रोज इनका नौकर दफ्तर में पहुंचता है और कहता है कि जरा आप घर चलकर देखें कि आपका विश्वासपात्र साथी आपको कैसे धोखा दे रहा है। गांधीजी घर आते हैं और देखते हैं कि उस विश्वासपात्र साथी ने एक वेश्या को घर पर बुला रक्खा है! इन्हें सदमा पहुंचता है। उस साथी को घर से हटाते हैं। उसके प्रति इन्हें प्रेम था। उसका सुधार करने के लिए ही उसे पास टिका रक्खा था। इनके लिए यह भी एक कर्त्तव्य का प्रयोग था। पर इसका जिक्र करते समय यही कहते हैं,

"ईश्वर ने मुझे बचा लिया है। मेरा उद्देश्य शुद्ध था, इसलिए भगवान् ने मुझे भविष्य के लिए चेतावनी देकर सावधान कर दिया और भूलों से बचा लिया।" यह सारा किस्सा इनके अन्धविश्वास और भूल साबित होने पर झट अपनी भूल सुधार लेने की वृत्ति का एक सजीव उदाहरण है।

एक घटना मणिलालभाई के, जो इनके द्वितीय पुत्र हैं, कालज्वर से आक्रान्त हो जाने की है, जिसे मैं नीचे गांधीजी के शब्दों में ही उद्धृत करता हूं :

"मेरा दूसरा लड़का बीमार हो गया। कालज्वर ने उसे घेर लिया था। बुखार उतरता नहीं था। घबराहट तो थी ही; पर रात को स. .त के लक्षण भी दिखाई देने लगे। इस व्याधि से पहले, बचपन में, उसे शीतला भी खूब निकल चुकी थी।

"डाक्टर की सलाह ली। डाक्टर ने कहा—इसके लिए दवा का उपयोग नहीं हो सकता। अब तो इसे अंडे और मुर्गी का शोरबा देने की जरूरत है।

"मणिलाल की उम्र दस साल की थी, उससे तो क्या पूछना था ! जिम्मेदार तो मैं ही था, मुझे ही निर्णय करना था। डाक्टर एक भले पारसी सज्जन थे। मैंने कहा—डाक्टर, हम सब तो अन्नाहारी हैं। मेरा विचार तो लड़के को इन दोनों में से एक भी वस्तु देने का नहीं है। दूसरी वस्तु न बतलायेंगे ?

"डाक्टर बोले—तुम्हारे लड़के की जान खतरे में है। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है; पर उससे पूरा संतोष नहीं हो सकता। तुम जानते हो कि मैं तो बहुत-से हिन्दू-परिवारों में जाया करता हूं; पर दवा के लिए तो हम जो चाहते हैं वही चीज उन्हें देते हैं, और वे उसे लेते भी हैं। मैं समझता हूं कि तुम भी अपने लड़के के साथ ऐसी सख्ती न करो तो अच्छा होगा।

"आप जो कहते हैं वह तो ठीक है, और आपको ऐसा करना ही चाहिए; पर मेरी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है, यदि लड़का बड़ा होता, तो जरूर उसकी इच्छा जानने का प्रयत्न भी करता और जो वह चाहता, वही उसे करने देता; पर यहां तो इसके लिए मुझे ही विचार करना पड़ रहा है। मैं तो समझता हूं कि मनुष्य के धर्म की कसौटी ऐसे ही समय होती है। चाहे ठीक हो या गलत, मैंने तो इसको धर्म माना है कि मनुष्य को मांसादि न खाना चाहिए। जीवन के साधनों की भी सीमा होती है। जीने के लिए भी अमुक वस्तुओं को हमें नहीं ग्रहण करना चाहिए। मेरे धर्म की मर्यादा मुझे और मेरे स्वजनों को भी ऐसे समय पर मांस इत्यादि का प्रयोग करने से रोकती है। इसलिए आप जिस खतरे को देखते हैं, मुझे उसे उठाना ही चाहिए। पर आपसे मैं एक बात चाहता हूं। आपका इलाज तो मैं नहीं करूंगा; पर मुझे इस बालक की नाड़ी और हृदय को देखना नहीं आता है। जल-चिकित्सा की मुझे थोड़ी जानकारी है। उपचारों को मैं करना चाहता हूं; परन्तु आप नियम से मणिलाल की तबीयत देखने को आते रहें और उसके

शरीर में होने वाले फेरफारों से मुझे अभिज्ञ कराते रहें, तो मैं आपका उपकार मानूंगा।"

"सज्जन डाक्टर मेरी कठिनाइयों को समझ गये और मेरी इच्छानुसार उन्होंने मणिलाल को देखने के लिए आना मंजूर कर लिया।

"यद्यपि मणिलाल अपनी राय कायम करने लायक नहीं था, तो भी डाक्टर के साथ मेरी जो बातचीत हुई थी, वह मैंने उसे सुनाई और अपने विचार प्रकट करने को कहा।

"आप सुखपूर्वक जल-चिकित्सा कीजिए। मैं शोरवा नहीं पीऊंगा, और न अंडे ही खाऊंगा।' उसके इन वाक्यों से मैं प्रसन्न हो गया, यद्यपि मैं जानता था कि अगर मैं उसे दोनों चीजें खाने को कहता तो वह खा भी लेता।

"मैं कूने के उपचारों को जानता था, उनका उपयोग भी किया था। बीमारी में उपवास का स्थान बड़ा है, यह मैं जानता था। कूने की पद्धति के अनुसार मैंने मणिलाल को कटिस्नान कराना शुरू किया। तीन मिनट से ज्यादा उसे मैं टब में नहीं रखता। तीन दिन तो सिर्फ नारंगी के रस में पानी मिलाकर देता रहा और उसी पर रक्खा।

"बुखार दूर नहीं होता था और रात को वह कुछ-कुछ बड़बड़ाता था। बुखार १०४ डिग्री तक हो जाता था। मैं चकराया। यदि बालक को खो बैठा तो जगत् में लोग मुझे क्या कहेंगे ? बड़े भाई क्या कहेंगे ? दूसरे डाक्टर को क्यों न बुलाया जाय ? क्यों न बुलाऊं ? मां-बाप को अपनी अधूरी अक्ल आजमाने का क्या हक है ?

"ऐसे विचार उठते। पर ये विचार भी उठते—'जीव !. जो तू अपने लिए करता है, वही लड़के के लिए भी कर। इससे परमेश्वर सन्तोष मानेंगे। तुझे जल-चिकित्सा पर श्रद्धा है, दवा पर नहीं। डाक्टर जीवन-दान तो दे देते नहीं। उनके भी तो आखिर में प्रयोग ही न हैं ? जीवन की डोरी तो एकमात्र ईश्वर के हाथ में है। ईश्वर का नाम ले और उस पर श्रद्धा रख। अपने मार्ग को न छोड़।'

"मन में इस तरह उथल-पुथल मचती रही। रात हुई। मैं मणिलाल को अपने पास लेकर सोया हुआ था। मैंने निश्चय किया कि उसे भीगी चादर की पट्टी में रखा जाय। मैं उठा, कपड़ा लिया, ठंडे पानी में उसे डुबोया और निचोड़-कर उसमें पैर से लेकर सिर तक उसे लपेट दिया और ऊपर से दो कम्बल ओढ़ा दिये। सिर पर भीगा हुआ तौलिया भी रख दिया। शरीर तवे की तरह तप रहा था, पसीना तो आता ही न था।

"मैं खूब थक गया था। मणिलाल को उसकी मां को सौंपकर मैं आध घण्टे के लिए खुली हवा में ताजगी और शांति प्राप्त करने के इरादे से चौपाटी की तरफ चला गया। रात के दस बजे होंगे। मनुष्यों की आमद-रफ्त कम हो गई थी;

पर मुझे इसका खयाल न था ! विचार-सागर में गोते लगा रहा था—'हे ईश्वर! इस धर्म-संकट में तू मेरी लाज रखना।' मुंह से 'राम-राम' की रटन तो चल ही रही थी। कुछ देर के बाद मैं वापस लौटा। मेरा कलेजा धड़क रहा था। घर में घुसते ही मणिलाल ने आवाज दी, 'बापू ! आ गये ?'

"हां, भाई।"

"मुझे इसमें से निकालिए न ! मैं तो मारे आग के मरा जा रहा हूं।"

"क्यों, पसीना छूट रहा है क्या ?"

"अजी, मैं तो पसीने से तर हो गया। अब तो मुझे निकालिए न !"

"मैंने मणिलाल का सिर देखा। उसपर मोती की तरह पसीने की बूंदें चमक रही थीं। बुखार कम हो रहा था। मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया।

"मणिलाल, घबरा मत। अब तेरा बुखार चला जायगा; पर कुछ और पसीना आ जाय तो कैसा ?" मैंने उससे कहा।

"उसने कहा, 'नहीं बापू ! अब तो मुझे छुड़ाइए। फिर देखा जायगा।'

"मुझे धैर्य आ गया था, इसीलिए बातों ही में कुछ मिनट गुजार दिये। सिर से पसीने की धारा बह चली। मैंने चद्दर को अलग किया और शरीर को पोंछकर सूखा कर दिया। फिर बाप-बेटे दोनों सो गये। दोनों खूब सोये।

"सुबह देखा तो मणिलाल का बुखार बहुत कम हो गया था। दूध,पानी तथा फलों पर चालीस दिन तक रक्खा। मैं निडर हो गया था। बुखार हठीला था; पर वह काबू में आ गया था। आज मेरे लड़कों में मणिलाल ही सबसे अधिक स्वस्थ और मजबूत है।

"इसका निर्णय कौन कर सकता है कि रामजी की कृपा है या जल-चिकित्सा, अल्पाहार की अथवा और किसी उपाय की ? भले ही सभी अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार बरतें; पर उस वक्त मेरी तो ईश्वर ने ही लाज रक्खी। यही मैंने माना, और आज भी मानता हूं।"

मुझे तो लगता है, और शायद औरों को भी लगे कि गांधीजी का यह प्रयोग 'ऊंट-वैद्य' या 'नीम-हकीम' का-सा प्रयोग था। यह जोखिम उठाना उचित नहीं था। "पर डाक्टर कहां शर्तिया इलाज करता है, और जो चीज धर्म के विपरीत हो, उसे हम जान बचाने के लिए भी कैसे करें ?"

तृतीय पुत्र रामदास को साधारण चोट लगी थी, उसपर भी कुछ ऐसे ही मिट्टी के उपचार के प्रयोग किये गए। यह भी एक साधारण घटना थी, पर इसका जिक्र करने में भी वही ईश्वरवाद आता है : "मेरे प्रयोग पूर्णतः सफल हुए, ऐसा मेरा दावा नहीं है। पर डाक्टर भी ऐसा दावा कहां कर सकते हैं ? मैं इन चीजों का जिक्र इसी नीयत से करता हूं कि जो इस तरह के नवीन प्रयोग करना चाहे, उसे स्वयं अपने ऊपर ही इसकी शुरुआत करनी चाहिए। ऐसा करने से सत्य

की प्राप्ति शीघ्र होती है। ईश्वर ऐसा प्रयोग करनेवाले की रक्षा करता है।"

ये वचन निश्चय ही सांसारिक मापतोल के हिसाब से अव्यावहारिक हैं। सांसारिक मापतौल, अर्थात्—जिसे लोग सांसारिक मापतोल मानते हैं, क्योंकि दरअसल तो अध्यात्म और व्यवहार दोनों असंगत वस्तुएं हो ही नहीं सकतीं। यदि अध्यात्म की संसार से पटरी न खाये तो यह फिर कोरी कल्पना की चीज रह जाता है। पर यह तर्क तो हम आसानी से कर सकते हैं कि जो क्षेत्र हमारा नहीं है, उसमें पड़ने का हमें अधिकार ही कहां है? यह सही है कि डाक्टर भी सम्पूर्ण नहीं हैं, पर यह भी कहा जा सकता है कि जिसने डाक्टरी नहीं सीखी, वह डाक्टर से कहीं अपूर्ण है। पर गांधीजी इसका जवाब यह देंगे कि प्राकृतिक चिकित्सा के प्रयोग ही ऐसे हैं कि लाभ कम करें या ज्यादा, हानि तो कर ही नहीं सकते।

मैंने देखा है कि आज भी ऐसे प्रयोगों के प्रति उनकी रुचि कम नहीं हुई है। आज भी आश्रम में यक्ष्मा के रोगी हैं, कुष्ठ के रोगी हैं, और कई तरह के रोगी हैं और उनकी चिकित्सा में गांधीजी रस लेते हैं। इसमें भावना तो सेवा की है। रोगियों की सेवा और पतितों की रक्षा, यह उनकी प्रवृत्ति है। पर शायद जाने-अनजाने उनके चित्त में यह भी भावना है कि गरीब मुल्क में ऐसी चिकित्सा, जो सुलभ हो, जो सादी हो, जो गांव-गंवई में भी की जा सके, जिसमें विशेष व्यय न हो, बजाय कीमती चिकित्सा के ज्यादा उपयोगी हो सकती है। इस दृष्टि से भी उनके प्रयोग जारी हैं। उनमें से कोई उपयोगी वस्तु ढूंढ़ निकालने का लोभ चल ही रहा है और चूंकि ये प्रयोग सेवा के लिए सेवा की दृष्टि से होते हैं, यदि ये भगवान् के भरोसे न हों तो काफी संकल्प-विकल्प और अशान्ति भी पैदा कर सकते हैं। जो हो, कहना तो यह था कि गांधी की ईश्वर-श्रद्धा हर काम में हर समय कैसे गतिमान रहती है।

"मैं निश्चयपूर्वक तो नहीं कह सकता कि मेरे तमाम कार्य ईश्वर की प्रेरणा से होते हैं; पर जब मैं अपने बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे कामों का लेखा लगाता हूं तो मुझे यह लगता है कि वे ईश्वर की प्रेरणा से किये गए थे, ऐसा कथन अनुपयुक्त नहीं होगा। मैंने ईश्वर का दर्शन नहीं किया, पर उसमें मेरी श्रद्धा अमिट है और उस श्रद्धा ने अब अनुभव का रूप ले लिया है। शायद कोई यह कहे कि श्रद्धा को अनुभव का उपनाम देना, यह सत्य की फजीहत होगी। इसलिए मैं कहूंगा कि मेरी ईश्वर-श्रद्धा का नामकरण करने के लिए मेरे पास और कोई शब्द नहीं है।"

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में लिखते हुए भी वही 'रामनाम' साधकों के सामने रख देते हैं : "बिना उस प्रभु की शरण में गये विचारों पर पूर्ण आधिपत्य असम्भव है, पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन के अपने इस सतत प्रयत्न में, हर पल, मैं इस सीधे-सादे सत्य का अनुभव कर रहा हूं।"

वा को अफ्रीका में भयंकर बीमारी ने आ घेरा, तब मांस के शोरबे का प्रश्न आया। बा और गांधीजी दोनों ने डाक्टर की राय को अस्वीकार किया। वहां भी जीवन-मरण का प्रश्न था। वहां भी गांधीजी के वही उद्गार थे : "ईश्वर में विश्वास करके मैं अपने मार्ग पर डटा रहा", और अन्त में विजय हुई।

पर इससे भी छोटी घटनाओं में गांधीजी ईश्वर की लीला का वर्णन करते हैं। स्वदेश लौट आने के बाद जब-जब वह दौरे पर जाते थे, तब-तब थर्ड क्लास में ही यात्रा करते थे। उस जमाने में गांधीजी के नाम से तो काफी लोग परिचित हो गये थे, पर आज की तरह सूरत-शक्ल से सब लोग उन्हें पहचानते नहीं थे। जहां जाते थे वहां लोगों को पता लगने पर दर्शनार्थियों की तो भीड़ लग जाती थी, जिसके मारे उन्हें एकान्त मिलना दुष्कर हो जाता था, पर गाड़ी में जहां लोग उन्हें पहचानते न थे वहां जगह मिलने की मुसीबत थी, और उन दिनों वह प्रायः अकेले ही घूमते थे।

वर्षों की बात है। गांधीजी लाहौर से दिल्ली जा रहे थे। वहां से फिर कलकत्ते जाना था। कलकत्ते में एक मीटिंग होनेवाली थी, इसलिए समय पर पहुंचना था। पर लाहौर के स्टेशन पर जब गाड़ी पकड़ने लगे तो गाड़ी में कहीं भी जगह न मिली। आखिर एक कुली ने इनसे बारह आने की बख्शीश मिले तो बिठा देने का वायदा किया। इन्होंने बख्शीश देने का करार किया, पर जगह तो थी ही नहीं। एक डिब्बे के लोगों ने कहा, "जगह तो नहीं है, पर चाहो तो खड़े रह सकते हो।" गांधीजी को जैसे-तैसे रेल में बैठना था, इसलिए खड़े रहना ही स्वीकार किया। कुली ने इन्हें खिड़की के रास्ते डिब्बे में ढकेलकर अपने बारह आने गांठ में दबाये।

रात का समय और खड़े-खड़े रात काटना। दो घंटे तक तो खड़े-खड़े समय काटा। कमजोर शरीर, रास्ते की थकान। फिर गाड़ी का शोरगुल, धूल और धुंआ और खड़े रहकर यात्रा करना। कुछ धक्का-मुक्की करना जाननेवाले लोग तो लम्बी तानकर सो गये थे, पर इन्होंने तो बैठने के लिए भी जगह नहीं मांगी। कुछ लोगों ने देखा, यह अजीब आदमी है, जो बैठने के लिए भी झगड़ा नहीं करता। अन्त में लोगों का कुतूहल बढ़ा। "भाई, बैठ क्यों नहीं जाते ?" कुछ ने कहा। पर इन्होंने कहा, "जगह कहां है ?" आखिर लोग नाम पूछने लगे। नाम बताया, तब तो सन्नाटा छा गया। शर्म के मारे लोगों की गर्दनें झुक गईं। चारों तरफ से लोगों ने अपने हाथ-पांव समेटने शुरू किये। क्षमा मांगी जाने लगी और अन्त में जगह दी और सोने को स्थान दिया। थककर प्रायः बेहोश-जैसे हो गये थे। सिर में चक्कर आते थे। इस घटना का जिक्र करते समय भी गांधीजी इसमें ईश्वर की अनुकंपा पाते हैं : "ईश्वर ने मुझे ऐसे मौके पर सहायता भेजी जबकि मुझे उसकी सख्त जरूरत थी।"

निलहे गोरों के अत्याचार से पीड़ित किसानों के कष्ट काटने के लिए वह जब चम्पारन जाते हैं तो किसानों की सभा करते हैं। दूर-दूर से किसान मीटिंग में आकर उपस्थित होते हैं। गांधीजी जब उस मीटिंग में जाते हैं तब उन्हें लगता है मानो ईश्वर के सामने खड़े हैं : "यह कहना अत्युक्ति नहीं, बल्कि अक्षरशः सत्य है कि उस सभा में मैंने ईश्वर, अहिंसा और सत्य, तीनों के साक्षात् दर्शन किये।" और फिर जब हम पकड़े जाते हैं तो हाकिम के सामने जो बयान देते हैं वह सब प्रकार से प्रभावशाली और सौजन्यपूर्ण होता है। उसमें भी अन्त में कहते हैं, "श्रीमान् मजिस्ट्रेट साहब, मैं जो-कुछ कह रहा हूं, वह इसलिए नहीं कि मेरे गुनाह की उपेक्षा करके मुझे कम सजा दें। मैं केवल यही बता देना चाहता हूं कि मैंने आपकी आज्ञा भंग की, वह इसलिए नहीं कि मेरे दिल में सरकार के प्रति इज्जत नहीं है, पर इसलिए कि ईश्वर की आज्ञा के सामने आपकी आज्ञा मान ही नहीं सकता था।"

ये असाधारण वचन हैं। एक तरह से भयंकर भी हैं। क्या हो यदि हर मनुष्य इस तरह के वचन बोलने लग जाय ? "अन्दरूनी आवाज", "अन्तर्नाद" या "आकाशवाणी" सुनना हरेक की किस्मत में नहीं बदा होता। इन चीजों के लिए पात्रता चाहिए। कर्मों के पीछे त्याग और तप चाहिए। सत्य चाहिए। साहस चाहिए। विवेक चाहिए। समानत्व चाहिए। अपरिग्रह चाहिए। जो केवल सेवा के लिए ही जिन्दा है, जिसे हानि-लाभ में कोई आसक्ति नहीं, जिसने कर्मयोग को साधा है, जिसकी ईश्वर में असीम श्रद्धा है, जिसको अभिमान छू तक नहीं गया, वही मनुष्य अंतर्नाद सुन सकता है। पर झूठी नकल तो सभी कर सकते हैं। "मुझे अन्दरूनी आवाज कहती है", ऐसा कथन कई लोग करने लगे हैं। गांधीजी की झूठी नकल अवश्य ही भयप्रद है, पर कौन-सी अच्छी चीज का संसार में दुरुपयोग नहीं होता ?

पर प्रस्तुत विषय तो गांधीजी की ईश्वर में श्रद्धा दिखाना है। लड़के का बुखार छूटता है तो ईश्वर की मर्जी से, गाड़ी में जगह मिलती है तो ईश्वर की मर्जी से और सरकारी हुक्म की अवज्ञा होती है तो ईश्वर की आज्ञा से। ऐसे पुरुष के साथ कभी-कभी सांसारिक भाषा में बात करनेवालों को चिढ़ होती है। वाइसराय विलिंग्डन को भी चिढ़ थी। पर आखिर गांधीजी के बिना काम भी तो नहीं चलता। चिढ़ हो तो हो। पेचदार भाषा की उलझन सामने होते हुए भी काम तो इन्हीं से लेना है। राजकोट में जब आमरण उपवास किया, तब वाइसराय लिनलिथगो ने इन्हें तार भेजा कि "उपवास करने से पहले आप कम-से-कम मुझे सूचना तो दे देते। आप तो मुझे जानते हैं, इसलिए यकायक आपने यह क्या किया ?" गांधीजी ने लिखा, "पर मैं क्या करता ? जब अन्तर्नाद होता है, तब कैसी सलाह और कैसा मशविरा ?"

बात-बात में ईश्वर को सामने रखकर काम करने और बात करने की इनकी आदत, यह कोई अव्यावहारिक वस्तु नहीं है। बात यह है कि गांधीजी की हर चीज में जो धार्मिक दृष्टि है वह हम सबके लिए समझना कठिन है। उनकी ईश्वर के प्रति जीती-जागती सतत श्रद्धा को हम समझ नहीं सकते। इसलिए हमें कभी परेशानी तो कभी चिढ़ होती है। पर यदि हम वेतार के तार के विज्ञान को पूरा न समझते हों, तो क्या उस वैज्ञानिक से परेशान हो जायंगे, जो हमें इस विज्ञान को समझाने की कोशिश करता हो ? क्या हम उस वैज्ञानिक से चिढ़ जायंगे, जो हमसे वैज्ञानिक भाषा में उस विज्ञान की चर्चा करता है, जिसे हम समझ नहीं पाते; क्योंकि हम उस भाषा से अनभिज्ञ हैं ? गांधीजी का भी वही हाल है। अध्यात्म-विज्ञान के मर्म को उन्होंने पढ़कर नहीं, बल्कि आचरण द्वारा पहचाना है।

गांधीजी में जब धर्म की भावना जाग्रत हुई तब उन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। हिन्दू-धर्म की खोज की। ईसाई-मत का अध्ययन किया। इस्लाम के ग्रंथ पढ़े। जरथुस्त्र की रचनाएं पढ़ीं। चित्त को निर्विकार रखकर बिना पक्ष-पात के सब धर्मों के तत्त्वों को समझने की कोशिश की। आसक्तिरहित होकर सत्यधर्म को, जो गुफा में छिपा था, जानने का प्रयत्न किया। 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।' इससे उनकी निरपेक्षता बढ़ी, उनका प्रयत्न तेजस्वी बना, पर उन्हें सत्य मिला। उनमें बल आया। उनमें नीर-क्षीर-विवेक आया। साथ ही निश्चया-त्मक बुद्धि भी प्रबल हुई। उनके निश्चय फौलाद के बनने लगे। अन्तर्नाद सुनाई देने लगा। इस अन्तर्नाद की चर्चा में उनका संकोच भागा।

नौ

पर क्या वह हवा में उड़ते हैं ? क्या वह अव्यावहारिक बन गये हैं ? तो फिर यह भी पूछा जाय कि क्या एक वैज्ञानिक अव्यावहारिक होता है ? गांधीजी इकहत्तर साल के हो चुके। इन इकहत्तर बरसों में इन्होंने इतना नाम पाया, जितना अपने जीवन में किसी महापुरुष ने नहीं कमाया। संसार इन्हें एक महात्मा की अपेक्षा एक महान् राजनीतिज्ञ नेता के रूप में ज्यादा जानता है। संकुचित विचार के अंग्रेज इन्हें एक छलिया, फरेबी, पेचीदा और कूट राजनीतिज्ञ समझते हैं। कट्टरपंथी मुसलमान इन्हें एक धूर्त्त और चालबाज हिन्दू ससझते हैं, जिसका उद्देश्य है हिन्दू-राज की स्थापना। इससे कम-से-कम इतना तो प्रकट है कि यह कोई हवाई उड़ान वाले अव्यावहारिक पुरुष तो नहीं हैं। भारत की नाव का जिस चातुरी, धीरज

और हिम्मत के साथ इन्होंने पहले बीस साल अफ्रीका में और फिर पच्चीस साल स्वदेश में संचालन किया उसे देखकर चकित होना पड़ता है। यह कोई अव्यावहारिक मनुष्य का काम नहीं था। इनका राजनीति में इन बीस बरसों में एकछत्र राज रहा है। किसी ने उन्हें चुनौती नहीं दी, और यदि दी तो वह स्वयं गिर गया। गांधीजी राजनीति में आज एक अत्यावश्यक, एक अपरिहार्य व्यक्ति बन गये हैं। क्या यह हवा में विचरने का सबूत है? इनके पास सिवा प्रेम के बल के और कौन-सा बल है? पर इस प्रेम के बल ने इनके अनुयायियों के दिलों में इनका सिक्का जमा दिया है। इनके विपक्षियों पर इस प्रेम की छाप पड़ी है। ऐसे राजनीतिज्ञ नेता को कौन अव्यावहारिक कहेगा? जो मनुष्य देश के लोगों में एक जोरदार राजनैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक प्रगति पैदा कर दे और उन्हें इन क्षेत्रों में बड़े जोर से उठाये, उसे भला कौन हवाई किले का बाशिंदा कहेगा? मेरा खयाल है, गांधीजी से बढ़कर चतुर और व्यावहारिक राजनीतिज्ञ कम देखने में आते हैं।

पर असल बात तो यह है कि गांधीजी के जीवन में राजनीति गौण है। असल चीज तो उनमें है धर्मनीति। राजनीति उन्होंने धारण की; क्योंकि यह भी उनके लिए मोक्ष का एक साधन है। खादी क्या, हरिजन-कार्य क्या, जल-चिकित्सा क्या, और बछड़े की हत्या क्या, सारी-की-सारी उनकी हलचलें मोक्ष के साधन हैं। लक्ष्य उनका है—ईश्वर-साक्षात्कार। उपर्युक्त सब व्यवसाय उनके लिए केवल साधन हैं। गांधीजी को जो केवल एक राजनैतिक नेता के रूप में देखते हैं, उनके लिए गांधीजी की ईश्वर की रटंत, उनकी प्रार्थना, उनका अंतर्नाद, उनकी अहिंसा, उनकी अन्य सारी आध्यात्मिकता, ये सब चीजें पहेली हैं। जो उन्हें आत्मज्ञानी के रूप में देखते हैं, उनके लिए उनकी राजनीति केवल साधन-मात्र दिखाई देती है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण मुच्यते॥

गीता के इस तत्त्व को समझकर हम गांधीजी का अध्ययन करें, तो फिर वह पहेली नहीं रहते।

"तो क्या एक अध्यात्मवादी राजनीति का सुचारु रूप से संचालन कर सकता है?" यह प्रश्न कई लोग करते हैं।

इसका उत्तर यही है कि यदि नहीं संचालन कर सकता तो क्या एक झूठा, अकर्मण्य, लोभी, स्वार्थी, अधार्मिक आदमी कर सकता है? यदि एक निःस्वार्थ, ईश्वर-भक्त मनुष्य राजनीति का संचालन नहीं कर सकता, तो फिर गीता को पढ़कर हमें रद्दी की टोकरी में फेंक देना चाहिए। यदि राजनीति झूठ और दांवपेच की ही एक कला है, तो फिर 'यतो धर्मस्ततो जयः' के कोई माने नहीं।

हमने गलती से यों मान रखा है कि धर्म और राजनीति ये दो असंगत वस्तुएं

हैं। गांधीजी ने इस भ्रम का छेदन किया और अपने आचरणों से हमें यह दिखा दिया कि धर्म और अर्थ दो चीजें नहीं हैं। सबसे बड़ा अर्थ है : परम + अर्थ = परमार्थ। गीता ने जो कहा, उसका आचरण गांधीजी ने किया। जिस चीज को हम केवल पाठ की वस्तु समझते थे, वह आचरण की वस्तु है, कोरी पाठ की नहीं, गांधीजी ने हमें यह बताया। गांधीजी ने कोई नई बात नहीं की। राजनीति और धर्मनीति का जिस तरह श्रीकृष्ण ने समन्वय किया, जिस तरह जनक ने राजा होकर विरक्त का आचरण किया, उसी तरह कर्मयोग को गांधीजी ने अपने आचार द्वारा प्रत्यक्ष किया। जिस तलवार में जंग लग चुका था, उसे गांधीजी ने फिर से सान पर चढ़ाकर नया कर दिया।

दस

उन्तीस अप्रैल सन् १९३३ की बात है। उन दिनों हरिजन-समस्या गांधीजी का काफी हृदय-मंथन कर रही थी। यरवदा-पैक्ट के बाद देश में एक नई लहर आ रही थी। जगह-जगह उच्चवर्ण हिन्दुओं में हजारों साल तक हरिजनों के प्रति किये गये अत्याचारों के कारण आत्मग्लानि जाग्रत हो रही थी। हरिजन-सेवक-संघ जोर-शोर से अपना सेवा-कार्य विस्तृत करता जा रहा था। गांधीजी के लेखों ने हरिजन-कार्य में एक नई प्रगति ला दी थी। सत्याग्रह तो ठंडा पड़ चुका था। वाइसराय विलिंग्डन ने मान लिया था कि गांधीवाद का सदा के लिए खात्मा होने जा रहा है। पर प्रधान मन्त्री रेम्जे मैक्डानल्ड के निर्णय के विरुद्ध गांधीजी के आमरण उपवास ने एक ही क्षण में आये हुए शैथिल्य का नाश करके एक नया चैतन्य ला दिया। लोगों ने राजनैतिक सत्याग्रह को तो वहीं छोड़ा और चारों तरफ से हरिजन-कार्य में उमड़ पड़े। यह एक चमत्कार था। वर्षों से गांधीजी हरिजन-कार्य का प्रचार कर रहे थे, पर उच्चवर्ण हिंदुओं की आत्मा को वह जाग्रत नहीं कर सके थे। जो काम वर्षों में नहीं हो पाया था, अब वह अचानक हो गया।

पर जैसे हर क्रिया के साथ प्रतिक्रिया होती है वैसे ही हरिजन-कार्य के संबंध में भी हुआ। एक तरफ हरिजनों के साथ जबर्दस्ती सहानुभूति बढ़ी, तो दूसरी ओर कट्टर विचार के रूढ़िचुस्त लोगों में कट्टरता बढ़ी।

हरिजनों के साथ जो दुर्व्यवहार होते थे, वे शहरी और नये विचार के लोगों के लिए कल्पनातीत हैं। इन सात वर्षों में उच्चवर्ण हिन्दुओं की मनोवृत्ति में आशातीत परिवर्तन हुआ है। पर उन दिनों स्थिति काफी भयंकर थी। दक्षिण मेंतो

केवल अस्पृश्यता ही नहीं थी, वल्कि कुछ किस्म के हरिजनों को तो देखने मात्र में पाप माना जाता था। हरिजनों को ओसर-मोसर पर हलवा नहीं बनाने देना, घी की पूरी नहीं बनाने देना, पांव में चांदी का कड़ा नहीं पहनने देना, घोड़े पर नहीं चढ़ने देना, पक्का मकान नहीं बनाने देना, ये साधारण दुर्व्यवहारों की श्रेणी में गिने जानेवाले अत्याचार तो प्रायः सभी प्रान्तों और प्रदेशों में उन दिनों पाये जाते थे, जो अब काफी कम हो गये हैं।

हरिजनों ने जब इस जागृति के कारण कुछ निर्भयता दिखानी शुरू की, तो कट्टर विचारों के लोगों में क्रोध की मात्रा उफन पड़ी। जगह-जगह हरिजनों के साथ मारपीट होने लगी। गांधीजी के पास ये सब समाचार जेल में पहुंचते थे। उनका विषाद इन दुर्घटनाओं से बढ़ रहा था। अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म का कलंक है और उच्चवर्ण वालों के सिर पर इस पाप की जिम्मेदारी है, ऐसा गांधीजी बराबर कहते आये। हरिजनों के प्रति सद्व्यवहार करके हम पाप का प्रायश्चित्त करेंगे, ऐसा गांधीजी का हमेशा से कथन था। गांधीजी स्वयं उच्चवर्णीय हैं, इसलिए यह अत्याचार उन्हें काफी पीड़ित कर रहा था। हृदय में एक तूफान चलता था। क्या करना चाहिए, इसके संकल्प-विकल्प चलते थे। पंडितों से पत्र-व्यवहार चल रहा था।

"ईश्वर यह अत्याचार क्यों चलने देता है? रावण राक्षस था, पर यह अस्पृश्यता-रूपी राक्षसी तो रावण से भी भयंकर है और इस राक्षसी की धर्म के नाम पर जब हम पूजा करते हैं, तब तो हमारे पाप की गुरुता और भी बढ़ जाती है। इससे हब्शियों की गुलामी भी कहीं अच्छी है। यह धर्म—इसे धर्म कहें तो—मेरी नाक में तो बदबू मारता है। यह हिन्दू-धर्म हो ही नहीं सकता। मैंने तो हिन्दू-धर्म द्वारा ही ईसाई धर्म और इस्लाम का आदर करना सीखा है। फिर यह पाप हिन्दू-धर्म का अंग कैसे हो सकता है? पर क्या किया जाय?"

इस तरह विचार करते-करते गांधीजी २९ अप्रैल की रात को जेल में सोये। कुछ ही देर सोये होंगे। इतने में रात के ११ बजे। जेल में सन्नाटा था। वसंत का प्रवेश हो चुका था। रात सुहावनी थी। मीठी हवा चल रही थी। कैदी सब सो रहे थे। केवल प्रहरी लोग जाग्रत थे। ११ बजे के कुछ ही समय बाद गांधीजी की आंख खुली। नींद भाग गई। चित्त में महासागर का-सा तूफान हिलोरें खाने लगा। बेचैनी बढ़ने लगी। ऐसा मालूम देता था कि हृदय के भीतर एक संग्राम चल रहा है। इसी बीच एक आवाज सुनाई दी। मालूम होता था कि यह आवाज दूर से आ रही है, पर तो भी ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे कोई निकट से बोल रहा हो। लेकिन वह आवाज ऐसी थी, जिसकी हुक्मउदूली असम्भव थी। आवाज ने कहा—"उपवास कर।" गांधीजी ने सुना। उनको सन्देह नहीं रहा। उनको निश्चय हो गया कि यह ईश्वरीय वाणी है। अब संग्राम शान्त हो गया। बेचैनी

दूर हुई। गांधीजी स्वस्थ हो गये। उपवास कितने दिन का करना तथा कब आरम्भ करना, इसका निर्णय करके उन्होंने इस सम्बन्ध में अपना वक्तव्य भी लिख डाला और फिर गाढ़ निद्रा में मग्न होकर सो गये।

ब्राह्म मुहूर्त में उठकर वल्लभभाई और महादेवभाई के साथ प्रार्थना की। 'उठ जाग मुसाफिर भोर भयो, अब रैन कहां जो सोवत है', यह भजन महादेवभाई ने अनायास ही प्रार्थना में गाया। गांधीजी ने महादेवभाई से कहा कि तुम रात को जागे हो, इसलिए थोड़ा आराम और कर लो। महादेवभाई लेट गये। उन्हें तो पता भी नहीं था कि गांधीजी ने क्या भीषण संकल्प कर डाला है। गांधीजी ने जो वक्तव्य तैयार किया वह वल्लभभाई को सौंपा। सरदार ने उसे एक बार पढ़ा, दो बार पढ़ा, फिर तो सन्न हो गये। इसमें तर्क को कोई स्थान नहीं था, और सरदार तो गांधीजी के स्वभाव को अच्छी तरह जानते हैं। "नियागरा के जल-प्रताप को रोकने की चेष्टा करना व्यर्थ है। महादेव, इनसे बढ़कर शुद्ध-बुद्ध और कौन है? जो बढ़कर हो, वह इनसे तर्क करे। मैं तो नहीं करूंगा।" इतना ही सरदार ने महादेवभाई से कहा और 'ईश्वरेच्छा बलीयसी' ऐसा समझकर चुप हो गये।

महादेवभाई ने साधारण तर्क किया, पर अंत में ईश्वर पर भरोसा करके वह भी चुप हो गये। दूसरे दिन तो सब जगह खबर पहुंच गई। सारे देश में सन्नाटा छा गया। मैं ठहरा हरिजन-सेवक-संघ का अध्यक्ष। मेरे पास सन्देश पहुंचा, जिसमें गांधीजी ने यह भी कहा कि पूना मत आओ। वहीं जो कर्त्तव्य है सो करो। मुझे स्पष्ट याद आता है कि मुझे और ठक्कर बापा को यह संदेश पाकर विशेष चिन्ता न हुई। गांधीजी इतनी भीषण आफतों में से सही-सलामत निकल चुके हैं कि इस अग्नि-परीक्षा में भी वह सफलतापूर्वक उत्तीर्ण होंगे, ऐसा मुझे दृढ़ विश्वास था। इसलिए मैंने तो यही लिख दिया कि "ईश्वर सब मंगल करेगा। हम आपके लिए अहर्निश शुभ प्रार्थना करेंगे। आपका उपवास सफल हो और वह सबका मंगल करे।"

पर राजाजी को इतनी जल्दी कहां सन्तोष होता था? गांधीजी से काफी शास्त्रार्थ किया, तर्क किया, पर एक न चली। देवदास ने भी अत्यन्त उदासी के साथ मिन्नत-आरजू की। जनरल स्मट्स ने अफ्रीका से एक लम्बा तार भेजा कि आप ऐसा न करें। पर ईश्वरीय आज्ञा के सामने गांधीजी किसकी सुननेवाले थे? सरकार ने भी जब देखा कि उपवास हो रहा है, तो उन्हें पूना में लेडी ठाकरसी के भवन 'पर्णकुटी' में पहुंचा दिया।

इक्कीस दिन का यह उपवास एक दुष्कर चीज था। इससे कुछ ही महीनों पहले एक उपवास हो चुका था। उससे काफी कमजोरी आ गई थी। उस पहले उपवास में कुछ ही दिनों बाद प्राण संकट में आ गये थे, इसलिए इस उपवास से प्राण बचेंगे या नहीं, ऐसी अनेक लोगों की शंका थी। पर गांधीजी ने कहा, "मुझे

मृत्यु की अभिलाषा नहीं है। मैं हरिजनों की सेवा के लिए जिन्दा रहना चाहता हूं। पर यदि मरना ही है तो भी क्या चिन्ता ? अस्पृश्यता की गंदगी जितनी मैंने जानी थी, उससे कहीं अधिक गहरी है; इसलिए यह आवश्यक है कि मैं और मेरे साथी, यदि जिन्दा रहना है तो, अधिक स्वच्छ बनें। यदि ईश्वर की यह मंशा है कि मैं हरिजनों की सेवा करूं, तो मेरा भौतिक भोजन बंद होने पर भी ईश्वर मुझे जो आध्यात्मिक भोजन भेजता रहेगा, वह इस देह को टिकाये रखेगा, और यदि सब अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहेंगे तो वह भी मेरे लिए भोजन का काम देगा। कोई अपने स्थान से न हटें। कोई मुझे उपवास रोकने को न कहें।"

७ मई १९३३ को उपवास शुरू हुआ और २९ मई को ईश्वर की दया से सफलतापूर्वक समाप्त हुआ। उपवास की समाप्ति के कई दिनों बाद गांधीजी ने कहा, "यह उपवास क्या था, मेरी इक्कीस दिन की निरन्तर प्रार्थना थी। इसका मेरे ऊपर जो अच्छा असर हुआ, उसका मैं अब अनुभव कर रहा हूं। यह उपवास केवल पेट का ही निराहार न था, बल्कि सारी इन्द्रियों का निराहार था। ईश्वर में संलग्न होने के माने ही हैं तमाम शारीरिक क्रियाओं की अवहेलना, और वह इस आत्यंतिक हद तक कि हम केवल ईश्वर के सिवा और सभी चीजों को भूल जायं। ऐसी अवस्था सतत प्रयत्न और वैराग्य के बाद ही प्राप्त होती है। इसलिए तमाम ऐसे उपवास एक तरह की अव्यभिचारिणी ईश्वर-भक्ति है, ऐसा कहना चाहिए।"

१९२४ की गर्मियों की बात है। गांधीजी जेल से छूटकर आये थे। अपेंडिक्स का आपरेशन हुआ ही था। शरीर कुछ दुर्बल था। इसलिए स्वास्थ्य-लाभ के लिए जुहू ठहरे हुए थे। मैं रोज उनके साथ टहलता था। पास में बैठता था। घंटों हर विषय पर उनसे चर्चा करता था। एक रोज ईश्वर पर चर्चा चली, तो मैंने प्रश्न किया कि क्या आप मानते हैं कि आप ईश्वर का साक्षात्कार कर चुके हैं ?

"नहीं, मैं ऐसा नहीं मानता। जब मैं अफ्रीका में था, तो मुझे लगता था कि मैं ईश्वर के अत्यन्त निकट पहुंच गया हूं। पर मुझे लगता है कि उसके बाद मेरी अवस्था उन्नत नहीं हुई है, बल्कि मैं सोचता हूं तो लगता है कि मैं पीछे हटा हूं। मुझे क्रोध नहीं आता, ऐसी अवस्था नहीं है। पर क्रोध का मैं साक्षी हूं, इसलिए मुझ पर क्रोध का स्थायी प्रभाव नहीं होता। पर इतना तो है कि मेरा उद्योग उग्र है। आशा तो यही करता हूं कि इसी जीवन में साक्षात्कार कर लूं। पर बाजी तो भगवान् के हाथ में है। मेरा उद्योग जारी है।"

इन बातों को भी आज सोलह साल हो गये। इसके बाद मैंने न कभी कुतूहल किया, न ऐसे प्रश्न पूछे। पर मैं देखता हूं कि ईश्वर के प्रति उनकी श्रद्धा और आत्मविश्वास उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। पिछले दिनों किसी से बात करते-करते कहने लगे :

"अब मुझसे ज्यादा बहस-मुबाहिसा नहीं होता। मुझे मौन प्रिय लगता है। पर मैं ऐसा नहीं मानता कि मूक वाणी का कोई असर नहीं। असलियत तो यह है कि मूक वाणी की शक्ति स्थूल वाणी से कहीं अधिक बलवती है। लोग सत्याग्रह की बात करते हैं। सत्याग्रह जारी हुआ तो यह निश्चय मानना कि बीते काल में जिस तरह मुझे दौरा करना पड़ता था या व्याख्यान देना पड़ता था वैसी कोई क्रिया मुझे अब नहीं करनी पड़ेगी। ऐसा समझ लो कि मैं सेवाग्राम में बैठा हुआ ही नेतृत्व कर लूंगा, इतना आत्मविश्वास तो आ चुका है। यदि मुझे ईश्वर का पूर्ण साक्षात्कार हो जाय तब तो मुझे इतना भी न करना पड़े। मैंने संकल्प किया कि कार्य बना, उस स्थिति के लिए भी मेरे प्रयत्न जारी हैं।"

ये मर्मस्पर्शी वाक्य हैं। हमारे भीतर कैसी अकथ शक्ति भरी है, जिसको हम ईश्वर के नाम से भी पुकार सकते हैं, इसका स्मरण हमें ये शब्द कराते हैं।

अमुक काम में ईश्वर का हाथ था, ऐसा तो गांधीजी ने कई बार कहा है; पर प्रत्यक्ष आकाशवाणी हुई है, यह उनका शायद प्रथम अनुभव था। मेरा खयाल है कि ईश्वर पर उनकी असीम श्रद्धा का यह सबसे बड़ा प्रदर्शन था। मैंने उनसे इस आकाशवाणी के चमत्कार पर लम्बी बातें कीं, पर बातें करते समय मुझे लगा कि इस चीज को मुझे पूर्णतया अनुभव कराने के लिए उनके पास कोई सुगम भाषा नहीं थी। कितनी भी सुगमता से समझायें, कितनी भी प्रबुद्ध भाषा का उपयोग करें, आखिर जो चीज भाषातीत है, उसको कोई क्या समझाये? जब हम कहते हैं कि एक आवाज आई, तब हम महज एक मानवी भाषा का ही प्रयोग करते हैं। ईश्वर की न कोई आकृति हो सकती है, न शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इत्यादि से ईश्वर बाधित है। फिर उसकी आवाज कैसी, आकृति कैसी? फिर भी आवाज तो आई। उसकी भाषा कौन-सी? "वही भाषा जो हम स्वयं बोलते हैं।" "उसके माने हैं कि हमें लगता है कि कोई हमसे कुछ कह रहा है। पर ऐसा तो भ्रम भी हो सकता है।" "हां भ्रम भी हो सकता है, पर यह भ्रम नहीं था।" इसके यह भी माने हुए कि उस 'वाणी' को सुनने की पात्रता चाहिए। एक मनुष्य को भ्रम हो सकता है। वह उसे आकाशवाणी कहेगा, तो ख्वाहमख्वाह अंधश्रद्धा फैलायेगा। दूसरा अधिकारी है, जाग्रत है। वह कह सकता है कि यह भ्रम नहीं था। आकाशवाणी भी अन्य चीजों की तरह उसका पात्र ही सुन सकता है। सूर्य का प्रतिबिंब शीशे पर ही पड़ेगा, पत्थर पर नहीं।

इक्कीस दिन का यह धार्मिक उपवास गांधीजी के अनेक उपवासों में से एक था। छोटे-छोटे उपवासों की हम गणना न करें, तो भी अब तक शायद दस-बारह तो इनके ऐसे बड़े उपवास हो चुके हैं, जिनमें इन्होंने प्राणों की बाजी लगाई।

जैसे और गुणों के विषय में, वैसे ही उपवास के विषय में भी यह नहीं जाना जा सकता कि यह प्रवृत्ति कैसे जाग्रत हुई। गुलाब का फूल पहले जन्मा या उसकी

सुगन्ध ? कौन-सी प्रवृत्ति पहले जाग्रत हुई, कौन-सी पीछे, इसका हिसाब लगाना यद्यपि दुष्कर है, पर इतना तो हम देख सकते हैं कि इनकी माता की उपवासों की वृत्ति ने शायद इनकी उपवास-भावना को जाग्रत किया। इनकी माता अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति की थीं। उपवासों में उन्हें काफी श्रद्धा थी। छोटे-मोटे उपवास तो साल-भर होते ही रहते थे। पर 'चातुर्मास' में तो एक ही बेला भोजन होता था। 'चांद्रायण' व्रत इनकी माता ने कई किये। एक 'चातुर्मास' में इनकी माता ने व्रत लिया कि सूर्य-दर्शन के बिना भोजन नहीं करूंगी। बरसात में कभी-कभी सूर्य कई दिनों तक निकलता ही नहीं था। निकलता भी था तो चन्द मिनटों के लिए। बालक गांधी छत पर चढ़े-चढ़े एकटक सूर्य के दर्शन की प्रतीक्षा करते रहते और दर्शन होते ही मां को खबर देते। पर कभी-कभी बेचारी मां पहुंचे, उससे पहले ही सूर्य देवता तो मेघाच्छन्न आकाश में लुप्त हो जाते थे। पर मां को इससे असन्तोष नहीं होता था। "बेटा, रहने दो चिन्ता को, ईश्वर ने ऐसा ही चाहा था कि आज मैं भोजन न करूं।" इतना कहकर वह अपने काम में लग जाती थीं।

बालक गांधी पर इसकी क्या छाप पड़ सकती थी, यह हम सहज ही सोच सकते हैं। यह छाप जबर्दस्त पड़ी। पहला उपवास, मालूम होता है, उन्होंने अफ्रीका में किया, जबकि 'टाल्स्टॉय फार्म' में आश्रम चला रहे थे। यह कुछ दिनों के लिए बाहर थे। पीछे से आश्रमवासियों में से दो के सम्बन्ध में इन्हें पता लगा कि उनका नैतिक पतन हुआ है। इससे चित्त को चोट तो पहुंचनी ही थी, पर इन्हें लगा कि ऐसे पतन की जिम्मेदारी कुछ हद तक आश्रम के गुरु पर भी रहती है। चूंकि आश्रम के संचालक गांधीजी थे, इस दुर्घटना में इन्होंने अपनी जिम्मेदारी भी महसूस की। इसके लिए गांधीजी ने सात दिन का उपवास किया। इसके कुछ ही दिन बाद इसी घटना के सम्बन्ध में इन्हें चौदह दिन का एक और उपवास करना पड़ा।

इसके बाद और अनेक उपवास हुए हैं। स्वदेश लौटने पर ऐसी ही घटनाओं को लेकर एक-दो और उपवास किये। अहमदाबाद की मिल-हड़ताल के लिए एक उपवास किया। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए इक्कीस दिन का एक उपवास किया। हरिजनों की सीटों के सम्बन्ध में प्रधान मंत्री मैक्डानल्ड के निर्णय के विरुद्ध एक आमरण उपवास किया और फिर हरिजन-प्रायश्चित्त के लिए एक उपवास किया। हरिजन-प्रचार-कार्य के लिए सरकार ने जेल में इन पर बन्दिश लगा दी, तब एक और उपवास किया। हरिजन-प्रवास की समाप्ति पर कुछ हरिजन सेवकों के असहिष्णु व्यवहार के प्रायश्चित्त-स्वरूप वर्धा में सात दिन का उपवास किया। एक उपवास राजकोट में किया। प्रधान मंत्री के निर्णय के विरुद्ध जो उपवास किया उसकी सफल समाप्ति में कुछ हिस्सा मेरे भी जिम्मे आया था। इस-

लिए इस उपवास का निकट से अवलोकन और अध्ययन करने का मुझे काफी मौका मिला।

उन दिनों गांधीजी जेल में ही थे। सत्याग्रह चल रहा था, यद्यपि लोगों की थकान बढ़ती जाती थी। अचानक एक बम गिरा—लोगों ने सुना कि गांधीजी ने आमरण-उपवास की ठानी है। चारों तरफ खलबली मच गई। मैं तो यह समाचार अखबारों में पढ़ते ही हक्का-बक्का रह गया। गांधीजी को मैंने तार भेजा कि क्या करना चाहिए ? मैं तो सहम गया हूं। फौरन उत्तर आया, "चिंता की कोई बात नहीं। हर्ष मनाने की बात है। अत्यन्त दलित के लिए यह अन्तिम यज्ञ करने का ईश्वर ने मुझे मौका दिया है। मुझे कोई शंका नहीं कि उपवास स्थगित नहीं किया जा सकता। यहां से कोई सूचना या सलाह भेजने की मैं अपने में पात्रता नहीं पाता।" किसी की समझ में नहीं आया कि क्या करना चाहिए, पर हमारे सबके मुंह पूना की ओर मुड़े और लोग एक-एक करके वहां पहुंचने लगे।

राजाजी, देवदास और मैं तो शीघ्र ही पूना पहुंच गये। पूज्य मालवीयजी, सर तेजबहादुर सप्रू, श्री जयकर, राजेन्द्रबाबू, रावबहादुर राजा, ये लोग भी एक-के-बाद-एक बम्बई और फिर पूना पहुंचने लगे। पीछे से डाक्टर अम्बेडकर को भी बुला लिया गया था। सरकारी आज्ञा लेकर सर पुरुषोत्तमदास, सर चुन्नीलाल, मथुरादास वसनजी और मैं सर्वप्रथम गांधीजी से जेल में मिले। हम लोगों को गांधीजी से जेल-सुपरिन्टेंडेंट के कमरे में मिलाया गया। उपवास अभी शुरू नहीं हुआ था। कमरा एकतल्ले पर था। उसकी खिड़कियों में से हमें जेल का काफी हिस्सा दृष्टिगोचर होता था। जहां फांसी होती है, वह हाता भी खिड़की में से दिखाई देता था। गांधीजी के आने का रास्ता उसी हाते की दीवार के नीचे से गुजरता था। मैंने गांधीजी को करीब नौ महीने से नहीं देखा था। अचानक खिड़की में से मैंने गांधीजी को तेजी के साथ हमारी ओर आते देखा। मैं सब चिंता भूल गया। गांधीजी तो इस तरह सरपट चले आ रहे थे, मानो कुछ हुआ ही नहीं था। उनकी तरफ फांसी का हाता था, जहां, मैंने सुना, दो-तीन दिन पहले ही एक आदमी को लटकाया गया था। मेरा जी भर आया। यह आदमी और ऐसी जगह पर।

गांधीजी ऊपर कमरे में आये। मैंने बड़े प्रेम से पांव छुए। फिर तो काम की बातें होने लगीं। उन्होंने बड़ी सावधानी से हर चीज ब्योरेवार समझाई। उपवास क्योंकर बंद हो सकता है, यानी होने के बाद कैसे समाप्त हो सकता है, इसकी शर्तों का ब्योरेवार उन्होंने जिक्र किया। बात करने से पहले जहां हमें उनका यह कार्य आवश्यकता से कुछ अधिक कठोर लगता था, बात करने पर वह धर्म है, एक कर्त्तव्य है, ऐसा लगने लगा। उनका मानसिक चित्र लेकर हम लोग वापस बम्बई लौटे और पूज्य मालवीयजी और दूसरे नेताओं को सारा हाल सुनाया।

मुझे याद आता है कि उस समय हमारे नेतागण किस तरह अत्यन्त आलस्य के साथ उलझन में पड़े हुए किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे थे। न तो गांधीजी का उपवास किसीको पसन्द था, न उनकी रचनात्मक सलाह की कोई उपयोगिता समझी जाती थी, न किसीको खयाल था कि समय की बरबादी गांधीजी की जान को जोखिम में डाल रही थी। बार-बार यही जिक्र आता था कि उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। यह उनका बलात्कार है। उन्हें समझाना चाहिए कि वह अब भी उपवास छोड़ दें। यह कोई महसूस भी नहीं करता था कि न तो वह उपवास छोड़ सकते थे, न यह समालोचना का ही समय था। हमारे सामने एक ही प्रश्न था कि कैसे उस गुत्थी को सुलझाकर गांधीजी की प्राण-रक्षा की जाय। मुझे स्पष्ट याद है कि नेताओं में एक मनुष्य था, जिसका दिमाग कुछ रचनात्मक कार्य कर रहा था। वह थे सर तेजबहादुर सप्रू। पर गांधीजी की प्राण-रक्षा का जिम्मा तो असल में ईश्वर ने ले रक्खा था। हम वृथा ही चिन्ता करते थे।

हालांकि गांधीजी ने उपवास शुरू करने से पहले काफी समय दे दिया था, पर उस समय का कोई भी सार्थक उपयोग न हो सका। गांधीजी स्वयं सारा कार-बार अपने हाथ में न ले लेते तो कोई उपयोगी काम होता या नहीं, इसमें भी मुझे शक है। उपवास शुरू होते ही सरकार ने जेल के दरवाजे खोल दिये। नतीजा इसका यह हुआ कि गांधीजी से मिलना-जुलना बिना किसी रोक-टोक के होने लगा। इसलिए इस व्यवसाय की सारी बागडोर पूर्णतया गांधीजी के हाथों में चली गई। सरकार का तो यही कहना था कि हरिजन और उच्चवर्ग के लोगों के बीच जो भी समझौता हो जाय, उसको वह मान लेगी। इसलिए वास्तविक काम यही था कि उच्चवर्ग और हरिजन नेताओं के बीच समझौता हो।

वैसे तो हम लोग समझौते की चर्चा में दिन-रात लगे रहते थे; पर दरअसल सिद्धान्तों के सम्बन्ध में तो दो ही मनुष्यों को निर्णय करना था। एक ओर गांधीजी और दूसरी ओर डाक्टर अम्बेडकर। पर इन सिद्धान्तों की नींव पर भी तो एक भीत चुननी थी। उसमें सर तेजबहादुर सप्रू की बुद्धि का प्रकाश हम लोगों को काफी सहायता दे रहा था। मैंने देखा कि गांधीजी यद्यपि धीरे-धीरे निर्बल होते जाते थे, पर मानसिक सतर्कता में किसी तरह का कोई फर्क न पड़ा। बराबर दिन-भर कभी उच्चवर्ण के नेताओं से तो कभी अम्बेडकर से उनका सलाह-मशवरा चलता ही रहता था।

राजाजी, देवदास और मैं अपने ढंग से काम को प्रगति दे रहे थे। पर बाग-डोर तो सम्पूर्णतया गांधीजी के ही हाथ में थी। गांधीजी का धीरज, उनकी असीम श्रद्धा, उनकी निर्भयता, उनकी अनासक्ति, यह सब उस समय देखने ही लायक थी। मौत दरवाजे पर खड़ी थी। सरकार क्रूरतापूर्वक तटस्थ होकर खड़ी थी। अम्बेडकर का हृदय कटुता से भरा था। हिन्दू नेता सुबह से शाम और शाम

से सुबह कर देते थे, पर समझौता अभी कोसों दूर था। राजाजी, देवदास और मुझको कभी-कभी झुंझलाहट होती थी, पर गांधीजी सारी चिन्ता ईश्वर को समर्पण करके शांत पड़े थे।

एक रोज जब जेल के भीतर मशवरा चल रहा था, तब गांधीजी ने कुछ हिन्दू नेताओं से कहा, "घनश्यामदास ने मेरी एक सूचना आपको बताई होगी।" एक नेता ने झटपट कह दिया, "नहीं, हमें तो कुछ मालूम नहीं।" गांधीजी ने एक क्षणिक रोष के साथ कहा, "यह मेरे दुर्भाग्य की बात है।" मुझे चोट लग गई। मैं जानता था, और यह नेता भी जानते थे कि गांधीजी की सारी सूचना मैं उन्हें दे चुका था। पर जो लोग गांधीजी को एक अव्यावहारिक, हवा में तैरनेवाला, शख्स मानते हैं, उन्हें गांधीजी की सूचना सुनने तक की फ़ुरसत नहीं थी। उस सूचना को उन्होंने महज मजाक में उड़ा दिया था। मैंने सब बातें याद दिलाईं और इसपर उन नेता ने अपनी भूल सुधारी। पर बुरा असर तो हो ही चुका था। इसी तरह किसी छोटी-सी बात पर उस रोज देवदास और राजाजी पर भी गांधीजी को थोड़ा रोष आ गया था। रात को नौ बजे सोने के समय गांधीजी को विषाद होने लगा। "मैंने रोष करके अपने उपवास की महिमा गिरादी।" रोष क्या था, एक पल-भर का आवेश था। पर गांधीजी के स्वभाव को इतना भी असह्य था। अपना दोष तिल-भर भी हो तो उसे पहाड़ के समान मानना और पराया दोष पहाड़ के समान हो तो भी उसे तिल के समान देखना, यह उनकी फिलासफी है। बिहार में जब भूकम्प हुआ, तो उन्होंने उसे 'हमारे पापों का फल' माना।

गांधीजी ने तुरन्त राजाजी को तलब किया और उनके सामने अत्यन्त कातर हो गये। आंखों से अश्रुओं की झड़ी लग गई। रात को ग्यारह बजे जेलवालों की मार्फत डेरे पर से देवदास की और मेरी बुलाहट हुई। मैं तो सो गया था, पर देवदास गया। गांधीजी ने उससे 'क्षमा' चाही। पिता पुत्र से क्या क्षमा मांगे ? पर एक महापुरुष पिता यदि अपना व्यवहार सौ टंच के सोने के जितना निर्मल न रक्खे तो फिर संसार को क्या सिखा सकता है ?

राजाजी और देवदास दोनों से गांधीजी ने अत्यन्त खेद प्रकट किया और कहा कि इसी समय जाकर घनश्यामदास से भी मेरा खेद प्रकट करो। उन्होंने तो मुझे जगाना भी उचित नहीं समझा, क्योंकि इस चीज को हमने तिल-भर भी महत्त्व नहीं दिया था। पर यह गांधीजी की महिमा है। 'आकाशवाणी' वाले उपवास पर भी, जो कुछ महीने बाद किया गया था, इसी तरह राजाजी और शंकरलाल पर उन्हें कुछ रोष आ गया था, जिसके लिए उन्होंने राजाजी को एक माफी की चिट्ठी भेजी थी। राजाजी ने तो उस चिट्ठी को मजाक में उड़ा दिया, क्योंकि जिस चीज को गांधीजी रोष मानते थे, वह हम लोगों की दृष्टि में कोई रोष ही नहीं था।

पर यह तो दूसरे उपवास की बात बीच में आ गई। प्रस्तुत उपवास, जिसका जिक्र चल रहा था, वह तो चला ही जाता था। सुबह होती थी और फिर शाम हो जाती थी। एक कदम भी मामला आगे नहीं बढ़ता था। देवदास तो एक रोज कातर होकर रोने लगा। गांधीजी की स्थिति नाजुक होती जाती थी। एक तरफ अम्बेडकर कड़ा जी करके बातें करता था, दूसरी ओर हिन्दू नेता कई छोटी-मोटी बातों पर अड़े बैठे थे। प्रायः मोटी-मोटी सभी बातें तय हो चुकी थीं, पर जबतक एक भी मसला बाकी रह जाय तबतक अंतिम समझौता आकाश-कुसुम की तरह हो रहा था और अन्तिम समझौता हुए बिना उनकी प्राण-रक्षा असम्भव थी।

हरिजनों को कितनी सीटें दी जायं, यह अम्बेडकर के साथ तय कर लिया गया था। किस प्रांत में कितने हरिजन हैं, न्यायपूर्वक उन्हें कितनी सीटें मिलें, इसका ज्ञान ठक्कर बापा को प्रचुर मात्रा में था, जो उस समय हम लोगों के काम आया। चुनाव किस तरह हो, इस पद्धति के सम्बन्ध में भी अम्बेडकर से समझौता हो गया। पर यह पद्धति कितने साल चले, इसपर झगड़ा था। अम्बेडकर चाहता था कि चुनाव की यह पद्धति तो दस साल के बाद ही समाप्त हो; पर जो सीटें हरिजनों के लिए अलग रिजर्व की गई हैं, वे अलग रिजर्व बनी रहें या उच्चवर्ण के हिन्दुओं के साथ ही हरिजनों की सीटें भी सम्मिलित हो जायं और सबका सम्मिलित चुनाव हो, यह प्रश्न पन्द्रह साल के बाद हरिजनों के वोट लेकर उनकी इच्छानुसार निर्णय किया जाय। पर हिन्दू नेता इसके खिलाफ थे। वे चाहते थे कि सारी-की-सारी पद्धति एक अरसे के बाद, ज्यादा-से-ज्यादा दस साल के बाद, खत्म कर देनी चाहिए। उनकी दलील थी कि अछूतपन कलंक है, इसलिए दस साल में वह मिटा दिया जाय, और बाद में राजनीति के क्षेत्र में न कोई छूत रहे न अछूत, सबकी सम्मिलित सीटें हों।

अम्बेडकर साफ इन्कार कर गया और मामला फिर उलझ गया। गांधीजी की अपनी और राय थी। अम्बेडकर जब इस सम्बन्ध में जेल में जाकर गांधीजी से बहस करने लगा तब गांधीजी ने कहा, "अम्बेडकर, मैं सारी सीटें बिना हरिजनों की मर्जी के सम्मिलित करने के पक्ष में नहीं हूं, पर मेरी राय है कि पांच साल के बाद ही हम हरिजनों की अनुमति का वोट मांगें और उनकी इच्छानुसार निर्णय करें।" पर डाक्टर अम्बेडकर ने कहा कि दस साल से पहले तो किसी भी हालत में हरिजनों की अनुमति की जानकारी के लिए उनसे वोट न मांगे जायं। यह बहस काफी देर तक चलती रही। गांधीजी की उत्कट इच्छा थी कि पांच साल के अन्दर-ही-अन्दर सवर्ण अपने आचरण से हरिजनों को सम्पूर्णतया अपना लें। इस काम के लिए इससे अधिक समय लग जाना कल्पना के बाहर मालूम देता था। राजाजी और मैं चिन्तित भाव से गांधीजी के मुंह की तरफ देख रहे

थे। मेरे दिल में आता था कि जान की वाजी है, गांधीजी क्यों इतना हठ करते हैं ? पर गांधीजी निःशंक थे। उनके लिए जीना-मरना प्रायः एक समान था। बातें चलती रहीं। अन्त में गांधीजी के मुंह से अचानक निकल गया, "अम्वेडकर, या तो पांच साल की अवधि, उसके वाद हरिजनों के मतानुसार अन्तिम निर्णय, नहीं तो मेरे प्राण।" हम लोग स्तब्ध हो गये। गांधीजी ने तीर फेंक दिया, अब क्या हो ?

लम्बी सांस लेकर हम लोग वापस डेरे पर आगये। अम्वेडकर को समझाया, पर वह टस-से-मस न हुआ। उसके कट्टर हरिजन साथी डाक्टर सोलंकी ने भी उसकी जिद को नापसंद किया। मैंने राजाजी से कहा, "राजाजी, क्यों पांच साल, और क्यों दस साल ? हम यही क्यों न निश्चय रक्खें कि भविष्य में चाहे जब हरिजनों की अनुमति से हम इस करार को वदल सकेंगे ?" राजाजी ने कहा कि गांधीजी को शायद यह पसंद न आये। मैंने कहा—कुछ हम भी तो जिम्मेदारी लें। उन्हें पूछने का अब अवसर कहां है ? राजाजी ने कहा—तीर चलाओ। मैंने यह प्रस्ताव अम्वेडकर के सामने रक्खा। लोगों ने इसका समर्थन किया और वह मान गया। एक समाप्ति तो हुई। पर गांधीजी की अनुमति तो वाकी थी। राजाजी जेल में गये और गांधीजी को यह किस्सा सुनाया। उन्होंने करार के इस प्रकरण की भाषा ध्यानपूर्वक सुनी। एक बार सुनी, दो बार सुनी, अन्त में धीरे से कहा—"साधु !" सवके मुंह पर प्रसन्नता छा गई। मैं जब उनकी अनुमति मिल चुकी, तभी उनके पास पहुंचा और उनके चरण छुए। वदले में उन्होंने जोर की थपकी दी। उपवास खुलने में दो दिन और भी लगे, क्योंकि इतना समय सरकार ने यरवदा-पैक्ट की स्वीकृति देने में लगाया। २० सितम्बर १९३२ को उपवास शुरू हुआ, २४ को यरवदा-पैक्ट बना, २६ को सरकार की स्वीकृति मिली और उपवास टूटा।

पर सारी घटना में देखने लायक चीज यह थी कि मौत की साक्षात् मूर्ति भी गांधीजी को एक तिल भी दायें-बायें नहीं डिगा सकी थी। सभी उपवासों में इनका यही हाल रहा। राजकोट के उपवास में भी एक तरफ मृत्यु की तैयारी थी, वमन जारी था, वेचैनी बढ़ती जा रही थी, और दूसरी तरफ वाइसराय से लिखा-पढ़ी करना और महादेवभाई और मुझको (दोनों-के-दोनों हम दिल्ली में थे) संदेश भेजना जारी था। इसमें कोई शक नहीं कि हर उपवास में अन्तिम निर्णय—चाहे वह निर्णय हरिजन और उच्चवर्ण के नेताओं के बीच हुआ हो, चाहे वाइसराय और गांधीजी के बीच—गांधीजी की मृत्यु के डर के बोझ के नीचे दब-कर हुआ। किसी मर्तबा भी शांतिपूर्वक सोचने के लिए न समय था, न अवसर मिला। फिर भी गांधीजी कहते हैं कि "उतावलापन हिंसा है।" तुलसीदासजी ने जब यह कहा कि "समरथ को नहिं दोष गुसाईं" तब उन्होंने यह कोई व्यंग्योक्ति

नहीं की थी। असल बात भी यह है कि समर्थ मनुष्य के तमाम कामों में एकरंगा-पन देखना, यह बिलकुल भूल है। एकरंगापन यह जरूर होता है कि हर समय हर काम के पीछे सेवा होती है, शुद्ध भावना होती है। हर काम यज्ञार्थ होता है, पर तो भी हर काम की शक्ल परस्पर निरोधात्मक भी हो सकती है।

ग्यारह

गांधीजी के उपवासों की काफी समालोचना हुई है, और लोगों ने काफी पुष्टि भी की है। पर साधारण वाद-विवाद से क्या निर्णय हो सकता है? उपवास एक व्यक्ति के द्वारा किये जाने पर पापमय और केवल धरना भी हो सकता है, और दूसरे के द्वारा वही चीज धर्म और कर्त्तव्य भी हो सकती है।

बात सारी-की-सारी मंशा की है। उपवास यज्ञार्थ है क्या? फलासक्ति त्याग कर किया जा रहा है क्या? शुद्ध बुद्धि से किया जा रहा है क्या? करनेवाला सात्विक पुरुष है क्या? ईर्ष्या-द्वेष से रहित है क्या? इन सब प्रश्नों के उत्तर पर उपवास धर्म है या पाप है, इसका निर्णय हो सकता है। पर निरी उपयोगिता की दृष्टि से भी हम उपवास-नीति के शुभ-अशुभ पहलू सोच सकते हैं।

संसार को उलटे मार्ग से हटाकर सीधे मार्ग पर लाने के लिए ही महापुरुषों का जन्म होता है। भिन्न-भिन्न महापुरुषों ने अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण किया। पर इन सब मार्गों के पीछे लक्ष्य तो एक ही था। नीति की स्थापना और अनीति का नाश—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

पर इस लक्ष्य-पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न महापुरुषों के साधनों की बाहरी शक्ल-सूरत में अवश्य ही भेद दिखाई देता है। प्रजा को सुशिक्षण देना, उसकी सोई हुई उत्तम भावनाओं को जाग्रत करना, इन सब उद्देश्यों की प्राप्ति महापुरुष अपने खुद के आचरण द्वारा और उपदेश-आदेश द्वारा करते हैं। 'मम वर्त्मानु-वर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः' यह श्रीकृष्ण ने कहा। गांधीजी कहते हैं, "जैसे शारीरिक व्यायाम द्वारा शारीरिक गठन प्राप्त हो सकता है और बौद्धिक व्यायाम द्वारा बौद्धिक विकास, वैसे ही आत्मोन्नति के लिए आध्यात्मिक व्यायाम जरूरी है और आध्यात्मिक व्यायाम का आधार बहुत अंश में गुरु के जीवन और चरित्र पर निर्भर करता है। गुरु यदि शिष्यों से मीलों दूर भी हो, तो भी अपने चरित्र-

बल से वह शिष्यों के चरित्रों को प्रभावित कर सकता है। यदि मैं स्वयं झूठ बोलता हूं, तो अपने लड़कों को सत्य की महिमा कैसे सिखा सकता हूं ? एक कायर शिक्षक अपने विद्यार्थियों को बहादुर नहीं बना सकता, न एक भोगी अध्यापक बालकों को आत्मनिग्रह सिखा सकता है। इसलिए मैंने यह देख लिया कि मुझे, कुछ नहीं तो अपने बालकों के लिए ही सही, सत्यवान, शुद्ध और शुभकर्मी बनना चाहिए।" इसलिए सभी महापुरुषों ने अपने चरित्र और उपदेशों द्वारा ही धर्म का प्रचार किया है। धर्म की वृद्धि से अधर्म का स्वतः ही नाश होता है। पर कभी-कभी अधर्म पर सीधा प्रहार भी महापुरुषों ने किया है और अनीति का नाश करने के साधनों का जब हम अवलोकन करते हैं तो मालूम होता है कि महापुरुषों के इन साधनों के बाहरी स्वरूप में काफी भेद रहा है।

श्रीकृष्ण ने भूमि का भार हलका किया, अर्थात् संसार में पापों का बोझ कम किया, तब जिन साधनों का उपयोग किया, उनके बाहरी रूप में और बुद्ध के साधनों के बाहरी रूप में अवश्य भेद मिलता है। महाभारत का युद्ध, कंस का नाश, शिशुपाल और जरासंध इत्यादि दुष्ट राजाओं का श्रीकृष्ण के द्वारा वध होना आदि घटनाएं हम ऐतिहासिक मान लें, तो यह कहना होगा कि श्रीकृष्ण का भूमि-भार हरने का तरीका और बुद्ध का तरीका बाहरी स्वरूप में भिन्न-भिन्न थे। पर हम कह सकते हैं कि मूल तो दोनों तरीका का एक ही है। जिनका वध किया उनसे श्रीकृष्ण को न द्वेष था, न ईर्ष्या थी, न उन्हें उनके प्रति क्रोध था।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

यह लक्ष्य था और जिस तरह एक विज्ञ जर्राह रोगी के सड़े अंग को रोगी की भलाई के लिए ही काटकर फेंक देता है, उसी तरह श्रीकृष्ण ने और श्रीरामचन्द्र ने समाज की रक्षा के लिए, और जिनका वध किया गया, उनकी भी भलाई के लिए, दुष्टों का दमन किया। जिनका वध किया गया—जैसे रावण, कंस, जरासंध इत्यादि, उन्हें भी श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्ण ने सुगति ही दी, ऐसा हमारे पुराण बताते हैं।

महापुरुषों ने दुष्टों का वध किया, इसलिए हमें भी ऐसा ही करना चाहिए, ऐसी दलील तो हिंसा के पक्षपाती चटपट दे डालते हैं, पर यह भूल जाते हैं कि ये वध बिना क्रोध, द्वेष, फलासक्ति से रहित होकर समाज की रक्षा के लिए किये गए थे, और जो मारे गये उन्हें भगवान् द्वारा सुगति मिली। इसलिए मूल में तो राम क्या, कृष्ण क्या और बुद्ध क्या, सभी समानतया अहिंसावादी थे। राम और कृष्ण के साधनों का बाहरी रूप हिंसात्मक दिखाई देते हुए भी उसे हिंसा नहीं कह सकते; क्योंकि "न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा" और फिर—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

इन वचनों को यदि हम ध्यानपूर्वक सोचें तो सहज ही समझ में आ जायगा कि श्रीकृष्ण हिंसा से उतने ही दूर थे जितने कि बुद्ध।

गांधीजी ने भी वछड़े की हत्या करके उसे अहिंसा बताया; क्योंकि मार देना मात्र ही हिंसा नहीं है :

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

हिंसा-अहिंसा का निर्णय करने के लिए हमें यह भी जानना जरूरी है कि मारनेवाले ने किस मानसिक स्थिति में किस भावना से वध किया है। वध करने वाले की मानसिक स्थिति और भावना ही हमें इस निर्णय पर पहुंचा सकती है कि अमुक कर्म हिंसा है या अहिंसा। पर राग-द्वेष से रहित होकर, अक्रोधपूर्वक, शुद्ध भाव से लोक-कल्याण के लिए किसी का वध करनेवाला क्या कोई साधारण पुरुष हो सकता है ? वह तो कोई असाधारण दैवी पुरुष ही हो सकता है। इसके माने यह भी हुए कि उत्तम उद्देश्य के लिए भी हिंसात्मक शस्त्र-ग्रहण साधारण मनुष्य का धर्म नहीं बन सकता। राग, द्वेष, क्रोध और ईर्ष्या से जकड़े हुए हम न तो हिंसा-शस्त्र धर्मपूर्वक चला सकते हैं, न राग-द्वेष के कारण जिनकी विवेक-बुद्धि नष्ट हो गई है वे यही निर्णय कर सकते हैं कि वध के योग्य दुष्ट कौन है। राग-द्वेष से रहित हुए विना हम यह भी तो सही निर्णय नहीं कर सकते कि दुष्ट हम हैं या हमारा विरोधी। यदि हम दुष्ट हैं और हमारा विरोधी सज्जन है, तो फिर लोक-कल्याण का वहाना लेकर हम यदि हिंसा-शस्त्र का उपयोग करते हैं तो पाप ही करते हैं और आत्म-वंचना भी करते हैं। असल में तो अनासक्ति-पूर्वक हिंसा-शस्त्र का उपयोग केवल उन उच्च महापुरुषों के लिए ही सुरक्षित समझना चाहिए, जिनमें कमल की तरह जल में रहते हुए भी अलिप्त रहने की शक्ति है। इसलिए साधारण आदमियों का निर्दोष धर्म तो केवल अहिंसात्मक ही हो सकता है।

जो अहिंसक नहीं बन सका, वह आत्म-रक्षा के लिए हिंसा का प्रयोग करे, पर वहां तुलना हिंसा और अहिंसा के बीच नहीं है। तुलना है कायरता और आत्म-रक्षा के लिए की गई हिंसा के बीच, और कायरता अवश्य ही आत्म-रक्षा के लिए की गई हिंसा से भी बुरी है। कायरता तमःप्रधान है। पर आत्म-रक्षा के लिए की गई हिंसा रजोगुणी भी हो सकती है। किन्तु आत्म-रक्षा के लिए की गई हिंसा भी शुद्ध धर्म नहीं, अपेक्षाकृत धर्म ही है। शुद्ध धर्म तो अहिंसा ही है।

स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि डकैती के लिए एक डाकू हिंसा करता है, तो वह निकृष्ट पाप करता है। आत्म-रक्षा के लिए, देश या धर्म की रक्षा के लिए की गई हिंसा, यदि न्याय हमारे साथ है, तो उस डकैत द्वारा की

गई हिंसा की तुलना में धर्म है। पर अच्छे हेतु के लिए अनासक्त होकर की गई हिंसा अहिंसा ही है और इसलिए शुद्ध धर्म है। उसी तरह कायरता लेकर धारण की गई अहिंसा, अहिंसा नहीं, पाप है। अशोक वीर था। उसने दिग्विजय के बाद सोचा कि साम्राज्य-स्थापना के लिए की गई हिंसा पाप है। इसलिए उसने क्षमा-धर्म का अनुसरण किया। वह वीर की क्षमा थी; पर उसी का पौत्र अपनी कायरता ढांकने के लिए अशोक की नकल करने लगा। उसमें न क्षमा थी, न शौर्य था। उसमें थी कायरता। इसलिए कवियों ने उसे मोहात्मा के नाम से पुकारा। बलिष्ठ की अहिंसा ही, जो विवेक के साथ है, शुद्ध अहिंसा है। वह एक सत्त्वगुणमयी वृत्ति है। कायर की अहिंसा और डाकू की हिंसा दोनों पाप हैं। अनासक्त की हिंसा और बलिष्ठ द्वारा विवेक से की गई अहिंसा दोनों धर्म और अहिंसा हैं।

पर धर्म की गति तो सूक्ष्म है। मनुष्य क्रोध के वश या लोभ के वश हिंसक-वृत्ति पर आसानी से संयम नहीं कर पाता। इसलिए गांधीजी ने हिंसा को त्याज्य और अहिंसा को ग्राह्य माना। गांधीजी स्वयं जीवन्मुक्त दशा में, चाहे वह दशा क्षणिक—जब निर्णय किया जा रहा हो उस घड़ी के लिए ही—क्यों न हो, अहिंसात्मक हिंसा भी कर सकें, जैसे कि बछड़े की हिंसा, पर साधारण मनुष्य के लिए तो वह कर्म कौए के लिए हंस की नकल होगी। इसलिए सबके लिए सरल, सुगम और स्वर्णमय मार्ग अहिंसा ही है, ऐसा गांधीजी ने मानकर अहिंसा-धर्म की वृद्धि की है। उपवास की प्रवृत्ति भी इसी में से जन्मी।

हिंसा को पूर्णतया त्याज्य मानने के बाद भी ऐसे शस्त्र की जरूरत तो रह ही जाती है, जिससे अधर्म का नाश हो। धर्म को अत्यन्त प्रगति मिलने पर भी अधर्म का नाश होता है, पर अधर्म का नाश होने पर भी तो धर्म की प्रगति का आधार रहता है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। मनुष्य हमसे वादाखिलाफी करता है, जैसा कि राजकोट में हुआ था, या तो हम पर कोई जबरन एक ऐसी भयंकर चीज लादता है कि जो जबर्दस्त प्रतिवाद के बिना नहीं रोकी जा सकती—जैसा कि हरिजन साम्प्रदायिक निर्णय के सम्बन्ध में हुआ, तब अहिंसा-शस्त्रधारी ऐसी परिस्थिति में क्या करे? हिंसा को तो उसने त्याज्य माना है। इसलिए उसे तो ऐसे ही शस्त्र का प्रयोग करना है, जो जनता की आत्मा को अधर्म के खिलाफ उत्तेजन दे, पर जनता का क्रोध न बढ़ाये, जनता में द्वेष पैदा न होने दे, जो बुराई को छेदन करने के लिए तो लोगों को उकसाये, पर साथ ही बुराई करनेवालों को भय से मुक्त कर दे। हमारा एक निकटस्थ बुरी लत में फंसा है, उसको हम कैसे बुरे मार्ग से हटायें? उसे व्याकुल तो करना है, पर हिंसा के शस्त्र से नहीं, प्रेम के द्वारा। ऐसी तमाम परिस्थितियों के लिए कई अहिंसात्मक उपायों का विधान हो सकता है। ऐसे विधानों में उपवास एक रामबाण शस्त्र है, जिसका गांधीजी ने बार-बार प्रयोग किया।

उपवास में कोई बलात्कार नहीं होता, यह कौन कहता है ? पर बलात्कार होने मात्र से ही तो हिंसा नहीं हो सकती। प्रेम का भी तो बलात्कार होता है। प्रेम के प्रभाव में हम कभी-कभी अनिच्छापूर्वक भी काम कर लेते हैं। पर प्रेम के वश अनिच्छा से यदि हम कोई पाप करते हैं तो उससे बुराई होती है। यदि, अनिच्छापूर्वक ही सही, हम पुण्य करते हैं तो समाज को उसका अच्छा फल मिल ही जाता है। असल बात तो यह है कि हिंसक नेता हमारी मानसिक निर्बलता का लाभ उठाकर अपने हिंसक शस्त्रों द्वारा हमें डराकर हमसे पाप कराता है। अहिंसक नेता हमारी धर्म-भीरुता को उकसाकर हमें अपने प्रेम से प्रभावित करके हमसे पुण्य कराता है। इसका यह भी फल होता है कि पाप के नीचे हमारी दबी हुई अच्छी प्रवृत्तियां स्वतन्त्र बनती हैं। इस तरह पहले जो काम प्रेम के बलात्कार से किया, वही हम अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से करने लगते हैं। परतन्त्रता को खोकर इस तरह हम स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेते हैं। आदर्श स्थिति तो अवश्य ही वह होगी कि अहिंसात्मक नेता को कोई बल-प्रयोग करना ही न पड़े, पर ऐसी स्थिति तो सतयुग की ही हो सकती है। महापुरुष के जन्म की पहली शर्त ही यह है कि समाज निर्बल है, अधर्म का जोर है, जुल्मों के मारे समाज त्रस्त है, उसे धर्म की प्यास है, जिसे मिटाने के लिए महापुरुष जन्म लेता है। यदि धर्म हो, निर्बलता न हो, तो क्यों तो महापुरुष के आने की जरूरत हो और क्यों उपवास की आवश्यकता हो ? क्यों उपदेश और क्यों सुशिक्षण की ही आवश्यकता हो ?

पर इसके माने यह भी नहीं कि हर मनुष्य इस उपवास-रूपी अहिंसा-शस्त्र का उपयोग करने का पात्र है। अहिंसात्मक हिंसा, जिसका प्रयोग राम, कृष्ण इत्यादि ने और गांधीजी ने बछड़े पर किया, उसके लिए तो असाधारण पात्रता की जरूरत होती है, पर हिंसात्मक शस्त्र के लिए भी तालीम की जरूरत पड़ती है। तलवार, गदका, पटा, निशानेबाजी की कला सीखने की फौजी सिपाहियों को जरूरत होती है और उस तालीम के बाद ही वे अपने शस्त्रों का निपुणता से प्रयोग कर सकते हैं। इसी तरह उपवास के लिए भी, यदि अहिंसामय उपवास करना है, तो पात्रता की आवश्यकता है। सभी लोग अहिंसात्मक उपवास नहीं कर सकते। 'धरना' देना एक चीज है, धार्मिक उपवास दूसरी चीज। पर 'धरना' में धर्म कहां, और अहिंसा कहां ? 'धरना' ज्यादातर तो निजी स्वार्थ के लिए होता है। पर कुछ उपवास पाखण्ड और विज्ञापनबाजी के लिए भी लोग करते हैं। ऐसे उपवासों से कोई विशेष बलात्कार न भी हो, तो भी उनको हम अधार्मिक उपवासों की श्रेणी में ही गिन सकते हैं। इसकी चर्चा का यह स्थान नहीं है। हम तो धार्मिक उपवास की ही चर्चा कर रहे हैं। यह समझना जरूरी है कि धार्मिक उपवास का जो प्रयोग करना चाहता है उसे पहले पात्रता सम्पादन करनी चाहिए। वह इसलिए कि हर धार्मिक उपवास में बलात्कार की सम्भावना रहती है।

अधार्मिक उपवास में बलात्कार हो भी, तो लोग उसकी अवहेलना कर जाते हैं और अवहेलना करनी भी चाहिए, क्योंकि उसमें बल-प्रयोग के पीछे कोई नीति या धर्म नहीं होता। इसलिए ऐसे उपवास करनेवालों के सामने झुकना भी अधर्म है। पर धार्मिक उपवास में चूंकि सफल बल-प्रयोग की सम्भावना है, उपवास करनेवाले को ज्यादा सावधानी और ज्यादा पात्रता की आवश्यकता होती है।

इसीलिए राजकोट के उपवास के बाद गांधीजी ने लिखा, "सत्याग्रह के शस्त्रागार में उपवास एक बलिष्ठ शस्त्र है। पर इसके सभी पात्र नहीं होते। जिसकी ईश्वर में सजीव श्रद्धा न हो, वह सत्याग्रही उपवास का अधिकारी नहीं हो सकता। यह कोई नकल करने की चीज नहीं है। अत्यन्त अन्तर्वेदना हो तभी उपवास करना चाहिए, और इसकी आवश्यकता भी असाधारण मौकों पर ही होती है। ऐसा लगता है, मानो मैं उपवास के लिए अधिक उपयुक्त बन गया हूं। हालांकि उपवास एक शक्तिशाली शस्त्र है, इसकी मर्यादाएं अत्यन्त कठोर हैं; इसलिए जिन्होंने इसका शिक्षण नहीं पाया, उनके लिए उपवास कोई मूल्यवान चीज नहीं है, और जब मैं अपने माप-दण्ड से उपवासों को मापता हूं, तो मुझे लगता है कि अधिकतर उपवास जो लोग करते हैं वे सत्याग्रह की श्रेणी में आ ही नहीं सकते। वे तो महज 'धरना' या 'भूख-हड़ताल' के नाम से ही पुकारे जाने चाहिए।"

'अन्दरूनी आवाज' सुनने की तथा उपवासों की नकल कई लोगों ने अपने स्वार्थ के लिए की है। कुछ लोग पाखण्ड भी करते हैं। पर कौन-सी अच्छी वस्तु का दुरुपयोग नहीं हुआ ? किसी चीज का दुरुपयोग होता है, केवल इसीलिए वह चीज बुरी नहीं बन जाती। असल बात तो यह है कि हर चीज में विवेक की जरूरत है। इसलिए गांधीजी ने यद्यपि आकाशवाणी भी सुनी और कई उपवास भी किये, तो भी प्रायः अपने लेखों में इन दोनों चीजों के सम्बन्ध में वह सावधानी से काम लेने की लोगों को सलाह देते हैं। मैंने देखा है कि वह प्रायः 'अन्तर्नाद' की बात करनेवाले को शक की निगाह से देखते हैं और उपवास करनेवालों को प्रायः बिना अपवाद के अनुत्साहित करते हैं, और यह सही भी है।

बारह

गांधीजी का ध्यान करते ही हमारे सामने सत्याग्रह का चित्र उपस्थित होता है। जैसे दूध के बिना हम गाय की कल्पना नहीं कर सकते, वैसे ही सत्याग्रह के बिना

गांधीजी की कल्पना नहीं होती। गांधीजी तो सत्याग्रह का अर्थ अत्यन्त व्यापक करते हैं। वह इसकी व्याख्या सविनय कानून-भंग तक ही सीमित नहीं करते। सविनय कानून-भंग सत्याग्रह का एक अंग-मात्र है, पर हरिजन-कार्य भी उनकी दृष्टि से उतना ही सत्याग्रह है, जितना कि सविनय कानून-भंग। चरखा चलाना भी सत्याग्रह है। सत्य, ब्रह्मचर्य, ये सारे सत्याग्रह के अंग हैं।

सत्याग्रह, अर्थात् सत्य का आग्रह। इसी चित्र को सामने रखकर सत्याग्रह-आश्रम के वासियों को सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अपरिग्रह, अभयत्व, अस्पृश्यता-निवारण, कायिक परिश्रम, सर्व-धर्म-समभाव, नम्रता, स्वदेशी, इन एकादश व्रतों का पालन करना पड़ता है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि ये एकादश व्रत ही सत्याग्रह के अंग हैं। सविनय कानून-भंग—नम्रता, सत्य, अहिंसा और अभयत्व के अन्तर्गत प्रकारान्तर से आ जाता है। इसे कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं है। फिर भी साधारण जनता तो यही समझती है कि सत्याग्रह के माने ही हैं सविनय कानून-भंग। 'सविनय' का महत्त्व भी कम ही लोग महसूस करते हैं। सत्याग्रह का अर्थ है कानून-भंग, साधारण जनता तो इतना ही जानती है। आश्चर्य है कि इन चालीस सालों के निरन्तर प्रयत्न के बाद भी यह गलतफहमी चली ही जा रही है। आमतौर से सभी तरह के अवैध विरोध का नाम आजकल सत्याग्रह पड़ गया है। जो लोग कानून-भंग में शुद्ध सत्याग्रह का आचरण नहीं करते, वे कानून-भंग को सत्याग्रह का नाम न देकर यदि महज 'निःशस्त्र प्रतिकार' कहें, तो सत्याग्रह की ज्यादा सेवा हो।

गांधीजी में यह शुद्ध सत्याग्रह बचपन से ही रहा है, पर सविनय आज्ञा-भंग का स्थूल दर्शन सर्वप्रथम अफ्रीका में होता है। अफ्रीका पहुंचते ही इन्हें प्रिटोरिया जाना था, इसलिए डरबन से प्रिटोरिया के लिए रवाना हुए। फर्स्ट क्लास का टिकट लेकर गाड़ी में आराम से जाकर बैठ गये। रात को नौ बजे एक दूसरा गोरा मुसाफिर उसी डिब्बे में आया। गांधीजी को उसने एड़ी से चोटी तक देखा और फिर बाहर जाकर एक रेलवे अफसर को लेकर वापस लौटा। अफसर ने आते ही कहा :

"उठो, तुम यहां नहीं बैठ सकते, तुम्हें दूसरे नीचे दर्जे के डिब्बे में जाना होगा।"

"पर मेरे पास तो फर्स्ट का टिकट है।"

"रहने दो बहस को, उठो, चलो दूसरे डिब्बे में।"

"मैं साफ कहे देता हूं कि मैं इस डिब्बे से ऐसे नहीं निकलने वाला हूं। मेरे पास टिकट है और अपनी यात्रा इसी डिब्बे में समाप्त करना चाहता हूं।"

"तुम सीधी तरह नहीं मानोगे। मैं पुलिस को बुलाता हूं।"

पुलिस कॉन्सटेबल आया। उसने गांधीजी को हाथ पकड़कर बाहर निकाल

दिया और इनका सामान भी बाहर पटक दिया। इन्होंने दूसरे डिब्बे में जाना स्वीकार नहीं किया और गाड़ी इन्हें बिना लिये ही छूट गई। यह मुसाफिरखाने में चुपचाप जा बैठे। सामान भी रेलवेवालों के पास रहा। रात को भयंकर जाड़ा पड़ता था, उसके मारे ये ठिठुरे जाते थे। "मैं अपने कर्त्तव्य का विचार करने लगा। क्या मुझे अपने हक-हकूकों के लिए लड़ना चाहिए ? या अपमान को सहन करके भी प्रिटोरिया जाना चाहिए और मुकदमा समाप्त होने पर ही वहां से लौटना चाहिए ? अपना कर्त्तव्य पूरा किये बिना भारत लौटना मेरी नामर्दी होगी। यह काले-गोरे के भेदभाव का रोग तो गहरा था। मेरा अपमान तो रोग का एक लक्षण-मात्र था। मुझे तो रोग को जड़-मूल से खोदकर नष्ट करना चाहिए और उस प्रयत्न में जो भी कष्ट आये उसे सहन करना चाहिए। यह निश्चय करके मैं दूसरी गाड़ी से प्रिटोरिया के लिए रवाना हुआ।"

डरबन से प्रिटोरिया पहुंचने के लिए रेल से चार्ल्सटाउन पहुंचना था। वहां से घोड़ा-गाड़ी की डाक थी, उसमें सफर करना और जोहान्सबर्ग पहुंचकर वहां से फिर रेल पकड़कर प्रिटोरिया पहुंचना था। गांधीजी दूसरी गाड़ी पकड़कर चार्ल्स-टाउन पहुंचे। पर अब यहां से फिर घोड़ा-गाड़ी की डाक में यात्रा करनी थी। रेल के टिकट के साथ ही उन्होंने घोड़ा-गाड़ी का टिकट भी खरीद लिया था। घोड़ा-गाड़ी के एजेण्ट ने जब देखा कि यह तो सांवला आदमी है, तो इनसे कहा कि तुम्हारा टिकट तो रद्द हो चुका है। गांधीजी ने उसे उपयुक्त उत्तर दिया तो वह चुप हो गया, पर मूल में जो कठिनाई काले-गोरे की थी वह कैसे दूर हो सकती थी ? गोरे यात्री तो सब गाड़ी के भीतर बैठे थे। इन्हें गोरों के साथ तो बिठाया नहीं जा सकता था, इसलिए बग्घी का संचालक जो कोचमैन की बगल में बैठा करता था वह तो स्वयं भीतर बैठ गया और इन्हें कोचमैन की बगल में बिठाया।

यह अपमान था, पर गांधीजी इस जहर के घूंट को पी गये। गाड़ी चलती रही। कुछ घण्टे बीत गये। अब गाड़ी के संचालक को तम्बाकू पीने की इच्छा हुई, इसलिए उसने बाहर बैठने की ठानी। उसकी जगह तो गांधीजी बैठे थे और गांधीजी को भीतर बैठाया जा नहीं सकता था। इस समस्या को भी उसने गांधीजी का और अपमान करके ही हल करना निश्चय किया। कोचमैन की दूसरी तरफ एक गन्दी-सी जगह बची थी, उसकी तरफ लक्ष्य करके गांधीजी से कहा, "अब तू यहां बैठ, मुझे तम्बाकू पीना है।" यह अपमान असह्य था। गांधीजी ने कहा, "मेरा हक तो भीतर बैठने का था। तुम्हारे कहने से मैं यहां बैठा। अब तुम्हें तम्बाकू पीना है, इसलिए मेरी जगह भी तुम्हें चाहिए ! मैं भीतर तो बैठ सकता हूं, पर और दूसरी जगह के लिए मैं अपना स्थान खाली नहीं कर सकता।" बस, इतना कहना था कि तपाक से उसने गांधीजी को तमाचा मारा। इनका हाथ

पकड़कर इन्हें नीचे गिराने की कोशिश करने लगा। पर यह भी गाड़ी के डण्डे से चिपटकर अपने स्थान पर जमे रहे।

दूसरे यात्री यह तमाशा चुपचाप देखते थे। गाड़ी का संचालक इन्हें पीट रहा था, गालियां दे रहा था, खींच रहा था और यह गाड़ी से चिपके हुए थे, पर शांत थे। वह बलिष्ठ था, यह दुर्बल थे। यात्रियों को दया आई। एक ने कहा, "भाई, जाने भी दो, क्यों गरीब को मारते हो?" उसका क्रोध शांत तो नहीं हुआ, पर कुछ शर्मा गया। इन्हें जहां-का-तहां बैठने दिया। गाड़ी अपने मुकाम पर पहुंची। वहां से फिर रेल पकड़ी, पर फिर वही मुसीबत। गार्ड ने पहले इनसे टिकट मांगा, फिर बोला, "उठो, थर्ड में जाओ।" फिर झंझट शुरू हुई, पर एक अंग्रेज यात्री ने बीच में पड़कर मामला शांत किया और यह सही-सलामत प्रिटोरिया पहुंचे।

सविनय अवज्ञा-भंग का गांधीजी के लिए यह पहला पाठ था। उनकी इस वृत्ति का प्रथम दर्शन शायद यहीं से होता है। ऐसे मौके पर ऐसा करना चाहिए, यह शायद उन्होंने निश्चय नहीं कर रखा था। पर ऐन मौके पर अचानक विवेक-बुद्धि आज्ञा-भंग करने के लिए उभारती है और वह सविनय आज्ञा भंग करते हैं। मार खाते हैं, पर मारनेवाले पर कोई क्रोध नहीं है। न इन्हें उस पर मुकदमा चलाने की रुचि होती है। इस तरह पहले पाठ का प्रयोग सफलतापूर्वक समाप्त होता है।

यह जो छोटी-सी चीज जाग्रत हुई, वह फिर बृहत् आकार धारण कर लेती है। पर यह कोरा आज्ञा-भंग नहीं है। सविनय है, जो कि सत्याग्रह की एक प्रधान शर्त है। सत्याग्रह उनके लिए कोई राजनैतिक शस्त्र नहीं है। आदि से अन्त तक उनके लिए यह धार्मिक शस्त्र है, जिसका उपयोग वह राजनीति में, घर में, हर समय, हर हालत में करते हैं।

बा को एक मर्तबा बीमारी होती है। चिकित्सा से लाभ नहीं हुआ, तो गांधीजी ने अपनी जल-चिकित्सा और प्राकृतिक चिकित्सा का उपयोग शुरू किया। इन्हें लगा कि बा को नमक और दाल का त्याग करना चाहिए, पर बा को यह राय पसन्द न आई। एक रोज बहसकरते-करते बा ने कहा, "यदि आपको भी दाल और नमक छोड़ने को कहा जाय, तो न छोड़ सकेंगे।" "तुम्हारी यह भूल है। यदि मैं बीमार पड़ूं और मुझे डाक्टर इन चीजों को छोड़ने के लिए कहे तो मैं अवश्य छोड़ दूं। पर लो मैं तो एक साल के लिए दाल और नमक दोनों छोड़ देता हूं, तुम छोड़ो या न छोड़ो। बा बेचारी घबरा गईं, फिजूल की आफत मोल ली। "मैं दाल और नमक छोड़ती हूं, पर आप न छोड़ें।" पर गांधीजी ने तो बातों-ही-बातों में प्रतिज्ञा ले ली थी। अब उससे टलनेवाले थोड़े ही थे। बा ने भी सन्तोष किया। इस घटना का जिक्र करते हुए गांधीजी कहते हैं, "मैं मानता हूं कि मेरा

यह सत्याग्रह मेरे जीवन की स्मृतियों में सबसे ज्यादा सुखद है।"

ये दो घटनाएं गांधीजी की शुद्ध सत्याग्रह की नीति की रूपरेखा हमारे सामने रखती हैं। यद्यपि एक घटना एक अनजान के साथ घटती है, जो इनके प्रति क्रुद्ध था, और दूसरी घटती है एक निकटस्थ के साथ, जो हठ के कारण अपने प्रिय भोजन को स्वास्थ्य की अपेक्षा ज्यादा महत्त्व देती थी, पर दोनों में भावना एक ही काम करती है। दोनों में हृदय-परिवर्तन की इच्छा है। दोनों में स्वेच्छापूर्वक कष्ट-सहन करने की नीति है। दोनों में क्रोध या आवेश का अभाव है। इन घटनाओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने के बाद हम देख सकेंगे कि इनके बाद के बड़े-से-बड़े राजनैतिक संग्रामों में वही भावना, वही प्रवृत्ति रही है, जो इन दो घटनाओं में हमें मिलती है—अक्रोध से क्रोध को जीतना, दूसरों की उत्तम भावना को स्वयं कष्ट सहकर जाग्रत करना। सत्याग्रह के शस्त्र का इन्होंने जीवन की हर क्रिया में उपयोग किया है। पर इस शस्त्र को अधिक ख्याति राजनीति में मिली है, इसलिए राजनीति में कुछ कार्यों का सिंहावलोकन सत्याग्रह की नीति को ठीक-ठीक समझने में हमारे लिए ज्यादा सहायक हो सकता है।

गांधीजी ने सरकार के साथ कई लड़ाइयां लड़ीं और कई मर्तबा सरकार के संसर्ग में आये। इन सभी लड़ाइयों में या संसर्गों में सत्याग्रह की झलक मिलती है, पर मेरा खयाल है कि १९१४-१८ का यूरोपीय महाभारत, और उसी जमाने में किया गया चम्पारन-सत्याग्रह और वर्तमान यूरोपीय महाभारत, ये तीन प्रकरण इनके स्वदेश लौटने के बाद ऐसे हुए हैं कि जिनमें हमें शुद्ध सत्याग्रह का दिग्दर्शन होता है। अफ्रीका का सत्याग्रह-संचालन तो इनके अखंड आधिपत्य में हुआ था। इसलिए उस सत्याग्रह में शुद्ध सत्याग्रह की नीति का ही अनुसरण हुआ। पर १९२०-२२ और १९३०-३२ की लड़ाइयां विस्तृत थीं, और अधिनायकी इनकी होते हुए भी अनेकों तक यह सत्याग्रह फैल गया था। उसका नतीजा यह हुआ कि सत्याग्रह सर्वांश में सत्याग्रह न रहा। इन लड़ाइयों में सत्याग्रह के साथ-साथ दुराग्रह भी चला।

यह सही है कि लोग शरीर से कोई हिंसा नहीं करते थे; पर जबान और दिल में जहर की कमी न थी।

इटली और तुर्की के बीच कई साल पहले जब युद्ध छिड़ा तब अकबर साहब ने लिखा था:

न सीने में जोर है न बाजू में बल,
कि टरकी के दुश्मन से जाकर लड़ें;
तहेदिल से हम कोसते हैं मगर
कि इटली की तोपों में कीड़े पड़ें।

ऐसे सैकड़ों सत्याग्रही थे, जिनके बारे में थोड़े से हेर-फेर के साथ यह शेर कहा

जा सकता था। 'इंग्लैंड के फेफड़ों में कीड़े पड़ें' ऐसी मिन्नत मनानेवालों की भी क्या कमी थी! पर पिछले यूरोपीय महाभारत और वर्तमान यूरोपीय युद्ध में इनकी जो नीति रही, उसमें शुद्ध गांधीवाद का प्रदर्शन हुआ है।

तेरह

पिछला यूरोपीय युद्ध और वर्तमान यूरोपीय युद्ध, ये ऐसी बड़ी घटनाएं हैं, जिन्होंने संसार के हर पहलू को प्रभावित किया है और भविष्य में करेंगी। असल में तो वर्तमान युद्ध के जन्म के पीछे छिपा हुआ कारण तो पिछला युद्ध ही है और ये दोनों युद्ध संसार की बृहत् बीमारी के चिह्न-मात्र हैं। बीमारी तो कुछ दूसरी ही है। मालूम होता है कि जैसे पृथ्वी के गर्भ में तूफान उठता है उसे हम देख नहीं पाते और भूकम्प होने पर ही हमें उसकी खबर होती है, वैसे ही मानव-समाज में भी जो आग भीतर-ही-भीतर वर्षों से दहक रही थी उसे हमने युद्ध होने पर ही सम्यक् प्रकार से देखा है। पिछला युद्ध एक तरह का भूकम्प था। प्रेसीडेंट विलसन ने उस भूकम्प का निदान किया। बरतानिया के प्रधान मंत्री लायड जार्ज को भी स्थिति स्पष्ट दिखाई दी। पर दोनों की मानसिक निर्बलता ने इन्हें लाचार बना दिया। विजय के मद में ये लोग रोग को भूल गये। रोग की चिकित्सा न करके लक्षणों को दबाने की कोशिश की गई। नतीजा यह हुआ कि एक जबर्दस्त विस्फोटक मानव-समाज के अंग में फूट निकला है, जिसके दर्द के मारे सारी सृष्टि व्याकुलता से कराह रही है।

इन दोनों महाभारतों में गांधीजी ने क्या किया, यह एक अध्ययन करने लायक चीज है। गांधीजी की राजनीति में धर्मनीति प्रधान होती है। यूरोपीय महाभारतों से बढ़कर दूसरा राजनीति का प्रकरण इस सदी में और कोई नहीं हुआ। इन दोनों राजनैतिक प्रकरणों में गांधीजी ने राजनीति और धर्म का कैसे समन्वय किया, यह एक समालोच्य विषय हो सकता है, पर हर हालत में वह गांधीजी के व्यक्तित्व पर एक तेज प्रकाश डालता है। गांधीजी की प्रथम यूरोपीय युद्ध के बाद की नीति में इतना फर्क अवश्य पड़ा है कि इंग्लैंड के राज्यशासन में जो इनका अटूट विश्वास था वह मिट गया, पर उसके मिटने से पहले इन्हें कई आघात लगे, जिन्होंने उस विश्वास की सारी बुनियाद को तहस-नहस कर दिया।

"ब्रिटिश राज्य-शासन में मेरी जितनी श्रद्धा थी उससे बढ़कर किसी की हो ही नहीं सकती थी। मैं अब सोचता हूं तो मुझे लगता है कि इस राजभक्ति की

जड़ में तो मेरी सत्यप्रियता ही थी। मैं ब्रिटिश शासन के दुर्गुणों से अनभिज्ञ न था, पर मुझे उस समय ऐसा लगता था कि गुण-अवगुणों के जमा-खर्च के बाद ब्रिटिश शासन का जमा-पक्ष ही प्रबल रहता था। अफ्रीका में मैंने जो रंग-भेद पाया, वह मुझे ब्रिटिश स्वभाव के लिए अस्वाभाविक चीज लगती थी। मैंने माना था कि वह स्थानीय थी और अस्थायी थी, इसलिए कुटुम्ब के प्रति आदर-प्रदर्शन करने में मैं हर अंग्रेज से बाजी मारता था। पर मैंने इस राजभक्ति से कभी स्वार्थ नहीं साधा। मैंने तो ऐसा माना कि राजभक्ति द्वारा मैं एक ऋण-मात्र अदा कर रहा हूं।"

ये इनके प्राचीन भाव थे। फिर जब इन्होंने सरकार के लिए 'शैतानी' शब्द की रचना की, तबतक विचारों में परिवर्तन हो चुका था। पर सरकार 'शैतानी' हो गई तो भी कार्य-पद्धति में कोई परिवर्तन न हुआ, क्योंकि इन्हें शैतान से भी तो दुश्मनी नहीं है। एक बार मैंने कहा, "अमुक मनुष्य बड़ा दुष्ट है। आप क्यों उसे अपने पास रखते हैं?" गांधीजी ने उत्तर में कहा, "मैं तो चाहता हूं कि शैतान भी मेरे पास बैठे, पर वह मेरे पास रहना पसन्द ही नहीं करता।" इसलिए राजभक्ति तो काफूर हुई, पर सल्तनत के हृदय-परिवर्तन की चाह न मिटी। जिस स्वराज्य की प्राप्ति 'ऋण अदा करके' होनेवाली थी, उसकी प्राप्ति अब 'हृदय-परिवर्तन' द्वारा होने की चाह जगी। पर स्वयं कष्ट-सहन करने की नीति और अन्य तत्सम चीजें ज्यों-की-त्यों हैं।

४ अगस्त १९१४ को लड़ाई का ऐलान हुआ। ६ अगस्त को गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका से इंग्लैंड में पदार्पण किया। लन्दन पहुंचते ही पहला ध्यान इनका अपने कर्त्तव्य की ओर गया। कुछ भारतीय मित्र उस समय इंग्लैंड में थे। उनकी एक छोटी-सी सभा बुलाई और उनके सामने कर्त्तव्य-सम्बन्धी अपने विचार प्रकट किये। इन्हें लगा कि जो हिंदुस्तानी भाई इंग्लैंड में रहते थे, उन्हें सहायता देकर अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए। अंग्रेज विद्यार्थी फौज में भर्ती हो रहे हैं। भारतीय विद्यार्थियों को भी ऐसा करना चाहिए, यह इनकी राय थी। "पर दोनों की स्थितियों में क्या तुलना है? अंग्रेज मालिक हैं, हम गुलाम हैं। गुलाम क्यों सहयोग दें? जो गुलाम स्वतंत्र होना चाहता है उसके लिए तो स्वामी का संकट ही अवसर है।" पर यह दलील उस समय गांधीजी को नहीं हिला सकी। आज भी ऐसी दलील का उन पर कोई असर नहीं होता।

"मुझे अंग्रेज और हिन्दुस्तानी दोनों की हैसियत के भेद का सम्पूर्ण ज्ञान था, पर मैंने यह नहीं माना था कि हम गुलामों की हैसियत में पहुंच गये थे। मुझे लगता था कि यह सारा दोष ब्रिटिश शासन का नहीं, पर व्यक्तिगत अफसरों का था, और मेरा विश्वास था कि यह परिवर्तन प्रेम से ही सम्पादन किया जा सकता था। यदि हमें अपनी अवस्था का सुधार वांछनीय था, तो हमारा फर्ज था कि हम

अंग्रेजों की उनके संकट में मदद करें और उनका हृदय पलटायें।"

पर विरोधी मित्रों की ब्रिटिश सल्तनत में वह श्रद्धा नहीं थी, जो गांधीजी की थी, इसलिए वे सहयोग देने को उत्सुक नहीं थे। आज वह श्रद्धा गांधीजी की भी नहीं रही, इसलिए गांधीजी के सहयोग का अभाव है। पर 'अंग्रेजों का संकट हमारा अवसर है' इस दलील को आज भी गांधीजी स्वीकार नहीं करते। मित्रों ने उस समय कहा, "इस समय हमें अपनी मांगें पेश करनी चाहिए।" पर गांधीजी ने कहा, "यह ज्यादा सुन्दर होगा और दूरदर्शिता भी होगी कि हम अपनी मांगें लड़ाई के बाद पेश करें।" अबकी बार मांगें पेश की गई हैं, पर तो भी अंग्रेजों के संकट की चिन्ता से गांधीजी मुक्त नहीं हैं। वह उनके लिए किसी तरह की परेशानी पैदा करना नहीं चाहते। प्रथम और द्वितीय यूरोपीय युद्धों के प्रति इनकी मनोवृत्ति में जो सूक्ष्म सादृश्य बराबर नजर आता है, वह अध्ययन करने लायक है।

अंत में लन्दन में वालंटियरों की एक टुकड़ी खड़ी की गई। उस समय के भारत-मंत्री लार्ड क्रू थे। उन्होंने बड़ी अगर-मगर के बाद उस टुकड़ी की सेवा स्वीकार करने की सम्मति दी। अंग्रेजों में तब भी हमारे प्रति अविश्वास था, जो आजतक ज्यों-का-त्यों बना हुआ है।

गांधीजी के साथियों ने जब दक्षिण अफ्रीका में सुना कि गांधीजी ने स्वयं-सेवकों की एक टुकड़ी लड़ाई में सहायता देने के लिए खड़ी की है, तब उन्हें अत्यंत आश्चर्य हुआ। एक ओर अहिंसा की उपासना और दूसरी ओर लड़ाई में शरीक होना! गांधीजी की इन दो परस्पर-विरुद्ध मनोवृत्तियों ने इनके साथियों को उलझन में डाल दिया।

युद्ध की नैतिकता में इन्हें कतई विश्वास न था। "यदि हम अपने घातक के प्रति भी क्षमा का पालन करते हैं, तो फिर ऐसे युद्ध में, जिसमें हमें यह पूरा पता भी न हो कि धर्म किसकी ओर है, कैसे किसी का पक्ष लेकर लड़ सकते हैं?"

पर इसका उत्तर गांधीजी यों देते हैं:

"मुझे यह अच्छी तरह ज्ञात था कि युद्ध और अहिंसा का कभी मेल नहीं हो सकता। पर धर्म क्या है और अधर्म क्या है, इसका निर्णय इतना सरल नहीं होता। सत्य के उपासक को कभी-कभी अंधकार में भी भटकना पड़ता है। अहिंसा एक विशाल धर्म है। "जीवो जीवस्य जीवनम्" इस वाक्य का अत्यन्त गूढ़ अर्थ है। मनुष्य एक क्षण भी जाने-अनजाने हिंसा किये बिना जीवित नहीं रहता। जिन्दा रहने की क्रिया-मात्र—खाना, पीना, डोलना—जीव का हनन करती है, चाहे वह जीव अणु जितना ही छोटा क्यों न हो। इसलिए जीवन स्वयं ही हिंसा है। अहिंसा का पूजक ऐसी हालत में अपने धर्म का यथार्थ पालन उसी दशा में कर सकता है, जबकि उसके तमाम कर्मों का एक ही स्रोत हो। वह स्रोत है दया। अहिंसावादी भरसक जीवों की रक्षा करने की कोशिश करता है और इस तरह

वह हिंसा के पापमय फंदे से बचता रहता है। उसका कर्त्तव्य होता है कि वह इन्द्रिय-निग्रह और दया-धर्म की वृद्धि करता रहे। पर मनुष्य हिंसा से पूर्णतः मुक्त कभी हो ही नहीं सकता। आत्मा एक है और सर्वत्र व्याप्त है। इसलिए एक मनुष्य की बुराई का असर प्रकारांतर से सभी पर होता है। इस न्याय से भी मनुष्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि जबतक समाज का वह एक अंग है, तबतक समाज की हस्ती के लिए भी जो हिंसा होती है उसका वह भागीदार तो है ही। जब दो राष्ट्रों में युद्ध होता है तब अहिंसा के उपासक का प्रथम धर्म तो है युद्ध को बन्द कराना। पर जो इसके लिए अयोग्य है, जो युद्ध रोकने की शक्ति भी नहीं रखता, वह चाहे युद्ध में शरीक तो हो, पर साथ ही राष्ट्रों को, संसार को और अपने-आपको युद्ध से मुक्त करने का प्रयत्न भी निरंतर करता रहे।"

गांधीजी के तब के और आज के विचारों में कोई फर्क नहीं है, चाहे कार्यक्रम की बाहरी सूरत कुछ भिन्न मालूम देती हो। "अहिंसा का पूजक अपने धर्म का पालन पूर्णतया तभी कर सकता है जबकि उसके कर्म-मात्र का स्रोत केवल दया ही हो।" यह वाक्य उनके तमाम निर्णयों के लिए नाव के पतवार का-सा काम देता है। पर उस युद्ध में शरीक होने में एक और दलील थी :

"मैं अपने स्वदेश की स्थिति ब्रिटिश सल्तनत की सहायता से सुधारने की आशा करता था। मैं इंग्लैंड में ब्रिटिश नौ-सेना की सहायता से सुरक्षित था। चूंकि मैं इंग्लैंड की छत्रछाया में सुरक्षित था, एक प्रकार से मैं इंग्लैंड की हिंसा में भी शरीक था। मैं इंग्लैंड से अपना नाता तोड़ने को यदि तैयार न था, तो इस हालत में मेरे लिए तीन ही मार्ग खुले थे : या तो युद्ध के विरुद्ध बगावत करना और सत्याग्रह-धर्म के अनुसार जब तक इंग्लैंड अपनी नीति को न त्याग दे तबतक इंग्लैंड की शहंशाहत से असहयोग करना, अथवा कानून-भंग करके जेल जाना, अथवा ब्रिटिश राष्ट्र को जंग में सहायता देना और ऐसा करते-करते युद्ध की, हिंसा के प्रतिकार की शक्ति प्राप्त करना। चूंकि मैं प्रथम दो मार्गों के अनुसरण के लिए अपने-आपको अयोग्य पाता था, मैंने अंतिम मार्ग ग्रहण किया।"

यह तर्क कुछ लूला-सा लगता है; पर गांधीजी किस तरह निर्णय पहले करते हैं और दलील पीछे उपजाते हैं, इसकी चर्चा आगे करेंगे। पर तर्क अकाट्य न भी हो तो न सही, गांधीजी की आत्मा को जिस समय जो सत्य जंचा, उसी के पीछे वह चले हैं। उनके तर्कों में जान-बूझकर आत्म-वंचना नहीं होती। असल बात तो यह थी कि उनकी ब्रिटिश शासन-पद्धति में बेहद श्रद्धा थी। दक्षिण अफ्रीका में उनके साथ इतना दुर्व्यवहार हुआ, तो भी उनका धीरज और उनकी श्रद्धा अडिग रही। बोअर-लड़ाई में और जूलू-बलवे में यद्यपि उनकी सहानुभूति बोअरों और जूलू लोगों की तरफ थी, तो भी अंग्रेजों को सहायता देना ही उन्होंने अपना धर्म माना। इस सहायता के बाद भारतीयों की स्थिति समझने के लिए उपनिवेश-मन्त्री

जोसेफ चेम्बरलेन जब अफ्रीका आये और हिन्दुस्तानियों की प्रतिनिधि-मंडली उनसे मिलने के लिए प्रबन्ध करने लगी, तो उन्होंने साफ कहला दिया, "और सब आयें, पर गांधी को नेता बनाकर न लाया जाय। उनसे एक बार मुलाकात हो चुकी है, अब बार-बार उनसे नहीं मिलना है।"

अंग्रेजों की यह पुरानी वृत्ति आजतक ज्यों-की-त्यों जिन्दा है।

गोलमेज परिषद् हुई तब भारतीय प्रतिनिधिगण भारतीयों द्वारा चुने हुए नुमाइंदे नहीं थे, पर सरकार द्वारा नियुक्त किये हुए थे। सरकार ने हमें शान्ति दी, रक्षा दी, परतन्त्रता दी, तो फिर नुमाइंदे भी वही नियुक्त क्यों न करे ? आज भी कांग्रेस और ब्रिटिश सल्तनत में इसी सिद्धान्त पर बहस चालू है। सरकार कहती है, लड़ाई के बाद तमाम जातियों, समाजों और फिरकों के नुमाइंदों से, हिन्दुस्तान के नये विधान के सम्बन्ध में सलाह-मशवरा करेंगे। कौन जातियां हैं, कौन-से समाज हैं और कौन-से फिरके हैं, इसका निर्णय भी सरकार ही करेगी। प्रान्तीय सरकारें चुने हुए नुमाइंदों द्वारा संचालित हो रही थीं। पर वे नुमाइंदे अपने घर रहें। सरकार तो अपनी आवश्यकता देखकर नये नुमाइंदे पैदा करती है। गांधी दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानियों का प्रतिनिधि बनकर चेम्बरलेन से मिले, यह अनहोनी बात कैसे बर्दाश्त हो सकती है ? इसलिए गांधी नहीं मिल सकता।

पर गांधीजी पर इसका भी कोई बुरा असर नहीं हुआ। जब यूरोपीय युद्ध शुरू हुआ, तब फिर सहायता दी। बाद में पंजाब में खून-खराबी हुई, रौलट कानून बना, जलियांवाला बाग आया। गांधीजी की श्रद्धा फिर भी जीवित रही। नये सुधार आते हैं तब गांधीजी उन्हें स्वीकार करने के पक्ष में जोर लगाते हैं, ऐसी गांधीजी की श्रद्धा और अहिंसा है—

जो तोको कांटा बुवे, ताहि बोय तू फूल,
तोको फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरसूल।

गांधीजी की यह मनोवृत्ति एकधार, अखंडित, शुरू से आखिर तक जारी है। हालांकि ब्रिटिश राज्य की नेकनीयती में उनकी श्रद्धा अब उठ गई है, फिर भी व्यवहार वही प्रेम और अहिंसा का है। गांधीजी अब भी 'फूल बोने' में मस्त हैं।

यह उनकी ब्रिटिश शासन की नेकनीयती में श्रद्धा ही थी, जिसके कारण उन्होंने गत युद्ध में सहायता दी। उनकी दलील तो निर्णय के बाद बनती है, इसलिए पंगु-जैसी लगती है। पर चूंकि लड़ाई में सरकार को सहायता देना, यह उस समय गांधीजी को अपना धर्म लगा, उन्होंने मर्यादा के भीतर सहायता देने का निश्चय किया। बोअर-लड़ाई में और जूलू-विप्लव में गांधीजी की सहानुभूति बोअरों और जूलू लोगों के साथ होते हुए भी उन्होंने माना कि अंग्रेजों को सहायता देना उनका धर्म था, इसलिए सहायता अंग्रेजों को दी। ऐसी असंगति कोई आश्चर्य की बात नहीं है। एक कर्म जो एक समय धर्म होता है, वही कर्म अन्य समय में

अधर्म हो सकता है। इसीलिए यह कहा है कि धर्म की गति गहन है।

ऐसी ही एक असंगति की कहानी हमें महाभारत में मिलती है। महाभारत-युद्ध की जब सब तैयारी हो जाती है और योद्धा आमने-सामने आकर खड़े होते हैं तब युधिष्ठिर भीष्म पितामह के पास जाकर प्रणाम करते हैं और युद्ध के लिए उनकी आज्ञा मांगते हैं। युधिष्ठिर की इस विनय से भीष्म अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, और कहते हैं, "पुत्र, तू युद्ध कर और जय प्राप्त कर। मैं तुझ पर प्रसन्न हूं। और भी जो-कुछ चाहता हो वह कह, तेरी पराजय नहीं होगी।" इतनी आशीष दी, पर युद्ध तो भीष्म पितामह को दुर्योधन की ओर से ही करना था, इसलिए असंगति को समझाते हुए कहा, "मैंने कौरवों का अन्न खाया है, इसलिए युद्ध तो उन्हीं की ओर से करूंगा, बाकी जो तुम्हें चाहिए वह अवश्य, मांगो।"

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्य महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवः॥

"हे महाराज ! सच तो यह है कि पुरुष अर्थ का दास है और किसी का दास नहीं, इसलिए मैं कौरवों से बंधा पड़ा हूं।"

भीष्म पितामह के लिए तो कैसा अर्थ और कैसा बंधन ? पर बात तो यह है कि यहां अर्थ से भी मतलब धर्म से ही है। भीष्मजी का कहना था कि मैं धर्म से बंधा हूं, इसलिए युद्ध तो मैं कौरवों की तरफ से ही करूंगा, बाकी मेरा पक्ष तो तुम्हारी तरफ है।

हजारों साल के बाद एक दूसरा महाभारत यूरोप में होता है। गांधीजी कहते हैं, "मैं युद्ध के पक्ष में नहीं, पर चूंकि इंग्लैंड की सुरक्षा में पला हूं, इसलिए मेरा धर्म यह है कि मैं इंग्लैंड की सहायता करूं।" हजारों साल के बाद इतिहास की पुनरावृत्ति का यह एक अनुपम उदाहरण है।

गत यूरोपीय युद्ध चार साल तक चला और उसमें मित्रराष्ट्रों को जान लड़ाकर युद्ध करना पड़ा। कई उतार-चढ़ाव आये। भारतवर्ष में गांधीजी ने जिस खालिस मन से इंग्लैंड को सहायता दी उतनी सरलता से शायद ही किसी ने दी हो। कई नेता तो विपक्ष में भी थे, पर ज्यादातर तटस्थ थे। लोकभावना में भी जब और तब में कितना सादृश्य है, यह देखने लायक चीज है।

लड़ाई के जमाने में वाइसराय चेम्सफोर्ड ने तमाम नेताओं और रईस लोगों की युद्ध-सभा बुलाई। गांधीजी को भी निमन्त्रण मिला। कुछ हिचकिचाहट और अगर-मगर के साथ गांधीजी ने सभा में शरीक होने का निश्चय किया। सभा में जो प्रस्ताव था उसके समर्थन में गांधीजी ने हिन्दी में केवल इतना ही कहा, "मैं इसकी ताईद करता हूं।" पर जो उन्हें कहना था, वह पत्र द्वारा वाइसराय को लिखा। वह पत्र भी देखने लायक है :

"मैं मानता हूं कि इस भयंकर घड़ी में ब्रिटिश राष्ट्र को—जिसके कि अत्यंत

निकट भविष्य में हम अन्य उपनिवेशों की तरह साझेदार बनने की आशा लिये बैठे हैं—हमें प्रसन्नतापूर्वक और स्पष्ट सहायता देनी चाहिए। पर यह भी सत्य है कि हमारी इस मंशा के पीछे यह आशा है कि ऐसा करने से हम अपने ध्येय को शीघ्र ही पहुंच जायेंगे। कर्त्तव्य का पालन करने से अधिकार अपने-आप ही मिल जाते हैं, और इसलिए लोगों को विश्वास है कि जिस सुधार की चर्चा आपने की है उसमें कांग्रेस-लीग की योजना को आप पूरी तरह से स्वीकार करेंगे। कई नेताओं का ऐसा विश्वास है और इसी विश्वास ने सरक़ार को पूर्ण सहायता देने पर नेताओं को आमादा किया है।"

गांधीजी के पत्र का यह एक अंश है। कितना निर्मल विश्वास ! उस समय हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य था। आज की तरह साम्प्रदायिक अनैक्य की दुहाई देने की कोई गुंजाइश न थी। लीग और कांग्रेस दोनों ने सम्मिलित योजना गढ़कर सरकार के सामने पेश की थी। पर सरकार ने उसे महत्त्व नहीं दिया। उसे अस्वीकार किया और इस तरह सारी आशाएं निष्फल हुईं। जो लोग यह मानते हैं कि हिन्दू-मुस्लिम अनैक्य ही भारत को स्वतन्त्रता देने के लिए इंग्लैंड के मार्ग में बाधक है, उनके लिए यह पुरानी कहानी एक सबक है।

आगे चलकर गांधीजी ने लिखा, "यदि मैं अपने देशवासियों को समझा सकूं तो उनसे यह करवाऊं कि जंग के जमाने में वे स्वराज्य का नाम भी न लें।"

वर्तमान युद्ध के आरम्भ में जब गांधीजी वाइसराय लिनलिथगो से मिले तो उसके बाद उन्होंने अपने एक वक्तव्य में कहा, "मुझे इस समय देश की स्वाधीनता का कोई खयाल नहीं है। स्वतन्त्रता तो आयेगी ही, पर वह किस काम की, यदि इंग्लैंड और फ्रांस मर मिटें या मित्रराष्ट्र जर्मनी को तबाह और दीन करके जीतें? इन दोनों उक्तियों में भी वही सादृश्य जारी है।

आगे चलकर गांधीजी ने वाइसराय चेम्सफोर्ड को लिखा, "मैं चाहता हूं कि भारत हर हट्टे-कट्टे नौजवान को ब्रिटिश राष्ट्र की रक्षा के लिए होम दे। मुझे यकीन है कि भारत का यह बलिदान ही उसे ब्रिटिश साम्राज्य का एक आदरणीय साझेदार बना देने के लिए पर्याप्त होगा। इस संकट के समय यदि हम साम्राज्य की जी-जान से सेवा करें और उसकी भय से रक्षा कर दें, तो हमारा यह कार्य ही हमें हमारे ध्येय की ओर शीघ्रता से ले जायगा। अपने देशवासियों को मैं यह महसूस कराना चाहता हूं कि साम्राज्य की सेवा यदि हमने कर दी, तो उस क्रिया में से ही हमें स्वराज्य मिल गया, ऐसा समझना चाहिए।"

आश्चर्य है कि गांधीजी ने उस समय जिस भाषा का उपर्युक्त उक्ति में प्रयोग किया, करीब-करीब वही भाषा आज सरकारी हलकों द्वारा हमारी मांगों के सम्बन्ध में प्रयोग की जाती है। वे कहते हैं कि इस समय केवल जंग की ही बात करो, और जी-जान से हमारा पक्ष लेकर लड़ो। बस, इसी में तुम्हें स्वराज्य मिल

जायगा। गत युद्ध में भी सरकार की तरफ से कहा गया था कि इस समय हमें सारे घरेलू झगड़ों को भूलकर युद्ध में दत्तचित्त हो जाना चाहिए, और गांधीजी ने वैसा ही किया भी। भारत ने अपने नौजवानों की बलि भी चढ़ाई। धन को भी साम्राज्य-रक्षा के लिए फूंका, पर उससे भारत को स्वतन्त्रता नहीं मिली। युद्ध के अन्त में जब जलियांवाला बाग आया, तब गांधीजी का यह विश्वास और श्रद्धा चल बसे, पर तो भी व्यवहार में कोई फर्क नहीं पड़ा।

वर्तमान यूरोपीय युद्ध नम्बर दो में गांधीजी ने जिस नीति का अवलम्बन किया है, वह भी शुद्ध सत्याग्रह है। पिछले युद्ध में ब्रिटिश साम्राज्य की मनोवृत्ति में उन्हें जो श्रद्धा थी, वह अब नहीं रही। पर सत्याग्रह की नीति ही उनके मतानुसार यह है कि जितनी ही अधिक बुराई विपक्ष में हो, उतना ही ज्यादा हमें अहिंसामय होने की जरूरत पड़ती है। इसलिए यद्यपि गांधीजी का असहयोग तो जारी है; पर इस संकटकाल में इंग्लैंड जरा भी तंग हो, ऐसा कोई भी कार्य करना उन्हें रुचिकर नहीं है। नतीजा यह हुआ है कि ज्यों-ज्यों इंग्लैंड की शक्ति कम होती गई, त्यों-त्यों गांधीजी इस बात का ज्यादा खयाल करने लगे कि ब्रिटिश सरकार को किसी तरह हमारी ओर से परेशानी न हो।

पर पिछले युद्ध और इस युद्ध में एक और फर्क है और उस फर्क के कारण गांधीजी का युद्ध में शरीक होना या न होना, इस निर्णय पर काफी असर पड़ा है।

गत युद्ध में हम बिलकुल पराधीन थे, हमारी कोई जिम्मेदारी नहीं थी, हमारी कोई पूछ नहीं थी। हम उपद्रव करके अंग्रेजों को सहायता मिलने में कुछ हद तक रुकावट अवश्य डाल सकते थे, किन्तु यह कार्य सत्याग्रही नीति और गांधीजी की अहिंसा-नीति के खिलाफ होता। पर रुकावट डालना एक बात थी और सक्रिय सहायता देना दूसरी बात। रुकावट न डालते हुए भी सक्रिय सहायता देने में हम असहयोग कर सकते थे, तो भी गांधीजी ने सक्रिय सहायता देना ही अपना धर्म माना। "हम जब इंग्लैंड द्वारा सुरक्षित हैं और खुशी-खुशी उस सुरक्षा को स्वीकार करते हैं, तब तो हमारा धर्म हो जाता है कि हम अंग्रेजों को सक्रिय सहायता दें और उनकी ओर से शस्त्र लेकर लड़ें भी।" पर इस तर्क में आज की स्थिति में कोई प्राण नहीं है, क्योंकि तब की और अब की परिस्थिति में काफी अन्तर पड़ गया है। इसलिए वह पुरानी दलील आज की स्थिति में लागू नहीं होती।

इस बार युद्ध छिड़ा तब प्रान्तों में प्रान्तीय स्वराज्य था और उनमें से आठ प्रान्तों में तो स्वराज्य की बागडोर कांग्रेस के हाथ में थी। एक और प्रान्त में भी, अर्थात् सिन्ध में, आधी-पड़धी बागडोर कांग्रेस के हाथ में थी। इस तरह कुल नौ प्रान्तों में कांग्रेस का आधिपत्य था। केन्द्र में भी स्वराज्य का वादा हो चुका था। और अनुमान से यह भी कहा जा सकता है कि हम पूर्ण स्वराज्य के काफी निकट

पहुंच गये हैं। इसलिए आज 'उन्हीं की दी हुई रक्षा से हम सुरक्षित हैं', ऐसा नहीं कहा जा सकता। आज हम इस योग्य बन गये हैं कि हम अपनी ही रक्षा से भी सुरक्षित हो सकते हैं। हम गत युद्ध के समय जितने पराधीन थे उतने आज पराधीन नहीं हैं। हमें यह कहने का नैतिक स्वत्व—कानूनी न सही—अवश्य है कि हम अपनी रक्षा किस तरह करेंगे, कैसे करेंगे। जहां इंग्लैंड को परेशान न करना गांधीजी ने अपना धर्म माना, वहां यह निश्चय करना भी उनका धर्म हो गया कि भारतवर्ष पर आक्रमण हो तो उस आक्रमण का मुकाबला—प्रतिरोध—हिंसात्मक उपायों द्वारा करना या अहिंसात्मक उपायों द्वारा। हम मारते-मारते मरें या बिना मारे भी मरना सीखें। तमाम परिस्थिति पर ध्यानपूर्वक सोच-विचार के बाद गांधीजी ने युद्ध छेड़ा तभी यह निश्चय कर लिया था कि उग्र हिंसा का सामना अहिंसा से ही हो सकता है। अबीसीनिया, स्पेन और चीन के युद्ध में विपद्ग्रस्त राष्ट्रों को गांधीजी ने अहिंसा की ही सीख दी थी। जो सलाह अन्य विपद्ग्रस्त राष्ट्रों को दी गई थी, क्या उससे विपरीत सलाह अपने देशवासियों को दें?

गांधीजी की दृष्टि से अहिंसा की जीवित कसौटी का समय आ चुका था। यदि अहिंसा के प्रयोग की सक्रिय सफलता का प्रदर्शन करना है, तो इससे उत्तम अवसर और क्या हो सकता था? नैतिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से युद्ध छिड़ने से पहले ही गांधीजी इस निर्णय पर पहुंच चुके थे कि इतनी उग्र और सुव्यवस्थित हिंसा का सामना कम-से-कम हिन्दुस्तान तो हिंसात्मक उपायों द्वारा कर ही नहीं सकता। उसके पास इतने उग्र साधन ही कहां हैं, जो सुव्यवस्थित मुल्कों के शस्त्रास्त्रों से मुठभेड़ ले सकें? पर यह तो गौण बात थी। प्रधान बात तो यह थी, "क्या हम भयंकर हिंसा का अहिंसा से सफल मुकाबला करके संसार के सामने एक धार्मिक शस्त्र का प्रदर्शन नहीं कर सकते?" और इसी विचार ने गांधीजी को इस निर्णय पर पहुंचाया कि भारत और इंग्लैंड के बीच समझौता होने पर अंग्रेजों को नैतिक सहयोग अवश्य दिया जाय, पर कम-से-कम कांग्रेस हिंसा में शरीक होकर अपनी नैतिक ध्वजा को झुकने न दे।

कांग्रेस के दिग्गज इस नीति की उत्तमता को महसूस करते थे, पर इस मार्ग पर पांव रखने में ही हिचकते थे। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य-जैसे तीक्ष्ण बुद्धिवादी तो न लड़ने की नीति को धर्म भी नहीं मानते थे। युद्ध के शुरू-शुरू में इस प्रश्न ने इतना जोर नहीं पकड़ा। कांग्रेस की मांगें सरकार के सामने रखी पड़ी थीं। पर सरकार ने न तो उन्हें पूरा किया, न कोई आशा दिलाई। इस तरह कांग्रेस के प्रस्ताव का मानसिक अर्थ दो पक्ष के लोगों का भिन्न-भिन्न था। गांधीजी सरकार से समझौता होने पर केवल नैतिक सहायता-भर देना चाहते थे। अन्य दिग्गजों ने अपनी कल्पना पर भौतिक सहायता देना भी कर्त्तव्य मान रखा था। प्रस्ताव-पर-

प्रस्ताव कांग्रेस पास करती चली गई और इसकी द्विअर्थी भावना भी दोनों पक्ष अपने-अपने मन में पुष्ट करते रहे।

गांधीजी ने तो लेखों, वक्तव्यों और वाइसराय की मुलाकातों में इस चीज को स्पष्ट कर दिया था कि हिन्दुस्तान तो अंग्रेजों को नैतिक बल का ही दान दे सकता है। पर वाइसराय ने भी अपने मन में अवश्य मान रखा होगा कि भौतिक बल का दान भी समझौता होने पर मिलना नितांत असम्भव नहीं। दिन निकले, महीने निकले। जर्मनी की मृत्यु-बाढ़ एक-के-बाद दूसरे राष्ट्र को अपने उदर में समेटती हुई आगे बढ़ती चली। जब फ्रांस का पतन हुआ, तब 'मारते-मारते मरना' या 'बिना मारे मरना' यह प्रश्न तेजी के साथ महत्त्वपूर्ण बन गया। अबतक जिस तरह से दो पक्ष अपनी-अपनी कल्पना लेकर गाड़ी हांकते थे, वह अब असंभव-सा हो गया। गांधीजी शुरू से इस भेद को जानते थे। शुरू से अपने सहकर्मियों से कहते थे कि मुझे छोड़ दो, पर गांधीजी को जबतक राजी-खुशी उनके सहकर्मी छोड़ न दें, तबतक वह कांग्रेस से निकल नहीं सकते थे। अंत में कांग्रेस के दिक्-पालों ने देख लिया कि गांधीजी को अधिक दिन तक निबाहना उनके प्रति सरासर अन्याय है और वर्धा में २० जून, १९४० को लम्बी बहस के बाद गांधीजी को बिदाई दे दी।

यह भी गांधीजी के जीवन की एक अनोखी घटना थी। शायद इससे अत्यन्त मिलती-जुलती घटना हमारे पुराणों में युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण के वर्णन में मिलती है। गांधीजी से अन्य नेताओं के मतभेद की चर्चा करते हुए मैंने कहा, "बापू! इसे मतभेद नहीं कहना चाहिए। एक शक्कर ज्यादा मीठी हो और दूसरी कम मीठी हो, तो क्या हम यह कहेंगे कि दोनों शक्करों में मतभेद है? बात तो यह है कि आप जहां शुद्ध धर्म की बात करते हैं, वहां अन्य नेता आपद्धर्म की बात करते हैं। उनकी श्रद्धा इतनी बलवती नहीं है कि वे शुद्ध धर्म की वेदी पर कही जानेवाली व्यावहारिकता का बलिदान कर दें। और आप यह आशा भी कैसे कर सकते हैं कि आपकी-जितनी सजीव श्रद्धा सभी के हृदय-पट पर अपना प्रभुत्व जमा ले? जैसे युधिष्ठिर स्वर्ग में गये तब एक-एक करके उनके निकटस्थ गिरते चले गये, उसी तरह आपका हाल है। ज्यों-ज्यों आप बढ़ते हैं, ऊपर चढ़ते हैं, त्यों-त्यों आपके साथी पिछड़ते जाते हैं, थकान के मारे गिरते जाते हैं।" पास में बैठी हुई डा० सुशीला ने मजाक में कहा, "पर युधिष्ठिर के साथ कुत्ता तो रहा। बापू! इस दृष्टांत से स्वर्ग पहुंचनेवाला कुत्ता कौन-सा है?" गांधीजी ने कहा, "पहले यह बताओ कि वह युधिष्ठिर कौन-सा है?" विषय के गाम्भीर्य ने सबके चेहरों पर जो एक तरह की सलवटें डाल दी थीं वे इस मजाक से रफा हुईं। सब खिल-खिलाकर हँस पड़े।

पर इसका नतीजा क्या होगा? अभी तो कालदेव इतिहास का निर्माण करते

ही जाते हैं। अंत तो बाकी है, होनहार भविष्य के गर्भ में है। पर एक बात स्पष्ट हो गई। कांग्रेस की अहिंसा-नीति, यह एक उपयोगितावाद था। गांधीजी की अहिंसा, यह उनका प्राण है। पर कौन कह सकता है कि गांधीजी की अहिंसा कांग्रेस को प्रभावित न कर देगी ? और जो अहिंसा अबतक उपयोगिता के ढकने से ढकी थी वह अब अपना शुद्ध स्वरूप प्रकाशित न कर देगी ?

दो महीने तक उपयोगिता के सेवन के पश्चात् बम्बई में फिर गांधीजी के हाथ में बागडोर सौंपना क्या यह सिद्ध तो नहीं कर रहा है कि इच्छा या अनिच्छा से कांग्रेस शुद्ध गांधीवाद की तरफ खिंची जा रही है ?

मेरा खयाल है कि जब बाहर के आक्रमणों से भारतवर्ष की रक्षा का प्रश्न सचमुच उपस्थित होगा, तब हमारे नेताओं का काफी हृदय-मंथन होनेवाला है। हिंसात्मक शस्त्रास्त्रों से किसी बड़े राष्ट्र से मुकाबला करने की हमारी हौंस—यदि सचमुच वह हौंस हो तो—छोटे मुंह बड़ी बात है। दूसरी ओर हमारे पास सत्याग्रह का एक शस्त्र है, जो चाहे, सान पर चढ़कर सम्पूर्ण न भी बन पाया हो तो भी एक ऐसा शस्त्र है जो अन्य किसी राष्ट्र के पास आज नहीं है। इसलिए जिस दिन भारतवर्ष की रक्षा का प्रश्न सचमुच ही उपस्थित होगा उस दिन सत्याग्रह का शस्त्र गांधीजी जिंदा हों और खटाई में पड़ा रहे, ऐसी सम्भावना नहीं। गांधीजी का तो यह भी विश्वास है कि भारत की जनता अहिंसात्मक संग्राम में पीछे नहीं रहेगी। श्रद्धा की कमी उनकी समझ में नेताओं में है, न कि जनता में।

जो हो, एक चीज जो साबित हुई, वह है गांधीजी की अहिंसा में सजीव श्रद्धा। दूसरी चीज जो अभी साबित होनी बाकी है वह है अहिंसाशास्त्र का कौशल। उसके लिए, मालूम होता है, अवसर आ रहा है। और यदि गांधीजी के जीवन में वह अवसर आ जाय और उसमें उस शस्त्र की विजय साबित हो जाय, तो यह संसार के भविष्य के इतिहास-निर्माण के लिए एक अद्भुत घटना होगी।

पर बीच में भविष्य की कल्पना आ गई। जो हो, अंग्रेजों को परेशानी न हो, गांधीजी की इस मंशा का देश ने अबतक एकस्वर से पालन किया। ख़ाकसारों ने उपद्रव किया, पर कांग्रेस शांत रही। वह बलवान की शांति थी। सहज ही आज कांग्रेस लाखों आदमी कटा सकती है, जेलें ठसाठस भर सकती है, पर गांधीजी ने शांति रखकर इस युद्ध के जमाने में जनता पर उनका कितना काबू है, यह साबित कर दिया। भारतवर्ष में इतनी शांति पहले कभी न थी जितनी आज है। हमने अपनी उदारता का प्रदर्शन कर दिया। इससे हमारी शक्ति साबित हुई है। हमारी नेकनीयती का प्रमाण मिला। शुद्ध सत्याग्रह का स्वरूप इंग्लैंड के सामने आ गया। अंग्रेजों से हमारी लड़ाई बंद नहीं हुई। मुमकिन है, जंग के बाद उनसे लड़ाई हो। शायद बड़ी भयंकर लड़ाई हो। यह भी मुमकिन है कि सरकार अपनी गलतियों

में कांग्रेस को झगड़ने के लिए बाध्य करे, पर गांधीजी अंग्रेजों को परेशानी से बचाने के लिए कुछ उठा न रखेंगे। आज अंग्रेज त्रस्त हैं, इसलिए उनपर आज वार करना कायरता होगी, ऐसी भावना गांधीजी के चित्त में अवश्य रही है। गांधीजी को स्वराज्य से भी सत्याग्रह प्रिय है, और गांधीजी तो मानते ही यों हैं कि स्वराज्य की अधिक-से-अधिक सेवा इसी में है कि हम शुद्ध सत्याग्रह का अनुसरण करें। इसलिए गांधीजी ने ब्रिटिश सल्तनत को परेशानी से काफी बचाया। इंग्लैंड इसके लिए कृतज्ञ नहीं है और न इंग्लैंड की मनोवृत्ति में कोई फर्क पड़ा है। पर गांधीजी आशा किये बैठे हैं कि "चमत्कार का युग गया नहीं है। जबतक ईश्वर है तबतक चमत्कार भी है।" इस श्रद्धा की भाप से गांधीजी का स्टीम-इंजन चला जा रहा है।

वर्तमान युद्ध के समय में गांधीजी में एक बात और मैंने देखी है। जब से युद्ध चला है तब से वह प्रायः सेवाग्राम में ही रहना पसन्द करते हैं। अति आवश्यकता के कारण एक बार उन्हें बंगाल जाना पड़ा। रामगढ़-कांग्रेस में तो जाना ही था। वाइसराय के पास जब-जब जाना पड़ा तब-तब गये, पर इन यात्राओं को छोड़कर और कहीं न तो जाना चाहते हैं, न बाहर जाने के किसी कार्यक्रम को पसंद करते हैं। पहले के जो वादे बाहर जाने के थे, वे भी उन्होंने वापस लौटा लिये। मुझसे भी एक वादा किया था, पर वह लौटा लिया गया। क्यों? "मुझे, जबतक लड़ाई चलती है, सेवाग्राम छोड़ना अच्छा नहीं लगता।" कुछ सोचते रहते होंगे, पर कभी उन्हें विचारमग्न नहीं पाया। फिर भी मालूम होता है कि वर्तमान युद्ध में उन्हें काफी विचार करना पड़ा है।

चौदह

पर गांधीजी कब सोचते हैं, यह प्रश्न सामने आता है। गांधीजी के पास इतना काम रहता है कि सचमुच यह कहा जा सकता है कि उन्हें एक पल की भी फ़ुर्सत नहीं रहती, मुझे अक्सर ऐसा लगा है कि काम के इतने बाहुल्य के कारण कभी-कभी महत्त्व के कार्य ध्यान से ओझल हो जाते हैं और कम महत्त्व के कामों को आवश्यकता से अधिक समय मिल जाता है। द्वितीय गोलमेज-परिषद् में जब गये तब उनके मंत्रिवर्ग में वही लोग थे, जो सदा से उनके साथ रहे हैं। नये-नये कामों की बाढ़-सी आ रही थी और इसपर भी काम शीघ्र निपट जाय, ऐसी व्यवस्था नहीं थी। सिवाय नये आदमी मंत्रिवर्ग में भर्ती करने के और क्या उपाय हो

सकता था ? पर यह गांधीजी को स्वीकार नहीं था। ज्यों-ज्यों काम बढ़ रहा था, त्यों-त्यों आपस में बांट-चूंटकर काम निपटाया जाता था। फलस्वरूप, गांधीजी की नींद में कमी होती जा रही थी।

लन्दन में काम करते-करते रात के दो तक बज जाते थे। सुबह चार बजे प्रार्थना करके नौ बजे तक टहल-फिरकर, खा-पीकर तैयार होकर, फिर काम करना पड़ता था। चार घंटे से ज्यादा तो नींद शायद ही कभी मिलती थी। इसीलिए गांधीजी ने कांफ्रेंस में ही, जब स्पीचें होती रहती थीं, कुर्सी पर बैठे-बैठे आंख मूंदकर नींद लेना शुरू कर दिया। मैंने टोका। कहा, "यह कुछ अच्छा नहीं लगता कि बड़े-बड़े लोग बैठे हों, व्याख्यान दिये जा रहे हों, और आप सोते हों।" उत्तर मिला, "फिर क्या जागरण करके यहां बीमार पड़ना है ? और तुमने कभी देखा भी है कि क्या एक भी मर्म के व्याख्यान को मैं न सुन पाया होऊं ?" यह बात सही भी थी। न मालूम कौन-सी वृत्ति काम करती थी ! जब कभी कोई महत्त्व का पुरुष बोलने खड़ा होता था, तो गांधीजी चट आंखें खोल देते थे और समाप्ति पर फिर नींद ले लेते थे।

पर मुझे यह स्थिति अच्छी नहीं लगती थी। साथवालों में आपस में हम लोग यह चर्चा किया करते थे कि बापू को चाहिए कि अपने मंत्रिवर्ग में कुछ नये आदमियों का और समावेश करें। इसकी क्या जरूरत है कि हर खत बापू या महादेवभाई ही हाथ से लिखें ? गांधीजी का दाहिना हाथ लिखते-लिखते थक जाता था, तो वह बायें हाथ से काम करने लगते थे। गोलमेज-परिषद्-सम्बन्धी कामों की कभी-कभी वह अवहेलना भी करते थे, और इसके बदले गायों की प्रदर्शनी में जाना, विलायती बकरियां देखना, साधारण मनुष्यों से मिलना-जुलना, कई तरह की ख़ब्तियों को काफी से ज्यादा समय दे देना, ये सब चीजें बढ़ती जा रही थीं। अक्सर गरीबों के बच्चों से खेलते-खेलते कह दिया करते थे कि मेरी गोलमेज-परिषद् 'सेण्ट जेम्स' महल में नहीं, इन बच्चों के बीच में है। ये सब चीजें पास में रहनेवालों को खटकती भी थीं। जब मैं देखता हूं तो लगता है कि गांधीजी ने गोलमेज-परिषद् की अवहेलना करके कुछ नहीं खोया। तो भी यह मैं अब भी महसूस करता हूं कि उनके पास काम ज्यादा है, आदमी कम। क्यों नहीं स्टेनो-टाइपिस्ट रखते, जिससे कि लिखा-पढ़ी में सुभीता हो, समय की बचत हो ? कई मर्तबा मैंने इसका जिक्र किया, पर कोई फल नहीं निकला।

पर प्रश्न तो यह है, "इतने काम के बीच इन्हें सोचने की फ़ुर्सत कब मिलती है ?"

कितने ऐसे किस्से हैं, जिनपर उनका उनके साथियों से मतभेद हुआ। कितनी घटनाएं मुझे याद हैं, जिनके सम्बन्ध में मुझे ऐसा लगा कि गांधीजी गलती कर रहे हैं और पीछे साबित हुआ कि गलती उनकी नहीं, उनसे मतभेद रखनेवालों की

थी। एक प्रतिष्ठित मित्र ने एक मर्तबा, जब एक घटना घट रही थी, कहा कि गांधीजी गलती कर रहे हैं। मैंने भी कहा, "हां, गलती हो रही है।" पर फिर उसी मित्र ने याद दिलाई कि हम लोगों ने कई मर्तबा जिस चीज को गांधीजी की भूल माना था, वह पीछे से उनकी बुद्धिमत्ता साबित हुई। यह सच बात थी। यह आश्चर्य की बात है कि इतना काम और इतने जटिल प्रश्नों की समस्या और फिर इतना शुद्ध निर्णय। भूल मनुष्य-मात्र करता है। गांधीजी भी भूल करते हैं। उन्होंने अपनी कितनी ही भूलों का बढ़ा-चढ़ाकर जिक्र किया है। मजा यह है कि जिन चीजों को उन्होंने भूल माना है उन्हें साथियों ने भूल नहीं माना, बल्कि उनके साथियों ने यह माना कि गांधीजी ने अपनी भूल स्वीकार करने में भूल की है। भूल मनुष्य-मात्र करता ही है। गांधीजी भी करते हैं, पर सबसे कम।

गांधीजी का निर्णय करने का तरीका क्या है? यह कैसे सोचते हैं? इतने कामों के बीच कब सोचते हैं? गांधीजी को मैंने कभी विचारमग्न नहीं देखा। प्रश्न सामने आया कि झट गांधीजी ने फैसला दिया। बड़े-बड़े मौकों पर मैंने पाया है कि प्रश्न उपस्थित हो गया है, निर्णय करने का समय आ गया है, पर जबतक ऐन मौका नहीं आया तबतक निर्णय नहीं करते।

गोलमेज-परिषद् की प्रथम बैठक में उनका महत्त्वपूर्ण व्याख्यान होने वाला था, जो प्रथम व्याख्यान था। उसे सुनने को, उनके विचार जानने को, सब लोग अत्यन्त उत्सुक थे। गांधीजी ने न कोई विचार किया, न तैयारी ही की, और वहां पहुंचते ही धारा-प्रवाह मर्म की बातें उनकी जबान से निकलने लगती हैं। अत्यन्त महत्त्व के काम के लिए वाइसराय से मुलाकात करने जा रहे हैं। पांच मिनट पहले मैं पूछता हूं, "क्या कहेंगे?" उत्तर मिलता है, "मेरा मस्तिष्क शून्य है। पता नहीं, क्या कहूंगा।" और वहां पहुंचते ही कोई अनोखी बात कह बैठते हैं। यह एक अद्भुत चीज है।

अहमदाबाद में मिल-मजदूरों की हड़ताल हुई। न्याय मजदूरों के साथ था, यह गांधीजी ने माना था। मिल-मालिकों से भी प्रेम था। इसलिए एक हद तक तो प्रेम का भी झगड़ा था। मजदूर पहले तो जोश में रहे, पीछे ठंडे पड़ने लगे। भूख के मारे चेहरों पर हवाइयां उड़ने लगीं। मजदूरों की सभा में गांधीजी व्याख्यान दे रहे थे। मजदूरों के चेहरे सुस्त थे। अचानक गांधीजी के मुंह से निकल पड़ा, "यदि हड़ताली डटे न रहे और जबतक फैसला न हो तबतक हड़तालियों ने हड़ताल को जारी न रक्खा, तो मैं भोजन न छूऊंगा।" यह अचानक निर्णय मुंह से निकल पड़ा। न पहले कोई विचार उपवास का था, न कोई मन में तर्क करके तत्त्व का मोल-तोल था। राजकोट का उपवास भी इसी तरह अचानक ही किया गया था।

पन्द्रह

इन घटनाओं में एक बात मैंनेस्पष्ट पाई। गांधीजी निर्णय करनेके लिए न विचार-मग्न होते हैं, न अपने निर्णय को विचार की कसौटी पर पहले कसते हैं। निर्णय पहले होता है, तर्क-दलील पीछे पैदा होती है। यही कारण है कि कभी-कभी उनकी दलीलें कच्ची मालूम देती हैं, तो कभी-कभी 'घृताधारं पात्रं वा पात्राधार घृतम्' की तरह अत्यन्त सूक्ष्म या तोड़ी-मरोड़ी हुई या खींचातानी की हुई मालूम देती हैं। कभी-कभी ऐसी दलीलों के मारे उनके विपक्षी परेशान हो जाते हैं। उन्हें चाणक्य बताते हैं। उन्हें उस मछली की उपमा दी जाती है, जो अपनी चिकनाहट के कारण हाथ की पकड़ में नहीं आती और फिसलकर कब्जे से निकल जाती है।

पर दरअसल बात यह है कि गांधीजी की दलीलें सहज स्वभाव की होती हैं। लेकिन चूंकि ये दलीलें निर्णय के बाद पैदा होती हैं, न कि निर्णय दलील और तर्क की भित्ति पर खड़ा किया जाता है, इसलिए उनका सारे-का-सारा निर्णय तक कभी अनावश्यक जटिलता लिये, कभी चाणक्यीय वाग्जाल से भरा हुआ और कभी थोथा प्रकट होता है। और हो भी क्या सकता है? सूरज से पूछो कि आप सर्दी में दक्षिणायन और गर्मी में उत्तरायण क्यों हो जाते हैं, तो क्या कोई यथार्थ उत्तर मिलेगा? सर्दी-गर्मी उत्तरायण-दक्षिणायन के कारण होती है, न कि उत्तरायण-दक्षिणायन सर्दी-गर्मी के कारण। गांधीजी की दलीलें भी वैसी ही हैं। वे निर्णय के कारण बनती हैं, न कि निर्णय उनके कारण बनता है। असल में तो जबर्दस्त दलील उनके निर्णय के बारे में यही हो सकती है कि यह गांधीजी का निर्णय है। यह मैं अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूं; क्योंकि मैंने यह पाया है कि उनका निर्णय उनकी दलीलों से कहीं अधिक प्राबल्य रखता है, कहीं अधिक अकाट्य होता है।

'चार तरह के सत्यानाश' वाली स्वतन्त्रता-दिवस के उपलक्ष्य में जो शपथ है, उसमें कथन है कि अंग्रेजों ने भारतवर्ष का आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक नाश किया है। यह पुरानी शपथ है, जो वर्षों से चली आती है। पर इस साल काफी कोलाहल हुआ। अंग्रेजी के पत्रकारों ने और कुछ अंग्रेज नेताओं ने कहा कि "यह सरासर झूठ है। हम लोगों ने कब आध्यात्मिक या सामाजिक नाश किया? यह कथन ही नितांत असत्य है कि हमने भारतीय अध्यात्म या संस्कृति का खून किया है।"

बात में कुछ वजन भी है, पर जैसा कि हर दफा होता है, गांधीजी जो कहते हैं उसका अर्थ जनता या सर्वसाधारण कुछ भी करें, गांधीजी को तो वही अर्थ मान्य है, जो उनका अपना है। वह शब्दों के साहित्यिक अर्थ के कायल नहीं हैं। शब्दों में जो तत्त्व भरा रहता है, वह उसके पक्षपाती हैं। कांग्रेस ने कहा, आजादी

चाहिए। गांधीजी ने कहा, "हां, आजादी चाहिए।" पर जवाहरलालजी आजादी मांगते हैं तो वह कुछ अलग चीज चाहते हैं। गांधीजी की आजादी अलग चीज है। गांधीजी की आजादी पूर्ण स्वराज्य तो है ही, पर कई पहलुओं से महज राजनैतिक आजादी की अपेक्षा अधिक जटिल भी है। गांधीजी के पूर्ण स्वराज्य में अंग्रेजों के लिए तो त्याग है ही, पर भारतीयों के लिए भी सुख की नींद नहीं। 'आजादी' कहते-कहते गांधीजी 'पूर्ण स्वराज्य' शब्द का प्रयोग करने लगते हैं, फिर 'रामराज्य' कह जाते हैं।

असल में तो वह रामराज्य ही चाहते हैं। कई मर्तबा उन्होंने पाश्चात्य चुनाव-प्रणाली की निंदा की है और रामराज्य को श्रेष्ठ माना है, क्योंकि उनकी दृष्टि में रामराज्य के माने पूर्ण स्वराज्य हो सकता है, पर पूर्ण स्वराज्य के माने राक्षस-राज्य भी हो सकता है। जर्मनी स्वतन्त्र है, ऐसा हम मान सकते हैं, पर गांधीजी ऐसी स्वतंत्रता नहीं चाहते। वह मुद्दे के पीछे चलते हैं, शब्द के गुलाम नहीं हैं। हलुवा कहो या और किसी नाम से पुकारो, वह एक पोषक और स्वादिष्ट भोजन चाहते हैं। वह शब्द का ऐसा अर्थ करते हैं कि जिसके पीछे कुछ मुद्दा रहता है, तथ्य रहता है। इसलिए हर शब्द का अपना अर्थ करते हैं और उसी पर डटे रहते हैं। इसमें बहुत गलतफहमियां हो जाती हैं, पर इससे उनको व्याकुलता नहीं होती।

कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली शब्द के अर्थ का भी शायद यही हाल है। रामगढ़ के सविनय आज्ञा-भंग के प्रस्ताव के पीछे जो कैद लगी है उसको लोग भूल जाते हैं और आज्ञा-भंग को याद रखते हैं, पर गांधीजी आज्ञा-भंग को ताक पर रखकर उसके पीछे जो कैद है उसकी रटन करते हैं। लोग जब रसगुल्ला-रसगुल्ला चिल्लाते हैं, तब उनकी मंशा होती है एक गोल, अंडाकार सफेद चीज से, जो मीठी और रसभरी होती है। पर गांधीजी इतने से संतुष्ट नहीं। उन्हें गोलाकार, अंडाकार या सफेद की परवा नहीं। चाहे चपटी क्यों न हो, चाहे पिलास लिये क्यों न हो, पर मीठी तो हो ही, ताजगी भी लिये हो। उसमें कोई जहर न मिला हो, स्वच्छ दूध की बनी हो, जो-जो उसमें वांछनीय चीजें होती हैं वे सब हों, फिर शक्ल चाहे कुछ भी हो, रंगरूप की कोई कैद नहीं। शक्कर सफेद न हो और लाल हो और उसके कारण रसगुल्ले का रंग यदि लाल है तो उन्हें ज्यादा पसन्द है। गांधीजी ने जब 'चार सत्यनाश' वाली शपथ का समर्थन किया तो उनका अपना अर्थ कुछ और था, कांग्रेस का अर्थ कुछ और।

इसलिए जब कुछ प्रतिष्ठित अंग्रेजों ने इस शपथ की शिकायत की और इसे असत्य और हिंसात्मक बताया तो झट गांधीजी ने अपनी व्याख्या दे डाली—"मेरे पिताजी सीधे-सादे आदमी थे। पांव में नरम कपड़े का देसी जूता पहना करते थे, पर जब उन्हें गवर्नर के दरबार में जाना पड़ा, तो मोजा पहना और बूट और

पहने। कलकत्ते में मैंने देखा कि कुछ राजा-महाराजाओं को कर्जन के दरवार का न्योता आया तो उन्हें अजीब तैयारियां करनी पड़ीं। उनकी बनावट और स्वांग इतने भद्दे थे, मानो वे खानसामा के भेष में हों, ऐसे लगते थे। हजारों भारतीय ऐसे हैं, जो अंग्रेजीदां तो बन गये, पर अपनी भाषा से कोरे हैं। क्या यह संस्कृति और अध्यात्म का ह्रास नहीं है? माना कि यह हमने अपनी स्वेच्छा से किया, पर स्वेच्छा से हमने आत्म-समर्पण किया, इससे क्या अंग्रेजों का दोष कम हो जाता है? जो बेड़ियां बंदी को बंधन में रखती हैं, उन्हीं की यदि बंदी पूजा करने लग जाय और अपने बंधनकर्त्ता का अनुवर्तन करे तो फिर ह्रास का कौन-सा अध्याय वाकी रहा?"

यह कुछ अनोखी-सी दलील है, पर इस दलील ने 'शपथ' से पैदा हुई कटुता को अवश्य ही कम कर दिया। साथ ही, गांधीजी के विपक्षियों को यह लगे बिना नहीं रहा कि बाल की खाल खींची जाती है। पर दरअसल बात तो यह है कि उस शपथ के माने गांधीजी के अपने और रहे हैं, लोगों के कुछ और। गांधीजी के निर्णय तर्क के आधार पर नहीं होते। तर्क पीछे आता है, निर्णय पहले बनता है। दरअसल शुद्ध बुद्धिवालों को निर्णय में ज्यादा सोच-विचार नहीं करना पड़ता। एक अच्छी बंदूक से निकली हुई गोली सहसा तेजी के साथ निशाने पर जाकर लगती है। उसी तरह स्थितप्रज्ञ का निर्णय भी यंत्र की तरह झटपट बनता है, क्योंकि 'सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।'

पर यह उनकी विभूति—और इसे विभूति के अलावा और क्या कह सकते हैं?—मित्र और विपक्षी दोनों को उलझन में डाल देती है। यह चीज गांधीजी को रहस्यमय बना देती है। इसके कारण कितने ही लोग उनके कथन को अक्षरश: न स्वीकार करके उसे शंका की दृष्टि से देखते हैं।

गांधी-अरविन पैक्ट के समय की बात है। करीब-करीब सारी चीजें तय हो गईं। एक-एक शब्द वाइसराय और गांधीजी ने आपस में मिलकर पढ़ लिया। पढ़ते-पढ़ते वाइसराय के घर पर दोपहरी हो गई। वाइसराय ने कहा, "मैं भोजन कर लेता हूं। आप भी थक गये हैं। मेरे कमरे में आप सो जाइए, फिर उठकर आगे काम करेंगे।" गांधीजी सो गये। ढाई बजे सोकर उठे, हाथ-मुंह धोया। गांधीजी का कथन है, "मुझे कुछ बेचैनी-सी मालूम हुई। मैंने सोचा, यह क्या है? बेचैनी क्यों है? यह शारीरिक बेचैनी नहीं थी, यह मानसिक बेचैनी थी। लगा कि मैं कोई पाप कर रहा हूं। इकरारनामे का मसविदा मैंने लिया और उसे पढ़ना शुरू किया। पढ़ते-पढ़ते जमीन-सम्बन्धी धारा पर पहुंचते ही मेरा माथा ठनका। बस मैंने जान लिया, यही भूल हो रही थी। वाइसराय से मैंने कहा, यह मसविदा ठीक नहीं। मैं इसे नहीं मान सकता। यह सही है कि मैंने इसकी स्वीकारोक्ति दे दी थी, पर मैंने देखा कि मैं पाप कर रहा था। इसलिए मैं इस स्वीकारोक्ति से वापस

हटता हूं।"

वाइसराय बेचारा हक्का-बक्का रह गया। यह भी कोई तरीका है? दलीलें तो गांधीजी के पास हजार थीं और दलीलें शिकस्त देने वाली थीं। पर दलीलों ने नाट्य मंच पर पीछे प्रवेश किया, पहले आया निर्णय। अन्त में वाइसराय दलीलों के कायल हुए। पर क्या वाइसराय ने नहीं माना होगा कि यह आदमी टेढ़ा है?

६ अप्रैल को सत्याग्रह-दिवस मनाया जाता है। इसके निर्णय का इतिहास भी ऐसा ही है। कुछ दिन पहले तक गांधीजी ने इसकी कोई कल्पना ही नहीं की थी। एक रात गांधीजी सो जाते हैं। रात को स्वप्न आता है कि तारीख ६ को सत्याग्रह-दिवस मनाओ। सहकर्मी कहते हैं कि अब समय नहीं रह गया, सफलता मुश्किल है। पर इसकी कोई परवा नहीं। मुनादी फिरादी जाती है और छः तारीख का दिन शान के साथ सफल होता है। क्या यह कोई दलील पर बना हुआ निर्णय था? क्या सहकारियों ने नहीं सोचा होगा कि यह कैसा बेजोड़ आदमी है, जो हठात् निर्णय करता है और दलीलें पीछे से पैदा करता है? पर मेरा खयाल है कि जो अंतरात्मा से प्रेरित होकर निर्णय करते हैं, उनके निर्णय तर्क के आधार पर नहीं होते। पर यह अंतरात्मा सभी को नसीब नहीं होती। यह क्या वस्तु है, इसके समझने का प्रयास भी कठिन है। प्रस्तुत विषय तो इतना ही है कि गांधीजी के निर्णय कैसे हुआ करते हैं।

सोलह

जब से मुझे गांधीजी का प्रथम दर्शन हुआ, तब से मेरा उनका अविच्छिन्न सम्बन्ध जारी है। पहले कुछ साल मैं समालोचक होकर उनके छिद्र ढूंढ़ने की कोशिश करता था; क्योंकि नौजवानों के आराध्य लोकमान्य की ख्याति को इनकी ख्याति टक्कर लगाने लग गई थी, जो मुझे रुचिकर नहीं मालूम देता था। पर ज्यों-ज्यों छिद्र ढूंढ़ने के लिए मैं गहरे उतरा त्यों-त्यों मुझे निराश होना पड़ा और कुछ अरसे में समालोचक की वृत्ति आदर में परिणत हो गई, और फिर आदर ने भक्ति का रूप धारण कर लिया। बात यह है कि गांधीजी का स्वभाव ही ऐसा है कि कोई विरला ही उनके संसर्ग से बिना प्रभावान्वित हुए छूटता है।

हम जब स्वप्नावस्था में होते हैं तब न करने योग्य कार्य कर लेते हैं, जो जाग्रत अवस्था में हम कभी न करें। पर शारीरिक जाग्रत अवस्था में भी मानसिक सुषुप्ति रहती है और ध्यानपूर्वक खुर्दबीन से अध्ययन करनेवाले मनुष्य को, रूहानी

बेहोशी में किये गए कामों से, उस तिल के तेल का माप मिल जाता है। गांधीजी से मेरा पच्चीस साल का संसर्ग रहा है। मैंने अत्यन्त निकट से सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा उनका अध्ययन किया है। समालोचक होकर छिद्रान्वेषण किया है, पर मैंने उन्हें कभी सोते नहीं पाया। मालूम होता है, वह हर पल जाग्रत रहते हैं। इसलिए जब वह मुझे कहते हैं कि "हर पल मेरा जीवन ईश्वर-सेवा में व्यतीत होता है।" तो मैं इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं पाता। ऐसा कथन अभिमान की निशानी नहीं है; क्योंकि गांधीजी द्रष्टा होकर ही अपना विवेचन देते हैं। यदि द्रष्टा होकर कोई अपने-आपको देखे, तो फिर वह चाहे अपना विवरण दे या पराया, उसमें कोई भेद नहीं रह जाता, और वह अपना विवरण भी उतना ही निःसंकोच दे सकता है जितना कि पराया।

यरवदा में जब वह उपवास के बाद उपवास करने लगे तो मुझे ऐसा लगा कि शायद अब वह सोचते होंगे, "मैं बूढ़ा होकर अब जानेवाला तो हूं ही, इसलिए क्यों न लड़ते-लड़ते जाऊं ?" मैंने उन्हें एक तरह का उलाहना देते हुए कहा, "मालूम होता है कि आपने जीकर देश का भला किया, पर अब चूंकि मरना है, इसलिए मृत्यु से भी आप देश को लाभ देना चाहते हैं।" उन्होंने कहा, "ऐसी कल्पना करना भी अभिमान है, क्योंकि करना, कराना, न कराना यह ईश्वर का क्षेत्र है। यदि इस तरह का मन में हम कोई नक्शा खींचें तो ईश्वर के अस्तित्व की अवहेलना होगी और इससे हमारा अभिमान साबित होगा।" मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ, अहंकार का उन्होंने कहां तक नाश किया है, इसका मुझे पता लगा।

अहंकार से गांधीजी इतनी दूर हैं, यह उनके अंतर में झांकने से ही पता लग सकता है।

हरिजन-सेवक-संघ के हर पदाधिकारी को एक तरह की शपथ लेनी पड़ती है। उसका आशय है कि "मैं अपने जीवन में ऊंच-नीच का भेद न मानूंगा।" इस शपथ के लेने का समय आया तो मैंने इन्कार किया। मैंने कहा, "केवल जन्म से न कोई ऊंचा है न नीचा, यह तो मैं सहज मान सकता हूं, पर यदि एक आदमी चोर है, दुष्ट है, पापी है, उसके पाप-कर्म प्रत्यक्ष हैं और मुझमें वे ऐब नहीं हैं तो मैं अभिमान न भी करूं तो भी, इस ज्ञान से कि मैं अमुक से भला हूं, कैसे वंचित रह सकता हूं ? इसके माने यह हैं कि मैं द्रष्टा होकर भी यह मान सकता हूं कि मैं अमुक से ऊंचा हूं, अमुक से नीचा।"

इस बहस ने उन्हें कायल नहीं किया, तो मैंने मुद्दे की दलील पेश की, "आप अपने ही को लीजिए। आप ईश्वर से अधिक निकट हैं बनिस्बत मेरे, अब क्या आप इस बात को आपमें अभिमान न होते हुए भी भूल जायेंगे कि आप ऊंचे हैं और मैं नीचा हूं ?"

"पर यह बात ही सही नहीं है, क्योंकि जबतक हम अपनी मंजिल तय न

कर लें, कौन कह सकता है कि ईश्वर के निकट कौन है और दूर कौन ? जो दूर दिखाई देता है वह निकट भी हो सकता है और जो निकट दिखाई देता है वह दूर भी हो सकता है। मैं हिन्दुस्तान से एक बार अफ्रीका जा रहा था। जहाज पर ठीक समय न पहुंच सका। लंगर उठ चुका था, इसलिए एक नाव में बैठाकर मुझे जहाज के पास पहुंचाया गया। पर तूफान इतना था कि कई वार मेरी किश्ती जहाज के बाजू से टकरा-टकराकर दूर हट गई। अन्त में जैसे-तैसे मुझे जहाज पर चढ़ाया गया। पर यह भी संभव था कि जैसे किश्ती कई बार जहाज से टकराकर दूर निकल गई, वैसे दूर ही रह जाती और मैं जहाज पर सवार ही न हो पाता। क्या केवल किश्ती के छू जाने से हम यह कह सकते हैं कि हम जहाज के निकट पहुच गये ? निकट पहुंचकर भी तो दूर चले जा सकते हैं। तो मैं फिर कैसे मान लूं कि मैं ईश्वर के निकटतर हूं और अमुक मनुष्य दूर है ? ऐसी कल्पना ही भ्रम-मूलक है और अहंकार से भरी है।"

मुझे यह दलील मोहक लगी। अधिक मोहक तो यह चीज लगी कि गांधीजी किस हद तक जाग्रत हैं। राजा का स्वांग भरनेवाला कलाकार अपने स्वांग से मोहित नहीं होता। गांधीजी अपने बड़प्पन में बेभान नहीं हैं। अहंकार मोह का एक दूसरा नाम है। जाग्रत मनुष्य को मोह कहां, अहंकार कहां ? यही कारण है कि गांधीजी कभी-कभी निःसंकोच आत्मश्लाघा भी कर बैठते हैं। "मैं प्रचार-शास्त्र का पण्डित हूं; अखवारनवीसी में निपुण हूं; मैं पक्का बनिया हूं; मैं शरीर-शास्त्र का विद्यार्थी हूं; मेरा दावा है कि मैं अड़तीस वर्ष से गीता के अनुसार आचरण करता आ रहा हूं (यह सन् १९२९ ई० में इन्होंने लिखा था); मैं सत्य का पुजारी हूं; मेरा जीवन अहर्निश ईश्वर-सेवा में बीतता है।" इस शब्दावली में और किसी के मुंह से अहंकार की गंध आ सकती है, पर गांधीजी के मुंह से नहीं; क्योंकि गांधीजी तटस्थ होकर अपनी विवेचना करते हैं।

एक दक्ष सर्जन छुरी लेकर चीर-फाड़ करके मनुष्य-शरीर के भीतर छिपे हुए अवयवों को दर्शकों के सामने ला देता है। सड़े हुए हिस्से को निर्दयता से काट डालता है, टांके लगाता है, और इस बेरहमी से छुरी चलाता नजर आता है मानो वह जिंदा शरीर पर नहीं, बल्कि एक लकड़ी पर कौशल दिखला रहा हो। पर वही सर्जन यह व्यवहार अपने ऊपर नहीं कर सकता। ऐसा सर्जन कहां, जो हँसते-हँसते काम पड़ने पर अपनी सड़ी टांग को काट फेंके ? पर गांधीजी वैसे सर्जन हैं। उनके स्नायु ममता-रहित हो गये हैं, इसलिए गांधीजी जिस बेरहमी से पर-पुरुष को नश्तर मार सकते हैं उससे कहीं अधिक निर्दयता से अपने ऊपर नश्तर चला सकते हैं। "मैंने हिमालय के समान बड़ी भूल की है, मैंने अमुक पाप किया।" ऐसी स्वीकारोक्तियों से उनकी आत्मकथा भरी है। क्या आश्चर्य है, यदि वह कहें, "बुद्ध की अहिंसा मेरी अहिंसा से न्यून थी। टाल्स्टॉय कभी अपने विचारों का

अनुसरण नहीं कर सका, क्योंकि उसके विचार उसके आचारों से कई मील आगे दौड़ते थे। मैं अपने विचारों से अपने आचार को एक कदम आगे रखने का प्रयत्न करता आ रहा हूं।" ये उक्तियां अभिमान की नहीं, एक तटस्थ जर्राह की हैं, जो उसी दक्षता और कुशलता से अपने-आपको चीर-फाड़ सकता है, जिस दक्षता से वह औरों की चीर-फाड़ करता है।

सूक्ष्मतया अध्ययन करनेवाले को सहज ही पता लग जाता है कि अभिमान गांधीजी को छू तक नहीं गया। मेरा खयाल है कि मनुष्यों की परख छोटे कामों से होती है, न कि बड़े कामों से। बड़े-से-बड़ा त्याग करनेवाला रोजमर्रा के छोटे कामों में लापरवाही भी कर बैठता है और कभी-कभी अत्यन्त कमीना काम भी कर लेता है। कारण यह है कि बड़े कामों में लोग जाग्रत रहकर काम के साथ-साथ आत्मा को जोड़ देते हैं, इसलिए वह कार्य दिप उठता है। पर छोटे कामों में लापरवाही में मनुष्य असावधान बन जाता है। ऐसे मनुष्य के सम्बन्ध में यह साबित हो जाता है कि उसका त्याग उसका एक स्वाभाविक धर्म नहीं बन गया है। पर गांधीजी के बारे में यह कहा जा सकता है कि चाहे छोटा हो या बड़ा, सभी काम वह जाग्रत होकर करते हैं। इसके माने यह हैं कि त्याग, सत्य, अहिंसा इत्यादि उनका स्वाभाविक धर्म बन गया है। उन्हें धर्मपालन करने में प्रयत्न नहीं करना पड़ता और यदि प्रयत्न करना पड़ता है तो अत्यन्त सूक्ष्म। वह आठ पहर जाग्रत रहते हैं। यह कोई साधारण स्थिति नहीं है।

सत्रह

गांधीजी को एक महात्मा के रूप में हमने देखा, एक नेता के रूप में भी देखा, पर गांधीजी का असल रूप तो 'बापू' के रूप में देखने को मिलता है। सेवाग्राम में बड़े-बड़े मसले आते हैं। वाइसराय से खतोकितावत होती है, वर्किंग कमेटी की बैठकें होती हैं, बड़े-बड़े नेता आते हैं। मंत्रिमंडल में लोग कांग्रेस-राज के जमाने में सलाह-सूत के लिए आते ही रहते थे। पर आश्रमवासी न बड़े लोगों की चिट्ठियों से चौंधियाते हैं, न बड़े नेताओं को देखकर मोहित होते हैं, न राजनीति में उन्हें कोई बड़ी भारी दिलचस्पी है। उन्हें तो बापू ने क्या खाया, क्या पिया, कब उठ गये, कब सो गये, फ़लां से क्या कहा, फ़लां ने क्या सुना, इन बातों में ज्यादा रस है, और गांधीजी भी आश्रम की छोटी-छोटी चीजों में आवश्यकता से अधिक रस लेते हैं।

आश्रम भी क्या है, एक अजीब मंडली है। उसे शिवजी की बरात कहना चाहिए। कई तरह के तो रोगी हैं, जिनकी चिकित्सा में गांधीजी खास दिलचस्पी लेते हैं। पर सब-के-सब बापू के पीछे पागल हैं। मैंने एक रोज देखा कि एक रोगी के लिए जाड़े में ओढ़ने के लिए रजाई बनाई जा रही है। बा की फटी-पुरानी साड़ियां लाई गईं। गांधीजी ने अपने हाथ से उन्हें नापा। कितना कपड़ा लगेगा, इसकी कूत की गई। रजाई के भीतर रुई की जगह पुराने अखबारों को एक के ऊपर दूसरी परत रखकर कपड़े के साथ सीया जा रहा था। गांधीजी ने सारा काम दिलचस्पी से कराया। मुझे बताया कि अखबार रुई से ज्यादा गरम हैं। मुझे लगा, ऐसे-ऐसे कामों में क्या इनका बहुमूल्य समय लगना चाहिए ? मैंने मजाक में कहा, "जान पड़ता है, आपको आश्रम के इन कामों में देश के बड़े-बड़े मसलों से भी ज्यादा दिलचस्पी है।" "ज्यादा तो नहीं, पर उतनी ही है, ऐसा कहो।"

मैं अवाक् रह गया, क्योंकि गांधीजी ने गम्भीरता से उत्तर दिया था, मजाक में नहीं। पर बात सच्ची है। शायद इसका यह भी कारण हो कि गांधीजी रात-दिन यदि गम्भीर मसलों पर ही विचार किया करें, तो फिर तनिक भी विश्राम न मिले। शायद आश्रम उनके लिए परोपकार और खेल की एक सम्मिलित रसायन-शाला है। आश्रम गांधीजी का कुटुम्ब है। महान्-से-महान् व्यक्ति को भी कौटुम्बिक सुख की चाह रहती है। गांधीजी का वैसे तो सारा विश्व कुटुम्ब है, पर आश्रम के कुटुम्ब की उन पर जिम्मेदारी है। उस जिम्मेदारी को वह निर्मोही होकर निबाहते हैं।

आश्रम में उन्होंने इतने भिन्न-भिन्न स्वभाव और शक्ति के आदमी रखे हैं कि बाहरी प्रेक्षक को अचम्भा होता है कि यह शिवजी की बरात क्यों रखी है ! परन्तु एक-एक का परिचय करने से पता चलता है कि हरेक का अपना स्थान है, बल्कि गांधीजी उनमें से कई को कुछ बातों में तो अपने से भी अधिक मानते हैं। किसी आध्यात्मिक प्रश्न का निराकरण करना होता है तो वह अक्सर अपने साथियों— विनोबा, किशोरलालभाई, काका साहब आदि को बुला लेते हैं। ऐसे साथियों को रखकर ही मानो उन्होंने अपने मन में उच्च-नीच भावना नष्ट कर डाली है। जो काम हलके-से-हलका माना जाता है उसे करनेवाला और जो काम ऊंचे-से-ऊंचा माना जाता है उसे करनेवाला, दोनों आश्रम में भोजन करते समय साथ-साथ बैठते हैं। जैसे पंक्ति में उच्च-नीच का भेद नहीं है, वैसे ही गांधीजी के मन में और उनके आश्रमवासियों के मन में भी यह भेद नहीं है।

कुछ दिन पहले की बात है। वाइसराय से मिलने के लिए गांधीजी दिल्ली आये हुए थे। पर वापस सेवाग्राम पहुंचने की तालावेली लगी हुई थी। वापस पहुंचने के लिए एक प्रकार का अधैर्य-सा टपकता था। अन्त में गांधीजी ने ज़ब देखा कि शीघ्र वापस नहीं ज़ा सकते, तो महादेवभाई को झटपट सेवाग्राम लौटने

का आदेश दिया। काम तो काफी पड़ा ही था और मैं नहीं समझ सका कि इतने बड़े मसले सामने होते हुए कैसे तो वापस जाने का उतावलापन वह खुद कर सकते थे और कैसे महादेवभाई को यकायक वापस लौटा सकते थे। मैंने कहा, "इतने बड़े काम के होते हुए वापस लौटने का यह उतावलापन मुझे कुछ कम जंचता है।" "पर मेरी जिम्मेदारी का तो खयाल करो।" गांधीजी ने कहा, "मैं सेवाग्राम में एक मजमा लेकर बैठा हूं। रोगी तो हैं ही, पर पागलपन भी वहां है। कभी-कभी तो मन में आता है कि बस, अब मैं सबको छोड़ दूं और केवल महादेव को ही पास रखूं। बा चाहे तो वह भी रहे। पर सबको छोड़ दूं, तब तो जिम्मेदारी से हट जाता हूं। पर जबतक इस मजमे की जिम्मेदारी लेकर बैठा हूं, तबतक तो मुझे उस जिम्मेदारी को निबाहना ही चाहिए। यही कारण है कि मेरा शरीर तो दिल्ली में है, पर मेरा मन सेवाग्राम में पड़ा है।"

सेवाग्राम के कुटुम्ब के प्रति उनके क्या भाव हैं, इस पर ऊपरी उद्‌गार कुछ प्रकाश डालते हैं।

अठारह

गांधीजी के यहां एक-एक पैसे का हिसाब रखा जाता है। गांधीजी की आदत बचपन से ही रुपये-पैसे का हिसाब सावधानी से रखने की रही है। गांधीजी व्यवस्था-प्रिय हैं। यह भी बचपन से ही उनकी आदत है। इसलिए उनकी झोंपड़ी साफ-सुथरी, लिपी-पुती और व्यवस्थित है। कमर में कछनी है, वह भी व्यवस्थित। वाइसराय ने कहा कि गांधीजी बुड्ढे तो हैं, पर उनकी चमड़ी की चिकनाहट युवकों की-सी है। यह सही बात है कि वे स्वास्थ्य का पूरा जतन रखते हैं। हर चीज में किफायतशारी की जाती है। कोई पिन चिट्ठियों में लगी आई, तो उसको निकाल-कर रख लिया जाता है।

लन्दन जाते समय जहाज पर एक गोरा था, जो गांधीजी को नित्य कुछ-न-कुछ गालियां सुना जाया करता था। एक रोज उसने गांधीजी पर कुछ व्यंग्यपूर्ण कविता लिखी और गांधीजी के पास उसके पन्ने लेकर आया। गांधीजी को उसने पन्ने दिये, तो उन्होंने चुपचाप पन्नों को फाड़ रद्दी की टोकरी में डाल दिया और उन पन्नों में लगी हुई पिन को सावधानी से निकालकर अपनी डिबिया में रख लिया। उसने कहा, "गांधी, पढ़ो तो सही, इसमें कुछ तो सार है।" "हां, जो सार

था वह तो मैंने डिबिया में रख लिया है।" इस पर सब हंसे और वह अंग्रेज खिसियाना पड़ गया।

मैंने देखा है कि छोटी-सी काम की चीज को भी गांधीजी कभी नहीं गंवाते। एक-एक, दो-दो गज की सुतली के टुकड़ों को सुरक्षित रखते हैं, जो महीनों बाद काम पड़ने पर सावधानी से निकाल लेते हैं। उनके चरखे के नीचे रखने का काले कपड़े का एक छोटा-सा टुकड़ा आज कोई बारह साल से देखता हूं, चला आ रहा है। लोगों की चिट्ठियों में से साफ कागज निकालकर उसके लिफाफे बनवाकर उन्हें काम में लाते हैं। यह दृश्य एक हद दर्जे के मक्खीचूस से भी बाजी मारता है।

लन्दन की बात है। गांधीजी का नियत स्थान था शहर से दूर पूर्वी हिस्से में। दफ्तर था पश्चिमी हिस्से में, जो नियत स्थान से सात-आठ मील की दूरी पर था। दिन का भोजन दफ्तर में ही—जो एक मित्र के मकान में था—होता था। नियत स्थान से भोजन का सामान रोजमर्रा दफ्तर में ले आया जाता था।

भोजन के साथ-साथ कभी-कभी गांधीजी शहद भी लेते हैं। हम लोग इंग्लैंड जाते समय जब मिस्र से गुजरे, तो वहां के मिस्री लोगों ने शहद का एक मटका भरकर गांधीजी के साथ दे दिया था। उसी में से कुछ शहद रोजमर्रा भोजन के लिए बरत लिया जाता था। उस रोज भूल से मीराबेन घर से शहद लाना भूल गईं और जब समय पर खयाल आया कि शहद नहीं है तो चार आने की एक बोतल मंगाकर भोजन के साथ रख दी। गांधीजी भोजन करने बैठे तो नजर शीशी पर गई। पूछा—यह शीशी कैसे? उत्तर में बताया गया कि क्यों शहद खरीदना पड़ा। "यह पैसे की बर्बादी क्यों? क्या लोगों के दिये हुए पैसे का हम इस तरह दुरुपयोग करते हैं? एक दिन शहद के बिना क्या मैं भूखा मर जाता?"

भारतवर्ष के बड़े-बड़े पेचीदा मसले सामने पड़े थे। उनको किनारे रखकर शहद पर काफी देर तक व्याख्यान और डांड-डपट होती रही, जो पास बैठे हुए लोगों को अखरी भी, पर गांधीजी के लिए छोटे मसले उतने ही पेचीदा हैं जितने कि बड़े मसले। इसमें कभी-कभी लोगों को लघु-गुरु के विवेक का अभाव प्रतीत होता है। पास में रहनेवालों को झुंझलाहट होती है, पर गांधीजी पर इसका कोई असर नहीं होता।

कपड़ों की खूब एहतियात रखते हैं। जरा फटा कि उस पर कारी लगती है। हर चीज को काफी स्वच्छ रखते हैं, पर कंजूसी यहां तक चलती है कि पानी को भी फिजूल खर्च नहीं करते। हाथ-मुंह धोने के लिए बहुत ही थोड़ा-सा पानी लेते हैं। पीने के लिए उबला हुआ पानी शीशी में रखते हैं, जो जरूरत पड़ने पर पीने और हाथ-मुंह धोने के काम आता है।

उन्नीस

गांधीजी की दिनचर्या भी व्यवस्थित है। एक-एक मिनट का उपयोग होता है। बाहर से काफी भारी डाक आती है, उसका उत्तर भेजना पड़ता है। अक्सर वह खाते-खाते भी पढ़ते हैं। कभी-कभी खाते-खाते किसी को वार्तालाप के लिए भी समय दे देते हैं। घूमने का समय भी बेकार नहीं गुजरता।

गांधीजी प्रायः चार बजे उठते हैं। उठते ही हाथ-मुंह धोकर प्रार्थना होती है। इसके बाद शौचादि से निवृत्त हो सात बजे सुबह कुछ हलका-सा नाश्ता होता है। उसके बाद टहलना होता है। फिर काम में लग जाते हैं। नौ बजे के करीब तेल-मालिश कराते हैं, पर काम मालिश के समय भी चलता रहता है। फिर स्नान से निवृत्त होकर ग्यारह बजे भोजन करते हैं। एक बजे तक काम करके कुछ झपकी लेते हैं। दो बजें के करीब उठते हैं, उसके बाद फिर शौच जाते हैं। उस समय भी कुछ काम तो जारी रहता है। शौच के बाद पेट पर मिट्टी की पट्टी बांधकर कुछ विश्राम करते हैं, पर काम लेटे-लेटे भी जारी रहता है। चार बजे के करीब चरखा कातते हैं। फिर लिखने-पढ़ने का काम होता है। पांच के करीब शाम का ब्यालू होता है, उसके बाद टहलना। सात बजे प्रार्थना, फिर कुछ काम और नौ-साढ़े नौ बजे के करीब सो जाते हैं।

आवश्यकता होने पर रात को दो बजे भी उठ जाते हैं और काम शुरू कर देते हैं। गांधीजी का भोजन सीधा-सादा है, पर साल-दो साल से हेर-फेर होते रहते हैं। एक जमाना था, जब केवल मूंगफली और गुड़ खाकर ही रहते थे। बहुत वर्षों पहले मैंने देखा था, वह दूध का बिलकुल परित्याग करके उसके बदले में सौ से ज्यादा बादाम रोज खाते थे। कई वर्षों पहले एक मर्तबा यह भी देखा था कि रोटी का परित्याग करके करीब एक सौ खजूर खाते थे। इसी तरह एक जमाने में रोटी ज्यादा खाते थे, फल कम खाते थे, इसी तरह के प्रयोग और रद्दोबदल भोजन में चलते ही रहते हैं। कुछ ही वर्षों पहले नीम की कच्ची पत्तियां और इमली का बड़े जोरों से प्रयोग जारी था, पर बाद में उसे छोड़ दिया। कच्चे अन्न का प्रयोग भी बीमार होकर छोड़ा।

ये सब प्रयोग हर मनुष्य के लिए अवांछनीय हैं। आजकल गांधीजी का भोजन खूब खरखरी सिकी पतली रूखी रोटी, उबला हुआ साग, गुड़, लहसुन और फल है। हर चीज में थोड़ा-सा सोडा डाल लेते हैं। उनकी राय है कि सोडा स्वास्थ्य के लिए अच्छी चीज है। एक दिन में पांच से अधिक चीजें गांधीजी नहीं खाते। इस गणना में नमक भी शुमार में आ जाता है।

गांधीजी अपनी जवानी में पचास-पचास मील रोजाना चल चुके हैं, पर बुढ़ापे

में भी इन्होंने टहलने का व्यायाम कभी नहीं छोड़ा। कभी-कभी कहते हैं कि खाना एक रोज न मिले तो न सही, नींद भी कम मिले तो चिन्ता नहीं, पर टहलना न मिले तो बीमारी आई समझो। पेट पर रोजमर्रा एक घंटे तक मिट्टी की पट्टी बांधे रखते हैं, इसका भी काफी माहात्म्य बताते हैं।

नींद का यह हाल है कि जब चाहें तब सो सकते हैं। गांधी-अरविन समझौते के समय की मुझे याद है कि मेरे यहां कुछ अंग्रेजों ने गांधीजी से मिलना निश्चित किया था। निर्धारित समय से पन्द्रह मिनट पहले गांधीजी आये। कहने लगे, "मुझे आज नींद की जरूरत है, कुछ सो लूं।" मैंने कहा, "सोने का समय कहां है? पन्द्रह मिनट ही तो हैं।" उन्होंने कहा, "पन्द्रह मिनट तो काफी हैं।" चट खटिया पर लेट गये और एक मिनट के बाद गाढ़ निद्रा में सो गये। सबसे आश्चर्य की बात यह थी कि पन्द्रह मिनट के बाद अपने-आप ही उठ गये। मैंने एक बार कहा, "आपमें सोने की शक्ति अद्‌भुत है।" गांधीजी ने कहा, "जिस रोज मेरा नींद पर से काबू गया तो समझो कि मेरा शरीरपात होगा।"

गांधीजी को बीमारों की सेवा का बड़ा शौक है। यह शौक बचपन से ही है। अफ्रीका में सेवा के लिए उन्होंने न केवल नर्स का काम किया, बल्कि एक छोटा-मोटा अस्पताल भी चलाया, यद्यपि अपनी 'हिन्द-स्वराज्य' नामक पोथी में एक दृष्टि से उन्होंने अस्पतालों की निन्दा भी की है। बीमारों की सेवा का वह शौक आज भी उनमें ज्यों-का-त्यों मौजूद है। वह केवल सेवा तक ही रस लेते हैं, ऐसा नहीं है। चिकित्सा में भी रस लेते हैं और सीधी-सादी चीजों के प्रयोग से क्या लाभ हो सकता है, इसकी खोज बराबर जारी ही रहती है।

कोई अत्यन्त बीमार पड़ा हो और मृत्यु-शय्या पर हो, और गांधीजी से मिलना चाहता हो, तो असुविधा और कष्ट बर्दाश्त करके भी रोगी से मिलने जाते हैं। मैंने कई मर्तबा उन्हें ऐसा करते देखा है, और एक-दो घटनाएं तो ऐसी भी देखी हैं कि उनके जाने से रोगियों को बेहद राहत मिली।

बहुत वर्षों की पुरानी बात है। दिल्ली की घटना है। एक मरणासन्न रोगिणी थी। रोग से संग्राम करते-करते बेचारी के शरीर का ह्रास हो चुका था। केवल सांस बाकी थी। उसने जीवन से विदाई ले ली थी और लम्बी यात्रा करना है, ऐसा मानकर राम-राम करते अपने अंतिम दिन काट रही थी। पर गांधीजी से अपना अंतिम आशीर्वाद लेना बाकी था। रोगिणी ने कहा, "क्या गांधीजी के दर्शन भी हो सकते हैं? जाते-जाते अंत में उनसे तो मिल लूं।" गांधीजी तो दिल्ली के पास भी नहीं थे, इसलिए उनका दर्शन असम्भव था। पर मरते प्राणी की आशा पर पानी फेरना मैंने उचित नहीं समझा, इसलिए मैंने कहा, "देखेंगे, तुम्हारी इच्छा ईश्वर शायद पूरी कर देगा।"

दो ही दिन बाद मुझे सूचना मिली कि गांधीजी कानपुर से दिल्ली होते हुए

अहमदाबाद जा रहे हैं। उनकी गाड़ी दिल्ली पहुंचती थी सुबह चार बजे। अहमदाबाद की गाड़ी पांच बजे छूट जाती थी। केवल घंटे-भर की फुरसत थी, और रुग्णा बेचारी दिल्ली से दस मील के फासले पर थी। घंटे-भर में रोगी से मिलना और वापस स्टेशन आना, यह दुश्वार था।

जाड़े का मौसम था। हवा तेजी से चल रही थी। मोटरगाड़ी में—उन दिनों खुली गाड़ियां हुआ करती थीं—गांधीजी को सवेरे-सवेरे बीस मील सफर कराना भी भयानक था। गांधीजी आ रहे हैं, इसका बेचारी रोगिणी को तो पता भी न था। उसकी तीव्र इच्छा गांधीजी के दर्शन करने की थी, पर इसमें कठिनाई प्रत्यक्ष थी। गांधीजी गाड़ी से उतरे। मैंने दबी जबान में कहा, "आज आप ठहर नहीं सकते ?" गांधीजी ने कहा, "ठहरना मुश्किल है।" मैं हताश हो गया। रोगी को कितनी निराशा होगी, यह मैं जानता था।

गांधीजी ने उथलकर पूछा, "ठहरने की क्यों पूछते हो ?" मैंने उन्हें कारण बताया। गांधीजी ने कहा, "चलो, अभी चलो।" "पर मैं आपको इस जाड़े में, ऐसी तेज हवा में सुबह के वक्त मोटर में बैठाकर कैसे ले जा सकता हूं ?" "इसकी चिन्ता छोड़ो। मुझे मोटर में बिठाओ। समय खोने से क्या लाभ ? चलो, चलो।" गांधीजी को मोटर में बैठाया। जाड़ा और ऊपर से पैनी हवा। ये बेरहमी से अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रहे थे। सूर्योदय तो अभी हुआ भी न था। ब्राह्म मुहूर्त की शान्ति सर्वत्र विराजमान थी। रुग्णा शय्या पर पड़ी 'राम-राम' जप रही थी। गांधीजी उसकी चारपाई के पास पहुंचे। मैंने कहा, "गांधीजी आये हैं।" उसे विश्वास न हुआ। हक्की-बक्की-सी रह गई। सकपकाकर उठ बैठने की कोशिश की; पर शक्ति कहां थी ? उसकी आंखों से दो बूंदें चुपचाप गिर गईं। मैंने सोचा, मैंने अपना कर्त्तव्य पालन कर दिया।

रोगिणी की आत्मा को क्या सुख मिला, यह उसकी आंखें बता रही थीं।

गांधीजी की गाड़ी तो छूट चुकी थी, इसलिए मोटर से सफर करके आगे के स्टेशन पर गाड़ी पकड़ी। गांधीजी को कष्ट तो हुआ, पर रोगी को जो शांति मिली उस सन्तोष में गांधीजी को कष्ट का कोई अनुभव नहीं था।

थोड़े दिनों बाद रोगिणी ने संसार से विदा ली, पर मरने से पहले उसे गांधीजी के दर्शन हो गये, इससे उसे बेहद शान्ति थी।

हम भूखे को अन्न देते हैं, प्यासे को पानी देते हैं, उसका माहात्म्य है। रन्तिदेव और उसके बाल-बच्चों ने स्वयं भूखे रहकर किस तरह भूखे को रोटी दी, इसका माहात्म्य हमारे पुराण गाते हैं। पर एक मरणासन्न प्राणी है, अन्तिम घड़ियां गिन रहा है, चाहता है कि एक पूज्य व्यक्ति के दर्शन कर लूं। इस दर्शन से भूखे रोगी की भूख तृप्त होती है, उसे सन्तोष-दान मिलता है, इस दान का माहात्म्य कितना होगा ?

बीस

गांधीजी इकहत्तर के हो चले !

पच्चीस साल पहले जब मुझे उनका प्रथम दर्शन हुआ तब वह प्रौढ़ावस्था में थे, आज वृद्ध हो गये हैं। उस समय की सूरत-वेशभूषा का आज की सूरत-वेशभूषा से मिलान किया जाय तो बड़ा भारी अन्तर है। हम जब एक वस्तु को रोज-रोज देखते रहते हैं तो जो दैनिक परिवर्तन होता है उसको हमारी आंखें पकड़ नहीं सकतीं। परिवर्तन चोर की तरह आता है। इसलिए गांधीजी के शरीर में, उनकी बोलचाल में, उनकी वेशभूषा में कब और कैसे परिवर्तन हुआ, यह आज किसी को स्मरण भी नहीं है। मैंने जब गांधीजी को पहले-पहल देखा, तब वह अंगरखा पहनते थे। फिर कुर्ता पहनने लगे और साफे की जगह टोपी ने ले ली। एक सभा में व्याख्यान देते-देते कुर्ता भी फेंक दिया, तब से घुटनों तक की धोती और ओढ़ने की चादर-मात्र रह गई।

पहले चोटी बिलकुल नहीं रखते थे। हरिद्वार के कुंभ पर एक साधु ने कहा, "गांधी, न यज्ञोपवीत, न चोटी; हिन्दू का कुछ तो चिह्न रखो।" तब से गांधीजी ने शिखा धारण करली, और वह एक खासी गुच्छेदार शिखा थी। एक रोज अचानक सिर की तरफ मेरी नजर पड़ी तो, देखता हूं, शिखा नहीं है। शिखा के स्थान के सब बाल धीरे-धीरे उड़ चले और जो शिखा धारण की गई थी वह अपने आप ही विदा हो गई। शिखा के अभाव ने मुझे याद दिलाया कि जिन पांच तत्त्वों से एक-एक चीज पैदा हुई थी उन्हीं में धीरे-धीरे वे अब विलीन हो रही हैं। दांत सारे चले गये, पर कब-कब गये, कैसे-कैसे चुपके-से चलते गये, इसका पास रहने वालों को भी कभी ध्यान नहीं है।

लोगों को अपने जीवन में यश-अपयश दोनों मिले हैं। कभी लोकप्रियता आई, कभी चली गई। ड्यूक आफ वेलिंग्टन, नेपोलियन, डिज़रायली इत्यादि राजनैतिक नेताओं ने अपने जीवन में उतार-चढ़ाव सबकुछ देखा। पर गांधीजी ने चढ़ाव-ही-चढ़ाव देखा, उतार कभी देखा ही नहीं। अपने जीवन में बड़े-बड़े काम किये। हर क्षेत्र में कुछ-न-कुछ दान किया। साहित्यिक क्षेत्र भी इस दान से न बचा। कितने नये शब्द रचे, कितने नये प्रयोग चलाये, लेखन-शैली पर क्या असर डाला, इसका तलपट भी कभी लगेगा।

किसी ने मिसेज बेसेंट से पूछा था कि हिन्दुस्तान में हमारी सबसे बड़ी बुराई कौन-सी है ? मिसेज बेसेंट ने कहा, "हिन्दुस्तान में लोग दूसरे को गिराकर चढ़ने की कोशिश करते हैं, यह सबसे बड़ी बुराई है।" चाहे यह सबसे बड़ी बुराई हो या न हो, पर इस तरह की बुराई राजनैतिक क्षेत्र में अक्सर यहां पाई जाती है। पर

गांधीजी ने जमीन से खोद-खोदकर हीरा निकाला। उन्होंने छान-छानकर सोना जमा किया। सरदार वल्लभभाई को बनाने का श्रेय गांधीजी को है। राजगोपालाचार्यजी को, राजेन्द्रबाबू को गढ़ा गांधीजी ने। सैंकड़ों दिग्गज और लाखों सैनिक गांधीजी ने पैदा किये। करोड़ों मुर्दा देशवासियों में एक नई जान फूंक दी। छोटे-छोटे आदमियों को कांट-छांटकर सुघड़ बना दिया। 'चिड़ियों से मैं बाज लड़ाऊं, तब गोविन्दसिंह नाम रखाऊं।'

जिन गांधीजी की ऐसी देन रही, वह अब बुड्ढे होते जा रहे हैं।

कब बुड्ढे हो गये, इसका हमें ध्यान नहीं रहा।

"दिन-दिन, घड़ी-घड़ी, पल-पल, छिन-छिन स्रवत जात जैसे अंजुरी को पानी", ऐसे आयु बीतती जा रही है। पर गांधीजी लिखते हैं, बोलते हैं, हमारा संचालन करते हैं, इसलिए उनके शारीरिक शैथिल्य का हमें कोई ज्ञान भी नहीं है। हमने मान लिया है कि गांधीजी का और हमारा सदा का साथ है। ईश्वर करे, वह चिरायु हों!

यदि कोई अपनी जवानी देकर गांधीजी को जिंदा रख सके तो हजारों युवक अपना जीवन देने के लिए उद्यत हो जायं। पर यह तो अनहोनी कल्पना है।

अन्त में फिर प्रश्न आता है, गांधीजी का जीवनचरित्र क्या है?

राम की जीवनी को किसी कवि ने एक ही श्लोक में जनता के सामने रख दिया है :

आदौ रामतपोवनाधिगमनं, हत्वा मृगं काञ्चनं।
वैदेहीहरणं जटायुमरणं सुग्रीवसंभाषणम्।
बालीनिग्रहणं समुद्रतरणं लंकापुरीदाहनं।
पश्चाद्रावणकुंभकर्णहननम् एतद्धि रामायणम्॥

गांधीजी की जीवनी भी शायद एक ही श्लोक में लिखी जा सके; क्योंकि एक ही चीज आदि से अन्त तक मिलती है—अहिंसा, अहिंसा। खादी कहो या हरिजन-कार्य, ये अहिंसा के प्रतीक हैं। पर एक बात है। राम के जीवन को अंकित करनेवाला श्लोक अन्त में बताता है, "पश्चाद्रावणकुम्भकर्णहननम्।" क्याहम गांधीजी के बारे में

"आदौ मोहन इंग्लेंडगमनं विद्याविशेषार्जनम्
अफ्रीकागमनं कुनीतिदमनं सत्याग्रहान्दोलनम्
धृत्वा भारतमुक्तये प्रयतनं शस्त्रं त्वहिंसामयम्
अस्पृश्योद्धरणं स्वतन्त्रकरणं.............."

इत्यादि-इत्यादि कहकर अन्त में कह सकते हैं—पारतंत्र्यविनाशनम्?

कौन कह सकता है? गांधीजी अभी जिन्दा हैं।

थोड़े ही दिन पहले चीन-निवासी एक विशिष्ट सज्जन ने उनसे प्रश्न किया,

"क्या आप अपने जीवन में भारत को स्वतन्त्र देखने की आशा करते हैं ?" "हां, करता तो हूं। यदि ईश्वर को मुझसे और भी काम लेना है तो जरूर मेरे जीवन-काल में भारत स्वतन्त्र होगा। पर यदि ईश्वर ने मुझे पहले ही उठा लिया, तो इससे भी मुझे कोई सदमा नहीं पहुंचेगा।"

पर कौन कह सकता है कि भविष्य में क्या होगा ?

"को जाने कल की ?"

○

परिशिष्ट

बापू की सम्मति

सेवाग्राम, २२-७-४१

भाई घनश्यामदास,

'बापू' अभी पूरी की। दो-तीन जगह हकीकत दोष है। अभिप्राय को हानि नहीं पहुंचती है। निशानी की है।

वछड़ा के बारे में जो दलील की है, वह कर सकते हैं, लेकिन उसमें कुछ मौलिक दोष पाता हूं, जो रावणादि के वध के साथ यह वध किसी प्रकार मिलता नहीं है। वछड़े के वध में मेरा कुछ स्वार्थ नहीं था, केवल दुःख-मुक्त करना ही कारण था। रावणादि के वध में तो लौकिक स्वार्थ था, पृथ्वी पर भार था, उसे हलका करना था। उसका संहारक साक्षात् रामरूपी ईश्वर था। यहां तो संहारक कोई काल्पनिक अवतार न था। मेरा तो कथन यह है कि मेरी हालत में सब कोई ऐसा कर सकते हैं। अंबालाल ने ४० कुत्तों को मेरी प्रेरणा या प्रोत्साहन से मारा, इसमें लौकिक कल्याण था सही, लेकिन इसमें और रावणादि के वध में बड़ा अन्तर है, और मैंने तो इन चीजों का अलग अर्थ किया है। उसकी चर्चा वहां आवश्यक थी। ज्यादा और कोई समय आवश्यक समझा जाय तो।

भाषा मधुर है। कोई जगह दलील की पुनरुक्ति हो गई है। यह काम प्रूफ सुधार में हो सकता था। उससे भाषा के प्रवाह में कुछ छति नहीं आती। शायद दूसरे तो इस पुनरुक्ति को देख भी नहीं सके होंगे।...

बापू के आशीर्वाद

○

गांधीजी
की
छत्रछाया
में
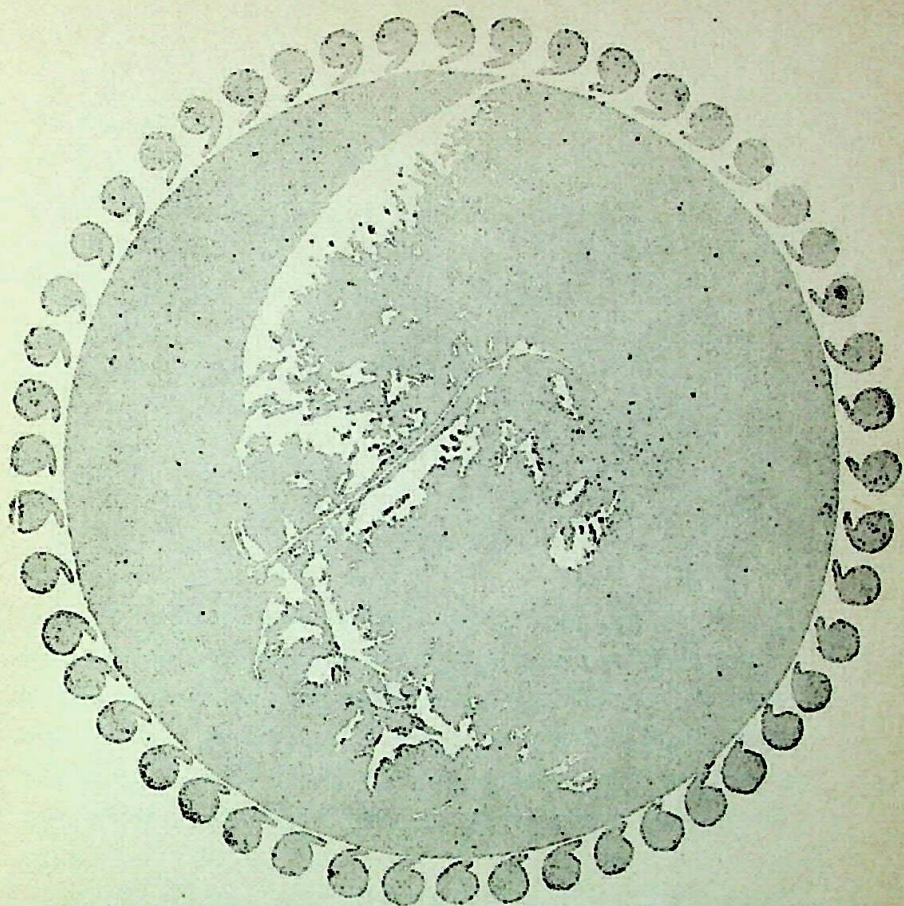
प्राक्कथन

मुझसे इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखने को कहा जाने पर मैं तुरंत राजी हो गया। श्रीघनश्यामदास विड़ला से मेरा वहुत पुराना और घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वतन्त्रता-संग्राम के समय उन्होंने हमेशा हमारा साथ दिया और आवश्यकतानुसार रुपये-पैसे से हमारी सहायता की। पर पुस्तक का प्राक्कथन लिखना स्वीकार करने का यही एकमात्र कारण नहीं था, वल्कि पुस्तक के प्रूफ देखकर मुझे यह रचना भविष्य में एक महत्वपूर्ण विषय पर वहुमूल्य साहित्य सिद्ध होती जान पड़ी।

भारतीय इतिहास में स्वतन्त्रा-संग्राम का युग एक क्रान्तिकारी युग था। उस समय महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत ने ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध अहिंसात्मक आन्दोलन छेड़ा था और उसमें कामयाबी हासिल की थी। उन महत्वपूर्ण वर्षों में देश में होनेवाली घटनाओं से समाचार-पत्रों का प्रत्येक पाठक परिचित है। समाचार-पत्रों की मिसिलें उन दिनों के समाचारों से रंगी पड़ी हैं; पर महात्मा गांधी तथा सरकार के बीच पर्दे की आड़ में होनेवाली बातों के सम्बन्ध में लोगों को बहुत ही कम जानकारी है। इस पुस्तक से वह कमी एक हद तक पूरी होती है। घनश्यामदासजी और महात्मा गांधी तथा देश के अन्य राजनैतिक नेताओं के बीच पिछले २५ वर्षों में हुआ पत्र-व्यवहार इस पुस्तक में दिया गया है। इसमें तत्कालीन ब्रिटिश सरकार के उच्चपदस्थ अधिकारियों तथा वहां के सार्वजनिक जीवन में प्रमुख अन्य अंग्रेजों के साथ की गई घनश्यामदासजी की भेंटों का विवरण भी है। गोलमेज-परिषद् का तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के कुछ ही समय पहले तक सरकार और कांग्रेसी नेताओं में होनेवाली चर्चा का विवरण भारतवासियों के तथा उस समय के इतिहास से परिचित होना चाहनेवालों के लिए समान रूप

से रोचक होगा। तत्कालीन इतिहास के प्रेमियों के लिए तो यह पुस्तक विशेष महत्वपूर्ण होगी। घनश्यामदासजी ने अपने पास विद्यमान सामग्री में से एक अंश के प्रकाशित करने के निश्चय का मैं स्वागत करता हूं।

महात्मा गांधी पत्र-व्यवहार में बड़े नियमित थे। वह पत्रों का उत्तर स्वयं देते या अपने सेक्रेटरी श्री महादेव देसाई के द्वारा दिलवाते या अपने साप्ताहिक पत्रों के मार्फत देते। इस प्रकार वह देश के तथा बाहर के असंख्य नर-नारियों के जीवन से सम्बन्ध बना रखते और उनकी विचारधारा को प्रभावित करते थे। मनुष्यों के सद्गुणों को परख लेने की उनमें एक विशेष शक्ति थी। परख लेने पर वह मनुष्यों का देशहित के निमित्त पूर्ण उपयोग करते थे। अपने जीते-जी उन्होंने ऐसे आदमियों को गढ़ा, जो उनकी अनेक योजनाओं से सहमत न होते हुए भी उनसे स्फूर्ति पाते और अपने-अपने क्षेत्र में बहुमूल्य सेवाएं करते रहे। घनश्याम-दासजी की गणना इन्हीं लोगों में थी। यह नहीं कि वह महात्माजी से सदा सब विषयों में सहमत रहे हों, तथापि एक सैनिक की भांति वह अपने नेता के आदेश का पालन करते थे। पुस्तक से पता चलेगा कि अनेक विषयों में, विशेषतः आर्थिक विषयों में बापू में कभी-कभी उनका दृष्टिकोण भिन्न होते हुए भी वह उनके द्वारा हाथ में लिये गए कामों में सोलह आना योग देते थे। गांधीजी की राजनैतिक कार्य-योजना के सम्बन्ध में, अनेक अंग्रेजों के सामने उन्होंने अपने को गांधीजी के दृष्टिकोण का विश्वासी व्याख्याता सिद्ध किया। आगे के पृष्ठों से पता चलेगा कि किस प्रकार उन्होंने स्वयं बार-बार इंग्लैंड जाकर अधिकारी वर्ग को इस बात से पूर्ण परिचित रखा कि गांधीजी का दिमाग किस दिशा में काम कर रहा है। उन्होंने गांधीजी की ओर से अधिकार के साथ बोलने का भी दावा नहीं किया, पर उनकी विचारधारा का उन्होंने इतना अध्ययन और मनन किया था कि उन्होंने गणमान्य व्यक्तियों को उसका मर्म समझाने का दायित्व स्वयं ही ले लिया। स्वेच्छा से अपने ऊपर लिये हुए दायित्व को पूरा करने में उन्हें निस्संदेह असाधारण सफलता प्राप्त हुई, घनश्यामदासजी गांधीजी का मानस ठीक समझ पाते थे। राजनैतिक विषयों के सिवा अन्य विषयों के सम्बन्ध में भी यह बात घटती है। घनश्यामदासजी उन गिने-चुने व्यक्तियों में से थे, जो गांधीजी के लिए एक सन्तान के समान थे। उनकी शिक्षा उनमें अंकुरित होकर फलित हुई। सम्बन्ध घनिष्ठ होने के साथ-साथ वह प्रभाव बढ़ता गया। दोनों का यह अंतरंग सम्बन्ध बत्तीस वर्ष तक बना रहा। मुझे उनका यह पारस्परिक सम्बन्ध वर्षों तक देखने का गौरव प्राप्त है, क्योंकि गांधीजी के जितना ही अंतरंग सम्बन्ध उनका मेरे साथ भी था।

गांधीजी की अनेक शिक्षाओं में से एक शिक्षा थी कि लक्ष्मी के कृपापात्रों को अपने आपको धरोहरधारी और अपनी सम्पत्ति को दूसरों के उपकार के निमित्त

एक धरोहर की भांति समझना चाहिए। बिड़लों ने यह शिक्षा भली-भांति हृदयंगम की है। देश के कोने-कोने में बिखरी हुई अनेक शिक्षा-संस्थाएं, मन्दिर, धर्मशालाएं और अस्पताल इसके साक्षी हैं। पिलानी इनमें शीर्ष स्थानीय है। जैसे उन्होंने खूब कमाया है, वैसे ही भांति-भांति के सत्कार्यों में उदारतापूर्वक मुक्तहस्त होकर खर्च भी किया है। अपनी स्थापित-संचालित संस्थाओं के सिवा ऐसी भी अनगिनत संस्थाएं हैं, जो इनके दान से लाभान्वित हुई हैं। कहना तो यह उचित होगा कि ऐसा कदाचित् ही कोई सत्कार्य होगा, जिसके लिए मांग करने पर उन्होंने उस पर ध्यान न दिया हो। स्वातन्त्र्य संग्राम के सम्बन्ध में भी यही बात थी। उसमें भी बापू और अन्य राजनैतिक नेताओं के मार्फत मुक्तहस्त होकर निस्संकोच भाव से उन्होंने धन दान दिया। गांधीजी के कोई भी सत्कार्य, कोई भी अच्छी योजना, हाथ में लेने पर बिड़लों की उदारता का उपयोग हुआ। इन पृष्ठों में यह सब भली-भांति देखने को मिलेगा। वास्तव में आवश्यकता होने पर गांधीजी कभी इनके साधनों का उपयोग करते न हिचकते थे, न ये अपने साधन उनकी सेवा में अर्पित करने में संकोच करते थे।

इन पृष्ठों में यह भी देखने को मिलेगा कि किस प्रकार भांति-भांति के कामों से घिरे रहने पर भी गांधीजी बिड़लों से सम्बन्ध रखने वाली जरा-जरा-सी बात में व्यक्तिगत रूप से दिलचस्पी लेते थे—ठीक वैसे ही, जैसे कोई पिता अपनी सन्तान के कार्यकलाप में रस लेता है। उनकी दिलचस्पी यहां तक बढ़ गई थी कि वह घनश्यामदासजी-जैसे व्यक्ति को, जिन्हें डाक्टरी मशवरे का कोई अभाव न था, चिकित्सा-सम्बन्धी नुस्खे बताते, क्योंकि उन्हें पूरा भरोसा था कि उनकी नसीहत श्रद्धापूर्वक सुनी जाकर उस पर अमल किया जायगा।

अतएव इस पुस्तक को प्रकाशित होते देखकर मुझे प्रसन्नता होती है। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक गांधीजी के जीवन और उनकी विचारधारा का अध्ययन करनेवाले प्रत्येक विद्यार्थी के लिए ही नहीं, उन इतिहासकारों के लिए भी उपयोगी और सहायक सिद्ध होगी, जो उन घटनाओं में रुचि रखते हों, जिनकी इतिश्री भारत में स्वतन्त्रता-स्थापना के रूप में हुई।

—राजेन्द्रप्रसाद

राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली

प्रास्ताविक

इस पुस्तक का नाम क्या रखा जाय, यह मेरे सामने एक बड़ी समस्या थी। एक सुझाव था कि 'गांधीजी के साथ मेरा पत्र-व्यवहार' नाम रखा जाय, पर मुझे प्रस्ताव पसन्द नहीं आया। यह सही है कि पुस्तक में गांधीजी और उनके सेक्रेटरी महादेव देसाई के साथ मेरे पत्र-व्यवहार का विशेष रूप से संग्रह है। गांधीजी को जब स्वयं लिखने का अवकाश नहीं मिलता था तब महादेवभाई उनके निर्देश से मुझे समय-समय पर लिखते रहते थे और उनके कैंप की आवश्यक घटनाओं से परिचित करते रहते थे। पर यदि पत्र-व्यवहार तक ही इस पुस्तक को मैं सीमित रखता तभी यह नाम सही होता। जो चित्र मैं पाठकों के सामने रखना चाहता था वह तो इससे कुछ भिन्न था। मैंने जान-बूझकर अनेक संस्मरणों और भेंटों का भी उसमें समावेश कर लिया है, जो समय-समय पर वाइसरायों, कूटनीतिज्ञों और अन्य लोगों के साथ मैंने की थीं। यदि मैं इन सब विवरणों को छोड़ देता तो यह पुस्तक अधूरी रह जाती। इनके सिवाय इस पुस्तक से मैंने कई राजनीतिज्ञों से प्राप्त कुछ ऐसे पत्र भी दे दिये हैं, जिन्हें विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से मैं आवश्यक समझता हूं। इसलिए मैंने 'बापू की छत्रछाया में—कुछ व्यक्तिगत संस्मरण' यही नाम रखना उचित समझा। मुझे लगता है कि यह नाम सार्थक होगा, क्योंकि अपने सब कामों में मैंने अपने को, बापू के सान्निध्य में और उनकी छत्रछाया में हूं, ऐसा माना है।

गांधीजी सन् १९१५ के अंत में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे थे। तब से ले हत्यारे कीगकरोली से मारे जाने के दिन तक वह भारत का एक प्रकार से मंथन करते रहे। प्रायः रोज-रोज ही उन्होंने इतिहास का निर्माण किया। नये विचार, नई अभिलाषाएं और नये स्वप्न उन्होंने जनता के सामने रखे। जब मंथन हुआ

तो कुछ मक्खन भी ऊपर आने लगा और साथ-साथ में थोड़ा मैल भी तैरने लगा। गांधीजी हमारे बीच से अब चले गये; किन्तु इस मंथन-क्रम को वह जो गति दे गये हैं, उसमें आज भी कोई शिथिलता नहीं आई है। इस मंथन में हमें शुद्ध ताजा मक्खन मिलेगा या मैल-मिश्रित घी, या केवल मैल ही पल्ले पड़ेगा, इसकी भविष्य-वाणी करना मेरे बूते के बाहर की बात है। अंत में तो यह सबकुछ हमारे लोक-समाज पर ही निर्भर है।

यह मेरे लिए कठिन नहीं था कि पत्र-व्यवहार तथा अन्य सामग्री के आधार पर मैं एक ऐसी रचना कर डालूं, जो पाठकों को एक क्रमबद्ध चित्र दे दे। पर यह कार्य मेरा नहीं था। यह तो इतिहास-लेखकों का काम है। मैंने तो जैसी सामग्री मेरे पास थी उसको उसी अनगढ़ रूप में ही प्रस्तुत करके संतोष कर लिया है। इसमें कुछ ऐसे विवरण भी हैं, जो अबतक अज्ञात थे और जब प्रकाश में आकर भारत के राजनैतिक इतिहास की श्रृंखला में एक नई कड़ी जोड़ने में सहायक होंगे। भविष्य के इतिहासकार जब वर्तमान युग का चित्रण करने बैठेंगे तो अवश्य ही उन्हें इस पुस्तक में कुछ नई सामग्री मिलेगी, जिसके सहयोग से वे अपने चित्र में कुछ नये रंग भर सकेंगे। इस विवरण में तिथि की श्रृंखला बीच-बीच में टूटी हुई दिखाई देती है, उसका भी कारण है। गांधीजी द्वारा लिखित और उनके निर्देश से महादेवभाई द्वारा लिखे गये सब पत्रों को मैंने अत्यन्त सावधानी से सुरक्षित रखा। महादेवभाई तथा गांधीजी के अन्य सेक्रेटरियों द्वारा लिखे गये पत्रों को भी मैं गांधीजी के ही पत्र मानता था, क्योंकि वे सब उनके निर्देश से लिखे जाते थे, इसलिए मैंने उन्हें सुरक्षित रखा। पर जो पत्र मैंने उन्हें लिखे, दुर्भाग्यवश उन्हें मैं संभालकर नहीं रख सका। मुझे इस बात का दुःख है कि समय-समय पर उनके साथ हुई अपनी चर्चा का भी कोई विवरण मैंने नहीं रखा। पुस्तक मोटी हो जाने और उसकी कीमत बढ़ जाने के डर से गांधीजी के सभी पत्रों का भी मैंने इसमें समावेश नहीं किया है। उन्हीं पत्रों को इस पुस्तक में मैंने स्थान दिया है, जो मेरी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण या ज्ञानवर्द्धक थे। कहीं-कहीं श्रृंखला की कड़ियां टूटी हैं, उसका और भी एक कारण है। जब-जब मैं स्वयं गांधीजी के साथ होता था उस समय कोई पत्र-व्यवहार हो नहीं सकता था। जहां अधिक दिनों का अन्तर पड़ गया है, जैसे कि एक बार सन् १९३१ में और १९४२ या १९४४ के बीच, उसका कारण यह था कि गांधीजी उस समय जेल में थे और उनके साथ पत्र-व्यवहार उस जमाने में सम्भव नहीं था। इसके सिवा बहुत-से ऐसे कागज-पत्र भी थे, जो कि मुझे महादेवभाई से मिले थे। उन्होंने उन कागजों की अपने कई पत्रों में चर्चा भी की है, पर दुर्भाग्यवश इस तरह की सारी-की-सारी सामग्री उपलब्ध नहीं है। इसलिए कुछ अंशों में यह कहा जा सकता है कि यह पुस्तक अधूरी है। किन्तु अवलोकन करने से पता लग जाता है कि इसके

कारण कोई ज्यादा क्रम-भंग नहीं हुआ है। इतिहासकार को घटनाओं की कड़ियां जोड़ने में, मेरा विश्वास है, कोई कठिनाई नहीं होगी। जहां शृंखला टूटी भी है वहां अन्य सामग्री इतनी स्पष्ट है कि वह उस कमी को पूरा कर देती है।

गांधीजी के साथ मेरी पहली मुलाकात सन् १९१६ में हुई थी। तब वह दक्षिण अफ्रीका से लौटने के कुछ दिन बाद कलकत्ता आये थे। उस दिन हमारा जो सम्पर्क स्थापित हुआ, वह पूरे ३२ वर्ष तक, अर्थात् उस दिन तक बना रहा जिस दिन दिल्ली में मेरे ही निवास-स्थान पर उनकी मृत्यु हुई।

मैं उनके संपर्क में किस प्रकार आया? मेरे जीवन की इस सौभाग्यपूर्ण घटना का एकमात्र श्रेय प्रारब्ध को ही मिलना चाहिए, जिसका रहस्यमय हाथ भीतर-ही-भीतर अपना काम करता रहता है। मेरी कोई राजनैतिक पृष्ठभूमि नहीं थी, इसलिए मैं इस योग्य कहां था कि किसी विश्व-विख्यात व्यक्ति की दृष्टि में आ पाता। मेरा जन्म सन् १८९४ में एक गांव में हुआ था, जिसकी जनसंख्या मुश्किल से तीन हजार रही होगी। रेल, पक्की सड़क या डाकघर के जरिये बाहरी दुनिया से सम्पर्क का कोई आधुनिक साधन उपलब्ध न होने के कारण हमारा गांव राजनैतिक हलचल से एक प्रकार से बिलकुल अलग-सा था। यात्रा के साधन ऊंट, घोड़े या बैलों द्वारा चलने वाले रथ थे। बैलों द्वारा चलने वाले रथ विलास की वस्तु थे और साधारणतः सम्पन्न लोगों द्वारा महिलाओं और अपाहिजों के लिए रखे जाते थे। घोड़ा दुर्लभ जानवर था और अधिकतर भूस्वामियों द्वारा उसका उपयोग किया जाता था। हमारे परिवार में तो बहुत अच्छे ऊंट थे और बाद में हमारे पास बैलोंवाला एक रथ भी हो गया। किन्तु ऊंट ही सदा यातायात का सबसे अधिक उपयोगी और लोकप्रिय माध्यम रहा। आजकल ऊंट पर लम्बी यात्रा की सम्भावना को लोग कोई उत्साह के साथ नहीं देखते हैं। किन्तु अपनी सहन-शक्ति, धीरज और भोलेपन के कारण इस पशु ने मुझे सदा आकर्षित किया। मुझे याद है कि जब एक बार मुझे लगातार छह दिनों तक ऊंट की पीठ पर यात्रा करनी पड़ी थी तो कितना आनन्द आया था!

हमारे गांव में कोई भी अखबारों के पीछे सिर नहीं खपाता था। दो-चार आदमी ही अखबार पढ़ पाते होंगे और उन दिनों अखबार थे भी कहां? देहात में अंग्रेजी पढ़ना-लिखना कोई न जानता था। वहां कोई स्कूल भी नहीं था। बहुत कम लोग ही, शायद सौ में एक, मामूली हिन्दी या उर्दू लिख-पढ़ सकते थे।

चार वर्ष की आयु में मुझे पढ़ाने को एक ऐसे अध्यापक रखे गये, जो लिखाई-पढ़ाई की अपेक्षा हिसाब अधिक जानते थे। इस प्रकार मेरी शिक्षा का आरम्भ अंकों के साथ हुआ—जोड़, बाकी, गुणा, भाग आदि। नौ वर्ष की आयु में मैंने

थोड़ा-बहुत लिखना-पढ़ना सीख लिया। कुछ अंग्रेजी भी आ गई; किन्तु मेरी स्कूली शिक्षा का अन्त प्यारेचरण सरकार द्वारा लिखित अंग्रेजी की पहली पुस्तक (फर्स्ट बुक ऑव रीडिंग) के साथ ही हो गया। उस समय मैं ग्यारह वर्ष का था।

मेरे परदादा एक व्यापारी के यहां दस रुपये मासिक पर मैनेजरी का काम करते थे। उनकी मृत्यु हो जाने पर मेरे दादाजी ने अठारह वर्ष की आयु में अपना निजी व्यापार चलाने का निश्चय किया और किस्मत आजमाने बम्बई चले गये। बाद में मेरे पिताजी ने काम-काज बढ़ाया और जब मेरा जन्म हुआ, उस समय तक हम लोग काफी सम्पन्न समझे जाने लगे थे। हमारे पैंतीस वर्ष पुराने कार-बार की जड़ उस समय तक अच्छी तरह जम चुकी थी। इसलिए जब मेरे तथा-कथित स्कूली जीवन का अन्त हुआ तो मुझसे खानदानी कारबार में हाथ बंटाने को कहा गया, और बारह वर्ष की उम्र में ही मैं उसमें लग गया। पर मुझे विद्या से लगन थी, इसलिए स्कूल छोड़ने के बाद भी मैं अपनी शिक्षा स्वयं चलाता रहा। न मालूम क्यों, मुझे किसी अध्यापक द्वारा पढ़ने से चिढ़ थी। इसलिए स्कूल छोड़ने के बाद पुस्तकों और अखबारों के अलावा एक शब्दकोश और कापी-बुक ही मेरे मुख्य अध्यापक रहे। इसी ढंग से मैंने अंग्रेजी, संस्कृत, एक-दो दूसरी भारतीय भाषाएं, इतिहास और अर्थशास्त्र सीखा और काफी जीवनियां तथा यात्राओं के विवरण भी पढ़ डाले। मेरा यह मर्ज आज भी ज्यों-का-त्यों बना हुआ है।

सम्भव है, इस पठन-पाठन द्वारा ही मुझे देश की राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए काम करने और उस समय के राजनैतिक नेताओं से सम्पर्क स्थापित करने का लोभ पैदा हुआ। उन दिनों रूस-जापान युद्ध से एशियाई प्रजा में एक जोश लहराने लगा था। उससे भारत भी बचा न रहा। एक बालक के रूप में मेरी सहानुभूति सोलहो आने जापान के साथ थी और भारत को स्वतंत्र देखने की लालसा मेरे मन को उद्वेलित करने लगी थी। किन्तु, जैसा कि मैं कह चुका हूं, हमारे परिवार, गांव या जाति में किसी प्रकार की राजनैतिक पृष्ठभूमि नहीं थी, इसलिए राजनीति के प्रति मेरी इस रुचि को मेरे आसपास वालों ने कुछ अधिक पसन्द नहीं किया। पर यह सब मुझे गांधीजी की ओर खींच ले जाने को काफी नहीं था, इसलिए मेरा अब भी यही विश्वास है कि कृपालु प्रारब्ध ही मुझे उनके पास ले गया।

सोलह वर्ष की आयु में मैंने दलाली का अपना एक स्वतंत्र धंधा शुरू कर दिया और इस प्रकार मैं अंग्रेजों के सम्पर्क में आने लगा। वे मेरे संरक्षक भी थे और मुझे काम भी देते थे। उनके सम्पर्क में आने पर मैंने देखा कि जहां वे अपने कामकाज के ढंग में, अपनी संगठन-सम्बन्धी क्षमता में तथा कितने ही अन्य गुणों

में वेजोड़ हैं, वहां वे अपने जातीय दर्प को भी छिपा नहीं पाते हैं। उनके दफ्तरों में जाने के लिए मुझे लिफ्ट का इस्तेमाल नहीं करने दिया जाता था, न उनसे मिलने के लिए प्रतीक्षा करते समय उनकी वेंचों पर ही वैठने दिया जाता था। इस प्रकार के तिरस्कार से मैं तिलमिला उठता था और सच पूछिये तो इसी ने मेरे भीतर राजनैतिक अभिरुचि जाग्रत की, जिसे मैंने सन् १९१२ से लेकर आज तक उसी प्रकार बनाये रखा है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और गोखले को छोड़कर ऐसा कोई राजनैतिक नेता नहीं हुआ, जिससे मेरा सम्पर्क न रहा हो। न देश में ऐसा कोई राजनैतिक आन्दोलन ही हुआ, जिसमें मैंने गहरी दिलचस्पी न ली हो और जिसमें मैंने अपने ढंग से सहायता करने की चेष्टा न की हो।

उन दिनों के आतंकवादियों का साथ करने के कारण एक वार मैं बड़ी विपत्ति में पड़ गया और लगभग तीन महीने तक मुझे छिपकर रहना पड़ा। कुछ कृपालु मित्रों के हस्तक्षेप ने मुझे जेल जाने से वचा लिया। फिर भी मै यह तो कह ही दूं कि आतंकवाद के लिए मेरे मन में कभी कोई गहरी रुचि नहीं रही और उसके जो कुछ भी अणु मुझमें शेष रह गये थे वे गांधीजी के सम्पर्क में आने के वाद से तो विलकुल ही नष्ट हो गये।

ऐसी पृष्ठभूमि के कारण मेरा गांधीजी की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था। मैंने आरम्भ उनके आलोचक की हैसियत से किया और अंत में उनका अनन्य भक्त वन गया। फिर भी यह कहना विलकुल गलत होगा कि मैं सब वातों में गांधीजी से सहमत था। सच तो यह है कि अधिकांश मामलों में मैं अपना स्वतंत्र विचार रखता था। जहां तक रहने-सहने के ढंग का सवाल था, मेरे और उनके बीच बहुत कम समानता थी। गांधीजी संत पुरुष थे। उन्होंने सुख-ऐश्वर्य के जीवन का परित्याग कर दिया था। उनकी प्रधान निष्ठा धर्म में थी और उनकी यह निष्ठा ही मुझे बरबस उनकी ओर खींच ले गई। पर अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण मेरे दृष्टिकोण से भिन्न था। उनकी आस्था चरखा-घानी जैसे छोटे-छोटे घरेलू उद्योगों में थी, इधर मैं काफी ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करता था और बड़े-बड़े उद्योगों की सहायता से देश के औद्योगीकरण में विश्वास रखता था। तो फिर मेरे और उनके बीच इतनी निकटता का सम्बन्ध कैसे स्थापित हुआ? क्या कारण था कि मेरे प्रति उनका विश्वास और स्नेह अंत तक बना रहा? इसका श्रेय तो मैं मुख्यत: उनकी महत्ता और उदारता को ही दूंगा। इतना आकर्षण, इतना स्नेह, मित्रों के प्रति इतनी प्रीति मैंने बहुत कम आदमियों में पाई। इस संसार में संतों का पैदा होना कोई बहुत बड़ी वात नहीं है और राजनैतिक नेता भी ढेरों आते-जाते ही रहते हैं; पर सच्चे मानव इस पृथिवी पर बहुतायत से नहीं पाये जाते। गांधीजी एक महामानव थे—एक ऐसे दुर्लभ

प्राणी, जो विश्व में शताब्दियों के बाद पैदा हुआ करते हैं। पर लोगों को एक मानव के रूप में गांधीजी के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी है। यही कारण था कि बहुत-सी समस्याओं पर उनसे सहमत न होते हुए भी मैंने उनकी इच्छाओं का पालन करने से कभी इन्कार नहीं किया और उन्होंने भी न केवल मेरे विचार-स्वातंत्र्य को ही सहन किया, बल्कि इसके लिए मुझसे और भी अधिक स्नेह किया— ऐसा स्नेह जो केवल एक पिता के द्वारा ही सम्भव है। इसलिए हमारे सम्बन्ध ने पारिवारिक स्नेह का रूप ले लिया था। मेरे प्रति उनका यह पितृ-सुलभ स्नेह उनके जीवन की अंतिम घड़ियों तक ज्यों-का-त्यों बना रहा।

अंतिम बार मुझे उनके शव के ही दर्शन हो पाये। यह प्रारब्ध की क्रूरता ही कही जायगी कि मैं उनके जीवन के अंतिम क्षणों में उनके पास मौजूद न था। मैं उनकी मृत्यु से दस घंटे पहले ही उनसे अलग हुआ था। मुझे दिल्ली से लगभग एक सौ बीस मील दूर अपने गांव जाना पड़ा था, जहां मैं एक प्रभावशाली मंत्री महोदय को पिलानी की शिक्षा-संस्था दिखाने ले गया था। मैं अपने घर से सवेरे सात बजे चला था और जाने से पहले गांधीजी के कमरे में प्रणाम करने गया था; पर वह आराम कर रहे थे और गहरी नींद में थे, इसलिए मैंने उन्हें जगाया नहीं। दस घंटे बाद पिलानी में मेरा लड़का मेरे पास दौड़ा आया और बोला कि रेडियो ने गांधीजी के गोली से मारे जाने की खबर सुनाई है। मुझे सहसा विश्वास नहीं हुआ। किन्तु भाग्य के आगे चारा ही क्या था!

तत्काल दिल्ली लौट आना सम्भव न था, क्योंकि आज भी मेरे गांव तक न रेल गई है, न पक्की सड़क। इसलिए मुझे रात-भर वहीं ठहरना पड़ा। पर नींद ठीक तरह नहीं आई और मैंने सपना देखा कि मैं अपने दिल्ली वाले मकान में (जहां गांधीजी ठहरे हुए थे) लौट आया हूं। वहां जैसे ही मैं उनके कमरे में घुसा, मैंने देखा कि उनका शव भूमि पर पड़ा हुआ है। मेरे प्रवेश करते ही वह उठ बैठे और बोले, "आ गये, बहुत अच्छा हुआ। बड़ी खुशी की बात है। मुझे जो गोली मारी गई है, वह कोई एकाकी घटना नहीं है, इसके पीछे एक गहरा षड्यंत्र है; किन्तु मुझे खुशी है कि उन्होंने मेरा अन्त कर दिया। मेरा काम पूरा हो गया है, इसलिए मुझे अब इस संसार से विदा होते हुए क्लेश नहीं हो रहा है।" फिर हम दोनों ने कुछ देर तक बातचीत की, बाद को उन्होंने अपनी घड़ी निकालकर कहा, "अब मेरी अन्त्येष्टि का समय हो चला, लोग मुझे ले जाने के लिए आयेंगे, इसलिए मैं लेटा जा रहा हूं।" यह कहकर वह फिर लेट गये और बिलकुल निश्चेष्ट हो गये। कैसा आश्चर्यजनक स्वप्न था वह! किन्तु शायद यह सब मेरे हृदय की प्रति-ध्वनि-मात्र थी।

अगले दिन तड़के ही दिल्ली लौटा और उस कमरे में गया, जहां उनका शव रखा हुआ था। लाखों की भीड़ बिड़ला-भवन को घेरे खड़ी थी। वह शांत और

स्थिर लेटे हुए थे। उन्हें देखकर ऐसा लगता ही नहीं था कि उनके शरीर से प्राण निकल चुके हैं। मेरे लिए यही उनके अंतिम दर्शन थे।

वर्षों पहले १६ जून, सन् १६४० को एक पत्र में महादेव देसाई ने मुझे लिखा था कि उन्हें लार्ड लिनलिथगो के प्राइवेट सेक्रेटरी का एक पत्र मिला है, जिसमें लिखा है कि जर्मन रेडियो से यह खबर प्रसारित की गई है कि अंग्रेजों के गुर्गे गांधीजी की हत्या कराने की योजना कर रहे हैं। उसी पत्र में यह भी आशंका प्रकट की गई थी कि कौन जाने, जर्मन गुर्गे स्वयं ही अंग्रेजों के विरुद्ध प्रचार करने के लिए ऐसा कोई षड्यंत्र रच रहे हों; इसलिए सतर्क रहना चाहिए। क्या गांधीजी यह पसन्द करेंगे कि उनकी रक्षा के लिए सादी पुलिस तैनात कर दी जाय? वाइसराय महोदय को ऐसी व्यवस्था करने में बड़ी प्रसन्नता होगी। महादेवभाई ने लिखा था कि उन्होंने वाइसराय को यह उत्तर दे दिया है कि गांधीजी ऐसी कोई व्यवस्था नहीं चाहते; क्योंकि वह बीसों वर्षों से हत्या की आशंका का सामना करते आ रहे हैं और अनुभव ने उन्हें सिखा दिया है कि ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता है, और न तो कोई हत्यारा किसी के जीवन की अवधि में कमी ही कर सकता है, न कोई मित्र उसकी रक्षा ही कर सकता है। महादेवभाई ने लिखा था कि ये बापू के अपने शब्द हैं। सचमुच ही होनी लगभग आठ वर्ष पहले से ही अपनी काली छाया डालने लगी थी। परंतु उस होनी का प्रतिनिधि न कोई जर्मन था, न कोई अंग्रेज; उनका हत्यारा एक भारतीय था—एक कट्टर हिन्दू। जब गांधीजी की बम से हत्या करने का प्रथम प्रयत्न निष्फल हुआ था तभी से भारत सरकार ने उनकी रक्षा के लिए कड़ा प्रबन्ध कर दिया था, यहां तक कि मेरे मकान के कोने-कोने में संतरी और सफेदपोश पुलिस के हथियारबंद सिपाही चक्कर लगाते दिखाई देते थे। यह अतिशय सतर्कता मुझे दुःखदायी लगती थी।

सन् १६१६ में तत्कालीन वाइसराय लार्ड हार्डिंग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास करने बनारस गये हुए थे। इससे कुछ समय पूर्व जब उनका जलूस नई राजधानी में प्रवेश कर रहा था तो उन पर एक बम फेंका गया था। इसलिए बनारस में उनकी रक्षा का कड़ा प्रबन्ध किया गया था। राइफलों और रिवाल्वरों से लैस पुलिस आसपास के तालाबों तक पर तैनात कर दी गई थी। गांधीजी को यह तमाशा बेहूदा प्रतीत हुआ था और उन्होंने खुले आम इस बात की आलोचना की थी कि वाइसराय का जीवन मृत्यु से भी बदतर है।

एक बार मैंने गांधीजी को उनके इन शब्दों की याद दिलाई और कहा, "क्या यह अशोभनीय नहीं है कि हमारी प्रार्थना-सभाएं तक संगीनों के साये में हों? मुझे आपके जीवन की बड़ी चिन्ता है; पर उससे भी अधिक चिन्ता मुझे आपकी कीर्ति की है। आप जब स्वयं ही जीवन-भर इस प्रकार से प्रबन्धों के घृणा करते

आये हैं तब क्या अब आप यह सब सहन कर लेंगे ?" गांधीजी मेरी बात से सहमत हुए और बोले, "वल्लभभाई से पूछो; क्योंकि आखिर यह सब इंतजाम उसने ही तो किया है। मुझे यह सब पसन्द नहीं है; पर मैं यह सब अपनी रक्षा के लिए नहीं, सरकार के नाम की खातिर सह रहा हूं।" बाद में मैंने सरदार से बातचीत की और, जैसी कि उनकी आदत थी, उन्होंने संक्षेप में उत्तर दिया, "तुम्हें चिन्ता क्यों ? तुम्हारा इन बातों से सरोकार नहीं है। जिम्मेदारी मेरी है। मेरा बस चले तो मैं बिड़ला-भवन में घुसने वाले एक-एक आदमी की तलाशी लूं, पर बापू मुझे ऐसा करने नहीं देंगे।" निष्ठुर नियति की यही इच्छा थी और महादेव के शब्दों में—पर गांधीजी की भाषा में—उन्हें कोई मित्र नहीं बचा सका। मैं स्वयं प्रार्थना-सभा में अपनी कमर-पेटी में पिस्तौल छिपाकर जाया करता था और बापू की ओर बढ़नेवाले हर आदमी पर निगाह रखता था, पर यह सब मिथ्या गर्व-मात्र था। "ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता है।"

इस घटना के लगभग दो वर्ष बाद एक दूसरा महान् व्यक्ति इस संसार से उठ गया। इनके साथ भी मेरा उतना ही घनिष्ट सम्बन्ध था। वह थे सरदार पटेल। वह हर बात में महात्माजी के सबसे कट्टर अनुयायी थे, विशेषरूप से संयम के मामले में। वह लौहपुरुष कहे जाते थे; पर उनकी बाहर से वज्र-जैसी दिखाई देनेवाली कठोरता के पीछे अतिशय कोमलता छिपी रहती थी। उनके भी अपने स्वतंत्र विचार थे, फिर भी प्रत्येक आन्दोलन में, चाहे वह राजनैतिक हो, चाहे सामाजिक, उन्होंने सदैव अपने गुरुदेव का अनुसरण किया। एकान्त में वह उनसे लड़-भिड़ लेते थे, परन्तु प्रकाश में उनका अनुसरण करते थे। यह कुछ विचित्र-सी बात थी कि देश के अनेक महान् व्यक्ति गांधीजी से मतभेद रखते हुए भी उनका अनुसरण करते थे, बहुधा आंख मूंदकर। गांधीजी अपने आकर्षक व्यक्तित्व और मित्रों के प्रति वफादारी के बल पर ही इस प्रकार का असम्भव-सा चमत्कार दिखा सके थे। यही कारण था कि बहुत-सी बातों में गांधीजी से सहमत न होते हुए भी सरदार प्रायः सभी अवसरों पर उनका आंख मूंदकर अनुसरण करते रहे।

गांधीजी के मरने के बाद सरदार को कारोनरी थ्रामबोसिस (एक जटिल हृदय-रोग) हो गया। गांधीजी की मृत्यु से जो धक्का लगा, उससे उनका दिल टूट गया था। कोई साधारण कोटि का मनुष्य होता तो रो-धोकर अपने मन का उफान निकाल लेता; पर सरदार ने अपने शोक का प्रदर्शन नहीं किया, इसीलिए उनका हृदय शोक से जर्जर हो गया था। मुझ पर उनका जादू उनकी मृत्यु से लगभग अट्ठाईस साल पहले चला था और उनके जीवन के अन्त तक हममें स्नेह का सम्बन्ध बना रहा।

यद्यपि सरदार की मृत्यु भी मेरे ही घर पर हुई, तथापि प्रारब्ध की क्रूरता का यह दूसरा उदाहरण है कि उनके अंतिम क्षणों में भी मैं उनके पास मौजूद न था। अपनी मृत्यु से चार दिन पहले वह दिल्ली से बम्बई चले गये थे। उनके बहुत से मित्र, जिनमें कुछ मंत्री भी थे, उन्हें विदा करने हवाई अड्डे पर गये थे। उन्होंने कुर्सी पर बैठे-बैठे ही हवाई जहाज के द्वार से एक उदास मुस्कान के साथ सबको नमस्कार किया था। उन्हें भासित हो गया था कि जल्दी ही इस संसार से विदा लेनी है। मैं भी जानता था कि वह शीघ्र ही अपनी महायात्रा के लिए प्रस्थान करने वाले हैं; किन्तु अपने मन को इस भुलावे में रखकर कि अन्त इतना निकट नहीं है, मैं दिल्ली में ही रह गया। चार दिन बाद ही वह चल बसे। सरदार की अन्तिम झांकी भी मुझे उनके शव की ही मिली।

महादेव देसाई की मृत्यु सन् १९४२ में आगाखां महल में हुई थी, जो उन दिनों बंदीगृह बना दिया गया था। महादेवभाई भी मेरे एक अभिन्न मित्र थे। उन्होंने अपने गुरुदेव की गोद में ही शरीर-त्याग किया। उस समय उनके इष्ट-मित्र उनके पास नहीं थे। वह सबके ही प्यारे थे। यह ठीक है कि महात्माजी ने उन्हें बनाया था; पर यह कहना भी गलत न होगा कि कुछ सीमा तक महादेव ने भी महात्माजी को अपने सांचे में ढाला था। महादेव देसाई के व्यक्तित्व में बड़ा आकर्षण था, बड़ी मोहिनी थी। वह बड़े विद्वान् थे और दूसरों से अपनी बात मनवाने की उनमें असाधारण क्षमता थी। जब कभी बापू किसी मामले में हठ पकड़ लेते थे तो केवल सरदार और महादेव ही उस महान् संकल्पी को दूसरी ओर मोड़ पाते थे। कितनी ही बार गांधीजी को महादेव भाई की बात माननी पड़ी, कभी उबल पड़ने के बाद, कभी खिलखिलाकर हँसते-हँसते।

आज यदि ये तीनों व्यक्ति जीवित होते और इतने स्वस्थ होते कि आगे पन्द्रह वर्ष और जीवित रह सकते तो भारत के इतिहास की रूपरेखा क्या होती, यह एक वृथा कल्पना है। मेरा तो विश्वास है कि मनुष्य अपना कार्य समाप्त करने के बाद ही इस संसार से विदा लेता है। हमारा शोक करना बेकार है। उत्तरदायित्व का भार अब आज की, और आगे आने वाली, पीढ़ियों पर है। सम्भव है, इन महापुरुषों की प्रेरणा का कुछ अंश इन पृष्ठों के द्वारा उन पीढ़ियों के हिस्से में आ जाय।

१८ जुलाई, सन् १९३५ को मैं लन्दन में श्री बाल्डविन से मिला था। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने निम्नलिखित बातें कहीं, जिन्हें मैंने उसी समय नोट कर लिया था :

"प्रजातंत्रीय शासन-प्रणाली त्रुटियों से सर्वथा मुक्त हो, ऐसी बात नहीं है। किन्तु अबतक की शासन-प्रणालियों में वही सबसे अच्छी सिद्ध हुई है। भगवान् को धन्यवाद है कि इस देश में तानाशाही नहीं है। जन-हितकारी तानाशाही स्वतः

एक बहुत अच्छी चीज है; पर इस प्रकार की तानाशाही में जनता को कुछ करना नहीं पड़ता, केवल चुपचाप बैठे रहना होता है, जो कि ठीक नहीं है। प्रजातन्त्र में सबको काम करना पड़ता है, यही इस प्रणाली का सबसे अच्छा गुण है। भारत-वर्ष में भी यदि सब लोग काम करेंगे तो यह प्रयोग सफल सिद्ध होगा। यह प्रयोग-मात्र है, यह समझकर यदि सब लोग काम में नहीं जुटेंगे तो कभी सफल नहीं होगा। प्रजातंत्रीय व्यवस्था में समाज के कुछ लोग भले ही उत्पात करें; पर हमें इन इने-गिने लोगों को समाज का मापदण्ड नहीं बनाना चाहिए। कांग्रेस को तो अपने वास्तविक स्वरूप को ध्यान में रखकर इस बात को समझ लेना चाहिए कि उसे काफी बड़े क्षेत्र में देश की सेवा करने का अवसर मिल रहा है।"

१८ जुलाई, सन् १९३७ को, जब हमने प्रजातंत्रीय सरकार बनाने का दायित्व संभाल लिया तो बापू ने मुझे लिखा था, "हमारी असली कठिनाई तो अब आरम्भ होती है। यह बात तो अच्छी है कि हमारा भविष्य अब हमारी शक्ति, सत्यवादिता, साहस, संकल्प, परिश्रमशीलता और अनुशासन पर निर्भर है। अन्त में जो कुछ किया है वह ईश्वर के नाम से ईश्वर के भरोसे से। अच्छे होंगे, अच्छे रहो। तुम्हें मैं आशीर्वाद देता हूं।"

श्री बाल्डविन ने कहा था, "प्रजातंत्र में सबको काम करना होता हैं।" बापू ने इस बात पर जोर दिया कि हमारा भविष्य हमारी शक्ति, सत्यवादिता, साहस. संकल्प, परिश्रमशीलता और अनुशासन पर निर्भर है। दोनों ने एक ही बात भिन्न-भिन्न ढंग से कही और ये दोनों ही हमारे लिए मार्गदर्शक सिद्ध होने चाहिए।

गांधीजी की छत्रछाया में

१. मेरा सामाजिक बहिष्कार

इस पुस्तक में मैंने इस बात की काफी चर्चा की है कि लोगों से जान-पहचान करने और व्यक्तिगत सम्पर्क करने का क्या महत्त्व है। इसमें मैंने अपनी फाइलों में सुरक्षित उन पत्रों का संकलन किया है, जो मेरे और दूसरे लोगों के बीच पिछले पच्चीस वर्षों में या उससे भी कुछ अधिक समय से जाते-आते रहे हैं। इसमें वे पत्रादि भी संगृहीत किये गए हैं, जो गांधीजी तथा दूसरे लोगों ने मुझे राष्ट्र के इस संकटकाल में भेजे थे। हम भारतवासी स्वभाव से ही भावुक होते हैं। हम मित्रता से पिघलते हैं, प्रेम और सहानुभूति से द्रवित हो जाते हैं और करुणा की अनुभूति करते हैं। हम घृणा करना भी जानते हैं; परन्तु यह घृणा साधारण तौर पर किसी एक व्यक्ति के प्रति नहीं, बल्कि व्यक्तियों के समूहों और उनकी कार्य-प्रणालियों के विरुद्ध होती है। यदि कभी वह किसी व्यक्ति विशेष के प्रति होती भी है तो अक्सर ऐसे व्यक्ति के प्रति होती है, जिसके साथ हमारी जान-पहचान या साक्षात्कार नहीं होता है या जिसका नाम किवदंती ने हमारे लिए घृणास्पद बना दिया है। सम्पर्क से सत्य का पता चल जाता है, कभी-कभी तो बहुत ही अप्रिय सत्य का। हंस माना गया व्यक्ति बगुला निकल आता है। स्वर्गीय महादेव देसाई ने अपने एक मर्मस्पर्शी पत्र में उन साथियों की करतूतों का जिक्र किया है, जिन्होंने राष्ट्रीय हित के लिए पहले तो अपना पेशा छोड़ दिया; पर जिन्हें बाद में अपना पेट भरने के लिए बाध्य होकर तरह-तरह के हथकंडे अपनाने पड़े। उस पत्र में महादेव देसाई ने चेतावनी दी थी कि भविष्य में भी ऐसा संकट उपस्थित हो सकता है। लेकिन, जैसा कि मेरी यह कहानी बतायेगी, लोगों के अधिक निकट

सम्पर्क में आने से हमें उनकी जिन अच्छाइयों का पता चलता है उनका पलड़ा कुल मिलाकर उनकी बुराइयों से कहीं भारी होता है। बुद्धिमानों ने तो 'अपने को पहचानो' के सिद्धान्त-वाक्य को सर्वोपरि स्थान दिया है। उसके बाद शायद 'एक-दूसरे को पहचानो' का नम्बर है, और तीसरा नम्बर है 'तुम्हारे साथ जैसा व्यवहार किया जाय वैसा ही तुम औरों के साथ करो' के सिद्धान्त-वाक्य का। इन सभी कामों के लिए व्यक्तिगत सम्पर्क जरूरी है। हां, उन लोगों की बात दूसरी है, जो सिर्फ एकान्त जीवन व्यतीत करते-करते ही मर जाते हैं। पर हममें से अधिकांश के लिए तो यह सम्भव नहीं है।

अधिकांश देशवासियों की तरह मुझपर भी गांधीजी का गहरा प्रभाव पड़ा है। इसलिए मैं भारत के स्वतन्त्र होने के दिन की बड़ी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करता था। पर साथ ही जब अंग्रेजों और उनकी पार्लमिंट ने यह घोषणा की कि भारत को स्वतन्त्र करना उनका भी लक्ष्य है तो मैंने उनकी नेकनीयती पर कभी संदेह नहीं किया। अपने कार्यकलाप के प्रारम्भिक युग में गांधीजी का भी ऐसा विश्वास था; पर रौलट-रिपोर्ट ने और उसके फलस्वरूप बने हुए कानून ने, जिसे वास्तव में कभी अमल में नहीं लाया गया, इस विश्वास की नींव खोखली कर दी। राजनीति के साथ मेरा जो कुछ भी सम्बन्ध रहा है, वह उसके आर्थिक क्षेत्र में ही रहा है, लेकिन मैं भारत में रहनेवाले अंग्रेजों के मन में गांधीजी के उच्च उद्देश्यों के बारे में अविश्वास की बढ़ती हुई भावना को, और साथ ही भारतवासियों के मन में भारत-प्रवासी अंग्रेजों के प्रति ही नहीं, बल्कि अंग्रेज कूटनीतिज्ञों और ब्रिटिश पार्लमिंट तक के प्रति अविश्वास की जबरदस्त भावना को रोकने में सचेष्ट रहा।

एक हिन्दू के नाते मेरी जो भावना थी उसके कारण मेरे जीवन पर गांधीजी का प्रभाव सबसे अधिक था। मेरा जन्म एक ऐसे व्यापारी परिवार में हुआ है, जो सदा से सनातन धर्म की परम्परा का पालन करता आया है। मेरे दादा और उन-जैसे दूसरे लोगों की तुलना इंग्लैंड और अमरीका के 'क्वेकरों' के साथ की जा सकती है। 'क्वेकरों' की ही तरह उन्होंने भी व्यापार में खूब धन कमाया, साथ ही उन्होंने अच्छे कामों में खुले हाथ खर्च करना अपना कर्त्तव्य समझा। 'क्वेकरों' की तरह ही वे भी कट्टरपंथी नहीं थे, अर्थात् वे जात-पांत के किसी कठोर बंधन में जकड़े हुए नहीं थे। 'बिड़ला एजूकेशन ट्रस्ट' के द्वारा महिलाओं के उत्थान-कार्य को बड़ी प्रेरणा मिली है। गांधीजी हरिजनों के हितों के जबर्दस्त समर्थक थे। ट्रस्ट ने इन हरिजनों को अन्य वर्गों के लोगों की बराबरी के दर्जे के पेशों के लिए तैयार करने में भी बड़ा काम किया है। लेकिन यहां मैं 'बिड़ला एजूकेशन ट्रस्ट' के कार्य के बारे में कुछ कहने नहीं बैठा हूं। मेरे कहने का अभिप्राय तो यही है कि गांधीजी का मुझ पर जो प्रभाव पड़ा है

वह उनके एक शक्तिशाली राजनैतिक नेता होने के कारण उतना नहीं पड़ा, जितना कि उनकी धर्मपरायणता, उनकी नेकनीयती और उनकी सत्य की खोज करने की प्रवृत्ति के कारण पड़ा। अक्सर मैं उनके तर्कों को नहीं समझ पाता था और कभी-कभी मैं उनसे असहमत भी हो जाता था; लेकिन मुझे यह विश्वास सदा बना रहता था कि वह जो कुछ कहते या करते हैं, वह अवश्य ही ठीक होगा, मैं उनका अभिप्राय न समझा होऊं, यह बात दूसरी है। उन्होंने मुझसे जितना भी रुपया मांगा (और वह कहा करते थे कि जिन कामों में वह लगे हुए हैं, उनका भिक्षा-पात्र सदैव आगे बढ़ा रहता है) इस विश्वास के साथ मांगा कि उन्हें वह रकम अवश्य मिल जायगी; क्योंकि उनके लिए मेरा सर्वस्व हाजिर था। पर उन्होंने तानाशाही कभी नहीं अपनाई। वह तो स्वभाव से ही विनयशील थे। इतना ही नहीं, जब कभी मैं उनकी बातों को समझ नहीं पाता था और अपने मन की बात कह देता था तो वह मेरी आलोचना को रत्ती-भर भी नाराज हुए बिना ग्रहण कर लेते थे, जैसा कि हमारे पत्र-व्यवहार से जाहिर होगा। उनका यह कहना कि वह अपने दोस्तों को अपना पथ-प्रदर्शक मानते हैं, न तो उनकी कोरी नम्रता ही थी, न दूसरों के मनोभावों को ठेस न पहुंचाने की इच्छा ही; वह सचमुच ही उनकी सलाह मानने को तैयार रहते थे, बशर्ते कि वह सलाह उन्हें उस अंतिम सत्य की खोज से न डिगाए—उस चिरंतर सत्य की खोज से, जो हम सबका सृजन करता है।

गांधीजी ने अपनी 'आत्मकथा' सन् १९२४ में समाप्त की। बस, तभी से मैंने उनके और दूसरे लोगों के साथ अपने पत्र-व्यवहार को सुरक्षित रखना आरम्भ किया। मैं बड़े कष्ट में था, इसलिए स्वभावतया मैं नसीहत के लिए बापू की शरण में आया। मारवाड़ी समाज रूढ़िवादी है ही। उसने हमारे परिवार की आधुनिकता के कारण हमारा सामाजिक बहिष्कार आरम्भ कर दिया था। इससे मेरे मन में बड़ा रोष भरा हुआ था और मैं गांधीजी की अहिंसा की नीति का पालन करने और यह सबकुछ चुपचाप सहन करते जाने को तैयार नहीं था। मैं गांधीजी को लिख भी चुका था कि वह विरोधियों के साथ पेश आने के मामले में जरूरत से ज्यादा नम्रता और विश्वास से काम लेते हैं और जिन्हें वह हंस समझते हैं, उनमें से कुछ तो बगुले-मात्र हैं। इसके उत्तर में उन्होंने लिखा, "मैं किसी पर भी आवश्यकता से अधिक विश्वास नहीं करता हूं। पर जब दोनों पक्ष दोषी होते हैं तब यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि एक का दोष दूसरे के दोष से कितना अधिक है। इसलिए मैंने एक सीधी-सादी युक्ति सोच ली है—बुरा करने वाले के साथ भी नेकी ही करो।" और जब मैंने अपनी बिरादरी के अंधकार में पड़े पोंगापंथियों के विरुद्ध दिल का गुबार निकाला तो गांधीजी ने आश्वासन देकर मुझे शान्त किया। उनके वे आश्वासन अब सच्चे सिद्ध हो चुके हैं। उन्होंने लिखा :

जुहू, वम्बई
१३-५-२४

भाई श्रीयुत् घनश्यामदास,

आपका पत्र मुझको मिला है।

मेरा विश्वास है कि यदि जाति वालों के विरोध आप वरदाश्त कर सकेंगे तो आखिर में फल अच्छा ही होगा। हम सब में दैवी और आसुरी प्रकृति कार्य कर रही है। इसलिए थोड़ी-बहुत अशान्ति अवश्य रहेगी। उससे डरने की कुछ आवश्यकता नहीं है। प्रयत्नपूर्वक निग्रह करते रहने से आसुरी प्रकृति का नाश हो सकता है। परंतु दिल में पूरा विश्वास होना चाहिए कि दैवी प्रकृति को ही सहायता देना हमारा कर्त्तव्य है। मुझे फिक्र आपके पिता और बन्धु के लिए है। यदि वे आपके पक्ष का संगठन कर संग्राम चाहते हैं और आप उनको शान्ति-मार्ग की ओर न ला सकें तो आपके ही कुटुम्ब में दो विरोधी प्रवृत्ति होने का सम्भव है। ऐसे मौके पर धर्म-संकट खड़ा होता है। मैं तो अवश्य उनसे भी प्रार्थना करूंगा कि आपके ही हाथ से जाति में दो गिरोह पैदा न हों।

जिस चीज को आपने अच्छी समझकर की है और जिसकी योग्यता के लिए आज भी आप लोगों के दिल में शंका नहीं है, उसके लिए माफी मांगना मैं हरगिज उचित नहीं समझूंगा।

आपकी तरफ से मुझे ५,०००) रु० मिल गये हैं। 'यंग इंडिया', 'नवजीवन' के लिए आप उचित समझें, उतना द्रव्य भेज दें। करीव ५० नकल मुफ्त देने की आवश्यकता है।

आपका
मोहनदास गांधी

११ जून को मैंने गांधीजी को लिखा :

पिलानी
११ जून, १९२४

परम पूज्य महात्माजी,

आपके पत्र सदैव मुझे कुछ-न-कुछ नई शान्ति देते रहते हैं। यद्यपि दो गिरोह हो गये हैं तथापि कुछ बहुत ज्यादा अविवेक से कार्य नहीं हो रहा है। हालांकि हम लोगों ने इस मामले में अबतक थोड़ा कष्ट सहन कर एक छोटा-सा स्वार्थ-त्याग किया है, फिर भी जो पवित्रता ऐसे कार्यों में होनी चाहिए, वह हम लोग धारण नहीं कर सके हैं। कुछ धर्म-संकट भी है और कुछ कौटुम्बिक दौर्बल्य भी है। आप 'नवजीवन' में सामाजिक विषयों पर कुछ लिखें तो लोगों का अत्यन्त उपकार भी हो सकता है।

स्वराजियों ने सिराजगंज की कान्फ्रेंस में हिंसा की घोषणा कर दी है और अपनी अहिंसा के पुराने बुरके को उतारकर फेंक दिया है। अहिंसा के नाम से जो हिंसा का नाटक खेला जा रहा था, उसका इस प्रकार अंत हो गया। सम्भव है, आप अल्पसंख्यक रह जायं, किन्तु जिस पवित्रता से आपका काम होगा, उसकी ताकत कितनी बड़ी-चढ़ी होगी, इसकी तो कल्पना भी मेरे लिए असम्भव-सी है।

आपने मुझे अहिंसा का उपदेश दिया और मैंने भी उसे बिना शंका के सुन लिया; किन्तु आपसे दूर होने के पश्चात् मुझे फिर समय-समय पर शंकाएं होती हैं। इसमें तो मुझे रत्ती-भर भी शंका नहीं कि अहिंसा एक उत्तम ध्येय है, किन्तु आप जैसे द्वन्द्व-विमुक्त पुरुष संसार की भलाई के लिए किसी मनुष्य का यदि वध कर दें तो क्या इसको हिंसा कहा जा सकता है ? समझ में तो ऐसा आता है कि निष्काम भाव से किया हुआ कर्म एक प्रकार से अकर्म ही है; किन्तु जो साधारण श्रेणी के मनुष्य द्वन्द्व से छूट नहीं गये हैं उनके हाथ से किया हुआ वध तो अवश्य हिंसा ही है। क्या ऐसी हिंसा के लिए विधि नहीं है ? आपने तो स्वयं ऐसा कहा है कि भाग जाने की अपेक्षा प्रहार करना कहीं अधिक अच्छा है। इस हालत में लोगों को अन्तिम श्रेणी की शिक्षा देकर प्रहार करने से रोकना कहां तक फलदायक होगा, सो मेरी बुद्धि में नहीं आता। आप लाठियां खाने का उपदेश भी देते हैं। लोग इस अन्तिम ध्येय को पहुंचने का प्रयत्न कर सकते हैं या नहीं, इसमें मुझे पूरा शक है। मुझे तो ऐसा भय भी होता है कि कहीं ऐसा न हो कि लोग न तो उस उच्चतम अहिंसा को प्राप्त कर सकें और न अपनी बहू-बेटियों की रक्षा के लिए तलवार ही चलायें। हिन्दू सभा एवं आर्यसमाजी भाइयों ने जब से तलवार चलाने के लिए लोगों को उत्तेजित किया तब से मुसलमान लोग भी वार करने में थोड़ा भय मानते हैं। मैं जानता हूं कि ऐसा होने से झगड़ा एक दफा बढ़ता ही है; किन्तु इसी संग्राम में झगड़ा तय न हो जायगा, यह भी तो नहीं माना जा सकता।

हम लोग ऐसा भी देख रहे हैं कि जिन हिन्दुओं को २०० वर्ष पूर्व जबर्दस्ती मुसलमान बना लिया गया था वे यद्यपि उस समय मुसलमानों से रुष्ट हुए होंगे, तथापि आज वे वैसे ही कट्टर मुसलमान हैं जैसे अरब, ईरान से आये हुए आदिम मुसलमान। इससे तो यही सिद्ध हो जाता है कि हिंसात्मक उपायों से की गई शुद्धियां भी, सम्भव है, हिन्दुओं का बल बढ़ाकर अन्त में प्रेम उपस्थित कर सकें। यद्यपि आपने मुझसे ऐसा कहा था कि पशुबल से कोई सुधार स्थायी नहीं हो सकता, किन्तु जब यह देखता हूं कि पशुबल से ही सती की घृणित प्रथा को ब्रिटिश सल्तनत ने बन्द कर दिया तो फिर यह समझ में नहीं आता कि पशुबल से अन्य सुधार भी क्यों नहीं किये जा सकते ? आप मुझसे कहते थे कि मुसलमानों के धर्म की वृद्धि तलवार से नहीं हुई, किन्तु पुराने लेखों के पढ़ने से इतना तो पता लगता है कि मुसलमानों ने जबर्दस्ती बहुत-से हिन्दुओं को मुसलमान बनाया था। सन्

१८२९ ईस्वी में लार्ड बैंटिक के ईस्ट इंडिया कम्पनी के डाइरेक्टरों के नाम लिखे हुए पत्र से ऐसा स्पष्ट पता भी चलता है कि मुसलमान जबरन तबलीग करते थे।

पशुबल से अर्थात् प्रोटेक्टिव टैरिफ (रक्षात्मक चुंगी) द्वारा खादी का प्रचार एवं विदेशी माल का बायकाट भी किया जा सकता है। यदि गवर्नमेंट चाहे तो अनेक सामाजिक कुप्रथाओं को रोक सकती है। इस हालत में मुझे यह भी शंका होती है कि समाजी लोग पशुबल से शुद्धियां कर लें और हिन्दुओं का बल बढ़ा लें तो इसमें कौन-सी बुराई है? इसमें तो कोई शक नहीं कि जिन मुसलमानों को हम किसी भी प्रकार हिन्दू बना लेंगे, वे हिन्दुओं को उतना ही प्यार करेंगे जितना कि हिन्दू एक हिन्दू से कर सकता है।

मैं आपसे यह स्पष्ट कर देता हूं कि मुझे यह हिंसात्मक नीति बिलकुल पसन्द नहीं है। अहिंसात्मक नीति मुझे प्रिय भी मालूम पड़ती है, किन्तु कभी-कभी मन में उठता है कि कहीं यह वृत्ति आलस्य के कारण तो नहीं है। मैंने आपको ये शंकाएं इसलिए लिखी हैं कि मुझे इनका माकूल जवाब मिले।

यदि आप यह कहें कि कार्य सिद्ध हो या असिद्ध, हमें कर्म की पवित्रता को नहीं बिगाड़ना चाहिए तब तो मेरे लिए कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता, किन्तु जो लोग मुक्ति के मार्ग के पथिक नहीं हैं और मध्यम श्रेणी में विचरते हैं वे फलाफल को तोले बिना कोई उत्तम कार्य नहीं कर सकते। उन्हें 'आब्जेक्ट' (लक्ष्य) की चिन्ता है, न कि 'मैथड' (साधन) की, इसलिए आप कृपाकर मुझे यह लिखें कि यदि 'आब्जेक्ट' हिंसात्मक प्रणाली से प्राप्त कर सकें तो क्यों न किया जाय।

यह मैं फिर निवेदन कर देता हूं कि हिंसात्मक नीति मुझे दिन-दिन अप्रिय होती जा रही है, और यह पत्र मैंने केवल अपनी शंकाओं के समाधान के लिए ही लिखा है।

विनीत
घनश्यामदास

२० जून, १९२४

भाई घनश्यामदासजी,

आपका पत्र मिला है।

कार्य सिद्ध हो या न हो तो भी हमें अहिंसक ही रहना चाहिए। यह सिद्धांत को प्राकृत रूप से बताने का तरीका है। ठीक कहना यह है कि अहिंसा का फल शुभ ही है। ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। इसलिए आज मिले या वर्षों के बाद, उससे हमें कुछ वास्ता नहीं है। २०० वर्ष के आगे जिनको जबर्दस्ती इस्लाम में

लाया गया उससे इस्लाम को लाभ हो ही नहीं सकता, क्योंकि इससे बलात्कार की नीति को स्थान मिला है। इसी तरह यदि किसी को बलात्कार से या फरेब से हिन्दू बनाया जावे तो उसमें हिन्दू धर्म के नाश की जड़ है। सामान्यतः तात्कालिक फल देखकर हम धोखा खाते हैं। बड़े समाज में २०० वर्ष कोई चीज नहीं है।

कानून के जरिये से किसी की बुरी आदत छुड़ाना, इतनी-सी हिंसा पशुबल नहीं कहा जाय। कानून से शराब का धन्धा बन्द करना और इसीलिए शराबियों का शराब को छोड़ना बलात्कार नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय कि शराब पीने वालों को बेंत लगाये जायेंगे तो अवश्य पशुबल माना जाय। शराब बेचने का हमारा कर्त्तव्य नहीं है।

आपका
मोहनदास

स्पष्ट ही इससे मुझे संतोष नहीं हुआ और, जैसा कि उनके दूसरे पत्र से प्रकट होता है, मैंने वही शिकायत की होगी।

२० जुलाई, १९२४

भाई श्री घनश्यामदास,

ईश्वर ने मुझको नीति-रक्षक दिये हैं, उन्हीं में से मैं आपको समझता हूं। मेरे कई बालक भी ऐसे हैं और कई बहनें भी हैं और आप, जमनालालजी-जैसे प्रौढ़ भी हैं, जो मुझको सम्पूर्ण पुरुष बनाना चाहते हैं। ऐसा समझते हुए आपके पत्र से मुझे दुःख कैसे हो सकता है। मैं चाहता हूं कि हर वक्त ऐसे ही आप मुझे सावधान बनाते रहें।

आपकी तीन फर्यिाद हैं। एक, मेरा स्वराज्य दल को तखत के आरोप से मुक्त रखना, दूसरा, सोहरावर्धी को प्रमाण-पत्र देना और तीसरा, सरोजनीदेवी को सभापतित्व दिलाने की कोशिश करना।

प्रथम बात यह है कि मनुष्य का धर्म है कि साधना के पश्चात् जो अपने को सत्य लगे उसी चीज को कहना, भले जगत को वह भूल-सी प्रतीत हो। इसके सिवा मनुष्य निर्भय नहीं बन सकता है। अपनी मोक्ष के सिवा और किसी चीज का मैं पक्षपाती नहीं बन सकता हूं, परन्तु यदि मोक्ष सत्य और अहिंसा के प्रतिकूल हो तो मुझे मोक्ष भी त्याज्य है। उक्त तीनों बातों में मैंने सत्य का ही सेवन किया है। आपने जो कुछ मुझे जुहू में कहा था उसे स्मरण में रखते हुए मैंने जो कुछ भी कहा है, वह कहा। जब मेरे नजदीक कुछ भी प्रमाण न हो तो मेरा धर्म है कि मैं स्वराज्य दल को आरोप से मुक्त समझूं। यदि आप मुझको प्रमाण दे देंगे तो मैं अवश्य निरीक्षण करूंगा और आप उसका उपयोग करने देंगे तो मैं जाहिर में भी

कह दूंगा, वरना मेरे दिल में समझकर मैं खामोश रहूंगा।

सरोजनीदेवी के लिए आप खामखा घबराते हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि उन्होंने भारतवर्ष की अच्छी सेवा की है और कर रही हैं। उनके सभापतित्व के लिए मैंने कुछ प्रयत्न इस समय नहीं किया है। परन्तु मेरा विश्वास है कि इस पद के लिए वह योग्य हैं, यदि दूसरे जो आजतक हो गये हैं वे योग्य थे तो। उनके उत्साह पर सब कोई मुग्ध हैं। उनकी वीरता का मैं साक्षी हूं। मैंने उनका चरित्र-दोष नहीं देखा है।

इन सब बातों का आप यह अर्थ न करें कि उनके या किसी के सब कार्यों को मैं पसन्द करता हूं।

जड़ चेतन गुन दोषमय विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥

आपका
मोहनदास गांधी

पुनश्च :

शरीर को अच्छा रखो तब तो मैं काफी काम ले लूंगा और कुछ दूंगा। कम-से-कम पन्द्रह दिन दूध की आवश्यकता लगे तो अवश्य पिओ। फल खाओ। रोटी नुकसान करेगी। दही अवश्य लेना।

१५ सितम्बर, १९२४

भाई घनश्यामदासजी,

आपके पत्र मिलते रहते हैं। जबलपुर के मामले से मैं घबराता नहीं हूं। मैंने जो आत्म-प्रायश्चित्तकरने की मेरी शक्ति थी, वह कर लिया, इसलिए मैं शांत रह सकता हूं। फल का अधिकार हमको नहीं है, यह तो ईश्वर के ही हाथ में है। मेरा स्वास्थ्य ठीक होने से कई अग्रगण्य नेताओं को साथ लेकर दौरा करने का मेरा इरादा तो है ही, सबसे पहले मैं कोहाट जाना चाहता हूं। सम्भव है कि मैं ८ दिन में तैयार हो जाऊंगा।

समय आने पर आपकी सब भांति की सहाय मैं मांग लूंगा।

आपके लोगों से मुझे यहां खूब सहाय मिल रही है।

रुपये आप जमनालालजी को या तो आश्रम साबरमती को भेजने की कृपा करें।

आपका
मोहनदास गांधी

हिन्दुओं और मुसलमानों के आपसी संबंध की दृष्टि से यह एक बहुत ही बुरा

साल था। कितनी ही जगहों पर भयंकर दंगे हुए और सदा की भांति तब भी बापू ने समझौता कराने की प्राणपण से चेष्टा की। सर्दियों में उन्होंने दिल्ली में इक्कीस दिन तक अनशन किया; लेकिन उससे कोई ठोस लाभ न हुआ। उन दिनों हमारा पत्र-व्यवहार अधिकतर इसी विषय पर होता था। बापू ने लिखा :

"हिन्दू औरतों पर जो हमला हो रहा है उस बारे में हमारा ही दोष मैं समझता हूं। हम ऐसे नामर्द बन गये हैं कि हमारी बहनों की रक्षा भी नहीं करते हैं। इस विषय में मैं खूब लिखूंगा। इसका कोई सादा इलाज मेरे नजदीक नहीं है। कई बात जो आपके सुनने में आई हैं, उसमें अतिशयोक्ति का सम्भव है, परंतु अतिशयोक्ति काट देने के बाद जो शेष रहता है, हमको लज्जित करने के लिए काफी है।"

पर इन घटनाओं के बावजूद मुसलमानों के प्रति उनकी हितैषिता में कोई कमी नहीं हुई, जैसा कि अगले पत्र से स्पष्ट हो जाता है :

बीकानेर
२१-२-१९२५

भाई श्रीयुत् घनश्यामदासजी,

अलीगढ़ में राष्ट्रीय मुस्लिम यूनिवर्सिटी चलती है, उसकी आर्थिक स्थिति बहुत ही कठिन है। मैंने उन भाइयों को कहा है; मैं सहाय दिलवाने का प्रयत्न करूंगा। वे लोग एक रकम इकट्ठी कर रहे हैं। मैंने कहा है कि उसमें रु० ५०,००० की सहायमांगने कीकोशिश मैंकरूंगा। आप भी इस बात को सोचिये और आपका दिल यदि इस सहायता में पूरी या कुछ भी देना चाहता है तो मुझे लिखियेगा। हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न का मैं खूब अभ्यास कर रहा हूं। मेरा यह विश्वास हिन्दू समाज पर पड़ता जा रहा है, अगरचे मुसीबतें ज्यादा देखता हूं तो भी।

मैं आजकल काठियावाड़ में घूम रहा हूं। आज मेरा प्रवास खतम होगा।

आपका
मोहनदास गांधी

२३-३-२५

भाई घनश्यामदासजी,

आपके दो पत्र मिले हैं।

मुस्लिम यूनिवर्सिटी के बारे में आपने मुझको निश्चिंत कर दिया है। मैं तो यह हरगिज नहीं चाहता हूं कि आपके दान से आप भाइयों में कुछ भी विवाद हो। आपका नाम मैं प्रगट नहीं करूंगा।

आपने जो जमीन छोटा नागपुर में ली है, उसको नौकरों की मृत्यु के कारण छोड़ने की सलाह मैं नहीं दूंगा। धातु रूप और जमीन रूप द्रव्य में बड़ा फरक नहीं है। द्रव्य के कारण झगड़ा होना, खून भी होना अनिवार्य है। आपके धर्म-संकट का एक ही इलाज है, मिलकियत छोड़ देना। यह तो आप इस समय करना नहीं चाहते हैं। हां, एक बात तो मैंने कही है, क्योंकि मिलकियत फिसादों का कारण बनती है और हमारे पास अकर्त्तव्य भी करवाती है। उसे छोड़ देना और जबतक उसको हम सम्पूर्णतया छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं तबतक उसका व्यय पारमार्थिक भाव से ट्रस्टी की हैसियत से करना और अपने लोगों के लिए उसका कम-से-कम व्यय करना। एक बात और संभावित है। जो सज्जन झगड़ा करता है उसको मिलने की कुछ कोशिश हुई है ? उसकी अशांति का कारण क्या है ? उसकी मूर्खता भले हो; परंतु उसकी जमीन पानी के दाम से तो नहीं मिली है। दुष्ट पुरुष भी अपनी मिलकियत फेंक देना नहीं चाहता है। यह तो दूसरा तात्त्विक प्रश्न मैंने छेड़ा है।

आपकी धर्मपत्नी का स्वास्थ्य कुछ ठीक है क्या ? मैं मद्रास २४ तारीख को छोड़ूंगा।

आपका

मोहनदास गांधी

२६ मार्च, १९२५

भाई घनश्यामदासजी,

यह है हकीम साहब का तार। क्या आप मुझको २५,०००) रु० अब भेज सकते हो ? यदि भेजा जाय तो दिल्ली में हकीम साहब के यहां भेजोगे कि मुझको मुंबई में जमनालालजी के यहां भेजोगे। मुझे यदि क्रेडिट दिल्ली में मिले तो कमीशन का शायद बचाव होगा। मैं पहली अप्रैल तक आश्रम में हूंगा। उसके बाद काठियावाड़ में दुबारा जाऊंगा। मई दो तारीख को फरीदपुर पहुंचना होगा।

आपका

मोहनदास गांधी

बापू ने मुझे एक खास तरह का चरखा उपहार में दिया और मेरी कताई में बड़ी दिलचस्पी दिखाई, यहां तक कि मेरे काते हुए सूत की बारीकी पर मुझे बधाई भी दी :

३० मार्च, १९२५

भाई श्री घनश्यामदासजी,

आपका खत मिला है।

आपका सूत अच्छा है। जिस पवित्र कार्य का आपने आरम्भ किया है उसको आप हरगिज न छोड़ें। आपकी धर्मपत्नी के बारे में आप प्रतिज्ञा ले सकते हैं कि यदि उनका स्वर्गवास हो तो आप एक पत्नीव्रत का सर्वथा पालन करेंगे। यदि ऐसी प्रतिज्ञा लेने की इच्छा और शक्ति हो तो मेरी सलाह है कि आप आपकी धर्मपत्नी के समक्ष यह प्रतिज्ञा लें।

२० हजार रुपये के लिए मैं जमनालालजी की दुकान से पूछूंगा।

श्री रायचन्दजी से मेरा खूब सहवास था। मैं नहीं मानता हूं कि सत्य और अहिंसा के पालन में वे मेरे से बढ़ते थे, परन्तु मेरा विश्वास है कि शास्त्रज्ञान में और स्मरण-शक्ति में मेरे से बहुत बढ़ते थे। बाल्यावस्था से उनको आत्मज्ञान और आत्मविश्वास था। मैं जानता हूं कि वे जीवनमुक्त नहीं थे और वे खुद जानते थे कि वे नहीं थे। परन्तु उनकी गति उसी दिशा में बड़े जोर से चल रही थी। बुद्ध-देव इत्यादि के बारे में उनके ख्यालों से मैं परिचित था। जब हम मिलेंगे तो उस बारे में बातें करेंगे। मेरा बंगाल में प्रवास मई मास में शुरू होता है।

अलीगढ़ के बारे में मैंने आपसे २५,०००) रु० की मांगनी की है। हकीमजी का तार भी आपको भेजा है।

आपका
मोहनदास गांधी

आश्रम, साबरमती
६ अप्रैल, १६२५

भाई घनश्यामदास,

आपका पत्र मिला है। आपने जो चेक भेजा उसमें से देशबन्धु-स्मारक के पैसे की जो रसीद जमनालालजी के यहां से आई है आपको देखने के लिए भेज देता हूं। चेक पर जो हुंडियावण काट लेते हैं वह काटकर रसीद दी जाती है, उसका मुझको यह पहला अनुभव है।

हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के लिये मैं और क्या लिखूं? भली-भांति समझता हूं कि हमारे लिए क्या उचित है? परन्तु आज मेरा कहना निरर्थक है, यह भी जानता हूं। शहद पर बैठी हुई माख को कौन हटा सकता है, बत्ती के इर्द-गिर्द घूमते परवाने की गति को कौन रोक सकता है?

मसूरी न जाने से मैं बहुत लाभ उठा रहा हूं। आपका अभिप्राय यहां मिलने के बाद आपने क्यों दिल्ली से मसूरी जाने का तार भेजा? परन्तु जिसको ईश्वर बचाना चाहता है, उसको कौन मिटा सकता है?

फिनलैंड के बारे में मैं नहीं जानता हूं, मैं क्या करना चाहता हूं? जाने न जाने

के मेरे नजदीक बहुत-से कारण हैं। और क्योंकि मैं निश्चय नहीं कर सका हूं, इसलिए निमन्त्रण देनेवालों को मैंने मेरी शर्त सुना दी। शर्त के स्वीकार के साथ अगर वे लोग मेरी हाजिरी चाहें तो मैं समझूंगा कि मेरा जाना आवश्यक है।

आल इंडिया कांग्रेस कमेटी में क्या होगा, देखा जावेगा ?

आपका
मोहनदास

कहने की जरूरत नहीं कि एक जाति-बहिष्कृत के रूप में मुझे जो अनुभव प्राप्त हुए थे उनके कारण दलित जातियों के प्रति मेरी सहानुभूति बढ़ गई थी। फलतः बापू के हरिजन-आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए मैं लालायित हो गया था। हमारे पत्र-व्यवहार का बहुत बड़ा भाग इसी आन्दोलन के सम्बन्ध में था। परन्तु मैं अपने पाठकों को इन विस्तार की बातों से परेशान नहीं करूंगा, क्योंकि हरिजनों का विषय इस पुस्तक में आगे चलकर फिर आयेगा। फिर भी यह तो बता ही दूं कि बापू ने अपने सुझावों के द्वारा कि चेकों को कहां जमा कराया जाय, जिससे उनके भुगतान का कमीशन न देना पड़े, अपनी वणिक-सुलभ व्यापार-कुशलता का परिचय दिया। यहां यह भी बता दूं कि हरिजनों से व्यक्तिगत सम्पर्क न होने के कारण ही कट्टर हिन्दुओं के मन में, जिनमें मालवीयजी-जैसे साधु पुरुष भी थे, हरिजनों के लिए उपेक्षा की भावना ने जड़ पकड़ ली थी। पत्र-व्यवहार को देखने से पता चलता है कि राष्ट्रीय प्रश्न को छोड़कर और सभी बातों में बापू और मालवीयजी में मौलिक मतभेद था। यद्यपि बापू स्वराज्य-पार्टी बनाने और उसके विधान-सभाओं में भाग लेने के विरोधी थे, फिर भी उनकी सहानुभूति पार्टी के कट्टरपंथी नेताओं—मोतीलाल नेहरू और सी० आर० दास—के साथ अपेक्षाकृत अधिक थी।

शुक्रवार, ७ अगस्त, १९२५

भाई श्री घनश्यामदासजी,

आपके पत्र का उत्तर मैंने जमनालालजी के मार्फत भेजा था, वह मिला होगा, आपका लम्बा पत्र जब मुझे मिला था तब मैंने उसका सविस्तार उत्तर भेज दिया था और उसकी निज की रजिस्ट्री भी है। वह उत्तर सोलन में भेजा गया था। कैसे गुम हो गया, मैं नहीं समझ सकता हूं।

उसमें मैंने जो लिखा था उसकी तफसील यहां देता हूं। आपने एक लाख का दान देशबन्धु-स्मारक में किया, उसकी स्तुति की और यथाशक्ति शीघ्रता से देने की चेष्टा करने की प्रार्थना की।

पू० मालवीयजी और पू० लालाजी को मैं साथ नहीं दे सकता हूं, उसका

कारण बताया और मेरे उनके लिए पूज्य भाव की प्रतिज्ञा की। पं० मोतीलाल और स्वराज्य-दल को सहाय देता हूं, क्योंकि उनके आदर्श कुछ-न-कुछ तो मेरे से मिलते हैं। उसमें व्यक्तिगत सहाय की बात नहीं है।

और बातें तो बहुत-सी लिखी थीं, परन्तु इस समय वे सब मुझे याद भी नहीं हैं।

आप दोनों का स्वास्थ्य अच्छा होगा। मेरे उपवास की कथा आपने सुन ली होगी। मेरे इस खत के लिखने से ही आप समझ सकते हैं कि मेरी शक्ति बढ़ रही है। उम्मीद है कि थोड़े दिनों में मैं थोड़ा शारीरिक श्रम उठा सकूंगा।

मैं ता० १० को वर्धा पहुंचूंगा। वहां कुछ दस दिन रहने को मिलेगा।

आपका
मोहनदास

मेरी धर्मपत्नी को एक ऐसी बीमारी लग गई थी जो बाद में घातक सिद्ध हुई। बापू की शुभ कामनाएं और उनके चिकित्सा-सम्बन्धी सुझाव लगातार आते रहते थे। इसी बीच उन्होंने यौन-प्रश्नों पर भी अपने विचार लिखे :

बम्बई, १३ अप्रैल, १९२५

भाई घनश्यामदासजी,

आपके दो पत्र मिले हैं। आपने तिथि या तारीख का देना छोड़ दिया है। देते रहिये, क्योंकि मेरे भ्रमण में पत्र मिलते हैं, इससे कौन-सी तारीख के कौन पत्र हैं, उसका पता बगैर तारीख मुझे नहीं मिल सकता।

हकीमजी तो यूरोप गये हैं। मैंने ख्वाजा साहब को पुछवाया है कि द्रव्य मिल गया है या नहीं। आपको कुछ पता मिले तो बताइये। जमनालालजी की दुकान से मैंने जांच की तो पता मिला कि उनको आपकी तरफ से रु० ३०,०००) अबतक मिले हैं। मुनीम ने पहुंच तो दी थी, ऐसा कहते हैं। मिलने की तिथि अनुक्रम से १०,०००) की १-१-२४ और २०,०००) की ५-१-२५ है।

यदि डाक्टर लोग आशा बताते हैं तो आपको धर्मपत्नी के मृत्यु का भय क्यों रहता है? विकारों का वश करना मेरे अनुभव में बहुत कठिन तो है ही; परन्तु वही हमारा कर्त्तव्य है। इस कलिकाल में मैं रामनाम को बड़ी वस्तु समझता हूं। मेरे अनुभव में ऐसे मित्र हैं, जिनको रामनाम से बड़ी शांति मिली है। रामनाम का अर्थ ईश्वर नाम है, मन्त्र भी वही फल देता है। जिस नाम का अभ्यास हो उसका स्मरण करना चाहिये। विषयासक्त संसार में चित्तवृत्ति का निरोध कैसे हो, ऐसा प्रश्न होता ही रहता है। आजकल जनन-मर्यादा के पत्रों को पढ़कर मैं दुखित होता हूं। मैं देखता हूं कि कई लेखक कहते हैं कि विषय-भोग हमारा

कर्त्तव्य है। इस आयु में मेरा संयम-धर्म का समर्थन करना विचित्र-सा मालूम होता है। तथापि मेरे अनुभव को मैं कैसे भूलूं ? निर्विकार बनना शक्य है, इसमें मुझे कोई शक नहीं। प्रत्येक मनुष्य को इस चेष्टा को करना अपना कर्त्तव्य है। निर्विकार होने का साधन है। साधनों में राजा रामनाम है। प्रातःकाल उठते ही रामनाम लेना और राम से कहना 'मुझे निर्विकार कर', मनुष्य को अवश्य निर्विकार करता है। किसी को आज, किसी को कल। शर्त यह है कि यह प्रार्थना हार्दिक होनी चाहिये। बात यह है कि प्रतिक्षण हमारे स्मरण में हमारी आंखों के सामने ईश्वर की अमूर्त मूर्ति खड़ी होनी चाहिये। अभ्यास से इस बात का होना सहल है।

मैं बंगाल में प्रथमा को पहुंचूंगा। उसी रोज कलकत्ता फरीदपुर के लिये छोड़ूंगा।

मोहनदास के वंदेमातरम्

गोरक्षा की लक्ष्य-सिद्धि के प्रयास के मामले में बापू की व्यावहारिक विवेक-बुद्धि की झलक निम्नलिखित पत्र से मिलेगी :

१ जुलाई, २५

भाई श्री घनश्यामदासजी,

आपका पत्र मिला। लौहानी के बारे में आपको विशेष तकलीफ इस समय तो नहीं दूंगा।

जमनालालजी मुझे कहते थे कि जो २५,०००) रुपये आपने मुस्लिम यूनिवर्सिटी को दिये वे जो ६०,०००) जुहू में देने की प्रतिज्ञा की थी उसीमें के थे। मेरी समझ ऐसी थी और मैंने ६०,०००) रुपये दूसरे कामों में खरचने का इरादा कर रखा था। परन्तु यदि आपकी समझ ऐसी न थी कि मुस्लिम यूनिवर्सिटी के रुपये अलग न माने जायं तो मुझे कुछ कहना नहीं है।

दूसरी बात यह है। गोरक्षा के बारे में मेरे ख्याल आप जानते हैं। श्रीमधुसूदन दास की एक टेनरी कटक में है, उसकी उन्होंने कम्पनी बनाई है। उसमें ज्यादा शेयर लेकर प्रजा के लिए गोरक्षा के कारण कब्जा लेने का दिल चाहता है। उस पर १,२०,०००)का कर्ज होगा। उस कर्ज में से उसकी मुक्ति आवश्यक है। टेनरी में चमड़े केवल मृत जानवरों के लिये जाते हैं, परन्तु पाटलघो को मरवाकर के भी उसके चमड़े लेते हैं। यदि टेनरी लें तो तीन शर्त होनी चाहिए :

(१) मृत जानवर का ही चमड़ा खरीदा जाय।

(२) पाटलघो को मरवाकर उसका चमड़ा लेने का काम बन्द किया जावे।

(३) सूत लेने की बात ही छोड़ दी जावे। यदि कुछ लाभ मिले तो टेनरी

का विस्तार बढ़ाने के लिए उसका उपयोग किया जावे।

मैं चाहता हूं कि यदि इस शर्त से टेनरी मिले तो आप ले लें। उसकी व्यवस्था आप ही करें तो मुझको प्रिय लगेगा। यदि न करें तो व्यवस्थापक मैं ढूंढ़ लूंगा। टेनरी की अपनी ही जमीन कुछ बीघा है। मैंने देख ली है। श्री मधुसूदन दास ने इसमें अपने बहुत पैसे खर्च किये हैं।

तीसरी बात है चर्खा-संघ की। आप इसमें साथ दे सकते हैं। आप अखिल भारत देशबन्धु-स्मारक में अच्छी रकम दें, ऐसा मांगता हूं।

इन तीनों बात के बारे में आपसे जमनालालजी ज्यादा बात करेंगे, यदि आपका उनके साथ दिल्ली में मिलना हुआ तो।

आपकी धर्मपत्नी को कुछ आराम हुआ है क्या ?

मैं बिहार में १५ तारीख तक रहूंगा।

आपका
मोहनदास गांधी

मुझे ठीक याद नहीं कि मैंने उन्हें ऐसी क्या बात लिखी थी, जिस पर उन्होंने निम्नलिखित पत्रों में मुझे डांट बताई :

नवम्बर, १९२५

भाई घनश्यामदासजी,

आपका पत्र मिला है।

मेरे लेख के बारे में मुझे विश्वास है कि मैंने बा को अन्याय से बचा लिया है। बा भी दिल में यही समझती है, ऐसा मुझको प्रतीत होता है, अन्यथा इतने प्रफुल्लित चित्त से मेरे साथ घूम न सकती। कई वृथा दोषारोपण से बा और छगनलाल आदि को मैंने बचा लिया है। दोष के जाहिर स्वीकार का मीठा अनुभव मैंने जितना लिया है इतना शायद ही और किसी ने हमारे समाज में लिया हो। मुझको आश्चर्य है कि यह बात आपने नहीं पहचान ली।

आपका
मोहनदास

पाठकों ने देखा होगा कि बापू ने अपने पत्रों में बार-बार आर्थिक बातों की चर्चा की है। दलित जातियों की सहायता के लिए किये जानेवाले संघर्ष में मैं रुपये-पैसे से उनकी जितनी भी सहायता कर सकता था, करता रहा, क्योंकि यही एक ऐसी चीज थी, जो उनके पास नहीं थी। ये चर्चाएं उनके पत्रों में बार-बार

आयेंगी। इन पत्रों में व्यावसायिक मामले में उनकी व्यवहार-कुशलता के दर्शन होते हैं :

साबरमती
३ जनवरी, १९२६

भाई रामेश्वरदासजी,

आपका पत्र मिला। जमनालालजी आजकल यहां हैं। उन्होंने मुझे खबर दी है कि १०,०००) रु० उनको पेढ़ी पर मिल गये हैं। उसका व्यय अन्त्यज-सेवा में करूंगा।

आपका स्वास्थ्य अच्छा है, जानकर आनन्द हुआ।

आपका
मोहनदास गांधी

उन दिनों हिन्दू-मुस्लिम समस्या विकट रूप में मौजूद थी।

आश्रम, साबरमती
शुक्र० १६-४-२६

भाई घनश्यामदास,

आपका खत और २६ हजार रुपये का चेक मिला है। हिन्दू-मुसलमान झगड़े के बारे में आपने जो प्रश्न पूछे हैं उनका उत्तर मैं देता हूं, परन्तु अखबारों के लिए नहीं। मैंने आपसे कहा था कि आजकल हिन्दू जनता पर या तो हिन्दू जनता के उस विभाग पर कि जो इन झगड़ों में दखल देता है, मेरा कोई असर नहीं है। इसलिये मेरे कहने का अनर्थ हो जाता है। इसलिये मैं शांत रहना, वही मेरा कर्तव्य समझता हूं।

(१) जुलूस यदि सरकार ने बंद कर दिये हैं और कोई धार्मिक कार्य के लिए जुलूस की आवश्यकता हो तो सरकार की मनाही होते हुए भी जुलूस निकालना मैं धर्म समझूंगा। परन्तु जुलूस निकालने के आगे मैं मुसलमानों से मेलजोल की बात कर लूंगा। और इतनी भी विनय करने पर वह न मानें तो जुलूस निकालूंगा और वे मारपीट करें उसको बरदाश्त करूंगा। यदि इतनी अहिंसा की मेरे में शक्ति न हो तो मैं लड़ाई का सामान साथ रखकर जुलूस निकालूंगा।

(२) मुसलमान सईस वि० नौकरों के बारे में किसी को उसके मुसलमान होने के कारण नहीं निकालूंगा। परन्तु किसी मुसलमान को मैं नहीं रखूंगा जो वफादारी से अपना काम नहीं करेगा या तो मेरे से उद्दंड बनेगा। मेरा ऐसा अभि-

प्राय नहीं है कि मुसलमान अन्य कौमों से ज्यादे कृतघ्न हैं। ज्यादा लड़ाकू हैं, यही बात मैंने उनमें देखी। किसी मुसलमान को मुसलमान होने के कारण ही त्याग करना मुझको तो बहुत ही अयोग्यम ालूम होता है।

(३) जो हिन्दू शांति-मार्ग को नापसन्द करता है या तो उसके लिए तैयार नहीं है उसको लड़ाई करने की शक्ति हासिल कर लेनी चाहिये।

(४) यदि सरकार मुसलमानों का पक्षपात करती है तो हिन्दुओं को बेफिकर रहना चाहिये। सरकार से वेपरवाह रहें, खुशामद न करें, परन्तु अपनी शक्ति पर निर्भर होकर स्वाश्रयी बनें। जब हिन्दू इतना हिम्मतवान बन जायगा तब सरकार अपने-आप तटस्थ रह जायेगी और मुसलमान सरकार का सहारा लेना छोड़ देगा। सरकार की मदद लेने में न धर्म का पालन होता है, न कुछ पुरुषार्थ बनता है। मेरी तो सलाह है कि आप इस चीज को तटस्थता से देखें और कार्य करें। इसी में हिन्दू जाति का भला है, हिन्दू धर्म की सेवा है। यह मेरा दीर्घकाल का—कम-से-कम ३५ वर्ष का—अनुभव है। झगड़ा होने के समय जिस शांति और वीरता से आपने काम लिया वह मुझको बहुत ही प्रिय लगा। इसी शांति को कायम रखकर आप जो कुछ योग्य हो वह करें। यदि मेरे उत्तर में कहीं भी स्पष्टता का अभाव है तो अवश्य दुबारा पूछियेगा।

जो लोन चर्खा संघ को देने का आपने कहा है उसमें से कुछ हिस्सा बम्बई के माल पर लेने का इरादा है। बम्बई में चर्खा संघ के दो गोडाउन हैं। आप चाहें तो उसमें से एक का कब्जा ले लेवें और इसी में लोन कवर करने के लिए जितना माल चाहिये उतना रखा जाय, और उससे ज्यादा माल भी आप संमत हों तो हम रखना चाहते हैं, जिससे एक गोडाउन का किराया हम बचा सकें। और वह माल हम जब चाहें तब ले सकें, ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये। जो माल चर्खा संघ सीक्यो-रिटी के बाहर रखें उसमें हमेशा बढ़-घट होनी होगी। इसलिए हमेशा उसमें प्रवेश करने का सुभीता मिलना चाहिये।

आपका
मोहनदास

आश्रम साबरमती
२३-५-२६. रवि०

भाई घनश्यामदास,

आपका पत्र मिला था। खादी के विषय में जो लोन आपने देने की प्रतिज्ञा की है इस बारे में आपके खत की नकल जमनालालजी को भेज दी है।

साबरमती समझौते के बारे में मैं तो स्तब्ध हो गया। अबतक मैं कुछ समझ सकता नहीं हूं। हिन्दू-मुसलमान के बारे में मैं सब समझ सकता हूं, परन्तु लाचार

वन गया हूं, क्योंकि मैं आत्मविश्वास को नहीं छोड़ सकता हूं, इसलिए निराश नहीं होता। इतना तो समझता हूं कि जिस ढंग से आज हिन्दू-धर्म की रक्षा करने की कोशिश होती है उस ढंग से रक्षा नहीं हो सकती है। परन्तु मैं तो निर्बल के बल राम वस्तु को सम्पूर्णतया मानता हूं। इसलिए निश्चिन्त हो बैठा हूं।

आपका
मोहनदास

अगले पत्र में उनके और मालवीयजी के मतभेद की चर्चा है, खास तौर से मेरे राजनैतिक क्षेत्र में क्रियात्मक रूप से प्रवेश करने के बारे में।

आश्रम सावरमती
८-६-२६. मंगल०

भाई घनश्यामदासजी

आपका पत्र मिला है। खादी प्रतिष्ठान को चर्खा-संघ की मार्फत से आज तक कम-से-कम ७० हजार रुपये दिये हैं। मुझको स्मरण है, वहां तक ३५ हजार अन्य आश्रम को और ६ हजार प्रवर्तक संघ को। और भी छोटी-छोटी रकमें दी गई हैं। सव मिलकर करीव सवा लाख रुपये होंगे। और भी वंगाल में पैसे दिये जायेंगे। मैं जानता हूं कि खादी प्रतिष्ठान की आवश्यकता वहुत वड़ी है। सतीश बाबू अपना काम वहुत ही बढ़ाना चाहते हैं। मुझे यह वात प्रिय भी है। परन्तु चर्खा-संघ में आज तो पैसे बहुत ही कम हैं। इसलिए यद्यपि चर्खा-संघ के मार्फत से जो कुछ हो सकता है वह किया जावेगा तदपि आप जितना दे सकें उतना सतीश वावू को अवश्य दें।

कौंसिल के वारे में क्या लिखूं? पूज्य मालवीयजी से इस बारे में मेरा तात्विक मतभेद है। मैं केवल इतना ही कह सकता हूं कि यदि आप मानें कौंसिलों में आपके जाने से लोकोपकार होगा तो आप अवश्य जायें। स्वराज्य दल का विरोध और राजनैतिक शिक्षण प्राप्ति का प्रलोभन यह दोनों बातें नैतिक दृष्टि से ख्याल करने में अप्रस्तुत हैं। यदि आप ऐसा समझते हैं कि आपने कौंसिलों में न जाने की प्रतिज्ञा मेरे समक्ष की है तो इस समझ को आप दूर करें। ऐसा कोई प्रतिवन्ध का निश्चयपूर्वक स्वीकार नहीं किया है। ऐसे वन्धन से मुक्त समझकर केवल औपकारिक दृष्टि से आप कौंसिलों में जाने के वारे में आपका अभिप्राय निश्चित करें।

आपका
मोहनदास

आश्रम साबरमती
२५-७-२६

प्रिय घनश्यामदासजी,

मैं इस पत्र के साथ एक वक्तव्य भेजता हूं, जो उस पत्र के साथ जाना चाहिये था, जो आपको उस दिन भेजा था।

आपके खादी प्रतिष्ठान वाले पत्र के सम्बन्ध में बापू का कहना है कि कोई ऐसी खास बात नहीं जिसके लिए उनके उत्तर की जरूरत हो। वह इस बात में आपसे सहमत हैं कि व्यापार और परोपकार को मिलाना ठीक नहीं है, और प्रतिष्ठान की आप केवल एक ही प्रकार से सहायता कर सकते हैं, और वह यह है कि उसे ३०,०००) रुपये का कर्ज दिया जाये, जो वह जनवरी १९२७ में अदा कर देगा।

आपका
महादेव

बापू को यह बात तो बहुत भायी कि मैंने नाइटहुड की उपाधि लेने से इन्कार कर दिया, पर उन्हें यह बात जितनी पसंद थी उतनी ही विधान सभा के लिए मेरे खड़े होने की बात नापसंद थी। (सन् १९२७ में मैं असेम्बली का सदस्य था, बाद में उनकी सलाह से मैंने उसे त्याग दिया था।) 'सर' की उपाधि के बारे में उन्होंने लिखा, "किसी उपाधि को इन्कार करने के लिए न तो यह जरूरी है कि सरकार को अपना दुश्मन समझा जाय और न यह कि उपाधियों को बुरा माना जाय, यद्यपि आजकल की परिस्थितियों में तो मैं उन्हें बुरा ही समझता हूं।"

मेरे सन् १९२७ में यूरोप जाने के बारे में शुरू में तो उन्होंने कोई उत्साह नहीं दिखाया, पर जैसा कि हम देखेंगे, मेरा जाना एक बार निश्चित हो गया तो उन्होंने उसमें पूरी दिलचस्पी ली।

२. लाला लाजपत राय

मेरे शुरू के पथ-प्रदर्शकों में पण्डित मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय थे। मालवीयजी बहुत बड़े विद्वान् थे और उनमें देश-भक्ति कूट-कूटकर भरी हुई थी; किन्तु सामाजिक विषयों में वह पक्के सनातनी थे। लाला लाजपतराय रूढ़िवादी विचारों के नहीं थे; पर थे बड़े ही भावुक और तुनकमिजाज। मेरे मन में

अछूतों के प्रति अभिरुचि सबसे पहले उन्होंने ही जाग्रत की थी। 'हरिजन' और 'परिगणित' जाति-जैसे शब्द तो उस समय कोई जानता भी न था। ३० दिसम्बर १९२३ को उन्होंने मुझे एक पत्र में लिखा :

"जेल से छुटकर आने के बाद से ही मैं तुमसे मिलने को छटपटा रहा था, पर बीमारी के कारण कलकत्ता न आ सका, और मुझमें इतना साहस नहीं हुआ कि तुममें से किसी को यहां आकर मिलने के लिए लिखूं। मैं तुमसे हिन्दुओं की एकता और हिन्दू अछूतों की शुद्धि के मसले पर बातचीत करना चाहता हूं। मैं समझता हूं कि हिन्दू संस्थाएं और हिन्दू नेता शोरगुल तो बहुत मचाते हैं, परन्तु ठोस काम बहुत कम करते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं, जिन्हें आगे की पीढ़ियों के लिए पैसा इकट्ठा करने का तो चाव है, पर इस बात में कोई रुचि नहीं है कि उस पैसे का इस समय किस तरह अच्छे-से-अच्छा उपयोग किया जाय। कुछ दूसरे लोग ऐसे हैं, जो एक-साथ बहुत-सी योजनाएं बना लेते हैं, और अपनी सारी योजनाओं को विशाल रूप दे देते हैं, पर निश्चय-निर्णय करने में बहुत समय लेते हैं। इस दूसरी श्रेणी के लोगों में हमारे पूज्य नेता पण्डित मदनमोहन मालवीय हैं। मेरा उनके प्रति स्नेह है और मैं उनकी श्रद्धा करता हूं, किन्तु उनकी जिस बात से मुझे दुःख होता है वह यह है कि वह निर्णय करने और उसे कार्य-रूप में परिणत करने में देर लगा देते हैं। मैं समझता हूं कि यह जमाना झटपट निर्णय करने और तत्परता से काम करने का है। यदि हम अपने हिन्दू समाज की महत्त्वाकांक्षी और साहसिक शत्रुओं से रक्षा करना चाहते हैं तो हमारे आगे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि इसमें किस तरह से एका हो और हम दलित वर्गों की रक्षा किस प्रकार करें। इस दूसरी समस्या में तो जरा भी देर करना आत्मघातक सिद्ध होगा। मालवीय-जी का खयाल है कि हिन्दू विश्वविद्यालय से ही हमारा बेड़ा पार हो जायगा। वह सारा रुपया और सारा समय उसी में लगा रहे हैं। यह तो ठीक है कि विश्व-विद्यालय के लिए उन्होंने शानदार काम किया है और हम मालवीयजी तथा उनके कार्य पर गर्व कर सकते हैं; पर विश्वविद्यालय को और फैलाने का काम अभी रोका जा सकता है।"

आगे चलकर लालाजी ने एक संस्था का रेखाचित्र दिया और उसके लिए मेरा सहयोग मांगा। उनकी और मालवीयजी की प्रेरणा से ही मैं बनारस और गोरख-पुर से व्यवस्थापिका सभा का सदस्य बना था और उनकी 'रिसपान्सिविस्ट पार्टी' में शामिल हुआ था। राजनीति के क्षेत्र में मानो मेरा यह रैनबसेरा था।

सन् १९२७ आते-आते हम एक-दूसरे को और भी अच्छी तरह से जानने और समझने लगे और लालाजी ने मुझे खरी-खरी बातें सुनाने का निश्चय किया।

जुलाई के महीने में, जब हम दोनों लन्दन में थे, उन्होंने मुझे लिखा :

प्रिय घनश्यामदासजी,

तुम्हारे बारे में मेरी जो धारणा है वह मैं तुम्हें साफ-साफ और दिल खोलकर बता देना चाहता हूं। जहाज पर और जिनेवा में साथ-साथ रहने के कारण अब मैं तुम्हें पूरी तरह समझने लगा हूं। इतने पास से तुम्हारा अध्ययन करने का अवसर मुझे पहली बार मिला। तुममें कुछ ऐसे गुण हैं, जिनकी मैं मुक्त कंठ से सराहना करता हूं; पर तुममें कुछ ऐसी आदतें है, जिन्हें मैं चाहूंगा कि तुम बदल दो। तुममें मेरी दिलचस्पी एक पिता की दिलचस्पी है, जो चाहता है कि उसका बेटा उससे भी अधिक बड़ा और अच्छा बने। तुममें एक महान् नेता बनने के गुण विद्यमान हैं, वे सभी गुण जो एक सच्चे नेता में होने चाहिए। बस, तुम्हें अपने व्यवहार के ढंग में कुछ परिवर्तन करना होगा। इस समय तुम्हारे व्यवहार से कुछ रुखाई का और धैर्य के अभाव का आभास मिलता है और इस कारण जो लोग तुम्हें अच्छी तरह से नहीं जानते, वे तुम्हें अभिमानी समझ बैठते हैं। बातचीत और व्यवहार के मामले में हमें महात्मा गांधी से अच्छा व्यक्ति कोई नहीं मिलेगा। वैसे तो इस संसार में किसी को भी सर्व-गुण-सम्पन्न व्यक्ति नहीं कहा जा सकता; पर महात्मा गांधी को लगभग पूर्णता-प्राप्त पुरुष अवश्य कहा जा सकता है। वह महान् हैं, हम सबसे महान्, पर वह अपने मित्रों और सहकर्मियों के प्रति अपने व्यवहार का बड़ा ध्यान रखते हैं। उन्हें उपेक्षा या उदासीनता या अशिष्टता का दोष देना सम्भव ही नहीं है। तुमसे उनका लाख मतभेद होते हुए भी वह तुम्हारी सारी बातें धैर्य के साथ सुनेंगे और अपना निर्णय सुनाने में कभी जल्दबाजी से काम नहीं लेंगे। वह अडिग हैं, उन्हें कोई दुर्बलता का दोषी नहीं ठहरा सकता। पर उनकी दृढ़ता को कोई उद्दंडता समझ बैठे, यह सम्भव नहीं है। वह तो उनसे भी दिल खोलकर तर्क-वितर्क करते हैं जो किसी भी दृष्टि से उनके समकक्ष नहीं माने जा सकते। तुम अभी युवक ही हो और अभी तुमने दुनिया नहीं देखी है; पर तुम्हारी बुद्धि अच्छी है और निश्चय करने में तुम्हें देर नहीं लगती है। पर बुरा न मानना। एक राजनैतिक नेता के रूप में, जो कि आगे चलकर तुम बनोगे ही, तुम्हें मस्तिष्क और आचार-विचार-सम्बन्धी जिन गुणों की दरकार होगी वे उन गुणों से भिन्न होंगे, जिन्होंने तुम्हें एक सफल उद्योगपति बनाया है।

मेरे जीवन की तो संध्या आ गई। गांधीजी और मालवीयजी भी तिल-तिल करके मर ही रहे हैं। भगवान् करें वे चिरायु हों। हिन्दुओं में आज ऐसे बहुत ही कम लोग हैं, जिन पर हम अपने देश के नेतृत्व का भार छोड़ना पसन्द करेंगे। मेरी आशाएं तो बुद्धिजीवियों में जयकर पर और उद्योगपतियों में तुम पर बंधी हुई हैं। लेकिन जयकर बम्बई के हैं। हमें एक ऐसे हिन्दू नेता की जरूरत है, जो उत्तर

भारत के हिन्दुओं का नेतृत्व करने के लिए अपने साथियों और सहकर्मियों का पूरा-पूरा स्नेह तथा विश्वास प्राप्त कर सके। आज मुझे एक भी ऐसा आदमी दिखाई नहीं देता है। मुझे तुमसे आशा है। यही कारण है कि मैंने तुम्हें यह पत्र लिखने का जिम्मा लिया। मेरे स्नेह और देश-प्रेम ने मुझे ऐसा करने को प्रेरित किया है। यदि तुम समझो कि मैं व्यर्थ ही टांग अड़ाने की धृष्टता कर रहा हूं तो मुझे क्षमा कर देना और इस पत्र को रद्दी की टोकरी में डाल देना और फिर कभी इसकी याद न करना। भगवान् तुम्हारा भला करे, यही मेरी कामना है।

तुम्हारा सच्चा हितैषी
लाजपत राय

मैं कह नहीं सकता कि इस पत्र का मुझ पर कितना असर पड़ा; पर मैं अपनी त्रुटियों की ओर से सचेत था और मुझे नेता बनने कीकोई आकांक्षा भी नहीं थी। इसलिए मैंने उनकी सलाह को उसी रूप में ग्रहण किया, जिस रूप में एक युवक अपने बुजुर्गों की सलाह को ग्रहण करता है।

इसके बाद उन्होंने पेरिस से यह डांट लिखकर भेजी :

पेरिस, ६ जुलाई, १९२७

प्रिय घनश्यामदासजी,

मैं अभी पेरिस में ही हूं। दिल की बात कह रहा हूं, माफ करना। मेरे लन्दन छोड़ने से पहले तुम मुझसे मिलने नहीं आये, इससे मेरे दिल को चोट पहुंची है। तुम सर शादीलाल के भोज और श्री पटेल के स्वागत-समारोह में नहीं आये सो मेरी समझ में ठीक नहीं हुआ। चाहे तुम कुछ खाते नहीं; पर तुम्हें आना जरूर चाहिए था। लोगों के साथ नम्रता और शिष्टता का व्यवहार करना और उनपर अच्छा प्रभाव डालना बड़े काम आता है। तुम पर लक्ष्मी की कृपा है, इसलिए तुम्हारे लिए यह और भी आवश्यक है कि तुम जीवन के इन औपचारिक शिष्टाचारों का पालन करो। मैं चाहता हूं कि लोग तुम्हें तुम्हारे धन के लिए नहीं, बल्कि तुम्हारे गुणों के लिए प्यार करें। मेरी राय में तुम्हें अपने में थोड़ा-सा परिवर्तन करना चाहिए और अपने दोनों पूज्य नेताओं (गांधीजी और मालवीयजी) के आदर्श का अनुकरण करते हुए छोटी-छोटी बातों में भी उदार बनना सीखना चाहिए।

मैं कल या परसों विशी जा रहा हूं। मैं इस यात्रा के लिए बड़ा आभारी हूं और तुम्हें विशी पहुंचकर पत्र लिखूंगा। मैं यहां अपने दांतों की परीक्षा कराने का प्रयत्न कर रहा हूं। इन बातों में लन्दन इतना महंगा है कि मैंने आगे की डाक्टरी

परीक्षा पेरिस के लिए रोक रखी थी।

तुम्हारा हितैषी
लाजपत राय

इस उलाहने के बाद भी मुझमें पार्टियों और भोजों के लिए कोई विशेष रुचि उत्पन्न नहीं हुई।

होटल रेडियो, विशी
९-७-२७

प्रिय घनश्यामदास,

तुम्हारा पत्र आज सवेरे मिला। धन्यवाद। मैं तुम्हारे दृष्टिकोण को समझता हूं और मैंने कभी यह आशा नहीं की थी कि तुम स्टेशन पर मुझे छोड़ने आओगे। मैंने तो केवल यह आशा की थी कि तुम या तो क्लब में मुझसे आकर मिल लोगे या टेलीफोन पर ही नमस्ते कर लोगे। मैं समझता हूं कि शिष्टाचार की ये छोटी-छोटी बातें मित्रों और परिवार के लोगों में भी अच्छी ही लगती हैं। इनसे सम्बन्ध मीठे बने रहते हैं।

मेरा खयाल है कि तुम्हें सर शादीलाल के भोज और श्री पटेल के स्वागत-समारोह, दोनों में ही जाना चाहिए था। मेरी राय में तो तुम्हारा ग्लासगो जाना उतना जरूरी नहीं था। मैं चाहता था कि स्वागत-समारोह में विद्यार्थीगण और भोज में सिख लोग, तुम्हें देख-समझ सकें। खैर, अब तो बात बीत गई। मैं यह सब सिर्फ इसलिए लिख रहा हूं कि तुममें मुझे बहुत ज्यादा दिलचस्पी है और मुझे इस बात की खुशी है कि तुम मेरी नुक्ताचीनी का बुरा नहीं मानते।

यहां मैं कल पहुंच गया। आज वर्षा हो रही है, पर एक घंटे में मैं जो कुछ भी देख सका हूं, उसके आधार पर कह सकता हूं कि स्वास्थ्य के लिए यह स्थान बहुत ही लोकप्रिय है। इस समय यहां हजारों यात्री हैं और होटलों तथा शहर में उनके लिए हर तरह से आराम की व्यवस्था की गई है। सभी खास-खास सड़कों के किनारे बरामदे बने हुए हैं, जो धूप और वर्षा से यात्रियों की रक्षा करते हैं।

मैं जिस होटल में ठहरा हुआ हूं वह अच्छा-खासा है। फिर भी मैं हमेशा की तरह यही चेष्टा कर रहा हूं कि साधारण आराम को ध्यान में रखते हुए जितना भी कम खर्च किया जा सके, करूं। मैंने अपने लिए एक पौंड तीन शिलिंग पर एक कमरा लिया है, जिसमें गुसलखाना नहीं है। गुसलखाने के साथ कमरे का किराया २२५ फ्रैंक यानी लगभग दो गिन्नी है, पर मेरे कमरे के सामने का दृश्य बड़ा सुन्दर है, और उसमें एक छोटा-सा कक्ष है, जिसमें दिन-रात गर्म और ठंडा पानी

मिल सकता है। पेरिस में मुझे नींद न आने की बहुत शिकायत थी। अब फिर लिखूंगा।

तुम्हारा हितैषी
लाजपत राय

विशी से उन्होंने अपने देश की राष्ट्रीय विशेषताओं पर एक बार फिर लिखा :

रविवार, १७ जुलाई, १९२७

प्रिय घनश्यामदास,

जब लोकसभा में भारत के ऊपर बहस हुई थी तो क्या तुम वहां मौजूद थे? यह तो ठीक है कि वहां बहुत-सी वाहियात बातें भी हुईं, पर मैं समझता हूं कि भारत सरकार के उपसचिव का अपने भाषण में यह कहना कि भारतीयों की भौतिक उन्नति में उनकी चित्तवृत्ति एक बहुत बड़ी बाधा है, बहुत कुछ सत्य है। परलोक पर जरूरत से ज्यादा जोर और जीवन से संघर्ष करने की मनोवृत्ति का अभाव इहलौकिक उन्नति के मार्ग में बहुत बड़ी रुकावटें हैं। मेरा तो दिन-पर-दिन यह विश्वास पक्का होता जा रहा है कि हमारा खास काम जनता की प्रवृत्ति को बदलना और उसे अधिक महत्त्वाकांक्षी और आक्रामक विचारों का बनाना है। उसके विचार आक्रामक न हों, न सही, उसमें अपने व्यक्तित्व को आगे आने की प्रवृत्ति तो अवश्य मौजूद रहनी चाहिए।

मेरा विचार यहां से २९ या ३० को चलने का है। यहां से मैं नाइस या मान्टे-कार्लो जाना चाहता हूं, और फिर ५ अगस्त को जहाज में बैठ जाने का इरादा है। पता नहीं, तुम जर्मनी जा रहे हो या नहीं, या तुम्हारे पास वहां जाने के लिए समय भी है या नहीं।

सोच रहा हूं, ज्यादा घूमना-फिरना बंद कर दूं और किसी एक जगह (लाहौर, दिल्ली या बनारस में) जमकर कुछ अधिक स्थायी साहित्यिक कार्य करूं।

तुम्हारा हितैषी
लाजपत राय

पत्र समाप्त करने के बाद उन्होंने 'पुनश्च' करके ये मर्मस्पर्शी शब्द लिखे :

पुनश्च :

पत्र का एक अंश काटने-कूटने से गंदा-सा हो गया है, क्षमा करना। कोई खास बात नहीं लिखी थी, कुछ शौकीनी की चीजों के लिए लिखने की मूर्खता की थी,

पर बाद को सोचने पर मैंने उसे काट देना ही उचित समझा।

लंदन के 'कलकत्ता यूरोपियन एसोसियेशन' के कार्यकलाप से उन्हें चिन्ता हो गई थी, जैसा कि नीचे के पत्र से स्पष्ट है :

२१-७-२७

प्रिय घनश्यामदास,

मुझे उम्मीद है कि लंदन में भारत से आये हुए अंग्रेजों की जो सभा हुई थी उसकी उस कार्रवाई को तुमने जरूर पढ़ा होगा, जो २० तारीख के 'टाइम्स' के पृष्ठ १८ पर छपी है। अब तुमने देख लिया होगा कि दोस्त कर्नल क्राफर्ड क्या कर रहे हैं। यह बहुत जरूरी है कि तुम पूरे मनोयोग के साथ प्रतिरोध आरम्भ कर दो, नहीं तो व्यापार और उद्योग-धंधों के क्षेत्र में भारतीय हित हमेशा के लिए पिछड़ जायंगे। मैं इस समय तुम्हारे जैसे विचारों वाले देशभक्तों का भारत से बाहर रहना ठीक नहीं समझता। एक-एक दिन महत्वपूर्ण है। अब राजनीति के क्षेत्र में उतरने के बाद तुम्हारे लिए राजनैतिक समस्याओं की उपेक्षा करना सम्भव नहीं है। यह तो ठीक है कि तुम्हारे उद्योग-धंधे सम्बन्धी हित बड़े महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि वही युद्ध की सज्जा-सामग्री जुटाते हैं। लेकिन मेरा अपना खयाल है कि अगले छः महीने आम तौर पर सारे भारतवर्ष के लिए और खास तौर पर भारतीय व्यापार और उद्योग के लिए बड़े ही महत्व के हैं। अंग्रेज कुछ भारतीयों को अपने जाल में फंसाकर एक मजबूत संस्था बनाने और एक जबरदस्त आन्दोलन का आरम्भ करने की चेष्टा कर रहे हैं। इस आन्दोलन का जवाब देना प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है और मैं समझता हूं कि तुम बहुत कुछ कर सकते हो। मेरा मतलब तुम्हारे धन से नहीं है, बल्कि भारतीय उद्योगपतियों में तुम्हारे प्रभाव से है। मैं जितना सोचता हूं उतना ही मेरा विश्वास दृढ़ होता जाता है कि तुम्हें असेम्बली में लौट जाना चाहिए और शिमला-अधिवेशन के समय जोर-शोर के साथ काम करना चाहिए। इसके अलावा और किसी तरह इतने प्रमुख व्यक्तियों को इकट्ठा करना मुश्किल है। मुझे अपने ध्रेवते के एक पत्र से पता चला है कि मालवीयजी ने तुम्हें भारत से बाहर रहने की अनुमति दे दी है। मैं समझ नहीं पाता कि इसका मतलब क्या है। जो कुछ भी हो, मेरा मन्तव्य इससे भिन्न है। घटनाओं का विकास बड़ी तेजी से हो रहा है और यह समय बाहर रहने का नहीं है। स्वयं मुझे इस बात का दुःख हो रहा है कि मैं भारत से चला आया।

तुम्हारा हितैषी
लाजपत राय

पुनश्च :

अभी-अभी मुझे ध्यान आया कि मैं तुम्हें अपने और तुम्हारे शिमला रहने के बारे में कुछ लिखूं। मैं समझता हूं कि हम दोनों का पास-पास रहना बहुत फायदेमन्द होगा। मेरे पास गत वर्ष जो कमरे थे उन्हीं के लिए मैंने इस बार भी लाला मोहनलाल को लिख दिया है। परन्तु उनका मकान बहुत दूर है और वहां से इधर-उधर आना-जाना बहुत मुश्किल होता है। मैं समझता हूं कि मिलने-जुलने के लिए तुम्हारा मकान केन्द्रीय स्थान सिद्ध होगा। अगर तुम शिमले लिखो तो तीन कमरे मेरे लिए भी सुरक्षित करा लेना—ऐसे कमरे, जिनमें एक या दो अलग गुसलखाने भी हों।

तुम्हारा हितैषी
लाजपत राय

इसके बाद उसी महीने उन्होंने लंदन से एक पत्र भेजा, जिसमें धर्म को आलोचना का विषय बनाया। उन्होंने लिखा कि यूरोपियन राष्ट्रों की महत्ता का कारण यह नहीं है कि वे ईसा का अनुकरण करते हैं, बल्कि यह है कि वे उसका अनुकरण नहीं करते ! भारत में साधु-संतों की भरमार है और गांधीवाद का त्यागमय जीवन एक भूल है।

बहुत ही भावुक होने के कारण लालाजी को उस जगह भी षड्यंत्र और शत्रुता दिखाई देने लगी थी, जहां शायद वह मौजूद नहीं थी। असेम्बली के प्रेसिडेंट विट्ठलभाई पटेल से उन्हें सख्त नफरत हो गई थी। उन्होंने वस्तुस्थिति का वर्णन जिस निराशकारी ढंग से किया, उसके कारण राजनीति से पीछा छुड़ाने की मेरी इच्छा और भी बलवती हो गई। इस प्रकार मुझे राजनेता बनाने की उनकी योजना असफल हुई। इस चिट्ठी की सबसे मार्के की बात यह है कि इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिन लालाजी ने साइमन कमीशन का बहिष्कार करने में अन्त में अपने प्राण गंवा दिये, वह शुरू-शुरू में बहिष्कार के पक्ष में नहीं थे और दूसरों के प्रति अपनी निष्ठा की खातिर ही उन्होंने बहिष्कार में भाग लिया था।

२ कोर्ट स्ट्रीट, लाहौर
२६-२-२७

प्रिय घनश्यामदास,

मेरे तार के उत्तर में तुम्हारा तार मिला। इस समय कलकत्ते की ओर जाने का मेरा कोई इरादा नहीं है; पर साथ ही मैं तुमसे जल्दी-से-जल्दी मिलना चाहता हूं। इसके दो कारण हैं : एक तो यह कि मैं तुमसे रिजर्व बैंक के बारे में

बातें करना चाहता हूं, और दूसरी यह कि अपनी पार्टी के भविष्य के सम्बन्ध में भी तुम्हारे साथ विचार-विनिमय करना है। इन दोनों ही मामलों में पूज्य मालवीयजी से मेरा मतभेद रहा है। पिछले अधिवेशन में हम एक प्रकार से एक-दूसरे के खिलाफ रास्तों पर चलते रहे। पटेल नारद मुनि का काम कर रहे हैं। उन्होंने स्वयं बताया है कि जब वह अधिवेशन से लौटे तब वायसराय उनसे इस बात पर नाराज हुए कि उन्होंने वायसराय से सलाह लिये बिना ही अंग्रेज-राजनेताओं के सामने क्रान्तिकारी योजनाएं क्यों रख दीं।

पटेल चाहते थे कि हम यह घोषणा कर दें कि यदि रायल कमीशन में भारतीयों का बहुमत नहीं हुआ तो हम उसका बहिष्कार कर देंगे। मैंने ऐसा करने से साफ इन्कार कर दिया। इसके बाद उन्होंने मालवीयजी को फांसना चाहा और उनके और मेरे बीच एक खाई खोदने की हद से ज्यादा कोशिश की, यहां तक कि एक दिन मैंने पार्टी के सामने अपना त्यागपत्र रख दिया और मेरे उसे वापस ले लेने के बाद भी मालवीयजी ने उसे मेरे पास लिखित रूप में भेजा। मुझे खूब मालूम है कि यह सलाह पटेल और श्रीनिवास आयंगर ने मालवीयजी को पटेल के घर पर दी थी। दुर्भाग्यवश इस अधिवेशन के दौरान में मालवीयजी पटेल से बहुत ज्यादा मिलते रहे और पटेल के दांव-पेंच को भांप न पाये। तब पटेल ने जयकर को बुलाया और सुझाया कि हम अपनी पार्टी भंग करके कांग्रेस-पार्टी में मिल जायं और इस पार्टी के नेता मोतीलाल, डिप्टी नेता मैं और आयंगर, और मंत्री जयकर हों। उन्होंने जयकर से यह बेकार ही कहा कि इंग्लैंड में मोतीलाल के हाथ मजबूत करने के लिए ऐसा करना आवश्यक है। जयकर ने उनके सामने साफ-साफ मेरा नाम लिया और कहा कि पार्टी के नेता होने के नाते बातचीत मुझसे ही की जानी चाहिए। तब पटेल ने मुझे बुलाया और कहा कि वह इसी सप्ताह में दोनों दलों को एक देखना चाहते हैं। मैंने कहा कि इस सप्ताह तो मुझे अपनी पार्टी के लोगों से सलाह करने का समय नहीं है हां, अगले सप्ताह में ऐसा अवश्य कर लूंगा। इस पर वह बोले कि हमारे शिमला छोड़ने से पहले ही यह काम पूरा हो जाना चाहिए। तब मैंने पार्टी की एक बैठक बुलाई, जिसमें सर्वसम्मति से यह तय हुआ कि जबतक मोतीलाल का दृष्टिकोण मालूम न हो जाय, जबतक इस बात की गारंटी न मिले कि ऐसा कोई काम नहीं किया जायेगा, जिससे हमें फिर से कांग्रेस-पार्टी से अलग होने को बाध्य होना पड़े तबतक पटेल की सलाह न मानी जाय।

इस समय तो खुद कांग्रेस-पाटी ही दलबंदी का शिकार है। जयकर ने तो मुझे बताया कि कांग्रेस-पार्टी के बहुत-से सदस्य हमारी पार्टी में आने को तैयार हैं। साफ जाहिर है कि मालवीयजी ने पटेल को कोई-न-कोई वचन दिया था। इस प्रकार पटेल हमारी पार्टी का अंत करने की चेष्टा कर रहे हैं। पिछले

अधिवेशन में उन्होंने जयकर का विरोध किया और मेरी पीठ थपथपाई। इस अधिवेशन में वह जयकर की पीठ थपथपा रहे हैं, जिससे मुझे नीचा देखना पड़े और हमारी पार्टी में फूट पड़ जाय।

कांग्रेस-पार्टी भी पटेल से बहुत तंग आ गई है। जयकर पूरे तौर पर हमारे साथ हैं और पटेल की चाल को समझ गये हैं; पर मालवीयजी नहीं समझ पाये हैं। इसके लिए मैं अपने को ही दोषी समझता हूं, क्योंकि मैं मालवीयजी से इतनी दूर रहता हूं और इस प्रकार उन्हें पटेल के जाल में फंसने का अवसर देता रहा हूं। मैं इसी विषय पर तुमसे विस्तार के साथ बातें करना चाहता हूं, क्योंकि भविष्य में इसी पर हमारा सारा राजनैतिक कार्यकलाप निर्भर है।

रिजर्व बैंक के मामले में भी पटेल की चाल यह रही है कि उसकी असफलता की सारी जिम्मेदारी मालवीयजी पर आ पड़े। मालवीयजी उनकी इन कुटिल चालों को नहीं समझ पाये हैं। पटेल एक ओर तो कांग्रेस-पार्टी और उसके नेता से सरकार के साथ समझौता करने को कहते रहे हैं, और दूसरी ओर वह सरकार का डटकर विरोध करने के लिए मालवीयजी को उकसाते आ रहे हैं। उनकी सारी चाल यह रही है कि वह (यानी मा०) सरकार और कांग्रेस-पार्टी दोनों ही के बुरे न बन जायं।

इन कारणों से मैं चाहता हूं कि तुम एक-दो दिन के लिए लाहौर चले आओ और अपने यूरोप के अनुभवों पर लाहौर तथा अमृतसर में जनता के सामने भाषण दो। तुम्हारे लिए यह बहुत जरूरी है कि सारे देश में तुम्हारा नाम हो। राजनीति में हिन्दुओं के भावी नेतृत्व के लिए मेरी आंखें तुम पर और जयकर पर लगी हुई हैं और मैं चाहता हूं कि तुम सभी प्रांतों में कुछ सार्वजनिक सभाओं में बोलो। बनारस जाते हुए क्या तुम एक दिन के लिए लाहौर नहीं आ सकते? यदि तुम्हारी खातिर दलित जातियों का कोई अधिवेशन कराया जाय तो क्या तुम उनकी अध्यक्षता करने यहां नहीं आ सकोगे? एक बार तुम कलकत्ता पहुंच गये तो फिर कुछ दिनों तक तुम्हारा वहां से निकलना मुश्किल हो जायगा।

हिन्दू स्वयंसेवक-आन्दोलन के बारे में हमने जो योजना पेरिस में ड्यूविले जाते समय बनाई थी, मैं उसे भी हाथ में लेना चाहता हूं।

इन सब बातों पर सलाह-मशवरा करना जरूरी है। अगर तुम्हारा लाहौर आना सम्भव न हो तो मैं तुमसे दिल्ली में ही मिल लूंगा। जैसा भी हो, तुम्हारे कलकत्ता जाने से पहले ही हमारा मिलना जरूरी है। मेरे लिए बनारस या कलकत्ते तक आना सम्भव नहीं होगा। अक्तूबर और नवम्बर में लाहौर में ही जमकर बैठना और मिस मेयो की पुस्तक का जवाब लिखना चाहता हूं। मुझे विश्वास है कि इन उलझनों में तुम मेरा हाथ बंटाओगे।

तुम जयकर से मिलकर उनसे भी इन मामलों पर सलाह-मशवरा कर सकते

हो। इधर मैं एक बंगला अपने लिए और दूसरा मालवीयजी के लिए सुरक्षित करा रहा हूं, जिससे हम दोनों एक-दूसरे के पास रह सकें और मिलने और बातचीत करने में आसानी हो। तुम्हारी क्या योजनाएं हैं, सो विस्तार के साथ लिखना।

तुम्हारी उस नये बैंकवाली योजना का क्या रहा? मैं समझता हूं कि उसे ठोस रूप देने का यही ठीक समय है। सस्नेह,

तुम्हारा ही
लाजपत राय

किन्तु मैं भारत-व्यापी नेतृत्व की सम्भावित स्थिति से उत्तरोत्तर दूर खिसकता जा रहा था। मेरे ३० सितम्बर के पत्र से, जिसमें मैंने इन सब झगड़ों को शांत करने की चेष्टा की थी, लालाजी की नजरों में मेरी प्रतिष्ठा बढ़ी नहीं होगी।

मैंने लिखा :

"रविवार को मैं बनारस जा रहा हूं। पार्टी के बारे में कोई चिन्ता मत करिये। मेरा खयाल है कि जब हमारे दल के सदस्य शिमले के शीतोष्ण वातावरण से मैदान में लौटेंगे तो अपने को अपेक्षाकृत अधिक शीतल वातावरण में पायेंगे। मुझे यकीन है कि दिल्ली में फिर से एकत्र होने से पहले ही हमारी स्थिति बहुत कुछ सुधर जायगी। हमारे दल की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इसमें एक-से-एक बढ़कर विवेकशील व्यक्ति हैं। इसलिए मुझे तो किसी अड़चन की आशंका नहीं है।

शिमला में जो एकता-सम्मेलन हुआ था, उसकी कार्रवाई मैंने पढ़ी। मेरी अपनी राय तो यह है कि हमारे कट्टर हिन्दू भाई मानें या न मानें, हमें धार्मिक स्वतन्त्रता स्वीकार करनी ही होगी, अर्थात् एक ओर गोवध की और दूसरी ओर मसजिदों के सामने बाजा बजाने या सूअर मारने की स्वतंत्रता। यदि हमें गौओं की रक्षा करनी है तो हमें दूसरे धर्मवालों की सद्भावना पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। मुझे विश्वास है कि मुसलमानों को अनावश्यक रूप से अपना शत्रु बनाकर हम गोवध में कमी नहीं कर सकेंगे। वैसे यदि हमारा भला होता है तो मैं मुसलमानों से मोर्चा लेने में भी आनाकानी नहीं करूंगा।

सम्भव है, खिलाफत कमेटी के सेक्रेटरी ने आपके कथनानुसार भ्रामक वक्तव्य दिया हो; पर मेरी अपनी धारणा तो यह है कि हमारे लिए एक ओर मुसलमानों को उनके धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन करने की आजादी न देना और दूसरी ओर मसजिदों के सामने बाजा बजाने की स्वतंत्रता की मांग करना बिलकुल नासमझी का आचरण करना है। बनारस पहुंचकर मैं मालवीयजी से विचार-विनिमय करूंगा। उम्मीद है कि नवम्बर या दिसम्बर में दिल्ली आकर

आपसे भी मिलूं।

यदि आपने बालचरों की दीक्षा की कोई सविस्तर योजना बनाई हो तो लिखने की कृपा करिये और आपके पास योजना की कोई प्रति हो तो मेरे पास भेज दीजिए।"

इसके उत्तर में लाला लाजपत राय ने मुझे लिखा कि गोवध के बारे में सिद्धांत रूप में तो वह मुझसे सहमत हैं, पर जबतक जोर-शोर के साथ प्रचार न किया जाय तबतक पारस्परिक सहिष्णुता की यह भावना व्यावहारिक राजनीति की बात नहीं मानी जा सकती; क्योंकि हिन्दू लोग ऐसी बातों की ओर कान नहीं देंगे। इस बीच हमें दिल्ली एकता-सम्मेलन के प्रस्ताव को ही अपने सामने रखना चाहिए।

लालाजी ने अपनी पुस्तकों—'यंग इंडिया' और 'इंग्लैंड्स डेट टू इंडिया' को पुन: प्रकाशित करने में सहायता मांगी। ये दोनों पुस्तकें अमरीका में प्रकाशित हुई थीं, पर भारत में उन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था और लालाजी मिस मेयो की 'मदर इंडिया' का उत्तर लिख रहे थे। इधर यह प्रतिबन्ध उठा लिया गया था।

लाला लाजपत राय भावुक आदमी थे और उन पर रह-रहकर घोर निराशा के दौरे पड़ा करते थे। उनका अगला पत्र, जो उन्होंने २७ अक्तूबर को लाहौर से भेजा, मालवीयजी की आलोचना से भरा हुआ था: "मुझे इस बात का अफसोस है कि इस पार्टी को बनाने में मैंने मालवीयजी का साथ दिया।" "सारे अधिवेशन में पटेल का व्यवहार बड़ा ही कपटपूर्ण रहा। उन्होंने श्रीनिवास आयंगर को तो एक तरह की सलाह दी और मालवीयजी को दूसरी तरह की।' अब वह यही चाहते थे कि मालवीयजी "अपना सारा समय विश्वविद्यालय के कामों में लगायें, जिसकी दशा बड़ी दयनीय हो रही है।" उन्होंने मुझसे दिल्ली आने का अनुरोध किया और लिखा: "बात यह है कि आजकल मेरा चित्त बड़ा ही उद्विग्न हो रहा है और मैं कोई ऐसा आदमी चाहता हूं, जिसके सामने मैं अपने दिल को खोलकर रख सकूं।"

लालाजी के धार्मिक संशयवाद ने उन्हें निराशा के दलदल में ला पटका था। १२ जुलाई, १९२८ को उन्होंने पूना से एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने (स्वयं अपने शब्दों में) "निराशा का लावा" उंडेल दिया। यह पत्र टाइप किये हुए पूरे पांच पृष्ठों में है। हृदय को टूकटूक कर देने वाला ऐसा पत्र मैंने शायद ही कभी पढ़ा हो। कुछ वाक्यों में ही पत्र के दुखद विषय की कुंजी मिल जायगी:

"मुझे अब किसी में आस्था नहीं है: न अपने में, न भगवान में, न इन्सानियत में, न जीवन में, न संसार में। सबकुछ मुझे क्षणभंगुर और मनुष्य के मिथ्या गर्व का परिणाम प्रतीत होने लगा है। मैंने सारे जीवन इस प्रकार की धारणा का

सामना किया। सैकड़ों रंगमंचों से मैंने गरज-गरज कर कहा कि जो धारणा यह कहती है कि यह संसार असत्य, अनित्य और भ्रान्ति-मात्र है वह स्वयं असत्य है। पर आज यह कहावत कि जीवन ही सत्य है और जीवन में ही उत्साह है, मुझे अचेत मिथ्या गर्व का चीत्कार-मात्र मालूम देने लगा है। जीवन में ऐसी क्या चीज है, जिसे हम सत्य मानें या जिसे हम लगन के साथ अपनाना चाहें ? मैं उस ईश्वर में कैसे विश्वास करूं, जो न्यायपूर्ण, परोपकारी, सर्वशक्तिमान और सर्वत्र विद्यमान कहलाकर भी इस मूढ़ संसार पर राज्य करता है ?"

अब लालाजी को मित्रता, यहां तक कि कुटुम्बियों के स्नेह से भी कोई लगाव नहीं रह गया था। अब न वह उनकी चिन्ता करते थे, न वे उनकी।

"संक्षेप में बात यह है कि ईश्वर या धर्म, किसी में मेरी आस्था नहीं रही है। मैं जानता हूं कि जरूरत से ज्यादा बाल की खाल निकालना बुरा होता है। यह मार्ग आनन्द की ओर नहीं ले जाता है। फिर भी अक्सर मुझमें तल-स्पर्शी आलोचना करने की प्रवृत्ति जाग उठती है। मेरे आदर्श की कसौटी पर कोई भी पूरा नहीं उतरता है। मैं गांधीजी की सराहना करता हूं, मैं मालवीयजी को भी सराहता हूं, पर अक्सर मैं खुद ही उनकी कड़ुई आलोचना करने लग जाता हूं। सार्वजनिक जीवन, सार्वजनिक कार्यकलाप, सार्वजनिक भोज-सहभोज, इन सबमें मुझे अब कोई आकर्षण नहीं दिखाई देता। वे मुझे अपनी ओर नहीं खींच पाते। उनसे मुझे कोई आनन्द नहीं मिलता। फिर भी मैं देखता हूं कि मैं उनके बिना रह भी नहीं सकता। ओह, मैं क्या करूं ? मैं बड़ा ही संतप्त हूं, अपने को बिलकुल अकेला पाता हूं और बहुत ही दुःखी हूं; फिर भी मैं अपने संताप, अपने एकाकीपन, अपने दुःख से चिपटा हुआ हूं। मैं अपनी मानसिक अवस्था से निस्तार पाना चाहता हूं, पर नहीं जानता कि कैसे।"

लाला लाजपत राय की संतप्त आत्मा को यदि कहीं चैन मिलता था तो केवल काम में। नवम्बर में उन्होंने मुझे लाहौर से लिखा: "अब मैं बिलकुल स्वस्थ हूं और उम्मीद करता हूं कि अगले दिसम्बर में मैं तुमसे मिलने कलकत्ते आ सकूंगा। मैं चाहता हूं कि उस समय मैं समुद्र के रास्ते या मोटर से सैर करूं।"

इसके कुछ दिन बाद ही वह शहीद हो गये। उनका योग राष्ट्र के स्वतंत्रता-संग्राम में जितना महान् था उतना ही सामाजिक सुधारों में भी था। पर गांधीवाद के आगमन पर उन्होंने शायद अपने को परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल बनाने में कठिनाई का बोध किया। जो हो, अपने तमाम दोषों के बावजूद वह निस्संदेह एक महान् व्यक्ति थे और स्वतंत्रता के आन्दोलन में उन्होंने जो योगदान किया था, उसका मूल्य कभी ठीक-ठीक नहीं आंका जा सकेगा।

३. मेरी लंदन-यात्रा

सोमवार १६ मार्च, १९२७ के अपने पत्र में गांधीजी ने मेरे लिए जो कार्यक्रम निश्चित किया वह इस प्रकार था :

भाई घनश्यामदासजी,

यूरोप में आरोग्य रहने के लिए इतने नियमों का पालन आवश्यक समझता हूं :

(१) अपरिचित खोराक न लेना।

(२) वे लोग छ सात बार खाते हैं। हम तीन बार से ज्यादा न खायं। वीच में चाकोलेट इत्यादि खाने की बुरी टेव न रखें।

(३) रात्रि को एक वजे तक भी खा लेते हैं। हम रात्रि को आठ बजे के वाद न खायं। किसी जगह जाने पर चाह इत्यादि लेने के लिए हम मजबूर होते हैं, ऐसा माना जाता है। ऐसा कुछ नहीं है।

(४) नित्य कम-से-कम ६ मील पैदल घूमने का अभ्यास रखना आवश्यक है। प्रातःकाल में और रात्रि को, दोनों समय घूमना चाहिए।

(५) हद के वाहर कपड़े पहनने की आवश्यकता न मानी जाय। रहस्य यही है कि शरीर को ठंडी न लगे। घूमने से ठंडी चली जाती है।

(६) इंग्रेजी कपड़े पहनने की कोई आवश्यकता नहीं है।

(७) यूरोप के गरीव लोगों का परिचय करने की कोशिश की जाय। इस परिचय के लिए वहुत काम पैदल करना आवश्यक है। जव समय है तव पैदल ही जाना अच्छा है।

(८) यूरोप में गये तो कुछ न कुछ करना ही है, ऐसा कभी न सोचा जाय। स्वच्छ प्रयत्न से और निश्चिन्तता से जो वन पड़े, वह किया जाय।

(९) मेरे ख्याल से आपके जाने का एक परिणाम अवश्य आ सकता है। शरीर वज्रसम बनाया जाय, यह बात वन सकती है।

(१०) ईश्वर आपको मानसिक व्यभिचार से बचा ले। बहुत कम हिन्दी इस दोष से वचते हैं। वहां का रहन-सहन यद्यपि उन लोगों के लिए स्वाभाविक है, हमारे लिए मद्यपान-सा वन जाता है।

(११) गीताजी और रामायण का अभ्यास हो तो हर्गिज न छोड़ा जाय। यदि नहीं है तो अव रखा जाय।

आपने इतनी सूक्ष्म सूचना की तो आशा नहीं रखी होगी। मैंने दी है, क्योंकि आप सब भाइयों की सज्जनता पर मेरा विश्वास है। आप जैसे जो थोड़े धनिकों

में धन के साथ नम्रता और सज्जनता है, उनकी नम्रता और सज्जनता में मैं बहुत वृद्धि चाहता हूं और उस वस्तु का देश कार्य के लिए उपयोग चाहता हूं। "शठं प्रति शाठ्यं" के सिद्धांत को मैं मानता नहीं हूं। इसलिए जिस जगह शुद्धता, सत्य, अहिंसा इत्यादि का थोड़ा-सा भी दर्शन करता हूं तो सूम जैसे धन का संग्रह करता है, ठीक उसी तरह मैं ऐसे गुणों का संग्रह करने की चेष्टा कर आनन्दित होता हूं।

और पूछना है तो पूछोगे। २३/२४ बम्बई, २५/२६ कोल्हापुर, २७/४ अप्रैल बेलगाम, ५/१२ मद्रास।

आपका
मोहनदास

इस समय मैं इस बात के लिए बड़ा उत्सुक था कि गांधीजी यूरोप जायं और लोगों से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करें। अपने पत्र की तो कोई नकल मेरे पास नहीं हैं, पर उन्होंने जो उत्तर दिया वह इस प्रकार था :

२७ मार्च, १९२७

भाई घनश्यामदासजी,

आपका पत्र मिला है।

योरोप जाने के बारे में मैं अबतक कुछ निश्चय नहीं कर सका हूं। जाने का दिल नहीं है। रोमें रोलां को मिलने की इच्छा है सही, परन्तु इस बारे में मैं उनके पत्र की प्रतीक्षा करता हूं। एक पत्र आया है, उससे जाने का निश्चय नहीं होता है। यदि जाने का हुआ भी तो मई में होगा और अक्तूबर में वापिस आ जाऊंगा। थोड़े दिन भी यदि मैं आपके साथ मसूरी में रह सकता हूं तो प्रयत्न करूंगा। एप्रिल १३ तारीख तक तो यहीं रहना चाहता हूं। विदेशी कपड़ों के बहिष्कार के बारे में मैंने जो कुछ लिखा है उसपर मुझे आपका अभिप्राय भेजें।

आपका
मोहनदास

नंदी दुर्ग, २६-५-२७

भाई घनश्यामदासजी,

दो दिन से जमनालालजी यहां आ गये हैं। उन्होंने आपका संदेशा दिया है। जो कुछ मैंने आपको लिखा है उससे ज्यादा लिखने का कोई खयाल नहीं आता। बादशाह की मुलाकात के बारे में मेरा अभिप्राय यह है कि उस मुलाकात की आप कोशिश न करें। यदि हिन्दी प्रधान या तो मुख्य प्रधान मुलाकात कराने के

लिए चाहें तो उस बात का इन्कार भी न करें। जहां तक मुझे ज्ञान है, मेरा ऐसा मंतव्य है कि बादशाह के पास कुछ राज्य-प्रकरण की बातें नहीं की जा सकती हैं। केवल क्षेम-कुशल की ही बात होती है। प्रधानों को अवश्य मिलें और उनके साथ जो कुछ भी दिल चाहे वह बात कर सकते हैं। वहां की जेलों का सूक्ष्म निरीक्षण करें और लंडन के गरीब प्रदेश में किसी जानकार मनुष्य के साथ खूब भ्रमण करें और गरीबों की स्थिति का अवलोकन करें। शनीचर की रात्रि को एक या दो बार गरीब और धनिक प्रदेश के शराबखानों के नजदीक खड़े रहकर वहां की भी चेष्टा देखें।

मेरा स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन अच्छा होता जाता है।

पू० मालवीयजी को मैंने बहुत दिनों के पहले खत लिखा। उसके उत्तर की आशा नहीं रखता हूं, क्योंकि पत्रों का उत्तर देना उनका स्वभाव नहीं है। तारों का उत्तर तार से अवश्य देते हैं।

मैं तो दुबारा भी लिखने वाला हूं।

आपका स्वास्थ्य अच्छा होगा।

आपका

मोहनदास

कुछ दिनों बाद उन्होंने फिर हिन्दी में पत्र लिखा और उसमें अपने और मालवीयजी के स्वास्थ्य की चर्चा करने के साथ-ही-साथ जीवन और मरण पर बड़े ही रोचक ढंग से एक दार्शनिक निबन्ध ही लिख डाला। पत्र नीचे दे रहा हूं :

नंदी दुर्ग

ता० ३१-५-१९२७

भाई घनश्यामदासजी,

आपका पत्र मिला। यह खत लिखाते हुए महादेव मुझसे याद दिलाते हैं कि आपने जमनालालजी से सूचना दी थी कि मैं आपको अंग्रेजी में खत लिखूं। परन्तु ऐसी कोई बात मैं लिखना ही नहीं चाहता हूं जो किसी को बताने की आवश्यकता रहे। इसलिये इस पत्र को मैं हिन्दी में ही लिखवाता हूं।

आपका खत स्टीमर पर से लिखा हुआ मिला है। मैंने दो खत इसके पहले भी लिखे हैं जिनिवा के पते से। वह मिल गये होंगे। मेरा स्वास्थ्य सुधरता जाता है। पू० मालवीयजी से मैं खत लिखता जा रहा हूं। मैंने लिखा था वैसे ही उनका इस हफ्ते में लम्बा तार आ गया। उसमें बताते हैं कि स्वास्थ्य है तो अच्छा लेकिन अशक्ति है। आजकल बम्बई में हैं। मेरा तो यह खयाल है कि मेरे लिए यह कहना कि मैं स्वास्थ्य की दरकार नहीं करता हूं, वह ठीक नहीं है। जितना मैं

आवश्यक समझता हूं उतना प्रयत्न स्वास्थ्य रक्षा के लिए ठीक-ठीक कर लेता हूं। पू० मालवीयजी ऐसा नहीं करते हैं। ऐसा मैंने बहुत दफे लिखा है और उन्होंने आराम लेने की प्रतीज्ञा करने के बाद भी आराम न लिया। वे वैद्यों के उपचार पर बहुत विश्वास करते हैं और मान लेते हैं कि उनकी गोलियां और भस्मादि की पुड़िया लेकर अच्छे रहते हैं, रह सकते हैं, और उनका आत्मविश्वास इतना जबर-दस्त है कि दुर्बल होते हुए भी, बीमार होते हुए भी, कम-से-कम ७५ वर्ष जीने का निश्चय कर लिया है। ईश्वर उस निश्चय को सफल करें। उनको ज्यादा कौन कह सकता है ? मैंने तो विनय के साथ जितनी सख्ती हो सकती है उतनी सख्ती, विनोद करके लिखी है। वस्तु यह है कि प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि कर्मानुसारिणी रहती है। ऐसी बातों में पुरुषार्थ के लिए बहुत ही कम जगह है। प्रयत्न करना कर्त्तव्य है ही और करना चाहिए, परन्तु प्रत्येक मनुष्य के लिए एक समय तो आता ही है जब सब प्रयत्न व्यर्थ बनता है और सद्भाग्य से और पुरुषार्थ की रक्षा के कारण ईश्वर ने इस आखिरी समय का पता किसी को नहीं दिया है। तब इस अनिवार्य होनारत के लिए हम क्यों चिन्ता करें ? राष्ट्र का कारोबार न मालवीयजी पर निर्भर, न लालाजी पर, न मुझ पर। सब निमित्त-मात्र रहते हैं और मेरा तो यह भी विश्वास है कि सत्पुरुष के कार्य का सच्चा आरम्भ उसके देहान्त के बाद ही होता है। शेक्सपीयर का यह कथन कि मनुष्य का भला कार्य प्रायः उसी के साथ जल जाता है और बुरा कार्य उसके पश्चात् रह जाता है, ठीक नहीं है। बुराई की कभी इतनी आयु नहीं रहती है। राम जिन्दा है और उसके नाम से हम पवित्र होते हैं। रावण चला गया और अपनी बुराइयों को अपने साथ ले चला। कोई दुष्ट मनुष्य भी रावण नाम का स्मरण नहीं करते हैं। राम के युग में न जाने राम कैसा था। कवि ने इतना तो बता दिया है कि अपने युग में राम पर भी आक्षेप रहा करते थे। परन्तु आज राम की सब अपूर्णता राम के शरीर के साथ भस्म हो गई और उसको अवतारी समझकर हम पूजते हैं और राम का राज्य आज जितना व्यापक है उतना हरगिज राम के शरीरस्थ रहते हुए नहीं था। यह बात मैं बड़ी तत्वज्ञान की नहीं लिख रहा हूं, न हमारे लिए शांति रखने के कारण। परन्तु मैं दृढ़ता से यह कहना ही चाहता हूं कि जिसको हम संतपुरुष मानते हैं उनके देहांत का कुछ भी दुःख नहीं मानना चाहिए। और इतना दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि संतपुरुष के कार्य का सच्चा आरम्भ या कहो सच्चा फल उसके देहान्त के बाद ही होता है। अपने युग में जो उसके बड़े-बड़े कार्य माने जाते हैं वह भविष्य में होने के परिणाम के साथ केवल यत्किन्चित हैं। हां, हमारा इतना कर्त्तव्य है सही कि हम हमारे ही युग में जिनको हम सत्पुरुष मानें उनकी सब साधुता का यथाशक्ति अनुकरण करें।

आपके स्वास्थ्य के लिए मेरी यह सूचना है कि यदि आपका विश्वास ऐलो-

पेथिक पर नहीं—और न होना चाहिए—तो आप जर्मनी में लूई कूने और जुस्ट की संस्था है उसे देखें। वहां खुली हवा और पानी के उपचार होते हैं और उसमें सैकड़ों लोगों ने लाभ उठाया है। लंडन और मैन्चेस्टर दोनों जगह पर वेजिटेरियन सोसाइटी है उसका भी परिचय करें। उस समाज में हमेशा थोड़े अच्छे, गम्भीर, विनयी और मध्यवर्ती मनुष्य रहते हैं। मूर्ख लोग भी और मदान्ध तो देखने में आयेंगे ही।

आपका
मोहनदास

अगला पत्र एक सप्ताह बाद लिखा गया, जो अंग्रेजी में था :

कुमार पार्क
बंगलौर, ६ जून, १९२७

भाई घनश्यामदासजी,

आपके बम्बई से रवाना होने के बाद से मैं आपको यह चौथा पत्र लिख रहा हूं। जमनालालजी ने मेरे पास आपका विलायत से भेजा हुआ तार भेजा है, इसी-लिए यह अंग्रेजी का पत्र जाता है। मैं खुद पत्र लिखने की कोशिश नहीं करूंगा, क्योंकि मुझे अपनी शक्ति बनाये रखनी है, इसलिए मैं अधिकांश पत्र-व्यवहार अंग्रेजी, हिन्दी या गुजराती में बोलकर लिखाता हूं।

मालवीयजी आज मेरे पास ही हैं। वह स्वास्थ्य सुधारने के लिए ऊटी जा रहे हैं। आज सुबह ही आये थे और संध्या को चले जाते, पर मेरे यह कहने पर कि परसों मैसूर के महाराज का जन्मदिन है, इसलिए उन्हें ऊटी के लिए रवाना होने से पहले मैसूर जाकर उन्हें आशीर्वाद देना चाहिए, उन्होंने दीवान को तार भेजा है। उन्होंने अपनी यात्रा स्थगित कर दी है और शायद कल को मैसूर के लिए रवाना होंगे। मैं उनके साथ बराबर पत्र-व्यवहार करता आ रहा हूं और वह तार द्वारा उत्तर देते आ रहे हैं। काफी दुबले हो गये हैं, पर सारे मामलों में उनकी आशावादिता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। उन्हें किसी प्रकार की शारीरिक व्याधि नहीं है। यह सारी दुर्बलता तो लगातार परिश्रम करने के कारण है। महीना-भर आराम लेने का वचन देते हैं। साथ में डाक्टर मंगलसिंह हैं और एक रसोइया तो है ही। गोविन्द बम्बई तक तो उनके साथ ही था, पर उसे इलाहाबाद जाना पड़ा, क्योंकि उस कौए वाले मामले में नयी तारीख नहीं मिल सकी।

याद नहीं आता कि मैंने आपसे मिस म्यूरियल लेस्टर से मिलने को कहा था या नहीं। वह लंदन की बस्तियों में काम कर रही हैं। पिछले साल किसी समय यहां भारत में आई थीं और आश्रम में कोई एक माह ठहरी थीं। बड़ी ही उत्साही

और योग्य कार्यकर्त्री हैं। पूर्ण मद्यपान-निषेध के लिए काम कर रही हैं और इसके लिए वहां जनमत जागृत कर रही हैं। उनका पता है :

मिस म्यूरियल लेस्टर, किंग्सले हाल, पोविस रोड, बो, ई, ३

आशा है आपका स्वास्थ्य सुधरा होगा, लालाजी का भी। मैं पिछले रविवार को ही नंदी से नीचे उतरा था। मेरे स्वास्थ्य में काफी सुधार हुआ है। डाक्टरों का कहना है कि मैं अगले महीने तक थोड़ा-बहुत सफर करने लायक हो जाऊंगा।

आपका
मोहनदास

मैं कुछ समय बाद भारत लौट आया। हमारे पत्र-व्यवहार में अनेक तत्कालीन समस्याओं की चर्चा जारी रही है। पर बापू के पत्रों में अक्सर आत्मीयता से भरी वे बातें रहती थीं, जिनके कारण वह सबके इतने प्रिय हो गये थे।

१-१०-२७

भाई घनश्यामदासजी,

आपका खत मिला है।

जमनालालजी के खत से पता चलता है कि आप योरप से स्वास्थ्य बिगाड़ के आये हैं। अब कहीं आराम पाकर स्वास्थ्य दुरस्त करना आवश्यक समझता हूं। भोजन की पसन्दगी करने में मैं कुछ सहाय अवश्य दे सकता हूं, परन्तु उसके लिए तो कुछ दिनों तक मेरे साथ रहना चाहिए।

आपने अपनी राय इस विषय में भेजी है वह ठीक किया।

असहयोग के कारण दो दल हो गये हैं, ऐसा कुछ नहीं है। दो दल तो थे ही। जो कुछ हुआ है वह प्राकारान्तर ही है। मेरा विश्वास कायम है कि असहयोग के सिवा हमारी शक्ति बढ़ ही नहीं सकती है। लोग उसका चमत्कार समझ गये हैं, परन्तु उसको कुछ करने की शक्ति अबतक नहीं आई है। हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा उसमें और बाधा डाल रहा है। कौंसिलों की सहाय की चेष्टा मैं नहीं कर सकता हूं। परन्तु मेम्बर चाहें तो खादी और मद्यपान के विषय में मदद दे सकते हैं। परन्तु मेम्बर लोग स्वार्थ, अज्ञान और आलस्य के लिए कुछ कर नहीं सकते हैं। खादी इ० का काम मन्द और तेज चल रहा है। मन्द इस कारण कि हम परिणाम नहीं देख पाते। तेज इस कारण कि जितना हो रहा है, वह स्वच्छ होने से उसका शुभ परिणाम अवश्य होनेवाला है।

धन की भूख तो मुझे हमेशा रहती है। खादी, अछूत और शिक्षा का कार्य करने में ही मुझे कम-से-कम दो लाख रुपये आवश्यक रहते हैं। दुग्धालय का जो प्रयोग चल रहा है, उसको आज रु० ५०,०००) दरकार है। आश्रम का खर्च तो

है ही। कोई काम रुक नहीं जाता, परन्तु ईश्वर रोवा-रोवा कर धन देता है। मुझे उससे संतोष है। जिस काम में आपका विश्वास है और जितना उसके लिए दे सकें, दें।

मेरा भ्रमण इस वर्ष के अन्त तक तो चलता ही रहेगा। जनवरी मास में आश्रम पहुंचने की आशा करता हूं।

हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न के बारे में पू० मालवीयजी को एक पत्र लिखा है। इस बारे में कुछ-न-कुछ कार्य योग्य रास्ते से बनाना चाहिए। आज जो चल रहा है उसमें मैं धर्म नहीं देखता हूं।

आपका
मोहनदास

बिड़ला हाउस
काशी
११ अक्टूबर, १९२७

परम पूज्य महात्माजी के चरणों में प्रणाम।

मैं यहां पर २० रोज तक केवल विश्राम ही लेता रहूंगा। यहां पर मेरे विश्वस्त वैद्य त्र्यंवक शास्त्रीजी हैं, उनकी औषधि मैं खा रहा हूं। मैं जिस तरह वैद्यों की शरण में जाकर प्रायः स्वस्थ बन जाता हूं उसी तरह मुझे अबतक प्राकृतिक इलाज करनेवाला कोई वैद्य नहीं मिला है, जिसे मैं अपना शरीर सौंपकर निश्चिन्त हो जाऊं।

पूज्य मालवीयजी यहां नहीं हैं। मैं ५०, ०००) और १,००,०००) के बीच में सम्भवतः आगामी साल के लिए दे सकूंगा।

धन के अभाव में कहीं काम रुकता हो तो आप बिना संकोच के मुझे लिख दिया करें। वैसे भी कुछ-कुछ भेजता रहूंगा। मैं आपको अधिक धन भी दे सकता हूं, किन्तु मैं भी अपनी कुछ व्यापारी स्कीमों के पीछे लगा हूं और उनको पूरा कर देना देशहित के लिए आवश्यक समझता हूं, इसलिए कुछ कंजूसी कर रहा हूं।

विनीत
घनश्यामदास

बेतिया
सोमवार, १४-१२-२७

भाई घनश्यामदासजी,

आपका पत्र मिला है।

रु० ८०००) जमनालालजी को भेजे हैं वह चर्खा-संघ के लिए समझता हूं।

शुद्धि के बारे में मैं खूब विचार कर रहा हूं। जिस ढंग से आज शुद्धि की जाती है वह धार्मिक नहीं है। जो बलात्कार से या अनजानपन में विधर्मी हो जाते हैं उनकी शुद्धि क्या करनी थी, वे तो शुद्ध ही हैं। केवल हिन्दू धर्मी की उदारता का प्रश्न है। हमारा आन्दोलन ख्रीस्ती, इस्लामी शुद्धि के विरोध में होना चाहिए। इसमें विचार परिवर्तन की ही आवश्यकता है। यदि हम मानें कि शुद्धि की प्रणाली दोषित है तो हम क्यों उसकी नकल करें? हम पर आक्रमण हो जाये उसको दूर करने के लिए शुद्ध इलाज ढूंढ़कर हमें उसको ही उपयोग में लाना चाहिए। शुद्धि के आन्दोलन से हम गन्दगी की वृद्धि करते हैं और हिन्दू धर्मियों में जो सुधारणा होनी चाहिए उसको रोकते हैं। आजकल के आन्दोलन में मैं विचार का अत्यन्त अभाव देख रहा हूं। जब आपको कुछ स्थिरता मिले तब इस बारे में हम शान्ति से विचार कर सकते हैं। मैं यह नहीं चाहता हूं कि मेरे ही कहने से कोई भी कार्य रोक दिया जाय। उससे हमको फायदा नहीं हो सकता है। जो मैं सोच रहा हूं वह स्वतंत्रया यथार्थ है तब ही और उतना ही परिवर्तन होना उचित है। इस-लिए मैं धैर्य और खामोशी धारण कर रहा हूं। मेरी सलाह है कि जब आपको धारा-सभा में से फुर्संत मिले तब मेरे भ्रमण में मेरे साथ चन्द दिनों के लिए हो जायं।

फेब्रेवरी पहली तारीख को मैं गोंदिया जाते हुए कलकत्ते में हूंगा।

आपका
मोहनदास

बिड़ला हाउस, पिलानी
१०-१-१९२८

प्रिय महादेवभाई,

मुझसे जमनालालजी ने पूछा है कि मेरा ७८,००० रु० का ताजा दान किस काम में लगाया जाय। मैंने यह बात महात्माजी के ऊपर छोड़ दी है। यदि उन्हें रुपये की बहुत अधिक आवश्यकता न पड़ गई हो तो मेरा सुझाव है कि यह रुपया ऐसी योजनाओं में लगाया जाय, जिनसे स्वराज्य निकटतर आवे। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य और अस्पृश्योद्धार भी इन्हीं में से हैं और स्वराज्य-प्राप्ति के लिए इनकी नितान्त आवश्यकता है।

तुम्हारा ही
घनश्यामदास

आश्रम
ता० ७-२-२८

प्रिय घनश्यामदासजी,

आपका पत्र मिलने से चिन्ता तो अवश्य होती है। दवा से तो थकान लगना चाहिए। मेरी दृष्टि में प्रथम उपाय तो सम्पूर्ण उपवास ही है। मुझको इसका कोई डर नहीं है। उपवास से नुकसान हो ही नहीं सकता है, और उपवास एक-दो दिन का ही नहीं, किन्तु १०-१५ दिन का होना चाहिए। यदि उपवास करना ही है तो आपको यहां रहना ही चाहिए। उपवास का शास्त्र जाननेवाले एक-दो सज्जन हैं, उनको बुला सकते हैं, रहने का प्रवन्ध तो है ही। आजकल यहां की आवोहवा अच्छी है। अगर उपवास-शास्त्रज्ञ को पिलानी में बुलाना चाहते हैं तो भी प्रबन्ध हो सकता है।

मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि आपको देहली हरगिज जाना नहीं चाहिए। पूज्य मालवीयजी व लालाजी को मैं आज ही लिख भेजता हूं। हकीमजी अजमलखां के बारे में जो स्मारक के लिए मैंने यं० इं० और न० जी० में प्रार्थना निकाली है, उसके लिए मैं आपसे और आपके मित्रों से द्रव्य चाहता हूं। यदि आप अधिक न देना चाहें और आप अगर सम्मति दे दें तो आपने ७५,०००) दिया है उसी में से वड़ी रकम निकाल लूं। आपका नाम देना न देना आप पर छोड़ दूं। यदि उसमें से कुछ देने का दिल न चाहे तो वगैर संकोच मुझको लिख भेजें।

मेरे स्वास्थ्य के वारे में अखवारों में कुछ पढ़ने से आप न डरें। ऐसी कोई वात चिन्ताजनक नहीं। डाक्टर लोग अवश्य डराते हैं, परन्तु उसका कुछ प्रभाव मेरे पर नहीं पड़ता है।

आपका
मोहनदास

२-७-२८

भाई घनश्यामदासजी,

आपका पत्र और रु० २,७००) की हुंडी मिली है। मैं चीन के साथ सम्बन्ध तो रखता हूं, परन्तु उन लोगों को तार भेजने का दिल नहीं चाहता। उसमें कुछ अभिमान का अंश आता है। यदि आयु है तो चीन जाने का इरादा अवश्य है। कुछ शांति होने के बाद वह लोग मुझको बुलाना चाहते हैं।

आप सब भाइयों के पास से आर्थिक मदद मांगने से मुझको हमेशा संकोच रहता है, क्योंकि जो कुछ मांगता हूं आप मुझे दे देते हैं। दक्षिणामूर्ति के बारे में मैं समझता हूं। बात यह है कि मुल्क में अच्छे काम तो बहुत हैं; परन्तु दान देने वाले कुछ कम हैं। अच्छा काम रुकता नहीं है, परन्तु नये देनेवाले उत्पन्न नहीं होते

हैं। नये काम तो हमेशा बढ़ते जाते हैं।

ठीक कहते हो, नियमावली की कीमत केवल नियमों के पालन करने वालों पर निर्भर है।

रुपये आस्ट्रिया के मित्रों को भेज दिये हैं।

आपका
मोहनदास

१४-१-२९

भाई घनश्यामदासजी,

आपका तार मिला था। पत्र भी मिला है। लालाजी स्मारक के लिए मैं इस मास के अन्त में सिंध जा रहा हूं। कलकत्ते में आपने कुछ इकट्ठा किया ?

दुग्धालय के बारे में एक मद्रासी का नाम मैंने दिया था, उसको पत्र लिखा। यदि वह अनुकूल न लगे तो दूसरा नाम मैं दे सकता हूं। खादी भंडार के बारे में जो उसका उद्देश्य है, उसको मत भूलियेगा। केवल वणिक वृत्ति से न चलना चाहिए। भंडार को पारमार्थिक दृष्टि से चलाना है।

मेरा स्वास्थ्य अच्छा है। आजकल मेरा खुराक १५ तोला बादाम का दूध, १४ तोला रोटी भीगी। सब्जी, टमाटर कच्चा, अलसी का तेल ४ तोला, दो तोला आटे की रबड़ी प्रातःकाल में। यहां फल छोड़ दिये हैं। एक हफ्ते में १॥ रतल वजन बढ़ा है। शक्ति ठीक है।

आपका
मोहनदास

बरेली
२३-६-२९

भाई घनश्यामदासजी,

हरभाई दक्षिणा-मूर्ति भवन में नानाभाई के साथी हैं। नानाभाई बीमार हो गये हैं। वर्धे में इस विद्यालय के बारे में हमारे बीच में बात हुई थी, इस पर से मैं उनको आपके पास भेजता हूं। इस संस्था को क्या मदद देना, वह आप ही सोचने वाले थे। आज तो मैंने नानाभाई को अभय वचन दिया है। वह आप ही के दान के आधार से है। अब आप हरभाई से सब बात सुन लेंगे, संस्था का हिसाब देखेंगे और उचित करेंगे।

आपका
मोहनदास

सन् १९२९ के अन्त में गांधीजी के गोलमेज-परिषद् में लंदन जाने का सवाल उठा। इस परिषद् को बुलाने का उद्देश्य यह था कि साइमन कमीशन में सिर्फ ब्रिटिश पार्लमेंट के सदस्यों को रखने से भारतवासियों के मन पर जो बुरा असर पड़ा था वह दूर हो जाय और जिस गवर्नमेंट आफ इंडिया बिल का रास्ता साफ करने के लिए साइमन कमीशन नियुक्त किया गया था उसका मसविदा तैयार करने में भारत के लोग भी हिस्सा ले सकें। मैंने इस बात की कोशिश की कि भारत की ओर से गांधीजी इस परिषद् में जायं। लेकिन उन दिनों वह अपने सविनय अवज्ञा आन्दोलन का दूसरा दौर शुरू करनेवाले थे और उसमें बहुत ही व्यस्त थे। मैंने उन्हें यह पत्र लिखा :

पिलानी
११ नवम्बर, १९२९

परम पूज्य महात्माजी के चरणों में सप्रेम प्रणाम।

मैं पिलानी आया हूं। ५-७ दिन के बाद जाऊंगा। सामन्त सभा और कामन्स की बहस तो आपने पढ़ ही ली होगी। मेरी राय में तो परिस्थिति को देखते हुए बेन की स्पीच अच्छी थी। यदि हम उनकी ईमानदारी में सन्देह न करें तो कहना होगा कि उनकी कठिनाइयों को देखते हुए वे इससे ज्यादा नहीं कह सकते थे। बेन ने भावना में परिवर्तन हुआ है ऐसा तो स्पष्ट ही कहा है। नेताओं के वक्तव्य का प्रतिवाद नहीं किया, यह भी शुभ चिह्न है। लायड जार्ज के बार-बार पूछने पर भी बेन ने कमोवेश कहने से इन्कार किया और एक प्रकार से 'मौन सम्मति लक्षणम्' के न्याय से हमारी धारणा का पोषण भी किया। मेरी राय में वाइसराय एवं बेन नेकनीयती के साथ हमें सहायता देना चाहते हैं; किन्तु मैं नहीं मानता कि हमें पूर्ण औपनिवेशिक दर्जा मिलनेवाला है। यह मैं जरूर मानता हूं कि यदि आप वहां पहुंच गये तो हमें अधिक-से-अधिक लाभ हो सकेगा। वहां की सरकार आपको असन्तुष्ट करके वापस नहीं जाने देगी, ऐसा मेरा पक्का विश्वास है। शायद फौज के रिजर्वेशन के साथ हमें कुछ दे दे। इसके विपरीत आप लोगों के न जाने से मुझे परिस्थिति बिगड़ती दिखाई देती है। इसी चिन्ता से प्रेरित होकर यह पत्र लिख रहा हूं और आपको बिना पूछे परामर्श देना चाहता हूं कि आप सम्मानपूर्वक परिस्थिति को अवश्य सम्हाल लें। मैं जानता हूं कि आपका रुख भी यही है, किन्तु फिर भी लिख देना मैंने उचित समझा है। मैं राजनैतिक मामलों में आपको कभी सलाह नहीं देता हूं, किन्तु परिस्थिति को देखते हुए ऐसा करना आवश्यक समझा है। देश की शांति के साथ-साथ इसकी कमजोरी का आपसे अधिक मुझको ज्ञान नहीं है, किन्तु इसके कारण मैं कभी-कभी बहुत निराश हो जाता हूं, और इसलिए यही सूझता है कि यदि आपके तप का—हमारी शक्तियां

का नहीं—फल हमें मिलना चाहता हो तो हमें उसे ले लेने का प्रबन्ध कर लेना चाहिए। यदि पूरा औपनिवेशिक दर्जा मिले तब तो आप झटपट ले लेंगे, यह मैं जानता हूं; किन्तु मुझे ऐसी आशा नहीं है। बहुत-से-बहुत, और सो भी आपके सहयोग से, फौज छोड़कर अन्य सब चीजें हमें सम्मानपूर्वक इस समय मिल सकती हैं, मुझे तो इतनी ही आशा है। आप शायद इतना स्वीकार न करें और कान्फ्रेन्स में जाने से मुंह मोड़ लें, इस भय से चिन्तित था और पत्र लिखने का भी यही प्रयोजन है।

आपके जाने से बाद वाइसराय से मैं डिनर पर मिला था। उनकी बातों से इतनी बात मुझ पर स्पष्ट हो गई :

१. कैदी छोड़ने में आनाकानी करेगा, किन्तु उन्हें छोड़ देगा।
२. कान्फ्रेन्स का संगठन आप लोगों की राय और मशवरे से होगा।
३. शायद १९३० की जुलाई तक कान्फ्रेन्स कर लेंगे।
४. पूर्ण औपनिवेशिक दर्जा देना कठिन है।

किन्तु इस अन्तिम बात को वह अभी तो कान्फ्रेन्स पर ही छोड़ देंगे। न तो वह यही कहना चाहते हैं कि औपनिवेशिक दर्जे की पूर्णता में अभी देर है, न यही कहना चाहते हैं कि शीघ्र ही औपनिवेशिक दर्जा स्थापित हो सकेगा। किन्तु मेरी समझ यह है कि पूर्ण औपनिवेशिक दर्जा हमें अभी नहीं मिलेगा, तो भी हम बहुत कुछ सम्पादन कर सकते हैं और बचा-खुचा भी ५-१० साल तक ले सकते हैं। आज की परिस्थिति में हम इससे अधिक की आशा भी कैसे कर सकते हैं? मेरी राय का निचोड़ यह है कि आपका ब्रिटिश केबिनेट से मिल लेना हमारे लिए बहुत हितकर है और इस मौके को हमें छोड़ना नहीं चाहिए। यदि कान्फ्रेन्स असफल भी हो जाय तो भी हमारा लाभ ही है, क्योंकि इससे गरम दल वालों का प्रभाव बढ़ेगा। हमारे तो दोनों हाथ लड्डू दीखते हैं। मैंने अपनी राय लिख दी है, बाकी तो आप सोच ही लेंगे।

विनोत
घनश्यामदास

मैं गांधीजी को पहली परिषद् में भाग लेने के लिए राजी कराने में असफल रहा। गांधीजी तो समझे बैठे थे कि उन्हें जेल जाना पड़ेगा। जब हमारी मुलाकात वर्धा में हुई तो उन्होंने मुझसे यह साफ तौर पर कह दिया कि उन्हें अंग्रेजों पर घोर अविश्वास है। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि अब भारतीय सदस्यों को धारा-सभा से बिलकुल अलग रहना चाहिए। २८ फरवरी, १९३० को उन्होंने लिखा, "वे (अर्थात् अंग्रेज लोग) केवल हमारे अज्ञान और भीरुता से लाभ उठाते हैं। असेम्बली से जितनी जल्दी विदा ली जाय, उतना ही अच्छा है। मैं तो मार्च

की समाप्ति तक जेल से बाहर रहने की बहुत कम आशा रखता हूं।"

इस मौके पर स्वराज्य-पार्टी ने उनकी सलाह मान ली और सारे सदस्य असेम्बली को छोड़कर चले आये। पर मुझे तो यह काम अक्लमंदी का नहीं लगा, क्योंकि असेम्बली के द्वारा भारतवासियों को संसदीय कार्यशीलता का बड़ा अच्छा अनुभव मिल रहा था। स्वराज्य-पार्टी की समझ में यह बात अच्छी तरह आ गई। फलतः वह अगले चुनाव में फिर खड़ी हुई और असेम्बली में गई। अगले वर्ष गांधीजी ने वाइसराय लार्ड विलिंग्डन के तर्क मान लिए और मालवीयजी तथा मुझ जैसे मित्रों की प्रार्थना स्वीकार कर वह दूसरी गोलमेज परिषद् में जाने के लिए तैयार हो गये। इस परिषद् के लिए कांग्रेस ने उनको अपना एकमात्र प्रतिनिधि नियुक्त किया। मैं कांग्रेस का सदस्य नहीं था, इसलिए मैंने व्यापारी वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में परिषद् में भाग लेने का सरकारी निमंत्रण स्वीकार कर लिया। गांधीजी की इंग्लैंड-यात्रा के बारे में इतने विस्तार के साथ लिखा जा चुका है कि यहां कुछ लिखना अनावश्यक होगा। लार्ड हैलीफैक्स के वाइसराय के पद पर रहते हुए जब गांधीजी उनसे मिले थे और दोनों ने मिलकर गांधी-अरविन-पैक्ट की रूप-रेखा तय की थी, तभी से लार्ड हैलीफैक्स और गांधीजी, दोनों एक-दूसरे पर अधिकाधिक विश्वास करने लगे थे। किन्तु एक वर्ष पहले की परिषद् के बाद से दृश्य अब बदल चुका था। श्री रैमजे मैक्डॉनल्ड अब भी प्रधान मंत्री थे और बदस्तूर परिषद् की अध्यक्षता कर रहे थे। पर अब वह मजदूर सरकार के नेता न रहकर एक संयुक्त सरकार के नेता थे, जिसमें श्री बाल्डविन और उनके अनुदार साथियों का स्थान प्रमुख था। भारत-मंत्री के पद पर अब श्रीवेजवुड वेन के बदले अनुदार दल के सदस्य सर सेम्युअल होर (बाद में लार्ड टेम्पिलवुड) थे। इसलिए गांधीजी की तरह मुझे भी अंग्रेजों की नीयत पर शक होने लगा था, जैसा कि मेरे नीचे लिखे पत्र से प्रकट होगा:

लंदन
३१ अक्तूबर, १९३१

प्रिय सर तेजबहादुर सप्रू,

जब मैंने संघ-विधायक-समिति (Federal Structure Committee) की रिपोर्ट की १८वीं, १९वीं और २०वीं धाराओं का आपकी सम्मति से भिन्न अर्थ निकाला तो आपको तथा श्री जयकर को मेरा ऐसा करना बड़ा ही मूर्खतापूर्ण लगा होगा। पर मेरा उद्देश्य अपनी आशंकाओं को व्यक्त करना था और यदि मैं उन आशंकाओं द्वारा अनावश्यक रूप से प्रभावित हो गया होऊं तो मैं समझता हूं कि अतीत को देखते हुए मेरा ऐसा करना अनुचित भी नहीं था। यदि मेरा निर्वचन निराधार हो तो अच्छा ही है। पर जो हो, हमें आर्थिक नियंत्रण-सम्बन्धी जो वचन

दिया गया है, यदि उसमें किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित करने की कौशलपूर्ण चेष्टा की गई तो मेरा यह पत्र आपको उसके खिलाफ चौकन्ना अवश्य कर देगा। हमें आर्थिक नियंत्रण तो प्राप्त होना ही चाहिए, उसमें किसी प्रकार के प्रतिबंध की गुंजाइश नहीं।

अब मेरा दृष्टिकोण यह है कि हमारे अर्थविभाग-सम्बन्धी नियंत्रण का मापदंड सचमुच की रकम पर हमारा नियंत्रण माना जाना चाहिए। फर्ज करिये, हमें एक प्रतिशत नियंत्रण का अधिकार मिले और बाकी ९९ प्रतिशत आरक्षण के अधीन रहे तो मैं एक व्यावहारिक व्यापारी के नाते कहूंगा कि हमारा नियंत्रण केवल एक प्रतिशत है। यदि हमें शत-प्रतिशत नियंत्रण का अधिकार मिले और उसमें से ५० प्रतिशत आरक्षण के बतौर बाद दे दिया जाय तो मैं कहूंगा कि हमें केवल ५० प्रतिशत नियंत्रण का अधिकार मिला है। अब इस आधार को सामने रखकर हमें देखना चाहिए कि हमें अर्थ-विभाग में किस हद तक नियंत्रण का अधिकार मिला है।

यदि आप १९वीं धारा के पूर्वांश का अवलोकन करेंगे तो ऐसा प्रतीत होगा कि कुछ परिसीमाएं लगाकर हमें शत-प्रतिशत नियंत्रण का अधिकार दिया गया है। अब हमें देखना चाहिए कि वे परिसीमाएं क्या हैं। मेरी राय में १८, १९ और २०वीं धाराओं में निम्नलिखित परिसीमाएं लगाई गई हैं :

१. रिजर्व बैंक की स्थापना,
२. पत्र-मुद्रा या टंक वर्ग विधान में संशोधन करने से पहले गवर्नर जनरल की स्वीकृति,
३. स्थायी रेलवे बोर्ड की स्थापना,
४. ऋण-व्यय, ऋण-व्यय के लिए शोधन कोश, वेतन और पेंशन और सैनिक विभाग के लिए धन की व्यवस्था करने के हेतु संचनित कोश (Consolidated fund charge) भार का संगठन,
५. जब गवर्नर जनरल समझें कि जो ढंग अपनाये जा रहे हैं उनके कारण भारत की साख को गहरा धक्का लगेगा तो उसे बजट-सम्बन्धी और उधार लेने की व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का अधिकार।

मेरी राय में इन अधिकारों के अन्तर्गत समूचा आर्थिक क्षेत्र आ जाता है। अतएव मेरा कहना है कि इन धाराओं के द्वारा हमें कोई उत्तरदायित्व नहीं मिलता है। मैं यहां अर्थ-विभाग का संक्षिप्त ढांचा देता हूं जिससे आप अनुमान कर सकेंगे कि मैं ठीक बात कहता हूं या गलत। रेलवे बजट को मिलाकर अर्थ-विभाग की आय और व्यय लगभग एक अरब तीस करोड़ है। इसके अलावा अर्थ-विभाग के जिम्मे भारतीय मुद्रा और विनिमय की भी देखभाल करना है। मैं यह मानकर चलता

हूं (और यदि मैं अविश्वास का आचरण करूं तो धाराओं के बुरे-से-बुरे अर्थ लगा सकता हूं) कि रिजर्व बैंक का सृजन हम नहीं करेंगे और व्यवस्थापिका सभा का उस पर कोई अधिकार नहीं रहेगा। मैं स्वयं नहीं चाहता हूं कि रिजर्व बैंक के दैनिक कार्यक्रम पर किसी प्रकार का राजनैतिक प्रभाव रहे, पर रिजर्व बैंक की नीति निर्धारित करने के मामले में अंतिम अधिकार व्यवस्थापिका सभा को रहे, और मैं समझता हूं, पत्र-मुद्रा विधान में संशोधन के लिए गवर्नर जनरल की स्वीकृति प्राप्त करने की शर्त लगाकर हमसे अधिकार छीन लिये गए हैं, स्थायी रेलवे-वोर्ड की स्थापना के द्वारा, जिसकी रचना में भी हमारा हाथ बिलकुल नहीं रहेगा। हमसे और भी चालीस करोड़ रुपये ले लेने की व्यवस्था की गई है। अब हमारे पास रह गये ९० करोड़। इनमें से ४५ करोड़ सेना के लिए चाहिए, १५ करोड़ ऋण-व्यय के लिए, और १५ करोड़ रुपये पेन्शन और अन्य मदों के लिए चाहिए। इस प्रकार ७५ करोड़ रुपये संघनित कोषभार के लिए चाहिए और इस मद का आय पर पहला दावा रहेगा। इस प्रकार हमारे पास १३० करोड़ में से केवल १५ करोड़ रह गए। जिस किसी को भी १३० करोड़ की आय पर ११५ करोड़ व्यय का सर्वप्रथम अधिकार रहेगा वह हमारी बजट-सम्बन्धी और उधार लेने की व्यवस्था में पद-पद पर हस्तक्षेप करना चाहेगा, और यही कारण है कि गवर्नर जनरल को हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया गया है। अनिश्चित भारतीय ऋतु में बजट में ५ से १० करोड़ तक उतार-चढ़ाव अवश्यंभावी है, इसलिए कदम-कदम पर गवर्नर जनरल के अर्थ सदस्य के ऊपर चढ़ दौड़ने का खतरा बना रहेगा। अतएव अर्थ-सदस्य को गवर्नर जनरल के हाथ की कठपुतली बनने को बाध्य होना पड़ेगा। अतः मेरी राय में इन तीन धाराओं के अन्तर्गत लोकप्रिय अर्थ-मंत्री को किसी प्रकार का नियंत्रण-सम्बन्धी अधिकार नहीं दिया गया है। मेरा कहना है कि ये धाराएं रिजर्व बैंक तक ही सीमित नहीं हैं, जैसा कि आपका कहना है, बल्कि समूचे क्षेत्र पर व्याप्त हैं।

आप पूछ सकते हैं, तो फिर चारा ही क्या है? मैंने कल कहा था कि ये धाराएं संघनित कोष-भार के संगठन का स्वाभाविक परिणाम हैं। इसके दो विकल्प हो सकते हैं: या तो संघनित कोषभार को सुझाई गई मात्रा की अपेक्षा अत्यधिक संकुचित कर दिया जाय, और या गवर्नर जनरल को हमारी चूक होने तक हस्तक्षेप करने का अधिकार न रहे। मेरी राय में तो हमें इन दोनों विकल्पों की मांग करनी चाहिए। संघनित कोष को सेना के लिए निश्चित रकम में कमी करके और हमारे ऋण-व्यय में सहायता की मांग करके संकुचित किया जा सकता है। बेंथल

ने मुझे बताया है कि इस प्रकार की सहायता की मांग की जा सकती है। उनका कहना है कि अपने ऋणों में से कुछ के रद्द किये जाने की मांग करने के बजाय, जैसा कि कांग्रेस कर रही है, हम ब्रिटेन से उन ऋणों को पूंजी का रूप देने की मांग कर सकते हैं। जो हो, यदि हमें भारत के लोकोपकारी विभागों के लिए रुपये की व्यवस्था करनी है तो हमें ठोस सहायता के लिए अवश्य झगड़ना चाहिए। यदि सैनिक व्यय घटाकर ३५ करोड़ कर दिया जाय और ब्रिटेन से सहायता मिलने के बाद ऋण-व्यय और अन्य मदों पर किया जाने वाला व्यय २० करोड़ रह जाय तो कुल संघनित कोषभार ५५ करोड़ से अधिक नहीं रहेगा। यदि रिजर्व बैंक और स्थायी रेलवे बोर्ड की स्थापना सोलह आने हमारे हाथ की बात और उस पर आम नीति के मामले में व्यवस्थापिका सभा का पूरा नियंत्रण रहे तो मैं समझता हूं, अर्थ-सदस्य को काफी स्वच्छंदता रहेगी। वैसी अवस्था में यह उचित तर्क पेश किया जा सकता है कि कुल १३० करोड़ की आय में गवर्नर जनरल का सर्वप्रथम व्यय केवल ५५ करोड़ है। इसलिए उसे बजट-सम्बन्धी और आंतरिक उधार-सम्बन्धी व्यवस्था में दखल देने का अधिकार नहीं होना चाहिए।

मैं समझता हूं, मैंने अपने विचारबिन्दु को पूरी तौर से स्पष्ट कर दिया है। मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि मेरी आशंका पूर्णतया सकारण है। मैंने इन तीन धाराओं का जो अर्थ निकाला है, मेरी राय में उनका यही अर्थ सम्भव भी है। मेरी राय में अंग्रेज इन धाराओं का दूसरा अर्थ नहीं निकालेंगे, पर यदि आपका अब भी यही विश्वास हो कि ये धाराएं रिजर्व बैंक की स्थापना तक ही सीमित हैं, तो मेरा सुझाव है कि उनके वाक्य-विन्यास में परिवर्तन कराके आप इस बात को साफ करा लीजिये। मैंने इनका दूसरा अर्थ निकाला है। इसीलिए तो मैंने कहा था कि उनका स्थान प्रस्तावित अर्थ-परिषद् नहीं ले सकती है। यदि प्रस्तावित अर्थ-परिषद् का गठन हमारे ऊपर छोड़ दिया जाय तब तो वह बिलकुल निर्दोष वस्तु सिद्ध होगी, जबकि इन तीनों धाराओं के द्वारा गवर्नर जनरल को हमारे समूचे आर्थिक ढांचे पर पूरा अधिकार दे दिया है। वास्तव में आर्थिक विभाग के तथाकथित नियंत्रण को शून्य कर दिया गया है।

आशा है, आप मेरे नोट पर ध्यानपूर्वक विचार करेंगे।

भवदीय

जी० डी० बिड़ला

पुनश्च :

मैंने इतने विस्तार के साथ केवल इसलिए लिखा है, जिससे आपको अपना यह मन्तव्य स्पष्ट कर दूं कि यदि फार्मूला को उसी रूप में स्वीकार कर लिया गया, जिस रूप में हम लोगों ने १८ पैरे के आधार पर कल विचार किया था, तो जब तक सैनिक-व्यय और ऋण-व्यय की मदों में भारी कमी करने की व्यवस्था नहीं

की जायगी तबतक बजट-सम्बन्धी व्यवस्था में गवर्नर जनरल द्वारा हस्तक्षेप बराबर होता रहेगा। यदि उपरिलिखित सुझाव के अनुसार इन दोनों मदों में कमी कर दी गई तो ब्रिटिश सरकार और व्यापारिक हितों को यह मांग करने का अधिकार नहीं रहेगा कि गवर्नर जनरल बजट-सम्बन्धी व्यवस्था में दखल दें। मैं यह 'पुनश्च' सारी बात थोड़े शब्दों में बताने के लिए दे रहा हूं।

उन दिनों सर तेजबहादुर सप्रू भारत में एक मंत्री-जैसी हैसियत रखते थे। वह साम्राज्य परिषद् में भारत का प्रतिनिधित्व भी कर चुके थे। इसलिए अंग्रेजों के अनोखे तरीकों से वह मेरी अपेक्षा अधिक परिचित थे। मैं जानता था कि अंग्रेज मुंह से कह देता है वह उसकी लिखित प्रतिज्ञा के बराबर होता है। इसलिए एक व्यापारी की हैसियत से मैं अंग्रेजों के शब्दों की ही छानबीन किया करता था, और समझे बैठा था कि वे किसी भी शर्त का अक्षरशः पालन करने में विश्वास रखते हैं। लेकिन ब्रिटिश संविधान की परम्परा ही कुछ ऐसी कृत्रिम है कि जो रुख अंग्रेज लोग व्यापार के मामले में अपनाते हैं ठीक उसका उलटा ऊंचे सरकारी मामलों में दिखलाते हैं। वे कहते एक बात हैं, जबकि उनका अभिप्राय कुछ दूसरा ही होता है। इसका प्रारंभ तब हुआ जब उन्होंने अपने राजा की शक्ति-सामर्थ्य के क्षेत्र को पीड़ा-रहित ढंग से संकुचित करना शुरू किया। अब यह सिलसिला उपनिवेशों और आश्रित प्रदेशों पर पार्लमेण्ट की शक्ति-सामर्थ्य के क्षेत्र को उनके स्वतंत्र होने की घड़ी तक संकुचित करते रहने तक जारी रहता है। इसलिए सोचिये कि मुझे कितना आश्चर्य हुआ होगा जब सर तेज और उनके निकट के साथी श्री जयकर ने मेरे पत्र में कही गई बात मानना तो एक ओर, उलटे मेरे तर्क से असहमति प्रकट की। अतएव मैं नीचे का पत्र लिखने को प्रेरित हुआ :

लंदन
२ दिसम्बर, १९३१

प्रिय डाक्टर जयकर,

कल किंग स्ट्रीट में बातचीत के दौरान में आपने मेरी गोलमेज-परिषद् में दी गई स्पीच को नापसन्द किया था। मैं आपकी सम्मति का आदर करता हूं, इसलिए मुझे बड़ा दुःख हुआ कि आपको मेरे विचारों से असहमत होना पड़ा। पर मैं इतना अवश्य कहूंगा कि मैंने कोई बात अचानक ही नहीं कह दी है। मैंने गत ३१ अक्तूबर को सर तेजबहादुर सप्रू को जो पत्र लिखा था उसकी एक प्रति आपके पास भी भेज दी थी, और उसके बाद मुझे यह समझाने के लिए कि मैं गलती पर हूं, न आपने ही मुझसे बात की, न सर तेज ने ही, इसलिए मैं इसी नतीजे पर पहुंचा कि १४, १८ और २१ धाराओं का मैंने जो अर्थ निकाला है उससे आप सन्तुष्ट

हैं। वास्तव में आपने तो मेरे पत्र की पहुंच तक स्वीकार नहीं की। पर मुझे जिस बात से निराशा हुई वह यह थी कि संघ-विधायक-समिति में सर तेज ने मेरी आशंका को दूर करने के स्थान पर और भी आगे वढ़कर १४, १८ और २१वें पैरों का उनके मूल रूप में समर्थन करने के बाद अभिरक्षणों के सम्बन्ध में सर सेम्युअल होर के वक्तव्य का भी समर्थन ही किया। आर्थिक अभिरक्षणों पर संघ-विधायक-समिति की जो अंतिम रिपोर्ट निकली है, उसमें एक प्रकार से सर सेम्युअल होर के वक्तव्य को ही नये परिच्छेदों में रख दिया गया है। सर पुरुषोत्तमदास ने तो संघ-विधायक-समिति में दोष दिखाने की चेष्टा की भी थी, पर उन्हें आपकी ओर से कोई सहायता नहीं मिली।

अब स्थिति यह है कि १४, १८ और २१वें पैरों में अभिरक्षणों को जिस रूप में रखा गया है उसका स्थिरिकरण हो गया है, और इसके अलावा यह भी सुझाया गया है कि फिलहाल उन अभिरक्षणों की विस्तृत व्याख्या करना जरूरी नहीं है। मेरी राय में तो अब इस सम्बन्ध में कोई भी संदेह नहीं रहना चाहिए कि अभिरक्षणों का क्या मर्म है। उनकी उपलक्षणाएं अब मेरे लिए बिलकुल स्पष्ट हैं, और मैंने ३१ अक्तूबर की सर तेज के नाम अपनी चिट्ठी में जो विचार व्यक्त किये थे, अब उनकी पुष्टि हो गई है।

मुझे यह कहते हुए बड़ा खेद होता है कि जब सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने संघ-विधायक-समिति में स्थायी रेलवे बोर्ड का प्रश्न उठाया, तब भी उनका वैसा ही अनुभव रहा। प्रबन्ध-सम्बन्धी मामलों में विवेचना से काम लेने के प्रश्न तक पर तेजबहादुर सप्रू ने इस विचार का समर्थन किया कि इसका निर्णय सुप्रीम कोर्ट के द्वारा किया जाय। इस मामले में भी सर पुरुषोत्तमदास पर वैसी ही बीती। मेरी राय में इस प्रकार एक बड़े ही खतरनाक सिद्धांत को जन्म देने की बात सोची जा रही है। यह सचमुच बड़े ही दुर्भाग्य की बात है कि जिन मामलों के विषय में हम अंतरंग ज्ञान रखने का दावा कर सकते हैं उनमें भी हमें आपका और सर तेज का समर्थन प्राप्त नहीं हो सका।

मैं आपसे इस मामले में सहमत नहीं हूं कि १४, १८ और २१वें पैरों को दुहराने के प्रश्न पर अब भी विचार-विमर्श की गुंजाइश है। पर मुझे यह देखकर दु:ख होता है कि हम उन्हें यहां दुहराने का अवसर मिलने पर भी ऐसा नहीं कर सके। आपने कल महात्माजी से कहा था कि प्रधान मंत्री के भाषण के द्वारा अब सारे प्रश्न पर दुबारा विचार करने की गुंजाइश पैदा हो गई है। मुझे ताज्जुब है कि आपने इस स्पीच का यह अर्थ कैसे निकाला है। भावी ढांचे का निर्माण उन रिपोर्टों के आधार पर ही किया जा सकता है, जो मैंने पेश की हैं और जिन पर आप अभी तक दृढ़ हैं, और जिनके द्वारा जहां तक अर्थ-विभाग का सम्बन्ध है, हमें

रत्ती बराबर भी नियंत्रण नहीं मिलता है—सेना और विदेश-विभागों की तो बात ही जुदा है।

जो-कुछ किया जा चुका है, जो-कुछ तय हो चुका है, गोलमेज-परिषद् की कार्यकारिणी समिति उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकती है। वह तो केवल उन्हीं मामलों को आगे बढ़ा सकती है, जिन पर निश्चय किया जा चुका है; पर अभी न उसकी कार्य-सीमा ही निर्धारित की गई है, न यही तय किया गया है कि उसके जिम्मे क्या-कुछ सौंपा गया है।

मैं आपको आश्वासन देता हूं कि मैं बात समझने के लिए तैयार हूं, और यदि मेरी समझ में आ जाय कि मैं ही गलती पर हूं तो मेरी चिन्ता दूर हो जायगी; पर मुझे कहना पड़ता है कि आपने हमें यह बताये बिना कि हमारी आशंकाएं निर्मूल हैं, कुछ विशेष निष्कर्ष को स्वीकार कर इस दिशा में मेरी सहायता नहीं की। जो हो, यह तो मैं व्यक्तिगत विचार व्यक्त करने के लिए लिख रहा हूं। मुझे आशा करनी चाहिए कि आप ठीक मार्ग पर हैं। क्या मैं व्यवस्थापिका सभा की पुरानी नेशनलिस्ट पार्टी के एक पुराने सहयोगी के नाते यह सुझाव रख सकता हूं कि आप यह स्पष्ट कर दें कि गोलमेज-परिषद् में बहुमत से जो आर्थिक अभिरक्षण पास किये हैं वे आपको स्वीकार नहीं हैं, और आप इस प्रश्न पर और ऊपर कहे अन्य प्रश्नों पर दुबारा विचार किये जाने की मांग करेंगे? मुझे हृदय से विश्वास है कि आप अब भी ऐसा करने में समर्थ होंगे।

भवदीय
जी० डी० बिड़ला

सन् १९३७ में भारतीय शासन-विधान लागू हुआ। गवर्नर जनरल और प्रांतों के गवर्नरों ने कांग्रेसी प्रधान मंत्रियों तथा उनकी सरकारों के काम में दखल देने की कोई कोशिश नहीं की और जब अंत में गांधीजी ने ब्रिटिश सरकार को इस बात का पूरा विश्वास दिला दिया कि भारत एक राष्ट्र है तब उन्होंने बड़ी अच्छी तरह से अपने को हटा लिया। आज हमने रिजर्व बैंक और रेलवे बोर्ड को जो बनाये रखा है, या गणतंत्र होकर भी जो हम अभी तक राष्ट्रसमूह ही बने हुए हैं सो सब स्वेच्छा से। इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि एक-दूसरे के तौर-तरीकों को समझने-बूझने का कितना महत्त्व है। शुरू-शुरू में तो ब्रिटेन ने हम लोगों को समझने की चेष्टा नहीं की थी; पर जब दोनों पक्षों ने एक-दूसरे को समझ लिया तो उसका परिणाम बड़ा ही सुन्दर रहा।

४. वैधानिक संरक्षण

मैं तो यहां तक आगे बढ़ गया था कि मैंने आर्थिक संरक्षणों पर विचार करने के लिए एक विशेष समिति के नियुक्त किये जाने पर जोर दिया। जब परिषद् भंग हो गई और मैं भारत लौट आया तो मुझे सर सेम्युअल होर का एक पत्र मिला जिसमें उन्होंने मेरे सुझाव को मानने से इन्कार कर मुझे एक दूसरे ही प्रकार की समिति में शामिल होने का निमंत्रण दिया :

इंडिया आफिस
व्यक्तिगत ह्वाइट हॉल
२७ जनवरी, १९३२

प्रिय श्री बिड़ला,

मैंने आपको वचन दिया था कि मैं आपको आपके इस सुझाव के सम्बन्ध में अपनी राय बताऊंगा कि आर्थिक अभिरक्षण का प्रश्न एक ऐसी समिति के सिपुर्द कर दिया जाय, जिसमें ऐसे लोगों को भी शामिल किया जाय, जिन्हें आर्थिक मामलों की जानकारी हो, पर जो गोलमेज-परिषद् की परामर्शदायिनी समिति के सदस्य न हों। मैं कुल मिलाकर इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि अब, जबकि हमने एक ऐसी परामर्शदायिनी समिति का गठन कर लिया है, जिसका काम गोलमेज-परिषद् द्वारा बताई गई आम नीति का अनुसरण करना होगा, उस पर ऐसी व्यवस्था लादना, जिसके अंतर्गत ऐसी समितियां स्थापित करना हो, जिनके सदस्य बाहर से लिये जायं, अनुचित होगा। मेरी धारणा है कि ऐसी व्यवस्था में से अस्त-व्यस्त करनेवाली शाखाएं फूट निकलेंगी। मैं समझता हूं, सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास परामर्शदायिनी समिति में भाग लेने में असमर्थ हैं। आपको उसमें अपने लिए स्थान की मांग करने की स्वतंत्रता है, और यदि आप ऐसा करेंगे तो आप उसके सदस्य नामजद हो ही जायंगे।

भवदीय
सेम्युअल होर

इधर गांधीजी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन फिर से शुरू कर दिया था। मैं भारतीय वाणिज्य-उद्योग संघ का एक भूतपूर्व अध्यक्ष था ही। उसने भी गोलमेज-परिषद् से नाता तोड़ लिया था। मैंने नई दिल्ली से १४ फरवरी, १९३२ को सर सेम्युअल होर को पत्र लिखा और उन्हें धन्यवाद देते हुए कहा :

बिड़ला हाउस
अलबूकर्क रोड,
नई दिल्ली
१४ फरवरी, १९३२

प्रिय सर सेम्युअल,

आपके गत मास की २७ तारीख के पत्र के लिए धन्यवाद। मुझे यह देखकर खेद हुआ कि आपको मेरा यह सुझाव कि सारे आर्थिक मामलों पर विचार करने के लिए एक उपसमिति अलग बनाई जाय, ग्राह्य नहीं है। मैं तो आपसे अब भी इस सुझाव पर दुबारा विचार करने का अनुरोध करूंगा, क्योंकि आर्थिक समस्याओं का विवेकपूर्ण विचार इस विषय को समझनेवाले व्यक्तियों की अनुपस्थिति में सम्भव नहीं है।

आपने यह सुझाकर कि यदि मैं समिति में शामिल होना चाहूं तो मुझे नामजद किया जा सकता है, बड़ी कृपा की। पर मेरी राय में मेरे लिए ऐसा रुख अपनाना ठीक नहीं रहेगा। वैसी अवस्था में मैं संघ के प्रति वफादारी का सबूत नहीं दूंगा और अपने-आपको कोई अच्छा कार्य-सम्पादन करने के अयोग्य प्रमाणित करूंगा। मैं अपने देश और सहयोग के हित में जो सबसे अच्छी सेवा कर सकता हूं वह यही है कि संघ को बाकायदा सहयोग प्रदान करने के लिए राजी करूं। मैं जानता हूं कि कार्यकारिणी के कार्यकलाप में हमारे भाग लेने के सम्बन्ध में सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का भी वही मत है, जो मेरा है। इसके अलावा भारतीय व्यापारी वर्ग के प्रतिनिधि की हैसियत से वह मुझसे कई बातों में अच्छे हैं। उनमें अपेक्षाकृत अधिक व्यवहार-कुशलता, अधिक योग्यता और अधिक अनुभव है। यदि हम दोनों संघ से अपने रुख में संशोधन कराने में समर्थ हुए तो मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि भारतीय व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए वह सबसे योग्य व्यक्ति हैं।

एकमात्र इसी प्रश्न पर विचार करने के हेतु संघ की बैठक बुलाई जा रही है। उसके बाद में मैं आपको फिर लिखूंगा। मैं यह भी चाहूंगा कि हमारे बीच में जो कुछ विचार-विनिमय हुआ है उसकी खबर वाइसराय महोदय को भी रहे, जिससे आवश्यकता पड़ने पर हम आपको कष्ट दिये बगैर ही उनसे बातचीत कर सकें।

मैं संघ के प्रमुख सदस्यों के साथ इस समस्या की चर्चा करने दिल्ली आया था और अब फिर कलकत्ते के लिए रवाना हो रहा हूं। वहां मैं श्री बेंथल और अन्य व्यक्तियों के साथ व्यवसाय और वाणिज्य में दिलचस्पी रखनेवाले दोनों वर्गों के अपेक्षाकृत निकटतर सहयोग के प्रश्न पर बातचीत करूंगा।

भवदीय
जी० डी० बिड़ला

अपने अगले पत्र में सर सेम्युअल ने एक नया प्रश्न उठाया, वह था साम्राज्य अधिमान, (इम्पीरियल प्रेफरेन्स), के बारे में ओटावा में होनेवाली परिषद् का प्रश्न, जिसका उस समय अपना निजी महत्त्व था :

इंडिया आफिस
ह्वाइट हाल
२५ फरवरी, १९३२

प्रिय श्री बिड़ला,

आपके १४ फरवरी के पत्र के लिए अनेक धन्यवाद। मुझे यह जानकर सचमुच प्रसन्नता हुई कि आप और सर पुरुषोत्तमदास वैधानिक विचार-विमर्श में सहयोग प्रदान करने के मामले में संघ को उसके रवैये में संशोधन करने को राजी करने की चेष्टा कर रहे हैं। मैं आपके इस कार्य में सफलता की कामना करता हूं। संघ की बैठक की समाप्ति पर आपके पत्र की प्रतीक्षा करूंगा। मुझे यह जानकर भी प्रसन्नता हुई कि आप व्यवसाय और वाणिज्य के मामले में दोनों वर्गों के निकटतर सहयोग के लिए श्री बेंथल से बातचीत कर रहे हैं।

एक और अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसकी ओर आपका और सर पुरुषोत्तमदास का ध्यान दिलाना आवश्यक है। वह प्रश्न है ओटावा-परिषद् का। जैसा कि आपको मालूम ही है, यह परिषद् आगामी ग्रीष्म ऋतु में होनेवाली है। जहां तक भारत का सम्बन्ध है, साम्राज्य के विभिन्न उपनिवेशों के चुंगी-सम्बन्धी पारस्परिक सम्बन्ध का अबतक का इतिहास मुझे मालूम है; पर मुझे आशा है कि आप समझ लेंगे कि सम्राट की सरकार की नई नीति इस प्रश्न को एक बिलकुल नये आधार पर रखने की है---ऐसे आधार पर, जिसमें भावुकता और राजनीति को गौण और आर्थिक हितों को मुख्य स्थान दिया जायेगा। यदि ओटावा-परिषद् में भारत का प्रतिनिधित्व उस मनोभाव के साथ नहीं हुआ, जिसके द्वारा दोनों देशों के लिए एक-समान लाभदायक व्यवसाय और वाणिज्य-सम्बन्धी वार्त्तालाप सम्भव हो सके, तो मुझे बड़ी निराशा होगी।

भवदीय
सेम्युअल होर

मैंने संघ-समिति के सदस्यों से परामर्श करके नीचे लिखा जवाब दिया :

बिड़ला हाउस
नई दिल्ली
१४ मार्च, १९३२

प्रिय सर सेम्युअल,

आपके २५ फरवरी के पत्र के लिए धन्यवाद। हमारी समिति की बैठक हो

गई। इस पत्र के साथ पास किये गये प्रस्ताव की एक प्रति भेजता हूं। जैसा कि आप स्वयं देखेंगे, प्रस्ताव के द्वारा समस्या का तुरंत हल तो उतना नहीं होता है, पर उसके द्वारा सहयोग की नीति अपनाने की बात निश्चित रूप से तय कर दी गई है। प्रस्ताव के पहले भाग में हमने सरकार से दमन की वर्तमान नीति में परिवर्तन करने का अनुरोध किया है; दूसरे भाग में हमने उस अर्थ का खंडन किया है, जो सर जार्ज रेनी ने हमारे पहले प्रस्ताव का लगाया था, और तीसरे भाग में हम उस समिति को अपना सहयोग निश्चित रूप से प्रदान करते हैं, जिसकी नियुक्ति हमारे सुझाव के अनुरूप सारे आर्थिक मामलों पर विचार करने और उसका सर्व-सम्मत हल खोज निकालने के लिए होनी चाहिए। हमने इस मामले पर विशद रूप से विचार-विमर्श किया और बैठक में यह स्पष्ट रूप से तय कर लिया गया कि यदि सरकार ने हमारे सुझाव को अपना लिया और हमारे अनुरोध के अनुसार एक समिति की नियुक्ति की तो संघ उस नई समिति में भाग लेने को तो तैयार होगा ही, साथ ही वह परामर्शदायिनी समिति में भी भाग लेगा।

इससे आगे बढ़ना सम्भव नहीं था। संघ की सदस्य-संस्थाओं से जो सम्मतियां प्राप्त हुईं, वे अत्यधिक बहुमत से भाग न लेने के पक्ष में थीं। पर समिति ने इस मामले में पथप्रदर्शन करने का जिम्मा अपने ऊपर लेकर इन अनेक मण्डलों के दृष्टिकोण के बावजूद सहयोग प्रदान करने का निश्चय किया—हां, कुछ शर्तों के साथ। वार्षिक अधिवेशन २६ और २७ मार्च को होगा। उस समय इस प्रस्ताव की पुष्टि करानी होगी। यह पुष्टि आवश्यक है, क्योंकि हमने अपने मण्डलों की आम राय के खिलाफ आचरण किया है। पर समिति ने एकमत से इस प्रस्ताव पर अपने अस्तित्व की बाजी लगा दी है, और यदि यह प्रस्ताव पास नहीं हुआ तो सबने मिलकर इस्तीफा देने का निश्चय कर लिया है। उन्होंने सब प्रकार से भारी साहस का परिचय दिया है और मुझे आशा है कि प्रस्ताव अपने वर्तमान रूप में पारित हो जायगा। वैसी अवस्था में, मैं समझता हूं, मुझे आपपर अपने मूल सुझाव के स्वीकार किये जाने का जोर डालना चाहिए, क्योंकि अब यह सुझाव संघ ने वर्तमान प्रस्ताव के रूप में अपना लिया है।

आपको पिछली बार लिखने के बाद मैंने लार्ड लोदियन और सर जार्ज शुस्टर से बात की और उन्हें बताया कि जो लोग आर्थिक मामलों को समझते ही नहीं हैं, उनसे आर्थिक अभिरक्षणों की चर्चा करना व्यर्थ समय नष्ट करना है। मैंने उन्हें यह बात सुझाई कि ऐसे मामलों का व्यावहारिक हल तलाश करने का एक-मात्र मार्ग यही है कि दोनों पक्षों के अनुभवी व्यापारी एकसाथ बैठें और सर्व-सम्मत हल ढूंढ़ निकालें। लार्ड लोदियन और सर जार्ज शुस्टर, दोनों को मेरा सुझाव बहुत ही पसन्द आया और उन्होंने आपको पत्र लिखने का वचन दिया।

आशा है, उन्होंने लिखा होगा। मैं दो-एक दिन में शुस्टर से मिलूंगा और १७ तारीख को वाइसराय से भी मिल रहा हूं, पर मेरा आपसे यही अनुरोध है कि आप अपने रुख पर दुवारा विचार करिये। यदि आप ऐसी समिति नियुक्त कर सकें, चाहे वह परामर्शदायिनी समिति के तत्त्वावधान में ही क्यों न हो, जिसमें एक ओर लार्ड रीडिंग और सर बैसिल ब्लेकैट-जैसे आदमी हों और दूसरी ओर हमारे पक्ष के भी उतने ही व्यक्ति हों, और सब मिलकर सारे आर्थिक मामलों पर चर्चा करें, तो मुझे यकीन है कि उसका फल बहुत अच्छा निकलेगा।

शायद एक उन्मूलनवादी भारत और एक अत्यन्त अनुदार पार्लमिंट में इस समय समझौता सम्भव न हो, पर मेरा निवेदन यह है कि वर्तमान पार्लमिंट तथा कांग्रेस से असम्बद्ध प्रगतिशील भारतीय लोकमत के बीच समझौता अवश्य सम्भव है। बस, मैं इसी दिशा में आपकी सहायता और पथप्रदर्शन चाहता हूं। मैं चाहता हूं कि आप यह बात समझें कि यदि विधान को कांग्रेस की तो बात ही क्या, प्रगतिशील वर्ग तक की सहमति के वगैर अमल में लाया जायगा तो उसके निष्कंटक रूप से चलने की बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती है। इसके विपरीत, यदि आप हमें ऐसा शासन-विधान प्रदान करेंगे, जो प्रगतिशील वर्ग को रुचिकर होगा, तो उसे गांधीजी तक का आशीर्वाद प्राप्त हो जायगा। मैं गांधीजी और कांग्रेस में हमेशा से भेद करता आया हूं, और मेरा आपसे कहना यही है कि आपके लिए हमें ऐसा विधान प्रदान करना सम्भव है, जो कांग्रेस को ग्राह्य न होते हुए भी गांधीजी द्वारा नामंजूर नहीं किया जाय और जिसका भविष्य में निष्कंटक रूप में अमल में आना सम्भव हो। यदि विधान के जारी किये जाने के दूसरे ही दिन उसका विध्वंस करने के लिए कोई आन्दोलन खड़ा कर दिया गया तो शान्ति असम्भव हो जायगी, और मैं चाहता हूं दोनों देशों में स्थायी शान्ति। अतएव हमने जो प्रस्ताव पास किया है, मेरा अनुरोध है कि आप उसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करें और यह देखें कि हम जो प्रगतिशील लोकमत को अपने निकटतर लाना चाहते हैं, उसके निमित्त हमारी सेवाओं को काम में लाना आपके लिए सम्भव होगा या नहीं। मेरा आपसे अनुरोध है कि आप हमें शान्ति के निमित्त कार्य करने का अवसर दें। मेरी आपसे अनुनय है कि आप हमारे सुझाव पर विचार करें।

रही दोनों वर्गों के निकटतर सहयोग की बात, सो मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि मुझे श्री बैंथल से विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला। लंदन में हमने प्रगाढ़ मैत्री का आचरण किया और हरेक ने दूसरे के दृष्टिकोण को देखने और समझने की चेष्टा की, और मुझे आशा थी कि यह सिलसिला भारत में भी जारी रहेगा। पर अब तो वह बिलकुल बदल गये दिखाई देते हैं, और उनकी एक स्पीच की रिपोर्ट ने तो मुझे सचमुच अचम्भे में डाल दिया है। उस स्पीच की एक प्रति इस पत्र के साथ भेजता हूं। मेरी तो समझ में नहीं आता कि लंदन में अत्यंत मैत्रीपूर्ण

सहयोग के बाद वह हम लोगों को "कभी न मनाये जा सकने वाले" कैसे कह सके और गांधीजी की खिल्ली कैसे उड़ा सके ! इससे खुद उनकी भी बड़ाई नहीं होती है और इसका भारतीय व्यापारी वर्ग के मन पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ा है। इतने पर भी जहां तक मेरा सम्बन्ध है, हम लोग अपने मण्डलों को गलत मार्ग पर नहीं ले जाना चाहते, इसलिए मेरा ठीक दिशा में शुरू किया गया प्रयत्न जारी रहेगा।

किन्तु रचनात्मक कार्य के लिए विश्वास और मैत्री के वातावरण की दरकार है, और फिलहाल दुर्भाग्यवश भारत में इसका अभाव है। वास्तव में इस क्षोभ-कारी स्थिति में आपके पत्रों से चैन मिलता है। यह स्पष्ट ही है कि आप सहज ही विश्वास कर लेते हैं, अतएव मेरी जिम्मेदारी भी बढ़ गई है। इसलिए मैं चाहूंगा कि मैं जैसा कुछ हूं, आप मुझे जान जायं। मेरे लिए यह कहना अनावश्यक है कि मैं गांधीजी का बहुत बड़ा प्रशंसक हूं। वास्तव में, यदि मैं यह कहूं कि मैं उनका एक लाड़ला बालक हूं, तो अनुचित न होगा। मैंने उनके खद्दर और अस्पृश्यता-निवारण-सम्बन्धी कार्यकलाप में हाथ खोलकर धन दिया है। मेरा यह भी अचल विश्वास है कि भारतीय जनता के लिए अतिरिक्त धंधे के रूप में खद्दर अच्छा काम करता है। मैंने न तो कभी सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग ही लिया है और न उसमें कभी रुपया ही दिया है। पर मैं सरकार की आर्थिक नीति का कड़ा आलोचक रहा हूं, इसलिए मैं अधिकारी वर्ग को कभी अच्छा नहीं लगा हूं। इस समय भी मैं सरकारी नीति से सहमत नहीं हूं। काश, मैं अधिकारियों को यह विश्वास दिला सकता कि गांधीजी और उनके जैसे व्यक्ति अकेले भारत के ही नहीं, ब्रिटेन के भी मित्र हैं, और कि गांधीजी शांति और व्यवस्था में विश्वास रखने वाले पक्ष के सबसे बड़े समर्थक हैं ! अकेले वही भारत के वामपंथियों को काबू में रखे हुए हैं। अतएव मेरी राय में उनके हाथ मजबूत करना दोनों देशों की मैत्री के पास को मजबूत करना है। पर मुझे आशंका है कि वर्तमान वातावरण में गांधीजी के सम्बन्ध में समझाना एक कठिन कार्य है। शायद इस मिशन में सफ-लता प्राप्त करने का सबसे अच्छा मार्ग है, जहां तक सम्भव हो, आपको सहयोग प्रदान करना, और मेरी त्रुटियों के बावजूद यदि आप समझते हैं कि मैं दोनों देशों में मैत्रीपूर्ण सम्पर्क स्थापित करने में उपयोगी सिद्ध हो सकता हूं तो आप मेरी तुच्छ सेवाओं पर हमेशा निर्भर कर सकते हैं।

ओटावा-परिषद् के सम्बन्ध में मेरा कहना यही है कि यदि आपकी यह अभिलाषा है कि उसमें भारतीय व्यवसाय और वाणिज्य का भी प्रतिनिधित्व रहे, जैसा कि मैं आपके पत्र से समझा हूं, तो जब कभी सर पुरुषोत्तमदास को निमंत्रण दिया जावेगा, वह खुशी-खुशी स्वीकार कर लेंगे। मैं यह उनकी पूरी रजामन्दी से लिख रहा हूं। संघ की समिति इस योजना के खिलाफ नहीं होगी। हम लोग

इस परिषद् की महत्ता को समझते हैं और, आप निश्चिन्त रहिये, ठीक दिशा में हमारा समर्थन मौजूद रहेगा।

क्या मैं इस सम्बन्ध में एक और सुझाव दे सकता हूं? ओटावा में जो कुछभी निर्णय हो, उसपर उस समय तक व्यवस्थापिका सभा द्वारा हस्ताक्षर न हो, जबतक नया विधान अमल में न आ जाय, और मेरी विनम्र सम्मति में समझौता उस समय तक अमल में न आवे जबतक उसपर नई सरकार हस्ताक्षर न कर दे। हम सब आर्थिक मामलों में प्रतिव्यवहार के कायल हैं। हां, यह अवश्य है कि व्यवस्था ऐसी हो कि वह लोकमत के अनुकूल हो। पर ऐसी योजना कोई कठिन कार्य नहीं है।

मुझे आपकी यह बात बड़ी अच्छी लगी कि आप इतिहास की बातों की ओर से उदासीन नहीं हैं। जहां तक हमारा सम्बन्ध है, आप हमें भावुकता और राजनीति को छोड़कर आर्थिक हितों के लिए काम करने को सदैव तत्पर पायंगे।

मैं यहां एक पखवाड़े रहूंगा और उसके बाद कलकत्ता वापस चला जाऊंगा।

भवदीय

जी० डी० बिड़ला

बाद को प्रस्ताव के तीसरे पैरे में थोड़ा-सा संशोधन कर दिया गया। मैंने फिर लिखा :

बिड़ला हाउस

नई दिल्ली

२८ मार्च, १९३२

प्रिय सर सेम्युअल,

संघ का वार्षिक अधिवेशन कल समाप्त हो गया और हम लोगों ने गर्मा-गर्म बहस के बाद प्रस्ताव पास कर ही लिया। इस पत्र के साथ उसकी एक प्रति भेजी जाती है। जैसा कि आप स्वयं देखेंगे, मूल प्रस्ताव के तीसरे पैरे में कुछ रद्दोबदल किया गया है, पर सार वही है। कई लिहाज से यह प्रस्ताव समिति द्वारा पास किये गए प्रस्ताव से अच्छा है, क्योंकि यह गोलमटोल बात न कहकर कुछ शर्तों के साथ निश्चित रूप से सहयोग प्रदान करता है।

मैंने अपने अंतिम पत्र में जो कुछ कहा है, मुझे उससे अधिक कुछ नहीं कहना है। मैंने लंदन में आपके साथ बातचीत के दौरान जो विचार रखे थे, मुझे यह कहते हुए संतोष होता हैं कि मैं संघ को उन्हें अपनाने को राजी करने में समर्थ हुआ हूं। अतएव आप जब कभी समझें कि हम भारत में शांति और प्रगति के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे, हम सहर्ष सहायता करने को तत्पर रहेंगे। मेरा तो आपसे यही

अनुरोध है कि आप दूरदर्शिता से काम लें। मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूं कि भारत का अधिकारी वर्ग दिन-प्रतिदिन की नीति बरत रहा है और अपने पथप्रदर्शन के लिए अनिश्चित और अज्ञात बातों पर निर्भर करता है। यह नीति राजनेताओं की नहीं है। मैं भारतीय स्थिति के इस पहलू पर और अधिक टिप्पणी करना नहीं चाहता हूं, पर मेरी बड़ी अभिलाषा है कि सरकार दोनों देशों के कामचलाऊ शांति के स्थान पर स्थायी शांति की चेष्टा करे। मैं तो समझता हूं, ऐसा वर्तमान अनुदार पार्लमिंट के होते हुए भी सम्भव है। बीच-बीच में आपका समय लेता रहता हूं, क्षमा करियेगा।

भवदीय

जी० डी० बिड़ला

८ अप्रैल को सर सेम्युअल होर ने उत्तर दिया कि वह मेरे द्वारा उठाये गये मुख्य-मुख्य प्रश्नों पर सावधानी के साथ विचार कर रहे हैं। उन्होंने बाद में इस विषय पर लिखने का वचन दिया। मेरी डायरी में लिखा मिलता है :

"मैं बंगाल के गवर्नर से १० अप्रैल, १९३२ के साढ़े दस बजे प्रातःकाल मिला। बड़े चतुर और बुद्धिमान प्रतीत हुए। बहुत कम बोलते हैं और आर्थिक समस्याओं को अच्छी तरह समझते मालूम होते हैं। मैंने मौसम को लेकर बात-चीत आरम्भ की और पूछा कि उन्हें गर्मी के कारण कुछ असुविधा तो नहीं होती है। इसके बाद ही हम अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की चर्चा में लग गये। मैंने आशा प्रकट की कि उनकी शिमला-यात्रा का परिणाम अपेक्षाकृत अधिक अच्छा होगा। उन्होंने पूछा कि क्या मेरा अभिप्राय: आर्थिक मामलों से है। मैंने कहा कि मैं आर्थिक मामलों में किसी प्रकार के सुधार की आशा नहीं रखता, मेरा अभिप्राय तो राजनैतिक मामलों से है। आर्थिक सुधार असम्भव कल्पना है। संसार दोषपूर्ण मौद्रिक व्यवस्था से पीड़ित है, और जबतक इस व्यवस्था में परिवर्तन न होगा उसमें स्वाभाविक समायोजन (Natural adjustment) को छोड़कर और किसी प्रकार सुधार होना संभव नहीं है, और इसमें काफी समय लगेगा। संभव है, इसके कारण समाज के ढांचे में असाधारण अव्यवस्था उत्पन्न हो जाय। वह मुझसे इस बारे में सहमत हुए कि मूल्यों के स्तर में स्थिरता अधिक उत्तम है; पर बोले कि प्रबंधित चलार्थ (Managed Currency) का प्रबन्ध न करने का जटिल काम किसके सुपुर्द किया जाय ? मैंने कहा कि यह तो कोई मुश्किल काम नहीं है। यदि हम रुपये के एवज में अमुक मात्रा में सोना लेने को तैयार हैं, तो हम रुपये के एवज में १०० दशनांक क्यों नहीं दे सकते हैं ? उन्होंने कहा कि दशनांक एक जटिल काम है। मैं सहमत तो हुआ, पर बोला कि संसार में कोई वस्तु पूर्ण नहीं है। उन्होंने कहा, सट्टेबाजी का बाजार

गर्म होगा। मैंने बताया कि सोने को छोड़कर और सारी चीजों में सट्टेबाजी कम होगी। उन्हें मेरा सुझाव पसन्द तो आया, पर साथ ही उन्होंने इस व्यवस्था को कार्यान्वित करने के मामले में घबराहट जाहिर की। मैंने कहा कि यह कार्य केवल तानाशाही के लिए ही सम्भव है। संसार मूर्ख प्रजातंत्र से पीड़ित है। हमें प्रजातंत्रीय तानाशाहों की दरकार है। बात में विरोधाभास-सा दिखाई अवश्य पड़ा, पर मेरा आशय उनकी समझ में आ गया। मैंने बताया कि १५ प्रतिशत राजनैतिक व्याधियों का कारण दोषपूर्ण आर्थिक व्यवस्था है। भारत मूल्यों के नीचे स्तर से पीड़ित है। इस स्तर को ५० प्रतिशत ऊपर उठा देना चाहिए। उन्होंने पूछा कि क्या मूल्यों का स्तर इतना ऊंचा उठाना आवश्यक है। मैं बोला, हां, सर वैसिल ब्लेकैट की भी यही राय है। मैंने उन्हें समूचे प्रश्न का अध्ययन करने की सलाह दी। १९२१ में किसानों में कोई हलचल नहीं थी। सारी राजनैतिक अशांति मजदूरों तक सीमित थी। अब यह क्या बात है कि मजदूर खामोश हैं और देहाती जनता में इतना असंतोष फैला हुआ है? वह सहमत हुए और बोले कि कांग्रेस ने मजदूरों में अशांति फैलाने की चेष्टा तो की थी, पर वह असफल रही। मैंने बताया कि मैंने इस प्रश्न का अध्ययन किया है, और देखा है कि कपड़े की खपत को छोड़कर किसान ने अन्य दिशाओं में बचत की है। इस वर्ष उसने सोना बेचकर, आंशिक लगान भुगताकर और सूद अदा न करके अपना गुजारा किया है। अगले वर्ष बेचने के लिए उसके पास सोना नहीं बचा है, इसलिए वह लगान और कर नहीं देगा। मैंने बताया कि मैं छोटा नागपुर में केवल ५ प्रतिशत लगान वसूल कर सका, पर वास्तव में अवस्था उतनी बुरी नहीं है। भारत में और चाहे जो हो, आगामी १५ वर्षों में उस समय तक शांति नहीं होगी जबतक मूल्यों का स्तर ऊंचा नहीं किया जायगा। परन्तु यदि राजनैतिक अशांति को दूर कर दिया जाय तो इस अशांति की स्थिति पर बहुत ही साधारण-सा प्रभाव पड़कर रह जायगा। मैंने उन्हें बताया कि मुझे यह सारा व्यापार बड़ा परेशान करने वाला भी लगता है और बड़ा सहज भी—सहज इसलिए कि हमारा ध्येय एक समान है। फिलहाल आरक्षणों और अभिरक्षणों सहित औपनिवेशिक स्वराज्य ही हम दोनों का लक्ष्य है। गांधीजी अभिरक्षणों के सम्बन्ध में चर्चा करना चाहते थे। इस विषय की चर्चा क्यों नहीं की गई और गांधीजी को अनेक मामलों पर विचार-विमर्श का अवसर क्यों नहीं दिया गया?

वह खामोश रहे। मैंने उन्हें बताने की चेष्टा की कि गांधीजी मुनासिब बात मानने को तैयार रहते हैं, और उन्हें यह भी बताया कि गांधीजी के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है। मैंने उन्हें बताया कि मैं गांधीजी को १९१६ से जानता हूं, १९२१ से उनका पक्का प्रशंसक रहा हूं और उनके साथ गोलमेज परिषद् में काम कर चुका हूं। मैंने यह भी कहा कि राजनैतिक और आर्थिक मामलों में मैं सरकार

का कड़ा आलोचक रहा हूं। यद्यपि मैंने सविनय अवज्ञा आंदोलन में भाग नहीं लिया है और न उसमें रुपया ही लगाया है, तथापि मैंने भी सरकार को अस्त-व्यस्त करने की भरसक चेष्टा की है और गांधीजी के रचनात्मक कार्यों में हाथ खोलकर रुपया दिया है। अतएव मैं गांधीजी के मन की बात जानने का दावा करूं तो बेजा नहीं होगा। गांधीजी बड़े ही विवेकशील और बड़े ही विनयशील आदमी हैं। मैं मानता हूं कि कांग्रेस की मांग को पूरे तौर से स्वीकार करना सम्भव नहीं है, पर साथ ही ऐसा शासन-विधान अमल में लाना सम्भव है, जिसे गांधीजी अस्वीकार न करें। ऐसा विधान अमल में लाने से लाभ ही क्या, जो स्वीकार्य न हो ? वह मुझसे सहमत हुए और बोले कि कुछ भी सही, शासन-विधान तो आ ही रहा है। कहा, यदि शासन-विधान को निष्क्रिय रूप से भी मंजूर न किया गया तो उसे अमल में लाना ही बेकार है। मैंने कहा कि वह बहुत कुछ कर सकते हैं। मैंने गांधीजी का जो वर्णन किया था, उससे वह सहमत हुए। फिन्डलेटर स्टूआर्ट ने उनसे गांधीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। उन्होंने बताया कि किस प्रकार उन्होंने आशंका प्रकट की थी कि सम्भव है, गांधीजी से जल्दबाजी में सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ करा दिया जाय, पर किस प्रकार फिन्डलेटर स्टूआर्ट ने कहा कि संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जो गांधीजी से उनकी मर्जी के खिलाफ जल्दबाजी करा सके, पर यह अवश्य दुर्भाग्य की बात है कि अपने सहकारी लोगों के कारण उन्हें उलझन में फंसना पड़ता है। मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि उन्होंने वस्तुस्थिति को गलत समझा। गांधीजी को जल्दबाजी से काम लेने को बाध्य किया लार्ड विलिंग्डन ने। भारत में कोई विवेक-बुद्धिवाला आदमी मौजूद ही नहीं था। अब हेली विवेकशील आदमी हैं। वह स्वयं (अर्थात् एण्डरसन) विवेकशील आदमी हैं। लार्ड विलिंग्डन को गांधीजी से कोई सहानुभूति नहीं है। वह उन्हें जानते नहीं, उन्हें समझते नहीं। गवर्नर ने पूछा कि क्या गांधीजी व्यावहारिक व्यक्ति हैं ? मैंने उत्तर दिया, बेहद। उन्होंने कहा कि उन्हें फिन्डलेटर स्टूआर्ट ने बताया है कि वह अधिक व्यावहारिक नहीं हैं। मैंने कहा कि एक पाश्चात्य मस्तिष्क के लिए गांधीजी-जैसे दार्शनिक मस्तिष्कवाले व्यक्ति का समझना कुछ कठिन है। उन्होंने जानना चाहा कि क्या गांधीजी आरक्षण और अभिरक्षण स्वीकार करेंगे। सेना के सम्बन्ध में मैंने उन्हें बताया कि हम जानते हैं कि हमें तुरन्त ही पूरा अधिकार नहीं मिलेगा, पर इस सम्बन्ध में गांधीजी ऐसा फार्मूला रखेंगे, जो सबके लिए ग्राह्य होगा। आर्थिक मामलों में हम एक ऐसे फैक्टरी के स्वामी जैसा आचरण करने को तैयार हैं, जिसने अपने डिबेन्चर बंधक रख दिये हों। डिबेन्चर होल्डर को उस समय तक फैक्टरी के दैनिक कार्यकलाप में टांग नहीं अड़ानी चाहिए जबतक उसे उसका रुपया नियमित रूप से मिलता रहे। मैं एक कदम और भी आगे बढ़ा और भविष्य के सम्बन्ध में कुछ ठोस सुझाव

पेश किये। यदि गांधीजी को रिहा कर दिया जाय और आतंकवादी आन्दोलन की समस्या के सम्बन्ध में कोई संतोषजनक हल निकल आवे तो खिचाव दूर हो सकता है और गांधीजी के लिए सहयोग करना सम्भव हो सकता है। उन्होंने सारी वातों को वड़े ध्यान के साथ सुना और कहा, "आपको भारत के अनेक व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक जानकारी है।" उन्होंने दार्जिलिंग से लौटने पर मुझसे और भी वातचीत करने की इच्छा प्रकट की और कहा, "आप भी दार्जिलिंग चलें तो क्या बुराई है?" मैंने जाने का वचन दिया।

५. लार्ड लोदियन का भारत आगमन

सन् १६३२ में लार्ड लोदियन भारतीय मताधिकार समिति के अध्यक्ष बनकर भारत आये। वह इंडिया आफिस में पार्लमिंटरी उपसचिव थे और भारत से उन्हें वड़ी सहानुभूति थी। मेरी उनकी खुलकर वातचीत हुई और समिति की रिपोर्ट प्रकाशित होने से पहले मैंने उन्हें एक पत्र लिखा। मेरी चेष्टा थी कि गांधीजी, जो उन दिनों जेल में थे, व्यावहारिक दृष्टि से विजयी सिद्ध हों, जिससे भविष्य में असहयोग-आंदोलन चलाने की आवश्यकता ही न रह जाय। किन्तु मेरी यह चेष्टा सफल न हो सकी। पत्र इस प्रकार था :

कलकत्ता
४ मई, १६३२

प्रिय लार्ड लोदियन,

समाचार-पत्रों में छपा है कि आपका मिशन पूरा हो गया और अब आप ११ तारीख को इंग्लैंड हवाई जहाज द्वारा वापस जा रहे हैं। आपकी समिति की रिपोर्ट शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगी और मैंने जो कुछ सुना है उसके आधार पर मुझे आशा होती है कि वह संतोषप्रद सिद्ध होगी। आप भारत में अपने प्रति मैत्री की भावना उत्पन्न कर सके, यह भी कोई कम लाभ की बात नहीं है। ईश्वर से प्रार्थना है कि भारत के साथ आपके सम्पर्क के फलस्वरूप दोनों देशों का सम्बन्ध मधुर हो।

मैं अभी आपको वर्तमान अवस्था के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखना चाहता हूं। अपनी अवलोकन सम्वन्धी असाधारण क्षमता और मैत्रीपूर्ण अवबोध (appreciation) के फलस्वरूप आप भी हालत को उतना ही समझने लग गये हैं जितना

एक भारतीय के लिए सम्भव है। मैं आपको केवल इसलिए लिख रहा हूं कि इस नाजुक अवसर पर, जबकि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का निपटारा होनेवाला है, इस तथाकथित दुहरी नीति की सफलता के सम्बन्ध में अपना संदेह प्रकट कर सकूं। जब हमने इस विषय की चर्चा कलकत्ता क्लब में की थी तो आपने विश्वास-पूर्वक कहा था कि भारत की सहायता करने का सबसे अच्छा मार्ग यही है कि सुधार जल्दी-से-जल्दी अमल में लाये जायं। मैंने यह बात उठाई थी कि ऐसे सुधारों से क्या लाभ, जब राष्ट्रवादी उनसे अलग रहेंगे ? बस, मेरे दिमाग में यही बात बार-बार उठ रही है। मैं एक प्रकार से निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि जबतक सुधारों को भारत के प्रगतिशील लोकमत का समर्थन प्राप्त नहीं होगा तबतक वे चाहे जैसे भी हों, सफल नहीं होंगे। मैं स्वीकार करता हूं कि फिलहाल एक उन्मूलक भारत और एक प्रतिक्रियावादी पार्लमिंट में समझौता शायद सम्भव न हो, पर अच्छी तरह विचार करने के बाद मुझे बोध होता है कि ऐसा शासन-विधान अमल में लाना असम्भव नहीं है, जिसे गांधीजी और उनके जैसे विचारों वाले व्यक्तियों की मूक सहमति प्राप्त हो। इससे कम-से-कम भारत को कुछ शांति तो मिलेगी, और यह विश्वास करने को मेरा जी नहीं करता कि कम-से-कम इस लक्ष्य की सिद्धि का कोई उपाय ढूंढ़ निकालना सम्भव नहीं है। मैं समझता हूं, इस उद्देश्य की सिद्धि दो प्रकार से हो सकती है : या तो गांधीजी का प्रत्यक्ष सहयोग प्राप्त करके, या उनके अप्रत्यक्ष सहयोग के द्वारा। गांधीजी और सर सेम्युअल होर में जो पत्र-व्यवहार चल रहा है उससे मुझे अधिक आशापूर्ण दृष्टिकोण अपनाने का प्रोत्साहन मिलता है। १९३० को असुविधा यह थी कि गांधीजी का शासकों से कोई सम्पर्क नहीं था। सौभाग्य से अब यह असुविधा दूर हो गई, अतएव यदि दोनों पक्षों में सद्भावना मौजूद हो तो रास्ता निकल सकता है।

अब हमें दोनों विकल्पों का विश्लेषण करना चाहिए। सबसे पहले हमें यह देखना चाहिए कि क्या उनका प्रत्यक्ष सहयोग प्राप्त करना सम्भव है ? मैं तो इसे उतना कठिन नहीं समझता। फर्ज करिये, आर्डिनेंसों को पुनः जीवित नहीं किया जाय। वैसी अवस्था में गांधीजी की क्या स्थिति होगी ? कार्यकारिणी का अन्तिम प्रस्ताव था कि यदि आर्डिनेंसों के मामले में ठोस राहत न मिले तो सविनय अवज्ञा की जाय। यदि आर्डिनेंस दुबारा जारी नहीं किये जायेंगे तो अवस्था में आमूल परिवर्तन हो जायगा। फिर केवल सीमा प्रान्त और बंगाल की समस्याओं का हल बाकी रह जायगा। युक्तप्रान्त में जवाहरलालजी ने लगान में जितनी छूट की मांग की थी, मेरी समझ से उससे भी अधिक छूट दे दी गई है, इसलिए वहां नई कठिनाइयां उत्पन्न नहीं होंगी। अतएव यदि आर्डिनेंसों की अवधि न बढ़ाई गई और गांधीजी को रिहा कर दिया गया, उन्हें वाइसराय से भेंट करने दी गई, बंगाल और सीमाप्रान्त में आर्डिनेंसों से उत्पन्न अवस्था पर विचार-विमर्श किया

गया, और इन दोनों स्थानों में गुत्थी सुलझ गई तो उसके बाद विधान-रचना-कार्य में सहयोग और राजनैतिक बंदियों की रिहाई तो आनन-फानन में हो जायगी। इस दिशा में मुझे एकमात्र कठिनाई यही दिखाई पड़ रही है कि भारतीय लोकमत गत वर्ष के मार्च मास की अपेक्षा कहीं अधिक कड़वा है। सम्भव है, गांधीजी के लिए केवल आर्डिनेंसों की मियाद न बढ़ाये जाने मात्र से कांग्रेस को सहयोग के लिए राजी करना कठिन हो। जनसाधारण का यह प्रश्न करना सम्भव है: "भारत को क्या मिला, जो हम सरकार के साथ शान्ति की बात करें?" इसमें संदेह नहीं कि गांधीजी कांग्रेस को अपने पक्ष में कर लेंगे, पर उसके लिए उन्हें कठोर प्रयास करना पड़ेगा।

दूसरा मार्ग अपेक्षाकृत अधिक आसान है। फर्ज करिये, आर्डिनेंसों की मियाद नहीं बढ़ाई गई, वैसी अवस्था में क्या यह सम्भव नहीं है कि कोई गांधीजी के मैत्रीपूर्ण पथप्रदर्शन के अनुसार विधान-रचना-कार्य में भाग ले? इस प्रकार जो समझौता होगा उसे गांधीजी का अप्रत्यक्ष आशीर्वाद तो प्राप्त होगा ही। कह नहीं सकता, गांधीजी को यह तरीका कितना रुचेगा, पर मैं समझता हूं, इसकी व्यावहारिकता की खोज करना ठीक ही होगा। कुछ भी कहिये, गांधीजी एकमात्र यही चाहते हैं कि अच्छा शासन-विधान प्राप्त हो, और यदि ऐसा विधान मिल सके, जो गांधीजी को नापसन्द न हो, तो विधान के निष्कंटक रूप से अमल में आने की सम्भावना बहुत बढ़ जायगी।

मैं ये सारी बातें आपके विचारार्थ लिख रहा हूं, क्योंकि मेरी प्रबल धारणा है कि यदि सरकार मुसलमानों, अस्पृश्यों और नरेशों पर निर्भर करके विधान अमल में लाई और उसे राष्ट्रवादी भारत की सहमति प्रदान न हुई तो वह बहुत भारी भूल करेगी। वैसी परिस्थिति में कशमकश जारी रहेगी और भारत को बहुत दिनों तक शांति नहीं मिलेगी। सरकार को केवल उसी हालत में कांग्रेस की उपेक्षा करनी चाहिए, यदि उसका यह इरादा हो कि कोई ठोस प्रगति नहीं करनी है और इस दुहरी नीति को देखकर जनसाधारण को स्वभावतया ही सरकार की नीयत पर संदेह होता है, और उसे जिज्ञासा होती है कि कांग्रेस के सहयोग की उपेक्षा करने का और क्या कारण हो सकता है? कलकत्ते में जो धारणा व्याप्त है, उसके आधार पर मैं कह सकता हूं कि गैर-सरकारी यूरोपियन तक यह प्रश्न उठा रहे हैं कि सुधारों को अमल में कौन लायगा? परसों के 'इंग्लिशमैन' में जो अग्रलेख निकला उसमें भी यही भाव व्यक्त किये गये हैं। इसलिए मैं चाहता हूं कि सरकार ऐसी कोई भूल न करे, और कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने के लिए सभी उपायों को खोज निकाला जाय।

आपकी सकुशल समुद्र-यात्रा की कामना करता हूं और आपकी रिपोर्ट प्रकाशित होने पर आपको बधाई भेजने की आशा करता हूं।

मैं १० तारीख को सर जान एन्डरसन से मिल रहा हूं। आपको जो कुछ लिखा है, उन्हें भी वताने का इरादा है।

भवदीय
जी० डी० बिड़ला

लार्ड लोदियन ने तुरन्त वचन दिया कि भारत-सचिव के इंग्लैंड लौटते ही वह इन विषयों को लेकर उनसे वातचीत करेंगे।

१४ मई, १९३२

प्रिय लार्ड लोदियन,

आपके १८ तारीख के पत्र के लिए अनेक धन्यवाद। आशा है, आपकी यात्रा बड़ी सुखद और आनन्ददायक सिद्ध हुई होगी। क्या आपको यह यात्रा समुद्र-यात्रा की अपेक्षा अधिक अच्छी लगी ? कम-से-कम मुझे तो हवाई जहाज से यात्रा करना अच्छा नहीं लगता।

कांग्रेस के आत्मत्याग के सम्बन्ध में आपने जो कुछ कहा, बड़ा ही सुन्दर रहा। ऐसे उद्‌गारों का जो अच्छा प्रभाव पड़ता है, उसका ठीक-ठीक अन्दाजा लगाना सम्भव नहीं है।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मैंने अपने पत्र में जिन वातों को उठाया है उनकी चर्चा आप भारत-सचिव के साथ करेंगे। मुझे ऐसा लगता है कि यहां रंग-ढंग में परिवर्तन होनेवाला है, पर सम्भव है, यह मेरा खयाली पुलाव-मात्र हो। मैंने अपने पिछले पत्र में जो कुछ कहा है उसकी पुष्टि में मुझे इतना और कहना है कि नेताओं की रिहाई के बगैर साम्प्रदायिक प्रश्न तक के निपटारे की संभावना नहीं है। यह प्रसन्नता की बात है कि अभी तक सरकार ने हस्तक्षेप नहीं किया है, और मेरी समझ में श्री जयकर, डा० मुंजे या पंडित मालवीय जैसे हिन्दू-सभाई नेताओं के लिए मुसलमानों की मांगों के स्वीकार किये जाने के लिए आवश्यक बुनियादी तैयारी करना सम्भव नहीं है। यह अकेले गांधीजी के बूते की बात है, और जबतक गांधीजी और अधिकांश नेता जेल में बन्द हैं तबतक सरकार का भारतीयों को इस मामले का निपटारा करने में असमर्थ रहने के लिए दोष देना बेकार है। आप पूछ सकते हैं कि गांधीजी के लंदन के लिए रवाना होने से पहले ही भारत में इस प्रश्न का निपटारा क्यों नहीं कर लिया गया ? मैं इस अभियोग को आंशिक रूप में स्वीकार करता हूं, पर मेरा कहना है कि भारतीयों ने सांप्रदायिक फूट को दूर करने की आवश्यकता को जितना अब समझा है, उतना पहले कभी नहीं समझा था। मेरी समझ में यदि नेताओं को रिहा कर दिया जाय और सारे महत्त्वपूर्ण मामलों पर शांत भाव से विचार करने योग्य वातावरण तैयार कर

दिया जाय तो साम्प्रदायिक समझौते की सम्भावना वहुत वढ़ जायगी और साम्प्रदायिक मामले के निपटारे के वाद यदि सर सेम्युअल होर गांधीजी को आगामी सितम्वर मास में लंदन बुला लें और उनसे अर्विन-प्रणाली के अनुरूप बरताव करें तो मैं समझता हूं कि हम लोग वहुत-कुछ प्रगति कर सकेंगे।

एक और ऐसी समस्या है, जिसकी ओर गम्भीर भाव से ध्यान देना आवश्यक है : वह है आर्थिक मंदी। मुझे आशंका है कि इंग्लैंड में इस वात को अच्छी तरह नहीं समझा जा रहा है कि भारत में कैसी नाजुक अवस्था उत्पन्न हो गई है। यदि मूल्यों का स्तर अच्छी तरह ऊंचा नहीं उठा तो मुझे भय है कि अगले वर्ष में परले दर्जे की अव्यवस्था हुई रखी है। मैंने इसकी चर्चा सर जान एंडरसन से भी की थी और मैं समझता हूं उन्होंने अवस्था की गुरुता को समझा भी।

ओटावा-परिषद् तो आरम्भ से ही एक प्रकार से स्मशान-भूमि के सुपुर्द हो गई। सरकार को अपने ही ढंग से काम करने की टेव-सी है। १९३० में रेनी रुई की चुंगी के मामले में ब्रिटेन के पक्ष में अधिमान देना चाहते थे, यद्यपि भारत का समूचा व्यापारी-समुदाय इसके खिलाफ था। परिणाम जो हुआ, हम सव जानते ही हैं। इस बार भी ओटावा-परिषद् में भारतीय व्यापारी वर्ग के मनोभावों के विपरीत कुछ करने की वात सोची जा रही है, और इसका परिणाम यह हुआ है कि ओटावा-परिषद् के खिलाफ लोकमत इतना प्रवल हो उठा है कि सम्बद्ध विषयों पर उन्हीं के गुण-दोषों के अनुरूप शांतभाव से विचार करना असम्भव हो गया है। मैत्रीपूर्ण समझौते के द्वारा क्या कुछ प्राप्त करना सम्भव था, इसका अंदाजा तो मैनचेस्टर में अधिमान के पक्ष में गांधीजी के उद्‌गारों से ही लग सकता था, पर भारत में सरकार उचित मनोवृत्ति के साथ काम करना तो चाहती ही नहीं। वह तो चीज लादना चाहती है। यह सव में आपको यह वताने के लिए लिख रहा हूं कि किस प्रकार भारत में यदाकदा व्यवहार-कुशलता के अभाव के कारण उपद्रव हुआ करते हैं।

मुझे आपके इन मनोभावों से वड़ा ही आह्लाद हुआ कि नवीन विधान के द्वारा विधान के मुख्य अंगों को समान रूप से अधिकार मिलने चाहिए।

आपने पूछा है कि क्या मेरा इन गर्मियों में लंदन में आपसे मिलना सम्भव है ? मैं यही प्रश्न तो आपसे करना चाहता हूं। आप गांधीजी को बुलाइये, हम सव भी साथ हो लेंगे।

आशा है, आप सानन्द हैं।

भवदीय
जी० डी० बिड़ला

उसी साल १९ जुलाई को मैंने सर जॉन एन्डरसन से मुलाकात करके उनकी

और गांधीजी की भेंट कराने की चेष्टा की। सर जॉन इस वात के लिए बड़े उत्सुक थे कि अपने कार्यकाल में वह गांधीजी से मिल लें। सच पूछिये तो प्रायः सभी ब्रिटिश गवर्नर ऐसा ही चाहते थे, यद्यपि उनमें से कुछ सिर्फ कौतूहलवश ऐसा करना चाहते थे। वे यह नहीं चाहते थे कि उन्हें अपने देश लौटकर यह कहना पड़े कि भारत के सवसे महान् व्यक्ति से उनकी मुलाकात नहीं हुई; पर जहां तक सर जॉन एन्डरसन का सम्वन्ध था, उनमें सिर्फ कौतूहल की भावना नहीं थी, वह तो कई गम्भीर कारणों से गांधी से मिलने के इच्छुक थे। किन्तु वाइसराय लार्ड विलिंग्डन प्रान्तीय गवर्नरों के गांधीजी से मिलने पर राजनैतिक दृष्टिकोण से आपत्ति किया करते थे। फिर भी मुझे यह कहते खुशी होती है कि सर जॉन और गांधीजी के वीच मुलाकात हुई, यद्यपि वह बड़ी ही कठिनाइयों और परेशानियों के वाद सम्भव हो पाई। इन कठिनाइयों और परेशानियों से आसानी के साथ वचा जा सकता था। मैंने उनसे प्रस्ताव किया था कि मुझे गांधीजी से जेल में मिलने दिया जाय। इन दिनों की मेरी डायरी में, जो कभी लिखी गई और कभी नहीं लिखी गई, सर जॉन से की गई मेरी बातचीत के बारे में यह संक्षिप्त नोट दर्ज है :

"१६ जुलाई, १६३२ को जॉन एन्डरसन के साथ मुलाकात...उन्होंने वताया कि वह वाइसराय से दो वार वात कर चुके हैं...वाइसराय को आपत्ति नहीं है...जॉन एन्डरसन लिखेंगे...मैंने कहा, गांधीजी अनुमति वगैर राजनीति की चर्चा नहीं करेंगे...जॉन एन्डरसन ने उत्तर दिया कि मैं वाइसराय के नाम चिट्ठी और उनका उत्तर दिखा सकता हूं।...मैं स्वयं अपने पथप्रदर्शन के लिए जाता हूं...यह स्पष्ट हो ही जायगा...उन्होंने मेरे भाषण की चर्चा की...मैंने उत्तर दिया कि वास्तव में वह मुलाकात थी...उन्होंने मेरी स्थिति को समझा...मैंने स्पष्ट रूप से कह दिया कि हमारा भाग लेना गांधीजी पर निर्भर करता है...हम लोग खुद कुछ नहीं कर सकते...मैंने सुझाया कि आर्डिनेंस के वावजूद गांधीजी को आमन्त्रित क्यों न किया जाय...उन्होंने कहा, अनुदार दलवाले अड़चन पैदा करेंगे...मैंने कहा, इसकी समाप्ति कैसे होगी...वह सहमत हुए...आर्थिक मामलों की चर्चा हुई...उन्होंने कहा, आवकारी की चुंगी पर वातचीत की जा रही है।

इसके वाद गांधीजी का आमरण अनशन आरम्भ हुआ।

इस समय मेरी मुख्य चिन्ता यह थी कि गांधीजी को जेल से छुड़ा लिया जाय। उन्होंने जेल में हरिजनों के मताधिकार के प्रश्न पर अनशन शुरू कर दिया था। मैंने सर तेज बहादुर सप्रू, सर सेम्युअल होर और लार्ड लोदियन को निम्नलिखित तार भेजे :

जरूरी तार

सर तेज वहादुर सप्रू, इलाहावाद

अनुरोध करता हूं, आप गांधीजी की रिहाई के लिए चेष्टा करिये। मैं समझता हूं अस्पृश्यों के साथ समझौता करने से संकट टल सकता है, पर यह केवल गांधीजी के व्यक्तिगत प्रभाव के द्वारा ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त उनकी रिहाई से अन्य महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों की भी सिद्धि होगी। इसलिए आशा है, आप सभी आवश्यक कार्रवाई करेंगे।

घनश्यामदास विड़ला

समुद्री तार

सर सेम्युअल होर

इंडिया आफिस, लंदन

संकट इतना गंभीर है कि आपको यह तार भेजना कर्त्तव्य समझता हूं। मेरी विनम्र सम्मति में यदि सरकार सचमुच सहायता करे तो समस्या हल हो सकती है। सवसे पहले गांधीजी को अन्य प्रमुख नेताओं के साथ तुरन्त रिहा कर देना चाहिए। गांधीजी की उपस्थिति अस्पृश्यों के साथ समझौता करने में वड़ी सहायक होगी। वाद को सरकार को इस समझौते की पुष्टि करनी चाहिए। इससे अन्य महत्त्वपूर्ण समस्याओं के हल का मार्ग भी खुल जायगा। अतएव अनुनय है कि गांधीजी की रिहाई में बिलम्ब न किया जाय। कहना अनावश्यक है, उनकी मृत्यु भारत के लिए ही नहीं, समूचे साम्राज्य के लिए दुर्भाग्य की वात होगी। व्यक्तिगत रूप से विश्वासपूर्वक कह सकता हूं और आशा है, आपका भी यही विश्वास है कि वह ब्रिटेन के भी उतने ही वड़े मित्र हैं, जितने भारत के।

जी० डी० विड़ला

८, रायल एक्सचेंज प्लेस

१३.९.३२

इस अंतिम तार के उत्तर में मुझे इंडिया आफिस से यह पत्र मिला :

इंडिया आफिस

ह्वाइट हॉल

१४ सितम्बर, १९३२

प्रिय श्री विड़ला,

मैं आपको यह पत्र यह वताने के लिए लिख रहा हूं कि सर सेम्युअल होर के नाम आपका १३ सितम्बर का तार मिल गया है। इस समय सर सेम्युअल

वाल्मोरल केसल गये हुए हैं, वहीं आपका तार भेज रहा हूं।

भवदीय
डब्ल्यू० डी० क्रोफ्ट

मैंने लार्ड लोदियन को जो तार भेजे थे उनकी शायद कोई नकल मैंने नहीं रखी है; पर मुझे उनकी पहुंच की निम्नलिखित सूचना मिली। बाद में मैंने उन्हें नीचे लिखा पत्र भेजा :

इंडिया आफिस
ह्वाइट हॉल
१४ सितम्बर, १९३२

प्रिय श्री बिड़ला,

लार्ड लोदियन ने मुझे आपके १३ सितम्बर के तार की, जिसमें आपने बताया है कि गांधीजी का अनशन करने का विचार है, पहुंच स्वीकार करने की आज्ञा दी है। उन्होंने आपके तार की नकल लार्ड अरविन के पास भेज दी है।

१६ सितम्बर, १९३२

प्रिय लार्ड लोदियन,

मैंने आपके पास गांधीजी की रिहाई के सम्बन्ध में एक तार भेजा था और मैं समझता हूं, आपके पास ऐसे ही और बहुत सारे तार पहुंचे होंगे। मैंने सर सेम्युअल के पास भी ऐसा ही तार भेजा था, और आज सुबह के पत्रों में देखता हूं कि गांधीजी को कुछ शर्तों पर रिहा किया जायगा। ये शर्तें उनके अनशन आरम्भ करने के बाद लागू होंगी। यह कुछ हद तक ठीक ही हुआ; पर मुझे कहना पड़ता है कि इस मामले में भी काम भौंड़े ढंग से किया गया। यदि सरकार उन्हें तुरन्त और बगैर किसी शर्त के रिहा कर देती तो उसका कुछ बिगड़ता नहीं। यदि सरकार उनके कुछ प्रमुख सहयोगियों को भी रिहा कर देती तो और भी अच्छा रहता, क्योंकि इस संकट के अवसर पर सभी को उनकी सहायता की जरूरत पड़ेगी। प्रधान मंत्री की तर्कशैली समझ में नहीं आई। वह सर्वसम्मत समझौता चाहते हैं; पर इस वृद्ध को बम्बई तट पर पांव रखते ही जेल में ठूंस देते हैं और मरणासन्न अवस्था में रिहा करते हैं। ऐसी अवस्था में सर्वसम्मत समझौता क्योंकर सम्भव है, यह साधारण कोटि के मनुष्यों की समझ के बाहर की बात है। इस गर्मी के लिए क्षमा करियेगा, पर जब हम देखते हैं कि इस संकट के अवसर पर अच्छे ढंग से पेश आने के बजाय सरकार स्थिति को और भी कठिन बना रही है, तो हमारे चित्त की अवस्था का आप खुद अन्दाजा लगा सकते हैं।

आप जैसी भी सहायता कर सकते हैं, अवश्य करिये। हमें सलाह भी दीजिये। मैं कुछ हफ्ते गांधीजी के पास रहूंगा और बम्बई में मेरा पता "बिड़ला हाउस, मलाबार हिल, बम्बई" रहेगा। आप मंत्री अवश्य हैं, पर मुझे आशा है कि आप सरकारी कायदे-कानून की परवा न कर यथासम्भव हमारी सहायता करेंगे।

भवदीय
जी० डी० बिड़ला

अम्बेदकर के साथ किये गए समझौते के इतिहास का ब्योरा यहां देने की आवश्यकता नहीं है। उसे सम्पन्न कराने में मेरा काफी हाथ था।

६. फिर संरक्षण

सर सेम्युअल होर के इस समय के रुख से मुझे बड़ी निराशा हुई। जब गांधी-जी गोलमेज-परिषद् में भाग लेने के लिए लंदन गये थे तब तो ऐसा लगा था कि उनके महत्त्व को सर सेम्युअल कुछ-कुछ समझते हैं; पर अब ऐसा मालूम दे रहा था जैसे वह इस बात को समझ ही नहीं पा रहे हैं कि ब्रिटिश सरकार की कोई भी योजना, या भारत के लिए विधान बनाने का कोई भी वचन, उस समय तक सफल नहीं हो सकता, जबतक वह गांधीजी को पसन्द न हो। इसलिए मैंने सर सेम्युअल को एक पत्र लिखा, जिसमें मैंने अपनी निराशा की भावना साफ-साफ व्यक्त कर दी। पत्र लिखने का तात्कालिक कारण वह निमन्त्रण था, जो सर सेम्युअल ने गोलमेज-परिषद् की आर्थिक और व्यावसायिक संरक्षणों की विशेष समिति में भाग लेने के लिए मुझे भेजा था। मैंने अपने पत्र में लिखा :

बिड़ला हाउस, नई दिल्ली
२ नवम्बर, १९३२

प्रिय सर सेम्युअल,

आज मुझे बंगाल के गवर्नर महोदय के पास से तार मिला है, जिसमें उन्होंने मुझे आपकी ओर से उस विशेष उपसमिति में भाग लेने को आमन्त्रित किया है, जो आर्थिक और व्यापारिक अभिरक्षणों पर विचार करने के लिए नियुक्त की जाने वाली है। मैं इस निमन्त्रण के लिए आभारी हूं, और इस विचार-विमर्श में भाग लेने में मुझे प्रसन्नता होती; पर कुछ ऐसी परिस्थितियां हैं, जिनके कारण मेरा भाग

लेना कठिन हो गया है। उन कठिनाइयों को कुछ विस्तार के साथ दे रहा हूं। आशा है, आप इसे ठीक ही समझेंगे।

मैंने जो गत मार्च मास में अपने प्रभाव से काम लेकर भारतीय वाणिज्य-उद्योग-संघ को एक निर्दिष्ट पथ अपनाने को राजी किया था सो एक निश्चित उद्देश्य से प्रेरित होकर ही किया था। बहुत सम्भव है, वह उद्देश्य कुछ स्वार्थपूर्ण रहा हो; पर वह मौजूद अवश्य था, और मैंने सोचा था कि आपको अपने लोगों का सहयोग प्रदान करके—वह सहयोग चाहे कितना ही मर्यादित क्यों न हो—मैं आपको विश्वास दिला दूंगा कि हम लोग सच्चे मित्र हैं और दोनों देशों में स्थायी मैत्री स्थापित करने को हृदय से उत्सुक हैं। मैंने समझा था कि जहां एक बार आपका हमारे ऊपर विश्वास जमा कि हमारे लिए आपकी यह दिलजमई करना कठिन नहीं होगा कि हमारी सलाह कितनी विवेकपूर्ण है। इस उद्देश्य में मैं पूर्ण-तया असफल रहा।

मेरे १४ और १८ मार्च, १९३२ के पत्रों के उत्तर में आपने अपने ८ अप्रैल, १९३२ के पत्र में लिखा था कि आप मुझे फिर लिखेंगे, पर मुझे उसके बाद कोई पत्र नहीं मिला। आपने ओटावा-परिषद् और भारतीय व्यापारियों के सहयोग के प्रश्न पर मुझसे सलाह लेने की अनुकम्पा दिखाई, और मैंने सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास को ओटावा जाने को राजी किया, पर जिस ढंग से पत्र-व्यवहार अचा-नक बन्द कर दिया गया और भारत सरकार ने जो रवैया अख्तियार किया, उससे मेरी स्पष्ट धारणा हो गई कि हमारा मैत्री का आश्वासन स्वीकार नहीं किया गया है। ओटावा के सम्बन्ध में भारतीय वाणिज्य-उद्योग-संघ की बिलकुल उपेक्षा की गई, और जब आपने विधान-विषयक कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में वक्तव्य दिया और कहा कि आर्थिक अभिरक्षणों की चर्चा विशेषज्ञों की समिति करेगी, तब भी मुझे पता तक नहीं था कि आप क्या कार्य-प्रणाली अपनाने जा रहे हैं। मुझे तो अब भी विशेष उपसमिति के गठन और अधिकारियों के सम्बन्ध में कुछ पता नहीं है। और, किसी बात का पता न होते हुए भी मुझसे वक्त-बे-वक्त कहा जा रहा है कि लंदन को रवाना हो जाऊं, जबकि भारतीय व्यापारी-वर्ग की पूर्ण उपेक्षा की गई है और सब चिढ़े हुए हैं। मैंने वह प्रस्ताव अपने मण्डल में स्वयं संयोजित किया था, इसलिए जबतक मुझे यह विश्वास न हो जाय कि स्वतंत्र रूप से आच-रण करने से मैं प्रस्ताव की आत्मा के विरुद्ध नहीं जा रहा हूं, तबतक मेरे लिए वैसा करना ईमानदारी का काम नहीं होगा। यदि मैं प्रस्ताव की आत्मा के प्रति बलात्कार करूंगा तो स्वयं अपनी दृष्टि में गिर जाऊंगा। मुझे आशा है कि आप इस बात को और सबसे पहले समझ लेंगे।

मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि मैं किसी प्रकार की शिकायत नहीं कर रहा हूं। मैं तो इस बात का क्षण-भर के लिए भी दावा नहीं कर सकता कि भारत-

सचिव मुझे भेद की बातें बता दें। सम्भव है, आपको यह बताया गया हो कि भारत-सचिव को मेरे जैसे साधारण व्यक्ति के साथ पत्र-व्यवहार नहीं करना चाहिए, और इसी कारण पत्र-व्यवहार का अन्त हो गया हो। खुद मुझे भी आपको सीधे लिखने का साहस नहीं होता; पर आपने लंदन में मुझे निश्चिन्त करने की ओर यह सुझाने की कृपा की थी कि मुझे जब कभी कोई उपयोगी बात कहनी हो, मैं आपको पत्र लिख सकता हूं। अतएव मैं किसी तरह की शिकायत नहीं कर रहा हूं। मैं तो केवल यही बताना चाहता हूं कि दूसरी ओर से उत्तर न मिलने पर किसी आदमी के लिए किसी प्रकार का उपयोगी कार्य करना कितना कठिन हो जाता है। इसलिए जबतक हम लोगों को मित्र के रूप में ग्रहण नहीं किया जायगा और वास्तविक शांति-प्रस्थापन की दिशा में उपयोगी कार्य करने के लिए हमें कुछ ढील न दी जायगी तबतक मेरे या सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास के लंदन जाने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

यहां मैं यह बता दूं कि 'ढील' से मेरा क्या अभिप्राय है। मैं आपका ध्यान संघ के तीसरे प्रस्ताव के 'अ' पैरे की ओर आकृष्ट करना चाहता हूं, जिसका आरम्भ 'कोई वास्तविक इच्छा नहीं है' से होता है। मैंने इन शब्दों का हमेशा अपना ही अर्थ लगाया है। मेरी धारणा है कि हम व्यापारियों का प्रभाव सीमित है; पर यदि उसका ठीक-ठीक उपयोग किया जाय तो उससे काफी सहायता मिल सकती है। अतएव मैंने वास्तविक इच्छा का यही अर्थ लगाया है कि जब कभी सरकार हमारे प्रभाव का ठीक-ठीक उपयोग करना चाहेगी उसका मतलब यही लिया जायगा कि भारत के प्रगतिशील लोकमत के साथ समझौता करने की उसकी वास्तविक इच्छा है, और मेरा निवेदन है कि आर्थिक चर्चा में भाग लेने देना मात्र हमारे प्रभाव का ठीक-ठीक उपयोग करना नहीं है। यदि हमें समर्थन प्राप्त नहीं होगा तो मैं या सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास इंग्लैंड में क्या करेंगे? भारतीय व्यापारी समाज हमारा समर्थन नहीं करेगा। मेरे मित्र सर पुरुषोत्तमदास की आलोचना आरम्भ हो ही गई है, और चूंकि हम लोग राजनीतिज्ञ नहीं हैं, इसलिए हम राष्ट्रवादी वर्ग के समर्थन का दावा नहीं कर सकते। अतएव यदि हम लंदन में कुछ अभिरक्षणों को स्वीकार करने का निश्चय कर लें तो भी जहां तक, भारतीय लोकमत का सम्बन्ध है, वह निश्चय किसी पर लागू नहीं होता। अतः यदि हम किसी प्रकार के समर्थन के वगैर काम करेंगे तो अवस्था और भी बिगाड़ देंगे। हम लोग उचित समर्थन-सहित बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे, और उसके बगैर, बिलकुल बेकार। हम केवल इसी तरह उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं कि इस अभिरक्षण-सम्बन्धी चर्चा में भाग लेने से पहले हमें इस मामले में ढील दी जाय कि हम गांधीजी को नये विधान में साथ देने को राजी करने में अपने प्रभाव से काम लें, बशर्ते कि हम उससे संतुष्ट हों, और मेरा निवेदन है कि वैसी परिस्थिति उत्पन्न करने

में हमारी सेवाएं बड़ी उपयोगी सिद्ध होंगी। मैं मानता हूं कि मंत्रिमंडल के लिए गांधीजी की मांग पूरी तौर से स्वीकार करना शायद संभव नहीं होगा, पर मेरा कहना यह है, और मैंने अपने अन्तिम पत्र में भी यही बात कही थी कि वर्तमान अनुदार पार्लमिंट तक के लिए ऐसा विधान देना तो सम्भव है ही कि वह कांग्रेस को ग्राह्य न होने पर भी गांधीजी द्वारा रद्द न किया जाय। मुझे आशा है, आप ऐसी स्थिति की कल्पना स्वयं कर लेंगे, जिसमें उन्हीं लोगों की सदाकांक्षा अथवा सहयोग के बगैर विधान अमल में लाया जाय, जो श्री चर्चिल के हाल में व्यक्त किये शब्दों में "राजनैतिक भावनाओं को शांत अथवा उद्दीप्त करने में समर्थ हैं।" मैं यह बात आत्मविश्वास के साथ लिख रहा हूं, क्योंकि मैं गांधीजी को हमेशा समझौते में विश्वास रखने वाला जानता आ रहा हूं। आप उनके घनिष्ठ मित्र हैं ही, इसलिए आप यह बात समझ ही लेंगे।

उनके उपवास आरम्भ करने से पहले मैंने उनसे मिलकर स्थिति के सम्बन्ध में बातचीत करने की अनुमति प्राप्त करने की चेष्टा की थी, और सर जॉन एंडरसन ने मेरी सहायता भी की थी। पर मैं सरकार की अनुमति प्राप्त नहीं कर सका। इसके बाद उनके उपवास के आरम्भ करने के थोड़े ही पहले मुझे उनसे बात करने का अवसर मिला; पर उस समय तक अन्य बातें अपेक्षाकृत कहीं अधिक महत्त्व धारण कर चुकी थीं, इसलिए मैंने रुकना मुनासिब समझा। उपवास के दौरान वह अत्यन्त दुर्बल हो गये थे, इसलिए मैंने उनकी शक्ति पर भार डालना ठीक नहीं समझा। उपवास के बाद सारी मुलाकातें बन्द कर दी गईं, पर मुझे अस्पृश्यता निवारण-कार्य के सिलसिले में उनसे मिलने की इजाजत मिल गई। मैंने उनसे चार घंटे तक बातचीत की, पर किसी प्रकार की सविस्तर राजनैतिक चर्चा में उन्होंने दिलचस्पी नहीं ली। उन्होंने कहा, और ठीक ही कहा कि मुझे इन बातों की चर्चा नहीं करनी चाहिए। परन्तु उन्होंने यह बात स्पष्ट रूप से इंगित कर दी कि वह शांति-प्रस्थापन के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं, और उन्होंने वचन दिया कि यदि मैं इन विषयों की चर्चा करने की अनुमति प्राप्त कर लूंगा तो वह मुझे कुछ लिखकर देंगे। मैंने एक बार फिर हिज़ एक्सीलेंसी सर जान एण्डरसन से सहायता की याचना की, और उन्होंने एक बार फिर शिमला को लिखने का वचन दिया। उन्होंने ऐसा किया भी होगा, पर उसका कोई फल नहीं निकला। इस समय स्थिति यह है कि अस्पृश्यता-निवारण-विषयक कार्य से सम्बन्ध रखने वाले पत्र-व्यवहार तक पर बन्दिश लगा दी गई है। आशा है, यह प्रतिबन्ध उठा लिया जायगा। मैंने एक पखवाड़े पहले एक पत्र लिखा था, जिसमें अस्पृश्यता-सम्बन्धी कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की चर्चा की गई थी, पर वह यरवदा में अभी वैसे ही पड़ा है। आप शायद जानते ही होंगे, मैं अस्पृश्यता-निवारक संघ का प्रधान नियुक्त हुआ हूं और हमें देश के कोने-कोने में आश्चर्यजनक सफलता मिल रही है। परन्तु इस विशुद्ध

रचनात्मक और सामाजिक कार्य तक में सरकार हमारे साथ 'अस्पृश्यों' जैसा व्यवहार कर रही है। जब ऐसा वातावरण फैला हुआ है तो आप एक व्यावहारिक आदमी के नाते यह आशा कैसे कर सकते हैं कि सुधारों से कुछ भलाई होगी ? विधान अमल में लाने से पहले विश्वास के वातावरण की दरकार है।

मैंने कुछ विस्तार के साथ लिखा है, और ऐसा करने का मुझे साहस इसलिए हुआ कि मेरा विश्वास है कि अड़चन ह्वाइट हॉल ने नहीं, शिमला,ने पैदा की है। मैं आपकी कठिनाइयों को अच्छी तरह समझता हूं, पर मेरा कहना यही है कि पारस्परिक सहयोग के द्वारा उनपर काबू पाया जा सकता है। यह स्पष्ट ही है कि आप सचमुच ठोस काम चाहते हैं, अन्यथा आप आर्थिक अभिरक्षणों की चर्चा के लिए समिति नियुक्त नहीं करते। पर मैं एक ऐसे आदमी के नाते, जो आपका बड़ा आदर करता है, यही सलाह दूंगा कि आप सुधार जारी करने से पहले गांधीजी का वचन प्राप्त करें, और इस क्षेत्र में मैं दिलोजान से आपके साथ काम करने को तैयार हूं। बाद को मैं आर्थिक अभिरक्षणों के मामले में भी सहायता करूंगा। यदि मुझे अनुमति मिल गई तो मैं गांधीजी से इन विषयों की इस प्रकार चर्चा करूंगा कि किसी को कानोंकान खबर न हो, और न अटकलबाजी का बाजार ही गर्म हो। उनका सहयोग किस प्रकार प्राप्त किया जाय, इस निमित्त चर्चा करने के लिए मैं लंदन तक आने को तैयार हूं। पर मैं उस आदमी-जैसा ढोंग नहीं रखना चाहता, जो कुछ सामर्थ्य न रहते हुए भी वैसा भाव जतावे।

आशा है, मैंने स्थिति अच्छी तरह स्पष्ट कर दी है। आशा है, यह पत्र जिन मनोभावों से प्रेरित होकर लिखा गया है उन्हीं के साथ इसे ग्रहण किया जायेगा।

मैंने आपका निमंत्रण और यह पत्र दोनों गुप्त रखे हैं।

संघ के प्रस्ताव की एक प्रति भी साथ भेज रहा हूं, जिससे आपको हवाले के लिए कष्ट न उठाना पड़े।

भवदीय
जी० डी० बिड़ला

७. हरिजनोत्थान-कार्य

गांधीजी यरवदा जेल में ही हरिजनों के काम में लग गये थे। इस समय हम लोग 'अखिल भारत हरिजन-सेवक संघ' की स्थापना कर रहे थे। मैं उसका अध्यक्ष

बना और इस हैसियत से मैंने डाक्टर विधानचंद्र राय को संघ की बंगाल-शाखा का अध्यक्ष बनने को कहा। डाक्टर विधानचंद्र राय, जो कि इस समय पश्चिमी बंगाल के मुख्य मंत्री हैं, इस पद के लिए मुझे बहुत ही उपयुक्त मालूम हुए, क्योंकि वह हरिजनों के उद्धार के प्रबल समर्थक तो थे ही, साथ ही गांधीजी के पक्के अनुयायी और उनके सलाहकार-चिकित्सक भी थे। कुछ लोगों की राय थी कि डाक्टर राय राजनीति में भाग लेते हैं, इसलिए उन्हें संघ का अध्यक्ष चुनने से इस विशुद्ध सामाजिक और मानवीय आन्दोलन में अवांछनीय राजनैतिक पुट आ जायगा। गांधीजी ने पहले तो डाक्टर राय के अध्यक्ष चुने जाने का समर्थन किया; पर बाद में आलोचकों की टीका-टिप्पणी सुनकर अपना विचार बदल दिया और डाक्टर राय को एक पत्र लिखकर उनसे अध्यक्ष-पद से हट जाने को कहा। डाक्टर राय ने जो उत्तर दिया, उसमें क्रोध की मात्रा कम, क्षोभ की अधिक थी, और उनके विरोध का ढंग भी इतना मर्यादापूर्ण था कि उससे गांधीजी के विचारों में फौरन परिवर्तन आ गया। उन्होंने जो-कुछ लिखा था, उसे उन्होंने बिना किसी शर्त के वापस ले लिया और डाक्टर राय से अपने पद पर बने रहने का अनुरोध किया। आज शायद इस सारी घटना का कोई बड़ा महत्त्व नहीं है, फिर भी इसका उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि इससे न केवल गांधीजी की भावुकता का ही, अपितु उनके उदार स्वभाव का भी एक दृष्टांत मिलता है, और यह भी पता चलता है कि हम सब किस प्रकार उनके प्रेम की डोर में बंधे हुए थे। मित्रों की बातें सुनते समय जहां वह सहृदयतापूर्ण भावुकता व्यक्त किया करते थे, वहां बड़ी समस्याओं और सिद्धान्तों की बात आने पर अपनी इस्पात-जैसी न झुकनेवाली आत्मशक्ति का भी परिचय देते थे।

नवम्बर महीने के अंत में जेल से लिखे गये गांधीजी के पत्र से प्रकट होगा कि हमारी संस्था का नाम उन्होंने ही चुना था :

यरवडा मन्दिर
२८-११-३२

भाई घनश्यामदास,

शिंदेजी की बड़ी शिकायत है कि हमने उनकी संस्था का नाम चुरा लिया। यह शिकायत ठीक मालूम होती है। हमको काम के साथ काम है, नाम के साथ नहीं, इसलिए मेरी सूचना है कि हम अखिल भारत हरिजन-सेवा-संघ नाम रखें और अंग्रेजी और देशी भाषा में यही नाम रखें। तुम आ तो रहे हो लेकिन शायद यह तुम्हें वक्त पर मिल जायगा।

बापू के आशीर्वाद

यह पत्र मुझे और डाक्टर राय को आगे बढ़ने के लिए हरी झंडी स्वरूप था। पर टीका-टिप्पणी करनेवाले कब चुप बैठनेवाले थे? जल्दी ही गांधीजी ने डाक्टर राय को यह पत्र लिखा :

यरवडा केन्द्रीय जेल
पूना
७ दिसम्बर, १६३२

प्रिय डाक्टर विधान,

मैंने बंगाल के अस्पृश्यता-निवारक बोर्ड के सम्बन्ध में श्री घनश्यामदास बिड़ला और सतीशबाबू से देर तक बात की। मेरे पास बंगाल से कई पत्र भी आये हैं, जिनमें बोर्ड के गठन के सम्बन्ध में शिकायत की गई है। बोर्ड के गठन से पहले घनश्यामदास ने मुझे बताया था कि वह इसके लिए आपसे कहेंगे; मैंने भी बात पर पूरी तौर से विचार किये बगैर उनके सुझाव का अनुमोदन कर दिया था। पर अब देखता हूं कि बंगाल में यह विचार नहीं रुचा, खासतौर से सतीशबाबू और डाक्टर सुरेश को। उनकी धारणा है कि बोर्ड दलबन्दी से मुक्त नहीं रह सकता है। नहीं जानता कि उनकी यह आशंका कहां तक ठीक है, पर मैं इतना तो अवश्य जानता हूं कि अस्पृश्यता-निवारण-कार्य में किसी भी प्रकार की दलबन्दी को प्रश्रय नहीं मिलना चाहिए। हम तो यही चाहते हैं कि जो कोई भी संस्था बने, सुधार की इच्छा रखनेवाले व्यक्तियों को उसके साथ हृदय से और स्वतंत्रतापूर्वक सहयोग करना चाहिए। इसलिए मेरा यह सुझाव है कि आप विभिन्न दलों और वर्गों का प्रतिनिधित्व करनेवाले कार्यकर्त्ताओं की एक बैठक बुलावें, अपनी सेवाएं उनके अर्पण करें, और वे जिसे भी सभापति चुनें या जैसा भी बोर्ड बनावें, उन्हें हृदय से सहायता प्रदान करें। मैं जानता हूं कि इसके लिए आत्मत्याग की आवश्यकता है। यदि मैं आपको अच्छी तरह जान सका हूं तो मैं यह भी जानता हूं कि ऐसा करना आपके लिए सम्भव है। पर यदि आप समझें कि इन शिकायतों में कोई तथ्य नहीं है और आप सारी कठिनाइयों को दूर करने में और सभी दलों को साथ लेने में समर्थ होंगे तो मुझे कुछ नहीं कहना है। मैंने जो सुझाव पेश किया है वह यह समझकर ही किया है कि इस समय बोर्ड जैसा-कुछ गठित हुआ है, उसके साथ सारे दलों के लिए सहयोग करना सम्भव नहीं है। मैंने सारी बात आपके सामने रख दी है, अब आप देशहित के लिए जैसा ठीक समझें, करें।

श्री खेतान ने बासन्ती देवी के सम्बन्ध में मुझे आपका सन्देश दिया। मैंने उनसे कह दिया है कि यह तो वह स्वयं तय करेंगी कि क्या करना उत्तम होगा, पर मैं तो यही चाहूंगा कि वह अस्पृश्यता-निवारण-कार्य में लगन के साथ जुट

जावें। वह कोई सार्वजनिक पद ग्रहण करें, मैं यह आवश्यक नहीं समझता हूं। जव मैं देशवन्धु-स्मारक-कोष के लिए रुपया इकट्ठा करने के सिलसिले में वहां उनके पास था, तो उन्होंने मुझे वताया था कि वह किसी संस्था का संचालन करना नहीं चाहती हैं, वह तो इच्छा होने पर कार्य करना-भर चाहती हैं। कृपया डा० आलम के सम्वन्ध में समाचार दीजिये।

आपका
मो० क० गांधी

डाक्टर राय का उत्तर इस प्रकार था :

२६, वेलिंगटन स्ट्रीट
कलकत्ता
१२-१२-१६३२

प्रिय महात्माजी,

आपका पत्र मुझे कल मिला। वंगाल अस्पृश्यता-निवारक-वोर्ड के सम्वन्ध में आपने श्री खेतान से जो वातचीत की थी, . मुझे उनसे उसका समाचार मिल गया था। आपने उनसे कहा था कि मुझे पत्र लिखेंगे। श्री खेतान से वात करने के वाद मैं आपसे ऐसा पत्र पाने के लिए जैसा आपने मुझे भेजा है. तैयार था। सवसे पहले मैं यह कहने की अनुमति चाहता हूं कि वंगाल वोर्ड के सभापतित्व के पद की मैंने आकांक्षा नहीं की थी और अव मुझे पता चला है कि श्रीविड़ला ने आपसे मशवरा करके आपकी रजामंदी से मुझे सभापति चुना था। जब मुझसे पद ग्रहण करने को कहा गया तो अपनी अयोग्यता और अन्य कार्यों के वावजूद मैंने आह्वान स्वीकार कर लिया। मैं यह वात नहीं भूला हूं कि इसका श्रीगणेश आपके और उन मित्रों के द्वारा किया गया, जो पूना में एकत्र हुए थे। अतएव जव इन सबने मुझसे यह पद ग्रहण करने का अनुरोध किया तो मैंने उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया। आप चाहते थे कि मैं सभापतित्व ग्रहण करूं, क्योंकि आपका विश्वास था कि मैं काम कर सकता हूं। अब आपकी धारणा दूसरी है और आप चाहते हैं कि मैं हट जाऊं तो मैं प्रसन्नतापूर्वक हट रहा हूं। मैं आज ही श्री विड़ला को पत्र लिखकर इस्तीफा दे रहा हूं। यह कोई आत्मत्याग की वात भी नहीं है, क्योंकि मैंने अपने जीवन में ऐसा कोई पद या स्थान ग्रहण नहीं किया, जिसके सम्बन्ध में मुझे मालूम होने लगा हो कि जिनके हाथ में वह पद या स्थान देने की सामर्थ्य है वे मेरा वने रहना नहीं चाहते हैं।

आपने अपने पत्र में सुझाया है कि विभिन्न वर्गों और दलों के सारे कार्य-कर्त्ताओं को बुलाऊं, जिससे वे जिसे चाहें सभापति चुन सकें। मैं यह बताना

चाहता हूं कि लीग के व्यवस्था-विधान के अन्तर्गत केन्द्रीय बोर्ड का सभापति ही प्रान्तीय बोर्डों के सभापति नामजद करता है, और ये प्रान्तीय सभापति प्रान्तीय बोर्डों के सदस्य नामजद करते हैं। बंगाल में बने हुए बोर्ड को तोड़ना मेरी सामर्थ्य के बाहर की बात है। अतएव यदि मैं चाहूं तो भी आपकी आज्ञा-पालन करना मेरी सामर्थ्य में नहीं है। पर मैं सारा मामला श्री बिड़ला के पास भेज रहा हूं। वह अखिल भारत बोर्ड के सभापति हैं, और वह जो कार्रवाई उचित समझेंगे, करेंगे।

आप अपने पत्र में कहते हैं, "परन्तु मैं देखता हूं कि बंगाल में यह विचार नहीं रुचा।" आपको यह सूचना देना मेरा कर्त्तव्य है कि बंगाल में श्री सतीश दासगुप्त और डाक्टर सुरेश बनर्जी के नेतृत्व में रहने वाले दल के अलावा और अनेक दल और वर्ग हैं। श्री सतीश दासगुप्त और डा० सुरेश बनर्जी, दोनों ही अस्पृश्यता-निवारण-कार्य में दिलचस्पी रखते हैं और इस समय बहुमूल्य काम कर रहे हैं। हमने बंगाल बोर्ड का गठन बड़ी समझदारी के साथ किया था, और जैसा कि आपको श्री देवीप्रसाद खेतान ने बताया ही होगा, बोर्ड में विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि मौजूद थे। अनेक जिला संस्थाओं ने हमें लिखकर बोर्ड के साथ सहयोग करने की तत्परता प्रकट की थी। वास्तव में, जैसा कि श्री खेतान ने आपको बताया ही होगा, श्री दासगुप्त और डा० बनर्जी को छोड़ और किसी ने सहयोग प्रदान करने से इन्कार नहीं किया, और सो भी अलग कारणों से, परन्तु आपकी यह धारणा प्रतीत होती है कि बंगाल में उस समय तक कोई बोर्ड काम नहीं कर सकता जबतक उसे श्री दासगुप्त और डा० बनर्जी का सहयोग प्राप्त न हो, और उन्होंने यह सहयोग प्रदान करने से इन्कार कर ही दिया है, इसलिए बोर्ड को भंग करने के अलावा और कोई चारा नहीं है।

बंगाल में लीग का काम आरम्भ हो गया है। इसलिए यदि आप मुझे इस पत्र को और अपने पत्र के पहले पैरे को प्रेस में देने की अनुमति नहीं देंगे तो मेरे और बोर्ड के सदस्यों के लिए स्थिति समझाना कठिन हो जायगा। आशा है, आपको कोई आपत्ति नहीं होगी।

आपका
विधानचंद्र राय

गांधीजी को क्षोभ हुआ। उन्होंने तुरन्त यह पत्र भेजा :

यरवडा केन्द्रीय जेल
१५ दिसम्बर, १६३२

प्रिय डा० विधान,

आपके पत्र से मैं तो अवसन्न रह गया। उसे पढ़ने के तुरन्त बाद ही मैंने

आपको तार भेजा। मैं तो समझता था कि हम दोनों एक-दूसरे के इतने निकट हैं कि मेरे मैत्रीपूर्ण पत्र के आप कभी गलत मानी नहीं लगायंगे। पर अब देखता हूं कि मैंने भारी भूल कर डाली। मुझे आपको वह पत्र नहीं लिखना चाहिए था। अतः मैंने उसे पूर्णतया और बगैर किसी शर्त के वापस ले लिया है। अब जबकि वह पत्र वापस ले लिया गया है, आपको उनमें से कोई भी काम नहीं करना है, जिनका आपने उल्लेख किया है। कृपया बोर्ड वाला काम बदस्तूर जारी रखिये, मानो मैंने आपको कोई पत्र लिखा ही न हो। आपके दिल को जो चोट पहुंची है उसे आप उदारहृदयता के साथ भूल जायंगे। पर आपको मैंने वह पत्र लिखा, इसके लिए मैं अपने-आपको आसानी से क्षमा नहीं कर सकूंगा। किसी ने, याद नहीं किसने, कहा था कि मेरे पत्र के आप गलत मानी लगायेंगे, पर मैंने मूर्खतावश कहा कि मैं कुछ भी लिखूं, आप उसके गलत मानी कभी नहीं लगायेंगे। विनाश का पूर्वाभास गर्व से और पतन का पूर्वाभास मिथ्या-गर्व से होता है। इतना सब कहने के बाद, अब तो मैं नहीं समझता कि आप हमारे पत्र-व्यवहार को प्रकाशित करना जरूरी समझेंगे। परन्तु यदि आप सार्वजनिक हित के लिए उसका प्रकाशन आवश्यक समझते हों तो जहां तक प्रकाशित करना आवश्यक हो, आप अवश्य प्रकाशित कर सकते हैं।

कृपया लिखिये, कमला[1] और आलम[2] का स्वास्थ्य कैसा है, और कमला से कहिये, मुझे पत्र लिखे।

आपका
मो० क० गांधी

उसी दिन उन्होंने मुझे भी लिखा :

यरवडा केन्द्रीय जेल
पूना
१५/१२/३२

भाई घनश्यामदास,

आज मैंने तुम्हारे पास एक तार लीग के नाम के सम्बन्ध में भेजा है। एक दूसरा तार कल को बंगाल प्रान्तीय संस्था के सम्बन्ध में जायेगा।

सबसे पहले नाम की बात को लो। राजाजी का पत्र भेजता हूं। मैं समझता

---

१. पं० जवाहरलाल नेहरू की धर्मपत्नी कमला नेहरू, और २. पंजाब के महान् राष्ट्रीय कार्यकर्ता, गांधीजी के मित्र और कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य डा० आलम। ये दोनों ही कलकत्ता में डा० विधानचंद्र राय की चिकित्सा में थे।

हूं कि उनके तर्क के बाद कोई बात बाकी नहीं रह जाती है, इसलिए उनका सुझाव अपनाना तनिक भी सम्भव हो तो तुम नाम में तदनुसार परिवर्तन कर लेना। मैं सेवा के भाव में इतना तन्मय हो गया था कि जिस अर्थ की ओर राजाजी ने मेरा ध्यान दिलाया है उसकी मैंने बात तक नहीं सोची थी।

अब बंगाल प्रान्तीय संस्था की बात लो। मैंने भूल की। मैंने डा० विधान के ऊपर अपने प्रभाव का गलत अन्दाजा लगाया। मैंने उन्हें पीड़ा पहुंचाई, इसका मुझे दुःख है। मैंने तुम्हें ऐसी भौंड़ी स्थिति में डाल दिया, इसका भी मुझे दुःख है। वह अपनी पीड़ा से निस्तार पा जायंगे, तुम भी अपनी भौंड़ी स्थिति पर काबू पा जाओगे, पर मैं अपनी मूर्खता की बात आसानी से नहीं भूल सकूंगा।

मैंने डा० राय के पास निम्नलिखित तार भेजा है:

"आपका हस्ताक्षर-शून्य पत्र आज मिला। पत्र-व्यवहार प्रकाशन के लिए नहीं है। आपको मैंने स्पष्टतया बता दिया है कि यदि आपको अपने ऊपर भरोसा हो तो आरम्भ किये हुए कार्य को जारी रखिये। मैं अब समझता हूं कि मैंने हस्त-क्षेप की अनधिकार चेष्टा की। क्षमा करिये। वैसे मैंने यह सुझाव मित्रता के नाते दिया था। अपना पत्र वापस लेता हूं।—गांधी।"

उनके पास मैंने जो पत्र भेजा उसकी भी एक प्रति भेजता हूं। कुछ अधिक कहना अनावश्यक समझता हूं और आशा करता हूं कि अब इस मामले का अन्त हुआ समझा जायेगा और तुम्हें और अधिक परेशानी नहीं होगी। डा० विधान के उत्तर की नकल भी भेजता हूं।

तुम्हारा १२ दिसम्बर का पत्र भी मिला। ठक्कर बापा ने तुम्हारे पास जो परिभाषा भेजी थी मैंने उसमें और भी परिवर्तन कर दिया है। इस संशोधित परिभाषा की नकल भेजता हूं। ठक्कर बापा ने तुम्हारे पास जो परिभाषा भेजी थी उसे मेरे पास पंडित कुंजरू ने भेजा था। मैंने उसमें परिवर्तन करके संशोधित प्रति उनके पास भेज दी है। देखता हूं कि जब ठक्कर बापा ने आपको लिखा था उस समय तक उन्हें वह संशोधित प्रति नहीं मिली थी।

आज डा० अम्बेदकर के लगभग सात मित्र और अनुकरण करने वाले आये। वे शिकायत कर रहे थे या बता रहे थे (उन्होंने कहा कि वह शिकायत करने नहीं आये हैं, सिर्फ बताना चाहते हैं) कि डा० अम्बेदकर ने स्टीमर पर ठक्कर बापा के नाम एक चिट्ठी लिखी थी, जिसमें उन्होंने कई सुझाव पेश किये थे। पर संघ की पूना वाली बैठक में उसका जिक्र तक नहीं किया गया। मैंने उनसे कहा कि उसका जिक्र किया गया हो या न किया गया हो, संघ ने उस पर विचार अवश्य किया होगा, उसकी उपेक्षा न की होगी। तुम उन्हें या मुझे लिख देना कि उस पत्र के सम्बन्ध में क्या कारंवाई की गई है।

इन मित्रों ने यह भी बताया कि हमारी संस्थाएं हरिजनों में पड़ी हुई फूट को

कायम रखती हैं और जहां कहीं सम्भव होता है राव बहादुर राजा के दल का पक्ष लेती हैं। मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि संघ का यह इरादा कभी नहीं हो सकता है, बोर्ड दलबन्दियों से दूर रहेगा और बोर्ड और उनकी समस्त शाखाओं की यही चेष्टा रहेगी कि दोनों दलों का मन-मुटाव दूर हो जाय, क्योंकि राजनैतिक प्रश्न हल हो जाने के बाद अब दो दलों की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है।

मेरे पास श्री छगनलाल जोशी आ गये हैं और एक अच्छा-सा स्टेनोग्राफर भी मिल गया है। पर इतनी सहायता प्राप्त होने पर भी मुझे चैन नहीं मिल रहा है। वास्तव में इस आवश्यक सहायता की बदौलत ही मैं बढ़ते हुए काम को निबटाने में समर्थ हो रहा हूं। मुलाकातों में काफी समय निकल जाता है, पर वे जरूरी हैं, इसलिए मुझे कोई शिकायत नहीं है।

आशा है, तुम स्वस्थ होगे। तुम्हें नींद लाने के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य करना चाहिए। औषधियां ठीक नहीं हैं, प्राकृतिक उपाय बरतने चाहिए और भोजन-सम्बन्धी परिवर्तन करना चाहिए। मैंने जिस ढंग से बताया उस ढंग से तुम प्राणायाम कर रहे हो? कुछ आसानी से किये जाने वाले आसनों से और गहरा सांस लेने से पाचन-शक्ति को सहायता मिलती है और नींद भी आती है।

तुम्हारा
बापू

पुनश्च :

उपरिलिखित पत्र लिखाने के बाद मुझे अब डा० विधान का यह तार मिला है : "तार के लिए धन्यवाद। सादर निवेदन है कि मैं नहीं समझा कि अपने पर भरोसे से आपका क्या अभिप्राय है। पत्र में लिख ही चुका हूं कि बंगाल में जैसा उत्साह है उसके फलस्वरूप कोई भी प्रधान और बोर्ड अस्पृश्यता-निवारण-कार्य कर सकता है। यदि आपका अभिप्राय ऐसे लोगों का सहयोग प्राप्त करने के मामले में भरोसा रखने से हो जो सहयोग प्रदान करने के लिए तैयार न हों तो उसे कोई प्राप्त नहीं कर सकता है। कितनी सफलता होती है, यह धन-संग्रह और उसके उचित उपयोग पर निर्भर है। कृपया तार दीजिये कि यदि हम लोग काम करना जारी रखें तो मुझे और बोर्ड को आपका समर्थन मिलेगा।—विधान राय।"

उसका मैंने निम्नलिखित उत्तर दिया है :

१६/१२/३२

तार के लिए धन्यवाद। भरोसे से मेरा मतलब आत्मविश्वास से है। मेरी सामर्थ्य में जितनी सहायता देना है आप उस पर निर्भर कर सकते हैं।—गांधी

लगभग इन्हीं दिनों राजाजी ने संस्था के नाम के बारे में अपनी विशेषताओं से भरा कालीकट से एक पत्र भेजा, जिसका सारांश नीचे दिया जाता है :

"लीग के नाम में परिवर्तन करने के मामले में मैं आपसे सहमत नहीं हूं। अस्पृश्य सेवक-संघ नाम अच्छा खासा है, पर इसका अर्थ यही है कि हम अस्पृश्यों के अस्पृश्य बने रहने की बात स्वीकार करते हैं। भारत सेवक, भील सेवक, या ईश्वर सेवक सब ठीक हैं, क्योंकि भारत रहेगा ही, भील एक नस्ल का नाम है और हीनता-द्योतक नाम नहीं है, और ईश्वर तो हमेशा मौजूद रहेगा ही। पर यदि हम अस्पृश्यता या दासता का मूलोच्छेदन करना चाहते हैं तो अस्पृश्य सेवक या दास सेवक नाम ठीक नहीं रहेगा। हो सकता है कि दासता अथवा अस्पृश्यता का निवारण होते ही संघ बन्द कर दिया जाय, पर यह तर्क ठीक नहीं ठहरता है, क्योंकि जो बात तत्काल आवश्यक है वह है मनुष्य की मनोवृत्ति में परिवर्तन। आपको तथाकथित अस्पृश्य सेवक कहना होगा, पर नाम भौंडा हो जायगा, और उसके विरुद्ध आपत्ति वैसी ही बनी रहेगी। मैं अस्पृश्यता-निवारक लीग या संघ नाम पसन्द करता। अस्पृश्यता-विरोधी वाक्य मुझे अच्छा नहीं लगता, मुझे उसमें बर्बरता की गंध आती है। अस्पृश्यता-निवारक संघ हिन्दी, गुजराती तथा अन्य भारतीय भाषाओं में प्रचलित नामों का शब्दशः अनुवाद होगा, और इसमें कोई आपत्तिजनक बात भी नहीं होगी। वास्तव में दासत्व के दर्जे का मूलोच्छेदन अभीष्ट और निवारण शब्द से वाक्य को बल भी प्राप्त होगा, ठीक जिस प्रकार मद्यपान और मादक द्रव्य-सेवन के सम्बन्ध में निषेध शब्द लोकप्रसिद्ध हो गया है। यदि हम अच्छी तरह सोचें तो मनुष्य के एक वर्ग की सेवा अभीष्ट है। ऐसे विचारों के लोग भी हैं जो यह चाहेंगे कि किसी विशिष्ट वर्ग को अलग रखा जाय, पर उन्हें अच्छी तरह खाने को दिया जाय। पर हमें केवल इतना ही तो नहीं करना है।"

कालीकट
१२ अक्तूबर, १९३२

मैंने पत्र-व्यवहार जारी रखा और लिखा :

२१ दिसम्बर, १९३२

परम पूज्य बापू,

आपका टाइप किया हुआ पत्र और उसके साथ भेजे कागज मिले। डा० राय ने जो आपको चिट्ठी लिखी है उसकी नकल उन्होंने पहले ही मेरे पास भेज दी थी। उसका आपने जो उत्तर दिया है उसकी नकल भी मुझे मिल गई है। इस प्रकार अब मेरे पास पूरा पत्र-व्यवहार मौजूद है। मैं इस मामले को लेकर आपका और

अधिक समय नष्ट करना नहीं चाहता, पर साथ ही आपको यह लिखने का लोभ भी संवरण नहीं कर सकता कि आपने अपनी भूल को जिस ढंग से समझा, वास्तव में वह उससे बिलकुल दूसरे ही ढंग की है। मुझे भौंड़ी स्थिति में पटकने का प्रश्न ही नहीं उठता है, आप मुझे इससे कहीं अधिक भौंड़ी स्थिति में पटकना चाहें तो खुशी से पटक सकते हैं, परन्तु मैं इस बात में अब भी आपसे सहमत नहीं हूं कि आपकी भूल डा० राय के ऊपर अपने प्रभाव का गलत अन्दाज लगाने तक ही सीमित थी। यदि डा० राय के साथ न्याय किया जाय तो कहना होगा कि उनका बुरा मानना स्वाभाविक था। मेरी समझ में भूल इसी बात में हुई कि आपने सुरेशबाबू और सतीशबाबू का, जो आपके इतने निकट हैं, सहयोग प्राप्त करने में डा० राय की सहायता करने के बजाय डा० राय से केवल इस कारण इस्तीफा देने को कहा कि सुरेशबाबू और सतीशबाबू ने उन्हें सहयोग प्रदान नहीं किया। मैं मानता हूं कि सुरेशबाबू और सतीशबाबू ने जो उन्हें सहयोग प्रदान नहीं किया उसका कारण था, पर तो भी आपको बलिदान के लिए डा० राय को नहीं छांटना चाहिए था। मेरी राय में आपने यही भूल की। जब मैंने डा० राय के नाम आपका पहला पत्र देखा तो मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि इस प्रकार की भूलें करना आपके लिए असम्भव-सा है। हम आपके देवोपम व्यक्तित्व से इतने चकाचौंध हैं कि हमने अपने भीतर विश्वास खो-सा दिया है। इसके परिणामस्वरूप मुझे जब कभी किसी बात में शंका होती है तो मैं यह कहकर अपने-आपको समझा लेता हूं कि दोष मेरी बुद्धि का है, जो मैं आपके निश्चय के मर्म को नहीं समझ सका। इस मामले में भी यही हुआ। मेरी अब भी यही धारणा है कि आपको अपने अन्तिम पत्र में डा० विधान को आपके पत्र के गलत अर्थ निकालने के लिए डांटना नहीं चाहिए था। आशा है, मैं आपका समय नष्ट नहीं कर रहा हूं। यह सब मैं आत्म-संतोष के लिए लिख रहा हूं। यदि आप लिखने की आवश्यकता समझें तो जरूर लिखें।

परिभाषा के सम्बन्ध में मेरा कहना यही है कि आप जानते ही हैं, मैं ऐसी बातों को लेकर बहुत ही कम माथापच्ची करता हूं। पर आपकी ताजी परिभाषा उन सारी परिभाषाओं से अच्छी रही, जिन पर चर्चा हो चुकी है।

डा० अम्बेदकर के मित्रों की इस शिकायत के सम्बन्ध में कि हमने डा० के पत्र पर अच्छी तरह विचार नहीं किया, मेरा कहना यही है कि उन्हें कुछ गलतफहमी हो गई है। डा० अम्बेदकर के सुझावों के अलावा और भी अनेक सुझाव थे, जिन पर विचार करना था और जिन्हें नीली पुस्तिका में देना था। पर हमने इतनी बड़ी बैठक में इस पुस्तिका की चर्चा न उठाना ही ठीक समझा। अतएव हमने एक छोटी-सी समिति का गठन किया, जिसके जिम्मे डा० अम्बेदकर के सुझावों के अलावा प्रान्तीय बोर्डों से आये सुझावों को भी ध्यान में रखकर नीली पुस्तिका की पुनरावृत्ति करने का काम किया गया है। परन्तु मुझे कहना पड़ता है कि हमारे

कर्मचारी उतने दक्ष नहीं हैं। बेचारे बुड्ढे ठक्कर बापा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहते हैं, और उनकी अनुपस्थिति में आफिस में किसी योग्य सेक्रेटरी का रहना आवश्यक है। इस संघ का श्रीगणेश होने से पहले देवदास ने मुझे सहायता देने का वचन दिया था, परन्तु वह और कामों में लगे हुए हैं। कल जब वह मिले तो मैंने उनसे इसकी शिकायत भी की थी। उन्होंने एक अच्छा-सा आदमी देने का वादा किया है। मैंने उनसे कह दिया है कि वरना काम का हर्जा होगा। मुझे अच्छा आदमी मिल सकता है, पर मेरे अच्छा आदमी पाने का अर्थ होगा अधिक पैसा देना। मुझे तो अच्छा आदमी बाजार-भाव पर ही मिलेगा। इस ढंग की संस्थाओं में तो ऐसा आदमी चाहिए, जो स्वार्थ-त्याग करना चाहे। पता नहीं, आप इस मामले में मेरी सहायता कर सकेंगे या नहीं। यदि देवदास इस काम को अपने हाथ में ले लें तो बड़ा काम कर डालें, पर दुर्भाग्य से वह आने को तैयार नहीं हैं।

हम पत्र जनवरी के आरम्भ में निकाल रहे हैं। आपके लेख की बाट जोह रहा हूं। मुझे लेख अभी मिला है। वियोगी हरि को हिन्दी के पत्र का सम्पादन करने के लिए कोई योग्य आदमी अभी तक नहीं मिला है, इसलिए मैं आफिस के आदमियों से ही काम ले रहा हूं। पर, जैसा कि आप स्वयं जानते हैं, इसके लिए एक अच्छे आफिस सेक्रेटरी की दरकार है।

संघ का नाम तीसरी बार बदलना उपहासास्पद होगा। राजाजी के पत्र का आपके ऊपर इतना गहरा प्रभाव पड़ा, पर मेरे ऊपर तो नहीं पड़ा। इसका कारण यह भी हो सकता है कि ऐसी बातों की ओर से मैं उदासीन-सा रहता हूं।

आशा है, आप बिलकुल स्वस्थ हैं। कृपया मेरे स्वास्थ्य की चिन्ता मत करिये। मैं अच्छा-खासा हूं। अभी मैंने बेरों का व्यवहार नहीं किया है, पर करूंगा।

विनीत
घनश्यामदास

जैसा कि ऊपर के पत्र से पता लगेगा, उस समय हम साप्ताहिक 'हरिजन' का श्रीगणेश कर रहे थे। उसका सम्पादन गांधीजी ने स्वयं किया और उसे लोकप्रिय बना दिया। पर उसके प्रारम्भ करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जिससे उसके प्रकाशन में देर लग गई :

२७ दिसम्बर, १९३२

परम पूज्य बापू

आपके दोनों लेख मिले। दुर्भाग्यवश पहला अंक निकालने में अभी थोड़ी कठिनाई होगी, क्योंकि अभी हमें सरकार से अनुमति प्राप्त नहीं हुई है। कायदे-

कानून की पाबन्दी के सिलसिले में भी अभी कई बातें करना बाकी है और अधि-कारी पूछताछ कर रहे हैं। पर, आशा है, एक सप्ताह से अधिक देर नहीं लगेगी।

आपके उपवास के सम्बन्ध में मेरा कहना है कि जबतक सरकार से निश्चित रूप से मालूम न हो जाय तबतक वह विचार स्थगित रखा जाय। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि सरकार स्वीकृति दे देगी। पर सरकार अपने निश्चय की घोषणा २ जनवरी को करेगी या उसके बाद, यह बताना कठिन है। परन्तु आप सरकार से सीधे पूछ सकते हैं और वह आपको बता देगी। एक बार सरकार ने बिल के पेश किये जाने की अनुमति दी कि बाकी सारे काम आसान हो जायंगे। मैंने अभी बिल को देखा नहीं है। यदि बिल में अनुमति मात्र देने की व्यवस्था होगी तो वह काफी नहीं होगा, क्योंकि बात फिर जमोरिन की इच्छा के ऊपर निर्भर करेगी। इसलिए कुछ करना आवश्यक होगा।

मैंने राजाजी से मित्रों सहित आपसे मिलने का आग्रह किया है, और संभवतः वह आपसे शीघ्र ही मिलेंगे।

विनीत
घनश्यामदास

यरवडा केन्द्रीय जेल
२९ दिसम्बर, १९३२

भाई घनश्यामदास,

तुम्हारी चिट्ठी मिली। अपने व्यक्तित्व की चकाचौंध तुम्हारे जैसे मित्रों की अपेक्षा खुद मुझे अधिक परेशान करनेवाली है, क्योंकि मैं चाहता हूं कि सब समान भाव से मिल-जुलकर काम करें और विचार-विनिमय करें। मुझे यह बिल्कुल अच्छा नहीं लगता है कि मैं कोई बात कहूं तो उसके लिए मुझे वैसी ही बात कहने वाले किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाय। इस भूमिका के बाद मेरा कहना यह है कि व्याधि का जो निदान तुमने किया है, मैं उससे बिलकुल सहमत नहीं हूं। यदि मैं वैसा ही पत्र, फर्ज करो, तुम्हें लिखता तो तुम शायद बुरा न मानते। दूसरे शब्दों में मैं तुम्हारे ऊपर अपने प्रभाव का गलत अन्दाजा नहीं लगाता। जब मैं जानता था कि सतीशबाबू और सुरेशबाबू के लिए डा० राय को सहयोग प्रदान करना असम्भव है तो मैं उनके लिए वह सहयोग उनसे कैसे प्राप्त कर सकता था? हां, यदि उन्हें सहयोग करने को बाध्य करता तो बात दूसरी थी, और मैं वैसे सहयोग की बात सुरेश-बाबू और सतीशबाबू तक के बीच में नहीं सोच सकता हूं। आश्रम में मेरा प्रभाव सब पर एक समान समझा जाता है, पर वहां भी भिन्न-भिन्न प्रवृतियों के व्यक्ति रहते हैं, और उनके बीच सहयोग स्थापित करने की बात तक सोचना

मेरे लिए असंभव-सा है। मैंने सोचा था कि सुरेशबाबू और सतीशबाबू मैदान में काम करने वाले आदमी हैं, इसलिए यह काम उनके हाथों अधिक अच्छी तरह होगा और मेरी धारणा थी कि डा० राय को भी मेरा सुझाव रुचेगा। यदि किसी के कंधों से भार उठाकर भाव-वहन करने में अधिक समर्थ समझे जाने वाले व्यक्ति के कंधों पर रखा जाय तो इसमें बुरा मानने की क्या बात है ? और, जैसा कि अब प्रकट है, मैंने यह गलत धारणा की कि डा० विधान मेरे पत्र के गलत मानी नहीं लगायंगे, उसमें कही हुई बात का खण्डन करना चाहेंगे तो करेंगे, पर बुरा कभी न मानेंगे। और तुम यह कैसे कहते हो कि मैंने डा० राय को दूसरे पत्र में डांटा है ? मैंने तो सिर्फ वस्तुस्थिति को सामने रखा है। यदि तुम पत्र को ठीक तरह से नहीं समझे तो उसे फिर पढ़ो। मैं चाहता हूं कि दूसरे पत्र की नीयत को समझो। मैं तुम्हारे लिए किसी ऐसे सेक्रेटरी की तलाश करूंगा, जो काम की खातिर काम करे।

जबतक अंग्रेजी पत्र अच्छी तरह न निकल सके, उसमें पढ़ने लायक अंग्रेजी न हो, और उसमें दिया जाने वाला अनुवाद ठीक न हो, तबतक केवल हिन्दी संस्करण से ही संतोष कर लेना ठीक होगा।

मैं जानता हूं कि पक्षपात का कोई प्रश्न नहीं है, पर यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि हम जो कुछ करते हैं उनके संबंध में डा० अंबेदकर के दल-वालों की क्या धारणा है।

तुम्हारा
बापू

इसके बाद ही मन्दिर-प्रवेश बिल उपस्थित हुआ।

यरवडा केन्द्रीय जेल
१ जनवरी, १९३३

भाई घनश्यामदास,

तुम्हारा २७ तारीख का पत्र मिला। मैंने बिल देखा था। बिल मन्दिर-प्रवेश की अनुमति देने वाला इन अर्थों में कहा जा सकता है कि वह सारे मन्दिरों को अस्पृश्यों के लिए खोलने की घोषणा नहीं करता है, पर मन्दिर उपासकों के बहुमत से खोले जा सकते हैं, ट्रस्टियों की मर्जी पर नहीं।

बिल पेश करने की अनुमति सरकार से मिलने के बारे में तुम्हें जो भरोसा है, आशा है, वह ठीक निकलेगा। राजाजी यहां तीन दिन तक रहे, और हमने बिल और गुरुवायूर मन्दिर की अवस्था के संबन्ध में आमतौर से बातचीत की।

आशा है, साप्ताहिक पत्र के प्रकाशन के संबंध में आवश्यक कानूनी कारंवाई पूरी हो गई होगी।

तुम्हारा
बापू

२ जनवरी, १९३३

परम पूज्य बापू,

आपके २७ और २८ के पत्र एक ही लिफाफे में मिले। आपका तर्क मेरी समझ में नहीं आया, पर आप जो कहते हैं, उसमें कुछ तथ्य अवश्य है। मैं आपका समय नष्ट करना नहीं चाहता हूं। जब मिलूंगा तो बातें होंगी। वास्तव में जब मैं पिछली बार पूना गया था तो आपसे कई बातों की आत्मसंतोष के लिए चर्चा करना चाहता था, पर मैंने आपको बेतरह कार्य-व्यस्त देखा तो इरादा छोड़ दिया। आपने अपने पत्र में डा० विधान को लिखे पत्र की नकल भेजने की बात लिखी है, पर मुझे वह नहीं मिली।

अंग्रेजी संस्करण के संबंध में आपने जो कहा सो जाना। मैं आदमी को चुनने में इस बात का ध्यान रखूंगा।

आपके उपवास के स्थगित होने की बात से मेरी चिन्ता दूर-सी हो गई, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपनी चेष्टाएं शिथिल कर देंगे। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि १५ तारीख से पहले-पहले वाइसराय की स्वीकृति मिल जायगी। मुझे आशा है कि बिल जिस रूप में पेश किया जा रहा है उससे आप संतुष्ट हैं। पूना में जैसी बात हुई थी, क्या काशी के विश्वनाथ के मन्दिर का प्रश्न उठाया जाय ? मन्दिर निकट भविष्य में खोल दिया जायगा, ऐसी सम्भावना तो नहीं है, पर उस क्षेत्र में प्रचार तो आरंभ कर ही दिया जाय। आशा है, आप सहमत होंगे।

विनीत
घनश्यामदास

४ जनवरी, १९३३

परम पूज्य बापू,

हिन्दी पत्र तो जल्दी ही निकल आयगा, पर अंग्रेजी संस्करण निकलने में देर लगेगी।

मैं यही सोच रहा हूं कि अंग्रेजी पत्र का क्या नाम रखा जाय, पर कोई अच्छा-सा नाम ध्यान में नहीं आ रहा है। 'प्रायश्चित्त' नाम के संबंध में आपका

क्या विचार है ? इस नाम से हमारे उद्देश्य का भी पता लगता है, इसलिए मैंने सोचा कि आपको यह नाम शायद पसन्द आवे।

कृपया तार के जरिये सूचित करिये कि आपको यह नाम पसन्द है या नहीं। यदि नहीं तो कोई दूसरा नाम सुझाइयेगा।

विनीत
घनश्यामदास

६ जनवरी, १९३३

परम पूज्य बापू,

इस पत्र के साथ एक पत्र भेजता हूं, जिसका विषय स्पष्ट ही है। क्या आप इस पत्र के लेखक को थोड़ा-बहुत जानते हैं ? इसे किस काम में लिया जाय, सो मैं नहीं जानता। पर सम्भवतः आप यह पत्र-लेखक को स्वयं बता देंगे।

कस्तूरभाई ने ५,०००) रुपये भेजे हैं। मैंने चीनूभाई को भी इतनी ही रकम देने को लिखा है। अभी तक कोई आर्थिक कठिनाई सामने नहीं आई है। हम प्रांतों को तभी देंगे जब वे अपने हिस्से का व्यय स्वयं एकत्र कर लेंगे। प्रांतों ने इस मामले में ढील दिखाई है, इसलिए हमने भी अपने पास से भेजी जाने वाली रकम में कमी कर दी है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि काम में किसी प्रकार की शिथिलता आ गई है। आपका जादू देश के कोने-कोने में काम कर रहा है और काम को आगे बढ़ाने में हमें कोई खास चेष्टा नहीं करनी पड़ रही है। मुझे तो इसी बात का सन्तोष है कि मेरा इस कार्य के साथ सम्बन्ध है।

विनीत
घनश्यामदास

७ जनवरी, १९३३

परम पूज्य बापू

आपका ३ तारीख का पत्र मिला। पत्र के साथ भेजे दो अन्य पत्र भी—एक रामानन्द संन्यासी का, और दूसरा गणेशीलाल मिस्तरी का—मिले। गणेशीलाल मिस्तरी के सम्बन्ध में अच्छी तरह पूछताछ करके आपको फिर लिखूंगा, पर संक्षेप में इतना तो कह दूं कि दिल्ली में दलबंदी का बड़ा जोर है, इसीलिए ये सारी परेशानियां हैं।

रामानन्द संन्यासी वाली बात को ही लीजिये। यह बात सच्ची है कि रघूमल चैरिटी ट्रस्ट ने उनकी संस्था को मासिक सहायता देना बन्द कर दिया है। वैसे भी उसे यह सहायता देते हुए, यदि मुझे ठीक याद है तो, १८ महीने हो गये थे, इसलिए वह बन्द तो होती ही। पर यदि सहायता बन्द न की जाती तो

भी उनकी संस्था के कार्यकलाप के संबंध में कुछ अधिक छानवीन की जरूरत है।

दिल्ली में आर्यसमाजियों के दो दल हैं और दोनों निहायत ही शर्मनाक ढंग से आपस में लड़ रहे हैं। हाल ही में रामानन्द संन्यासी की संस्था के ऊपर एक दल ने अधिकार कर लिया है। यह छीछालेदर इसीलिए हो रही है। अतएव इस अवस्था में इन संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने में मुझे तो हिचकिचाहट-सी होती है। जब रामानन्द संन्यासी जेल से छूटेंगे तो मैं उनसे बात करूंगा।

जब मैंने यहां बोर्ड की स्थापना की थी तो लाला श्रीराम, देशबन्धु और पंडित इन्द्र से बातचीत की थी। अछूतों ने बोर्ड में इतनी बड़ी संख्या में घुसने की चेष्टा की कि यद्यपि हमने अछूतों के दोनों दलों में से कई आदमी लिये, तथापि एक दल असन्तुष्ट ही रहा, और एक बार तो हमें इस्तीफा देने की धमकी दी गई। बाद में शायद इस्तीफे वापस ले लिये गये। सवर्ण हिन्दुओं ने भी बोर्ड में घुसने में ऐसी ही उतावली दिखाई। फलतः इस समय बोर्ड में पचास सदस्य हैं। आर्यसमाज की तरह दलितों में भी दलबन्दी है। दिल्ली में राजा-पार्टी या अम्बेदकर-पार्टी जैसी कोई चीज नहीं है। यहां तो पहले आपसी ईर्ष्या-द्वेष के फलस्वरूप दल का जन्म होता है, उसके बाद नेता चुना जाता है। इसलिए संतोषजनक प्रबन्ध करना असम्भव-सा है। पं० इन्द्र स्थानिक अवस्था से अधिक अच्छी तरह परिचित हैं, इसलिए मैंने उनसे अनुरोध किया है कि वह आपको यह सारा व्यापार पूरी तरह समझा दें।

हाल ही में यहां जूता बनाने के धंधे को प्रोत्साहन देने के लिए कोआपरेटिव सोसाइटी बनाई गई है। सरकारी अफसर भी इसमें दिलचस्पी ले रहे हैं। मुझे इस धंधे में सहायता देने की सचमुच की चेष्टा दिखाई दी, इसलिए मैंने नाममात्र के ब्याज पर ५,०००) रुपये कर्ज देने का वचन दे दिया। पर अब मुझे पता चला है कि कोआपरेटिव बैंक भी एक ही दल का है, और चूंकि दूसरा दल इससे सन्तुष्ट नहीं है, इसलिए इस दूसरे दल के लाभ के लिए एक और कोआपरेटिव बैंक खोलने की बात हो रही है। बस, काम इसी गन्दे वातावरण में हो रहा है।

परन्तु, जैसा कि मैं कह चुका हूं, इस मामले में पं० इन्द्र आपको अधिक विस्तृत रूप से लिखेंगे।

विनीत
घनश्यामदास

यरवडा केन्द्रीय जेल
८-१-३३

भाई घनश्यामदास,

तुम्हारे ४ तारीख के पत्र के उत्तर में मैंने कल एक तार भेजा था। मैंने अपने इस पुराने सुझाव को अब फिर दुहराया है कि कम-से-कम अंग्रेजी 'हरिजन' पूना से निकले, और हिन्दी और अंग्रेजी संस्करणों का एक ही दिन निकलना जरूरी नहीं है। यदि हिन्दी का शुक्रवार को निकले तो अंग्रेजी का सोमवार को निकाला जाय। अंग्रेजी 'हरिजन' मेरी देखरेख में निकलेगा और जितना आवश्यक होगा हिन्दी से लेगा। खबरें, आंकड़े, रिपोर्ट आदि हिन्दी से ली जायंगी और उसमें मौलिक सामग्री भी रहेगी। ऐसी अवस्था में यदि वहां से कोई आदमी भेजने के लिए नहीं हो तो किसी को मत भेजना। मैं यहां किसी-न-किसी आदमी का इंतजाम कर लूंगा।

मैंने कल इस बारे में श्री ठक्कर बापा से बात की और उन्हें विचार पसन्द आया। मैंने उनसे कहा कि वह तुमसे भी बात कर लें, पर उन्होंने उत्तर दिया कि इससे व्यर्थ की देर होगी, इसलिए अपने विचार तुम्हारे पास डाक के जरिये ही भेज दिये जायं। यदि तुम इस विचार का हृदय से समर्थन करते हो तो काम को आगे बढ़ाओ और जरूरी समझो तो आकर मुझसे बातचीत कर जाओ। पर इसकी खातिर हिन्दी संस्करण निकालने में देर नहीं करनी चाहिए। अंग्रेजी संस्करण दो-एक हफ्ते बाद निकल जायगा।

इस पत्र के साथ लाला श्यामलाल का तार और पत्र भेजता हूं। अपने उत्तर की नकल भी भेजता हूं।

तुम्हारा
बापू

ग्वालियर
१० जनवरी, १९३३

परम पूज्य बापू,

जैसा कि आपको इस पत्र से मालूम हो गया होगा, मैं ग्वालियर काम के सिलसिले में आया हूं और यहां कोई एक पखवाड़े ठहरूंगा। दिल्ली से रवाना होने से पहले मैंने पण्डित इन्द्र के पास कहला भेजा था कि वह आपको गणेशीलाल के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से लिखें। आपको अब इसी तरह की शिकायतें मिला करेंगी। इसका कारण यही है कि शिक्षित हरिजनों में इस प्रकार की आशाएं विशेष रूप से उत्पन्न हो गई हैं कि हमारा यह संघ एक नवीन युग ला उपस्थित करेगा। बेकार हमसे नौकरी पाने की आशा करता है, कष्ट में फंसा व्यापारी यह

उम्मीद करता है कि उसकी परेशानियों को हम दूर करेंगे। जब मैं पूना में था तो हरिजन विद्यार्थियों का एक दल मुझसे मिलने आया। मैंने उन्हें वता दिया कि उन्हें हम लोगों से यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि हम आसमान के तारे तोड़कर ला देंगे। मैंने उन्हें बताया कि यदि हम छह लाख रुपये साल संग्रह करने में सफल हों और उनके ऊपर वह सारी रकम खर्च कर दें तो भी फी हरिजन एक रुपया वार्षिक का औसत आयेगा। हमारे साधन सीमित हैं और उन्हें इस बात को समझ लेना चाहिए। पर दुर्भाग्य से वे इसे नहीं समझेंगे और इसका एकमात्र परिणाम यही होगा कि क्षोभ उत्पन्न होगा और ढेर-की-ढेर शिकायतें आने लगेंगी।

परन्तु जहां तक हृदयों के परिवर्तन का सवाल है, हमें इस दिशा में बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। वातावरण में जो इतना परिवर्तन दिखाई देता है, इसका श्रेय एकमात्र आपको है।

यदि पत्र का अंग्रेजी संस्करण भी दिल्ली से ही निकले तो नाम में कुछ परिवर्तन होना आवश्यक है, नहीं तो प्रबन्ध-सम्बन्धी असुविधाएं उत्पन्न होंगी। पर यदि अंग्रेजी संस्करण पूना से निकले तो यह कठिनाई उपस्थित नहीं होगी। मुझे अभी तक अंग्रेजी संस्करण का सम्पादन करने के लिए अच्छा-सा आदमी नहीं मिला है। यदि आप इसका प्रबन्ध पूना में ही कर लें तो इस उत्तरदायित्व से छुटकारा पा जाऊंगा। साथ ही मैं यह भी नहीं चाहता हूं कि आप अपने ऊपर एक नया बोझ लाद लें। परन्तु यदि आप समझें कि पूना से निकलना ज्यादा अच्छा रहेगा तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। इसका फैसला एकमात्र आपके ही हाथ में है। परन्तु यदि मैं पूना में आपके किसी काम आ सकूं तो आप मेरी सेवाओं का पूरी तरह उपयोग करें।

विनीत
घनश्यामदास

यरवडा केन्द्रीय जेल
११-१-३३

प्रिय घनश्यामदास,

तुम्हारा ७ जनवरी का दुःख की कहानी-भरा पत्र मिला। पर हताश या भग्नोत्साह होने की कोई बात नहीं है। तुमने जो कुछ लिखा है सो अधिकांश संस्थाओं पर ऐसी ही बीतती है। जब ऐसी संस्थाओं का पूरा उत्तरदायित्व सिर पर आता है तभी सबसे अच्छे और सबसे बुरे आदमी की परीक्षा होती है। कोई

सबसे अच्छा आदमी तभी साबित होता है जब वह निर्लेप होकर काम करे।

तुम्हारा
बापू

८. हरिजन का जन्म

१४ जनवरी, १६३३

परम पूज्य बापू,

अंग्रेजी 'हरिजन' के सम्बन्ध में लिख ही चुका हूं। मुझे इस सम्बन्ध में और कुछ नहीं कहना है। आशा है, आप पत्र को पूना से निकालने का प्रबन्ध कर रहे हैं। यदि आप चाहें तो श्यामलाल को वहां भेज दिया जाय, नहीं तो उनसे दिल्ली में ही काम लिया जायगा।

आपके और ला० श्यामलाल के बीच में जो पत्र-व्यवहार हुआ है उसके सम्बन्ध में मेरा कहना यह है कि आपको लिखने से पहले ही ठाकुरदास भार्गव मेरे पास संघ से दान मांगने के लिए आ चुके थे। मैंने उन्हें बताया कि उनका कार्य मुख्यत: हरिजनों के लिए नहीं है, इसलिए मैं संघ से रुपया देने में असमर्थ हूं। पर मैंने उन्हें अपनी जेब से १, १००) रुपये अवश्य दे दिये। मैंने उनसे यह भी कह दिया कि यदि हरिजनों के लिए खासतौर से कुछ करने की बात होगी तो उन्हें प्रान्तीय बोर्ड के पास पहुंचना होगा और हम प्रान्तीय बोर्ड को उस कार्य के लिये रुपये दे देंगे। मेरी धारणा है कि यह कार्य मुख्यत: हरिजनों के लाभ के लिए नहीं है; हरिजन नाम का व्यर्थ ही उपयोग किया जा रहा है। हां, उसका उपयोग अच्छे काम में अवश्य किया जा रहा है। किन्तु अच्छे काम में भी मनुष्य को सीमा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। अतएव आपका उत्तर बिलकुल ठीक रहा।

विनीत
घनश्यामदास

१७ जनवरी, १६३३

परम पूज्य बापू,

इधर कुछ दिनों से बंगाल में अपना मतलब सिद्ध करने के लिए कुछ आदमियों

ने पूना पैक्ट के खिलाफ आन्दोलन खड़ा किया है। मैं यह बात पूरे निश्चय के साथ कह सकता हूं कि ये लोग बंगाली सवर्ण हिन्दुओं की भावना को व्यक्त नहीं कर रहे हैं। अधिकांश कांग्रेस इस आन्दोलन से अलग हैं। आपको याद होगा कि आपके अनशन आरम्भ करने से कुछ ही पहले डा० मुंजे ने कहा था कि यदि ऐसी ही बात है तो हिन्दू दलित जातियों की खातिर अपने हिस्से में आई सारी सीटें अर्पण कर देंगे। डा० मुंजे ने यह बात मेरे कहने से कही थी, और श्री रामानन्द चटर्जी के साथ परामर्श करने के बाद ही ऐसा कहा गया था। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि इस मामले में किसी प्रमुख बंगाली की सलाह नहीं ली गई। अब रामानन्द बाबू को पूना-पैक्ट के खिलाफ शिकायत है। उस अवसर पर पंडित मालवीयजी ने बंगाल के सभी प्रमुख व्यक्तियों को बुलाया था। पर किसी को आने तक की फुर्सत नहीं थी!

मेरा इस वाद-विवाद में पड़ना शायद ठीक नहीं रहेगा। यह मामला नाजुक है, इसलिए एक गैर-बंगाली का अलग रहना ही ठीक है। परन्तु क्या आप डा० राय और श्री जे० सी० गुप्त को कुछ लिखना ठीक नहीं समझते हैं? और क्या मुझे सार्वजनिक रूप से कुछ कहने की सलाह देते हैं? मैं डा० राय को लिख ही चुका हूं।

मुझे आपका ११ जनवरी का पत्र, जिसमें आपने नीली पुस्तिका के सम्बन्ध में जमनालालजी के विचारों की चर्चा की है, अभी मिला है। जी हां, प्रस्ताव पूरा नहीं है। इस ओर मेरा ध्यान सबसे पहले देवदास ने आकर्षित किया। वस्तुतः पुस्तिका का यह अंश स्वयं मेरे द्वारा लिखा गया था और मैंने श्री ठक्कर बापा से सम्बद्ध प्रस्ताव जोड़ने को कहा था। यद्यपि यह भूल उनकी थी, तथापि इस गलती के लिए मैं भी उतना ही उत्तरदायी हूं। मुझे बाध्य होकर कार्यालय के निकम्मेपन की फिर शिकायत करनी पड़ रही है। किसी हद तक यह भूल स्वाभाविक भी थी, क्योंकि अधिकांश पत्रों ने प्रस्ताव के इस अंश को नहीं दिया था। मैंने और देवदास ने इस सम्बन्ध में पूना में बात की थी और हम दोनों को ताज्जुब हुआ था कि बम्बई के पत्रों ने यही अंश क्यों नहीं दिया। मेरे लिए तो यह बराबर रहस्य ही बना रहा। पर हमने यह निश्चय कर लिया था कि पुस्तिका की पुनरावृत्ति के समय यह त्रुटि दूर कर दी जायगी।

जमनालालजी ने दूसरी बातें उठाई हैं, उन्हें हम पुस्तिका की पुनरावृत्ति के समय ध्यान में रखेंगे। मैं उनसे इस बात में सहमत हूं कि लीग को अपना नाम बदल डालने का अधिकार देनेवाले प्रस्ताव में कोई सृजनात्मक बात नहीं है, पर मैं नहीं समझता कि इन साधारण-सी कायदे-कानून वाली बातों को इतना महत्त्व देने की क्या जरूरत है। प्रस्ताव व्यापक नहीं था, और हमने बहुत-से ऐसे अधिकारों को स्वयं जन्म दिया है, जिनके लिए पहले से कोई स्वीकृति नहीं ली गई थी,

पर जो वर्तमान परिस्थिति में आवश्यक हैं। हम संस्था की रजिस्ट्री तो करा ही रहे हैं।

मैंने अपनी मिल के मैनेजर को संघ का खजांची नियुक्त किया है। संघ का कार्यालय मिल में होने के कारण मेरी अनुपस्थिति में अब बैंक से चेक भुनाने में अधिक सुविधा रहेगी।

श्री पुणताम्बेकर के सम्बन्ध में जमनालालजी ने जो सुझाव दिया है, उसके सम्बन्ध में मेरा कहना यही है कि हिन्दू विश्वविद्यालय में उन्हें अच्छा वेतन मिल रहा है। इसलिए वह संघ में काम करने शायद ही जावें। मुझे स्वयं एक अच्छे दफ्तर का अभाव खल रहा है, और मैं इस सम्बन्ध में आपको लिख भी चुका हूं। यदि आपकी निगाह में कोई अच्छा आदमी न हो तो मैं ही अपनी पसन्द के किसी आदमी को नियुक्त कर लूंगा। आप जानते ही होंगे कि मैं इस काम की ओर पूरा ध्यान नहीं दे रहा हूं जो कि वर्तमान अवस्था में स्वाभाविक ही है। मैं अभी व्यापार में ही हूं और इस ओर अपना काफी समय देता हूं। आजकल कुछ अधिक समय दे रहा हूं, क्योंकि मिल में माल का पहाड़ लग पड़ा है। जब मिल कमा रही थी तो मैं इतना समय नहीं देता था। पर अब उसे घाटा हो रहा है,इसलिए मुझे स्वभावतया ही अपने समय का अधिकांश उसे देना पड़ता है। मैंने यह सब तो आपको वस्तुस्थिति से अवगत कराने के लिए लिखा है। पर वैसे भी एक अच्छे सेक्रेटरी की नितान्त आवश्यकता है। मैं खुद संघ के काम में अधिक समय लगाना चाहता, पर परिस्थिति ऐसी है कि मैं पूरे मनोयोग के साथ संघ का काम नहीं देख सकता। हां, अपने काम के बाद मैं संघ के काम में संतोषजनक मात्रा में भाग ले रहा हूं। मंदिर और कुएं खोले जाने के पूरे समाचार प्रान्तीय बोर्ड से नहीं मिलते हैं, पर हरएक प्रान्त से पाक्षिक आंकड़े अवश्य मिलते हैं। वे जितनी सूचना दे सकते हैं, देते ही हैं।

विनीत
घनश्यामदास

यरवडा केन्द्रीय जेल
पूना
१७ जनवरी, १९३३

भाई घनश्यामदास,

तुम्हारा १० तारीख का ग्वालियर से लिखा पत्र मिला। मैं अंग्रेजी संस्करण के सम्बन्ध में कल बुधवार को श्री देवधर और श्री वझे से बात कर रहा हूं। वैसे तुम्हारा पत्र मिलने के बाद मैं वझे से प्रारम्भिक बातचीत कर भी चुका हूं। ऐसा मालूम पड़ता है कि यहां से पत्र निकालने में कोई अड़चन नहीं होगी, पर मैं कोई

काम उतावली में नहीं करूंगा। काम को सचमुच हाथ लगाने से पहले मैं तुम्हें पूरी सूचना दे दूंगा।

बंगाल में यह यरवडा पैक्ट का कैसा विरोध हो रहा है। मैं डा० विधान को भी लिखकर पूछ रहा हूं।

वेरों के असर के सम्बन्ध में जो लिखा सो जाना। क्या कभी तुमने व्यवहार किया है?

तुम्हारा
बापू

यरवडा केन्द्रीय जेल
१६ जनवरी, १६३३

भाई घनश्यामदास,

तुम्हारा १४ तारीख का पत्र मिला। कल मैंने अंग्रेजी संस्करण के बारे में श्री देवधर और श्री वझे से देर तक बात की और इस बातचीत के फलस्वरूप मैंने अमृतलाल ठक्कर को तार दे दिया है कि यदि शास्त्री को छोड़ सकें तो तुरंत भेज दें। वझे का कहना है कि संपादकीय कार्य के लिए शास्त्री सबसे ठीक रहेगा। वझे ने सहायता देने का वचन दिया है, पर वह पूर्णतया पत्र के साथ नहीं हो सकेंगे। पर दोनों ने यह कहा कि यद्यपि शास्त्री ने भारत सेवक संघ में लिये जाने का प्रार्थना-पत्र दिया है, तथापि यदि वह संपादकीय भार ग्रहण करेगा तो उसे (अर्थात् भारत सेवक संघ को) कोई आपत्ति नहीं होगी। जहां तक महादेव को और मुझे समय मिलेगा, पत्र के स्तम्भ हम भरेंगे और शास्त्री हिदायत के मुताबिक काम करेगा। धीरे-धीरे वह स्वयं मौलिक लेख लिखने लगेगा।

हिन्दी संस्करण कौन जाने कब निकलेगा?

तुम्हारा
बापू

यरवडा केन्द्रीय जेल
पूना
२१ जनवरी, १६३३

भाई घनश्यामदास,

तुम्हारा पत्र मिला। बंगाल के प्रश्न पर तुम कोई सार्वजनिक वक्तव्य दो, यह मैं नहीं चाहता। तुम देख ही रहे हो कि मैंने खुद कोई वक्तव्य नहीं दिया है। मैं भी यह खयाल करके कि तुम भी उनको लिखोगे, तुम्हारा अनुकरण कर रहा हूं

और तुमसे पहले ही डा० विधान और रामानन्दबाबू को लिख रहा हूं। मैंने श्री जे० सी० गुप्त को पत्र नहीं लिखा है, और न लिखना जरूरी ही समझता हूं। मैं उनसे मिल भी लेता, पर मैं नहीं कह सकता कि उनके साथ मेरा पहला परिचय है भी या नहीं।

जो प्रतियां रह गई हैं उनकी समाप्ति तक पुस्तिका की पुनरावृत्ति स्थगित करना ठीक नहीं है। तुम दो में से एक काम कर सकते हो। या तो पुरानी पुस्तिका को रद्द करते हुए नई पुस्तिका जारी करो, जो प्रतियां रह गई हैं, उनमें अपूर्ण प्रस्ताव के ऊपर पूरा प्रस्ताव चिपका दो, और सरकूलर भेज दो कि भूल से पुस्तिका में अपूर्ण प्रस्ताव छप गया। उस सरकूलर में भी वह पूरा प्रस्ताव दे दो।

मैं अच्छी तरह समझता हूं कि तुम्हें अपना कामकाज भी देखना है, खास तौर से इन दिनों।

'हरिजन सेवक' निकालने में क्या कठिनाई है ?

तुम्हारे स्वास्थ्य-संबंधी समाचार चिन्ता उत्पन्न करते हैं। यदि कोई विश्वसनीय डाक्टर आपरेशन की सलाह देता है तो क्यों नहीं करा डालते ? मुझे अनुभव ने सिखाया है कि नपी-तुली खुराक और उपवास की उपयोगिता भी सीमित ही है। उनसे सदैव ही इच्छित फल प्राप्त नहीं होता है। और जितने आराम की जरूरत हो, लो। ऐसे मामलों में टालमटोल करना पाप है।

तुम्हारा
बापू

२४ जनवरी, १९३३

परम पूज्य बापू,

सरकार के निश्चय पर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है, पर इधर मैं कई संवाद-एजेंसियों की बुद्धिमत्तापूर्ण भविष्यवाणियों को ध्यान से पढ़ता आ रहा था, इसलिए जो कुछ हुआ है, उसके लिए पहले से ही तैयार-सा हो गया था। मुझे सरकारी निश्चय में न तर्क दिखाई देता है, न न्याय-बुद्धि। अब मैं इस प्रतीक्षा में हूं कि इस परिस्थिति के सम्बन्ध में आपका क्या दृष्टिकोण है।

इस समय व्यवस्थापिका सभा का जैसा कुछ ढंग-ढांचा है, उसे देखते हुए यही कहा जा सकता है कि वह अनेक अच्छी चीजें रद्द करने और बुरी चीजें पास करने में समर्थ है। पहली बात तो यह है कि सरकार की विलम्ब करने की नीति के फलस्वरूप, सम्भव है, यह बिल व्यवस्थापिका सभा में पेश ही न हो सके, और यदि पेश हो भी जाय तो बहुत सम्भव है, वह पास न हो। इसलिए श्री रंगा अय्यर के बिल के ऊपर अधिक निर्भर करना ठीक नहीं होगा। हमें तो आपसी चेष्टाओं

का ही सहारा लेना चाहिए। परन्तु गुरुवायूर मन्दिर के मामले में तो आपसी चेष्टाओं का अधिक मूल्य नहीं है। इसलिए मैं यह जानना चाहूंगा कि आप हमें क्या करने को कहते हैं।

यदि आपको भी रंगा अय्यर का बिल पसन्द हो तो उसकी भाषा में फेरफार करना आवश्यक होगा, क्योंकि इस समय वह जैसा कुछ है, आज की अवस्था के लिए अपर्याप्त सिद्ध होगा। भाषा बड़ी अस्पष्ट है, और कानूनी पहलू से उसका शब्द-गठन ठीक नहीं हुआ है। यदि आप इसके पेश किये जाने के पक्ष में हों तो आपकी सलाह से इसकी भाषा का परिमार्जन करना आवश्यक होगा। इसीलिए मैंने आपके पास एक तार भेजा है। आपके पास से कल तक उत्तर मिलने की आशा है। यदि आप चाहें कि मैं पूना आऊं तो मैं वहां के लिए तुरंत चल पड़ूंगा। वैसे तो मैं परसों दिल्ली जा रहा हूं।

विनीत
घनश्यामदास

यरवडा केन्द्रीय जेल
पूना
२५-१-१९३३

भाई घनश्यामदास,

'हरिजन सेवक' के अंग्रेजी संस्करण की आय-व्यय का अनुमान यह रहा। तुम देखोगे कि रकम मामूली-सी है। क्लर्कों को भी कुछ दिया जायगा और शास्त्री का शुल्क भी जोड़ना होगा। शास्त्री पत्र का सम्पादन करने को राजी हो गया है।

मेरा १०,००० प्रतियां निकालने का इरादा है। यदि इतनी प्रतियों की मांग नहीं हुई तो कम कर दी जायंगी। तुम जानते ही हो कि मैं या तो पत्र को हाथ नहीं लगाऊंगा और यदि लगाऊंगा तो उसे स्वावलंबी बनाने के लिए। यदि पत्र अपना खर्च स्वयं न निकाल सका तो मैं समझूंगा कि प्रबन्ध या सम्पादन का दोष है, या जनता में ऐसे पत्र की मांग नहीं है। इनमें से किसी भी दशा में यदि दोष दूर न किया जा सकेगा तो पत्र को बन्द कर दिया जायगा। मैं पत्र को तीन महीने तक चलाकर देखूंगा। इसी बीच में उसे आत्म-निर्भर बनाना है।

अतएव मैं चाहूंगा कि तुम ठक्कर बापा और जिन किन्ही से परामर्श करना चाहो उनसे परामर्श करके मुझे तार द्वारा सूचना दो कि अधिक-से-अधिक कितनी रकम तक के खर्चे की मंजूरी दे सकते हो। जो अनुमान की हुई रकम है उसमें डाक-खर्च और तार-खर्च के अलावा २००) रुपये और जोड़ लेना ठीक रहेगा। मैं अधिक पक्के आंकड़े शास्त्री के मिलने के बाद दूंगा। यदि तुम बजट पास कर सको तो क्या मैं पत्र निकालने का काम, इस बात का खयाल किये बगैर कि हिन्दी पत्र

निकलेगा या नहीं, शुरू करं सकता हूं ? मैं समझता हूं, पत्र निकालने में यहां कोई असुविधा नहीं होगी।

अस्पृश्यता-निवारक बिलों के सम्बन्ध में सरकार के निर्णयवाला तुम्हारा तार ग्वालियर से मिल गया। आशा है, तुम्हें मेरा उत्तर मिल गया होगा और तुमने मेरा सविस्तार वक्तव्य भी पढ़ लिया होगा। मुझे उस वक्तव्य से अधिक और कुछ नहीं कहना है।

संघ को सरकारी सहायता की याचना करना या उसे ग्रहण करना चाहिए या नहीं, इस सम्बन्ध में मुझे और अधिक कुछ नहीं कहना है। पत्र स्वयं ही स्पष्ट है।

आशा है, तुम अब पहले से अच्छे होगे। अपने स्वास्थ्य के साथ भी तुम्हें ऐसा ही बरताव करना चाहिए जैसा अपने अन्य धंधों के साथ करते हो। उसकी उपेक्षा करने से काम नहीं चलेगा।

तुम्हारा
बापू

९ फरवरी, १९३३

परम पूज्य बापू,

स्थिति का अध्ययन करने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि यदि सरकार सहायता करे तो बिल इसी अधिवेशन में पेश हो सकता है और शिमला के अधिवेशन में पास हो सकता है। निर्वाचन-समिति की नियुक्ति भी इसी अधिवेशन के दौरान हो सकती है। यदि सरकार सहायता नहीं करेगी तो शायद बिल इस अधिवेशन में पेश न हो सके। पर लक्षणों से ऐसा लगता है कि सरकार बिल के पेश किये जाने में सहायता तो करेगी, पर इससे आगे बढ़ने को तैयार नहीं होगी। सरकार हठ पकड़ेगी कि सदस्यों की राय लेने के लिए बिल की प्रतियां बांटी जायं। वैसे तो सदस्यों में घुमाये जाने के बाद भी बिल का शिमला-अधिवेशन में पास किया जाना सम्भव है, पर उसके लिए यह आवश्यक है कि सरकार हर तरह की सुविधाएं दे। यदि सरकार की सहायता नहीं मिली तो बिल खटाई में पड़ा रहेगा।

मैं जब से यहां आया हूं, हम लोगों ने कई बैठकें बुलाईं, जिनमें से कल रात की बैठक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रही। उसमें यह तय हुआ कि व्यवस्थापिका सभा के प्रमुख सदस्य सरकार से बिल पर चर्चा करने के लिए विशेष सुविधाएं देने का अनुरोध करें। एक पत्र तैयार किया गया, जिस पर कई प्रमुख सदस्यों ने हस्ताक्षर किये। आज और भी अधिक हस्ताक्षर हुए होंगे, और मैं समझता हूं, अब तक पत्र लीडर आफ दी हाउस के हाथ में पहुंच गया होगा। परन्तु मुझे विशेष

आशा नहीं है कि सरकार विशेष सुविधाएं देगी। स्वयं सदस्य यह नहीं चाहते हैं कि बिल की कार्रवाई वर्तमान अधिवेशन के दौरान झटपट पूरी कर दी जाय। इनमें से अधिकांश इस मामले में एकमत हैं कि बिल को सदस्यों में घुमाना जरूरी है, पर साथ ही वे यह भी नहीं चाहते हैं कि उसे पास करने के मामले में उतावली से काम लिया जाय। मैं आपको व्यवस्थापिका सभा की प्रणाली को विस्तार के साथ बताना जरूरी नहीं समझता हूं, क्योंकि मेरा विश्वास है कि आप स्वयं अच्छी तरह जानते होंगे। पर मैं तो इतना तो कह ही दूं कि यदि सरकार बिल को गजट में प्रकाशित कर दे तो उसे औपचारिक रूप से पेश करने की झंझट मिट जाय। इस प्रकार यदि सरकार चाहे तो हमारे मार्ग से एक रुकावट दूर हो जाय; पर शायद सरकार हमारी मदद करने को यहां तक आगे नहीं बढ़ेगी।

आज फिर एक बैठक है, जिसमें प्रमुख सदस्य भाग लेंगे। उनमें से कुछ को हम उनके नाम में खड़े हुए बिल वापस लेने के लिए राजी करने की चेष्टा करेंगे, जिससे श्री रंगा अय्यर के बिल के लिए रास्ता साफ हो जाय। मुझे भरोसा है कि अधिकांश सदस्य हमारी सहायता करेंगे। ऐसी भी आशंका है कि दो-एक का रुख सहायतापूर्ण न हो, पर इससे बिल का २७ फरवरी को बाकायदा पेश होना नहीं रुकेगा। हां, यदि सरकार इससे पहले ही बिल को गजट में प्रकाशित कर दे और विशेष सुविधाएं दे तो उसे बाकयिदा पेश करना गैरजरूरी हो जायगा।

बस, एक बात और रह गई। व्यवस्थापिका सभा में एक रिवाज चला आता है कि जिस दिन बिल पेश किया गया हो उसी दिन उस पर चर्चा नहीं की जाती है। इसका अर्थ यह है कि यदि बिल २७ फरवरी को पेश हो गया तो भी उस पर उसी दिन विचार नहीं किया जायगा। यह रिवाज सदस्यों, सभापति और सरकार की सहमति से शिथिल भी किया जा सकता है। पर शायद तीनों पक्ष इसके लिए राजी न हों। स्वयं हाउस इन रिवाजों के पालन किये जाने के पक्ष में रहता है। मैं स्वयं चार वर्ष तक सदस्य रह चुका हूं, इसलिए मेरी सहानुभूति इन रिवाजों के साथ है।

जब मुझे ऐसा लगने लगेगा कि यहां और कुछ करना संभव नहीं है तो मेरा विचार कलकत्ते के लिए रवाना होने का है। यहां तो मेरी नाक का आपरेशन करनेवाला कोई विशेषज्ञ है नहीं, इसलिए अब की बार मैं कलकत्ते में यह भी पूरा करा डालूंगा।

विनीत

घनश्यामदास

(चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के नाम महात्मा गांधी के तारीख १३-२-३३ के पत्र की नकल)

आपने और घनश्यामदास ने जनता के नाम जो अपील निकाली है वह मैंने पढ़ी है। आप लोगों ने उपवास और उसकी सम्भावना की चर्चा मात्र भी क्यों की ? यदि उपवास करना ही पड़ा और यदि उसे आध्यात्मिक रूप देना पड़ा तो आप इस प्रकार उसकी आध्यात्मिकता नष्ट कर रहे हैं। यदि मन्दिर-प्रवेश सम्बन्धी बिल व्यवस्थापिका सभा के वर्तमान अधिवेशन में, अथवा बिलकुल ही, पास न हुए तो भी मैं स्वयं नहीं कह सकता हूं कि उपवास निश्चित है। मैं नहीं जानता वह कब आयेगा। आप लोगों को उसे अपने दिमाग से बिलकुल निकाल देना चाहिए और जनता को स्वतंत्र रूप से कार्य करने की छूट दे देनी चाहिए। जब उपवास आयेगा और उसका स्वरूप आध्यात्मिक होगा तो उसका प्रभाव स्वतः ही पड़ेगा। यदि वह उपवास रुग्ण अथवा अहम्मन्य मस्तिष्क की उपज होगा तो उसकी खबर सुननेवाले को या तो तरस आयेगा, या घृणा होगी—जिसकी जैसी मनोवृत्ति होगी। इसलिए एक विशेषज्ञ की सलाह मानकर उसी के अनुरूप पूरी तरह आचरण करिये।

इसके साथ ही आपको मालवीयजी के रुख पर भी गम्भीरतापूर्वक ध्यान देना है। वह बिलों के बिलकुल खिलाफ हैं, विशेषकर यदि जनमत निर्धारित करने के लिए उन्हें घुमाया न गया तो। यह ठीक है कि मैं उनके मत से सहमत नहीं हूं। मैं उनको लिख रहा हूं। पर यदि आपको तनिक भी अवकाश हो तो उनसे अवश्य मिलिये, या सिर्फ देवदास को ही भेज दीजिये। लेकिन मैं इस बारे में दृढ़ता के साथ कोई सम्मति नहीं दे सकता हूं। जो-कुछ आपको बिलकुल ठीक जंचे वही करिये। बाहर के वातावरण से तो आप लोग ही अच्छी तरह परिचित हैं। मैं तो जो-कुछ जानता हूं, सुनी-सुनाई, इसलिए उसका मूल्य नहीं के बराबर है।

डा० अ०[1] के साथ मुलाकात हुई। मुलाकात को अत्यंत असंतोषजनक कहना ठीक होगा। उनके साथ मेल होना सम्भव नहीं है। एक प्रकार से मुलाकात सफल भी रही। मैं उन्हें अब पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह जानने लगा हूं।

कृपया यह पत्र घनश्यामदास और ठक्कर बापा को भी दिखा लीजिये।

बापू

इस समय हम जिन दो कामों में जुटे हुए थे वे ये थे : हिन्दू-मन्दिरों में अछूतों का प्रवेश कराने के लिए मन्दिर-प्रवेश-बिल को पास कराना, और उनके हितों का समर्थन करने के लिए साप्ताहिक 'हरिजन' निकालना।

---

१. डा० अम्बेदकर से अभिप्राय है।

१४ फरवरी, १९३३

परम पूज्य बापू,

भरसक चेष्टा करने पर भी हम आगे नहीं बढ़ सके हैं। बिल के लिए २७ तारीख निश्चित हुई है और यदि सब-कुछ ठीक-ठाक रहा तो श्री गयाप्रसाद सिंह या श्री एस० सी० मित्र उसे उसी दिन पेश कर देंगे, परन्तु मुझे उसके उस दिन पेश होने में काफी सन्देह है। सबसे पहली बात तो यह है कि बहुत-से बिल आगे से पड़े हुए हैं। यदि उन सबका वापस लिया जाना सम्भव हो तो भी कम-से-कम एक बिल—हाजी वजीदुद्दीन का शारदा ऐक्ट को रद्द करनेवाला बिल—तो रहेगा ही, और सारा दिन उसी में लग जायगा। इस प्रकार बिल शायद २७ तारीख को पेश ही न हो सके, और आप जानते ही हैं कि केवल बिल पेश होने से ही कुछ काम न बनेगा। यदि सरकार बिल को पेश करने की विशेष सुविधाएं दे दे तो अन्य बिलों के बावजूद वह २७ को पेश किया जा सकता है।

मैं आपको लिख ही चुका हूं कि यदि बिल गजट में प्रकाशित हो जाय तो उसे बाकायदा पेश हुआ करार दिया जायगा। श्री रंगा अय्यर ने सरकार को लिखा भी है, परन्तु अभी तक उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला है। मेरे सुनने में तो अभी तक यही आया है कि हमें कोई विशेष सुविधाएं नहीं मिलेंगी। विशेष सुविधाएं मांगने के लिए व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों के हस्ताक्षरों सहित जो पत्र भेजा जाने वाला था वह भेज दिया गया है। केवल १२ हस्ताक्षर कराये जा सके हैं।

नेशनलिस्ट पार्टी में दलबंदी हो रही है। इसके अलावा नेशनलिस्ट पार्टी और इंडिपेन्डेन्ट पार्टी में भी प्रतिद्वन्द्विता चल रही है। चेष्टा की जा रही है कि इन्डिपेन्डेन्ट पार्टी भी ऐसा ही एक पत्र भेज दे।

बिल-सम्बन्धी धीमी प्रगति के कारण जो निराशा हो रही है उसकी ओर ध्यान न दिया जाय तो स्थिति काफी संतोषजनक है और देश बड़ी तेजी के साथ आगे बढ़ रहा है। लोग अस्पृश्यता-निवारण में अधिकाधिक रुचि दिखा रहे हैं और परिणाम संतोषजनक है।

पंडितजी एक बड़ा बुरा वक्तव्य देने वाले थे, जिसमें वह बिल के पेश किये जाने का जोरदार विरोध करते; पर उन्हें फिलहाल वैसा वक्तव्य न देने को राजी कर लिया गया है।

हिन्दी 'हरिजन' की बात अभी तक अनिश्चित है। हमने श्री गुप्ते का नाम मुद्रक और प्रकाशक के स्थान पर दिया था। सी० आई० डी० उनके सम्बन्ध में जांच कर रही है। अब नागपुर पुलिस ने उनके संबंध में पूरी रिपोर्ट भेजने को लिखा है। बहुत चेष्टा करने पर भी काम जल्दी से आगे नहीं बढ़ रहा है।

ठक्कर वापा डिप्टी कमिश्नर से दो वार मिले, पर तो भी कोई प्रगति नहीं हुई।

विनीत
घनश्यामदास

१८ फरवरी, १६३३

परम पूज्य वापू,

फिलहाल कोई महत्त्वपूर्ण वात लिखने योग्य नहीं है। दोनों ओर से प्रचार-कार्य जारी है। हम भी लगे हुए हैं, सनातनी लोग भी। जब हमने कुछ सदस्यों से विशेष सुविधाओं के लिए सरकार से अनुरोध-कराया तो विपक्षी दल ने भी कई सदस्यों से इसका विरोध कराया। फलतः हमने निश्चय किया है कि यदि हमें सदस्यों से अपेक्षाकृत अधिक सहायता प्राप्त करनी है तो विल को व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास कराने के मामले में जल्दवाजी से काम न लेकर उसके वितरण से ही संतोष करना पड़ेगा। मैं जानता हूं कि आप इस मामले में सहमत नहीं हैं। पर मेरी अपनी धारणा तो यह है कि विल के वितरण में और निर्वाचक समिति की नियुक्ति में वास्तव में कोई भेद नहीं है। यदि निर्वाचक समिति नियुक्त हो जाय तो भी शिमला-अधिवेशन से पहले कुछ होना सम्भव नहीं है और यदि विल को एक निश्चित अवधि का निर्देश करके सदस्यों में बांट दिया जाय तो भी निर्वाचक समिति की नियुक्ति सम्भव है, और विल पर उसके बाद ही विचार किया जायगा। अतएव विल के वितरण पर सहमत होकर हम उससे अधिक समय नष्ट नहीं करेंगे जितना हमें वैसे भी करना पड़ता। इसलिए हमने कुछ सदस्यों से सरकार से अनुरोध कराया है कि विल पेश हो सके, इसके लिए वह सुविधाएं प्रदान करे, जिससे जनमत निर्धारित करने के लिए उसे इस शर्त के साथ वांटा जा सके कि वह शिमला-अधिवेशन तक व्यवस्थापिका सभा में लौट आयेगा। आशा है, आपको इस कार्य-प्रणाली पर विशेष आपत्ति नहीं होगी।

मैंने सुना है कि सनातनी वर्ग ने काफी रुपया इकट्ठा किया है। रुपया दक्षिण से भी आ रहा है और रकम का काफी अच्छा भाग कलकत्ता और बम्बई के मारवाड़ियों से आया है। कठवा के महाराज ने भी काफी रुपया दिया है। पता नहीं, इस खबर में कहां तक सचाई है, पर कुछ सचाई है अवश्य।

खेद है कि आपको राजाजी को और मुझे सार्वजनिक रूप से डांटना पड़ा। हम दोनों आपस में झगड़ रहे हैं कि उस विशिष्ट अंश के लिए किसको दोष देना चाहिए। पर मुझे अच्छी तरह याद पड़ता है कि मैंने राजाजी से कहा था कि उपवास के सम्बन्ध में कुछ मत कहिये। हां, मेरे कारण भिन्न थे। प्रेस मुलाकात का मसविदा स्वयं राजाजी ने तैयार किया था, और मूल मसविदे में आपके उपवास की चर्चा तक नहीं थी। मूल में जो वाक्य था, उसका आशय यही था, कि

हमने पहले से दुगुनी शक्ति के साथ काम करने का और बिल को वर्तमान अधिवेशन में पास कराने का आपको वचन दिया है। मैंने कहा कि मैं इस पर हस्ताक्षर करने को तैयार नहीं हूं, क्योंकि न तो मैंने कोई ऐसा वादा ही किया था, और न मैं अपने-आपको इतना बड़ा ही समझता हूं कि ऐसा वादा कर सकूं। इसके अलावा यह कहना भी गलत होगा कि मैं पहले से दुगुनी शक्ति के साथ काम करूंगा। इस पर यह सुझाया गया कि जनता को इस बात का कुछ तो इशारा जरूर ही देना चाहिए कि इस बिल की ओर आपका ध्यान कितना लगा हुआ है। बस, उपवास-सम्बन्धी अंश का जन्म उसी उत्सुकता से हुआ। पर मैं आपकी बात समझ गया, और मैं आपसे इस मामले में सहमत हूं कि उसकी चर्चा नहीं करनी चाहिए थी।

आशा है, आपका स्वास्थ्य ठीक है।

विनीत
घनश्यामदास

२३ फरवरी, १९३२

परम पूज्य बापू,

कल हमने वेस्टर्न होटल में चाय-पार्टी का आयोजन किया, जिसमें व्यवस्थापिका सभा के प्रायः ३५ सदस्यों ने भाग लिया। जितनी की हमें आशा थी उससे भी अधिक सफलता मिली। कुछ सदस्यों ने बिल के विरोधी होते हुए भी उसके पेश किये जाने और लोकमत का पता लगाने के लिए उसके घुमाए जाने का पक्ष लिया। अब हमारी मांग मामूली-सी है, इसलिए हमें पहले से अधिक समर्थन प्राप्त हो रहा है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि बिल २७ फरवरी को पेश हो जायगा और २४ मार्च को बांट दिया जायगा। कई सदस्यों ने वादा किया कि जो अन्य बिल रास्ता रोके पड़े हैं उनके कारण व्यर्थ ही समय नष्ट न हो, इसका वे ध्यान रखेंगे। मंदिर-प्रवेश-सम्बन्धी दूसरा बिल २७ फरवरी को आनेवाला नहीं है, इसलिए वह सम्भवतः उस दिन पेश नहीं होगा। मैंने सर ब्रजेन्द्रसिंह से देर तक बातें कीं, और उन्हें याद दिलाया कि शारदा बिल के अवसर पर विशेष सुविधाएं दी गई थीं। पर उन्होंने कहा कि जबतक सरकार को विश्वास नहीं होगा कि बिल के लिए जगह किए बगैर वह भवन के सामने नहीं आ सकेगा तबतक वह विशेष सुविधाएं देने की बात तक न सोचेगी।

सरकारी क्षेत्र में अभी तक यह भ्रान्त धारणा फैली हुई है कि अस्पृश्यता-निवारण एक राजनैतिक पैंतरा-मात्र है। यह बड़े परिताप का विषय है, पर अभी उन्हें वास्तविकता पर विश्वास करने में दिन लगेंगे। परन्तु मालवीयजी के रुख ने कम-से-कम एक बात साबित कर दी है, और वह यह है कि अस्पृश्यता-निवारण

कार्य को हाथ में लेकर आप अपने कई सबसे गहरे राजनैतिक मित्रों की मित्रता से वंचित हो गये हैं।

कल की चाय-पार्टी में राजाजी की वक्तृता बड़ी ही प्रभावोत्पादिनी रही; कई सदस्यों ने तो भूरि-भूरि प्रशंसा की। मैं भी अनेक पुराने मित्रों से इतने दिनों के बाद मिला था, इसलिए बड़ा प्रफुल्लित था। इस प्रकार पार्टी बहुत ही सफल रही।

विनीत
घनश्यामदास

बनारस
५ मार्च, १९३३

परम पूज्य बापू,

मैं दिल्ली से यहां आया हूं और ५-६ दिन ठहरूंगा। इसके बाद कलकत्ता जाऊंगा। पहले मेरा इरादा था कि इस बार कलकत्ते में आपरेशन करा लूंगा, पर मुझे २० तारीख तक दिल्ली वापस लौटना है, क्योंकि बिल २४ को लिया जायगा। वैसे इस दफा बिल के सम्बन्ध में और कुछ नहीं करना है। कलकत्ते में मुझे मुश्किल से एक सप्ताह मिलेगा। इस प्रकार आपरेशन इस दफा भी मुल्तवी रहा।

मैंने पंडितजी[1] के साथ देर तक बातचीत की। मुझे मालूम हुआ कि उनसे मथुरादास मिल चुके हैं। पंडितजी का दृष्टिकोण बिलकुल भिन्न है। वह धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहते हैं और किसी को अप्रसन्न नहीं करना चाहते। इसलिए वह जो ढंग अपना रहे हैं वह आपको नहीं भायगा।

बातचीत के दौरान पंडितजी ने स्वीकार किया कि कानूनी बाधाएं हैं, पर उन्होंने यह नहीं माना कि उन बाधाओं को विधान सभा की सहायता के बगैर दूर नहीं किया जा सकता है। उन्होंने तो यहां तक कहा कि यदि उन्हें विश्वास हो जाय कि कुछ सचमुच की कानूनी बाधाएं हैं तो वह व्यवस्थापिका सभा की सहायता से या अदालत में परीक्षा के बतौर मामला ले जाकर इस त्रुटि को दूर करने की चेष्टा करेंगे। जब मैंने उन्हें सुझाया कि हम काशी विश्वनाथ मंदिर के मामले को परीक्षा के बतौर अदालत में ले जा सकते हैं तो उन्होंने कहा कि वैसा करना वांछनीय नहीं होगा। पंडितजी को विश्वास है कि आपने जो ढंग अपनाया है उससे अस्पृश्यों को मंदिर में ले जाने में और भी देर लगेगी। वास्तव में वह सनातनी वर्ग के साथ संघर्ष से बचना चाहते हैं।

---

१. मालवीयजी।

उन्होंने जो कहा उससे प्रयाग वाले प्रस्ताव के सम्वन्ध में मेरी धारणा की और भी पुष्टि हो गई। उस प्रस्ताव के अनुसार अस्पृश्य लोग विश्वनाथ मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकते हैं।

दिल्ली से रवाना होने के पहले मैंने सरकारी क्षेत्रों से पता लगाया कि विल के २४ तारीख को पेश होने की क्या सम्भावना है। उन्होंने आश्वासन दिया कि उन्हें कोई वाधा दिखाई नहीं देती है। इसलिए सम्भवतः हम २४ को पहली पाली जीत लेंगे। पर उसकी भावी प्रगति के वारे में मुझे उतनी आशा नहीं है। मैं यह तो स्वीकार करने को तैयार नहीं हूं कि विल के वितरण में कोई खास समय नष्ट होगा, पर और भी बहुत-सी ऐसी कठिनाइयां हैं, जिन्हें आप खुद ही समझते होंगे।

विनीत
घनश्यामदास

बिड़ला हाउस
बनारस
८ मार्च, १९३३

परम पूज्य वापू,

आपका २ मार्च का पत्र देखा। श्री डेविड की योजना[1] के सम्वन्ध में वात यह है कि अभी तक हमें रग्घूमल चैरिटी ट्रस्ट से सिर्फ छात्रवृत्तियों के लिए १०००) रूपये मासिक का वचन मिला है। यह रकम केवल वारह महीने तक मिलेगी, पर मुझे आशा है कि साल-भर वाद इसे फिर जारी करा लिया जायगा। यह रकम श्री डेविड की योजना वाले काम में आसानी से लाई जा सकती है।

इस कार्य के लिए अधिक रुपया संग्रह करने के वारे में मेरा कहना यह है कि अव और अधिक वचन मिलना कठिन-सा हो रहा है, क्योंकि जिन्हें देना था वे हमारे संघ के विभिन्न वोर्डों में से एक-न-एक वोर्ड को पहले से ही दे चुके हैं। अभी हमने रुपया अधिक खर्च नहीं किया है, और यदि आप सहमत हों तो मेरा सुझाव तो यही है कि फिलहाल केन्द्रीय वोर्ड इस निमित्त कुछ रुपया निकाल दे। वास्तव में हम शिक्षण-कार्य में कुछ रुपया खर्च करने की वात पहले से ही सोच रहे हैं और हमने प्रान्तीय वोर्डों से भी कह दिया है कि यदि वे अपने हिस्से का भार वहन करने को तैयार होंगे तो केन्द्रीय वोर्ड भी अपने भाग में आया हुआ भार वहन करेगा। परन्तु मुझे प्रान्तीय बोर्डों से कोई संतोषजनक उत्तर मिलने की आशा नहीं है, इसलिए फिलहाल केन्द्रीय वोर्ड से ही खर्च करना सबसे अच्छा रहेगा। फर्ज

---

१. हरिजनों को उच्च शिक्षा देने के निमित्त सवर्ण हिंदुओं से चंदा लेने की योजना।

करिये, हम केन्द्रीय वोर्ड से २०,०००) रुपये खर्च करें, और १९३३ भर के लिए १२.०००) रुपये का वचन रुघूमल चैरिटी ट्रस्ट से मिलों ही गया है, तो कुल मिलाकर ३२,०००) रुपये हुए। आप यदि अम्बालाल-जैसे मित्रों को २,५००) रुपया देने को लिखें तो अवश्य ही देंगे। मैं भी इतनी ही रकम दे दूंगा। इस प्रकार अच्छा खासा श्रीगणेश हो जायगा। कृपया मुझे कलकत्ते के पते पर लिखिये कि मेरे प्रस्ताव के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है।

हमने हरिजन-कार्य के लिए अवतक प्रान्तों के संग्रह को मिलाकर दो लाख से कुछ ऊपर इकट्ठा कर लिया है। दाता लोगों को इससे सरोकार नहीं है कि हम उनके पास श्री डेविड की योजना के सिलसिले में जाते हैं या केन्द्रीय या प्रान्तीय वोर्डों के संग्रह सिलसिले में। उनसे रुपया हरिजन-कार्य के लिए मांगा गया था और उन्होंने दे दिया। इसलिए मैं तो यह उचित नहीं समझता हूं कि उनके पास श्री डेविड की योजना के सिलसिले में खासतौर से पहुंचा जाय। हां, यदि आप चाहेंगे तो मैं दिल्ली पहुंचने पर लाला श्रीराम से जरूर मांगूंगा। आप भी उन्हें अपनी ओर से लिख दीजिये।

हिन्दी 'हरिजन' के मामले में मैं स्वयं दिलचस्पी ले रहा हूं। आपने देखा होगा कि मैं उसमें अपने लेख दे रहा हूं। आपने जो दोष इंगित किये हैं उनकी ओर मैंने हरिजी का ध्यान पहले से ही दिला दिया है। आपकी आलोचना सम्भवतः पत्र के केवल प्रथम अंक के सम्बन्ध में है। मेरी राय में दूसरा अंक पहले की अपेक्षा निश्चय ही अच्छा हुआ है। पर इसमें सन्देह नहीं कि पत्र को अभी और भी आकर्षक वनाना है। हमें आशा है कि हम भविष्य में आपको अधिक सन्तुष्ट कर सकेंगे। परन्तु यदि कोई आलोचना योग्य बात दिखाई पड़े तो कृपया मुझे लिखते रहियेगा।

मेरा स्वास्थ्य अच्छा ही चल रहा है, और नाक भी कोई विशेष कष्ट नहीं दे रही है। फिर भी उसकी ओर ध्यान देना तो है ही। अभी इसमें देर लगेगी, क्योंकि उसके लिए एक पखवाड़े के विश्राम की जरूरत पड़ेगी और यह मार्च २४ से आगे सम्भव नहीं है।

अपने पत्र के अन्त में आपने 'पुनश्च' करके जो नोट दिया है उसमें निर्वाचक बोर्ड की चर्चा है। सम्भवतः श्री डेविड की योजना से अभिप्राय है, पर मुझे आपका सुझाव अच्छी तरह याद नहीं रहा। कम-से-कम दिल्ली पहुंचने से पहले इस मामले को उठाने में असमर्थ रहूंगा। मैं १९ की सुबह को दिल्ली पहुंचूंगा और ठक्करजी से फिर बातचीत करूंगा। इस बीच आपके उत्तर की प्रतीक्षा कलकत्ते में करूंगा।

विनीत
घनश्यामदास

'हरिजन' को तत्काल सफलता मिली, जैसा कि निम्नलिखित पत्र से स्पष्ट है :

यरवडा केन्द्रीय जेल
९ मार्च, १९३३

भाई घनश्यामदास,

अंग्रेजी 'हरिजन' अपना खर्च खुद निकाल लेता है। बाजार में बेचकर और चन्दे के द्वारा जो रकम इकट्ठी हुई उसमें से भी बच रहा है, और केन्द्रीय बोर्ड द्वारा दी गई १०४४) रुपये की रकम वैसी ही मौजूद है। इसलिए इसे वापस किया जा सकता है। बताओ, यह रुपया तुम्हारे पास कैसे भेजा जाय ? तुम्हें महाराष्ट्र बोर्ड को भी तो कुछ देना है। रुपया वापस करने के ढंग के बारे में इसलिए पूछ रहा हूं कि मनीआर्डर, हुंडी या चेक के द्वारा रुपया भेजने से कमीशन लगेगा, और मैं वह बचाना चाहता हूं।

गुजराती 'हरिजन' निकालने का भी प्रबन्ध हो गया है। पूना से निकल रहा है। यदि घाटा हुआ तो पहले तीन मास के घाटे का भार बम्बई बोर्ड ने वहन करने की गारंटी दे दी है। पर मुझे तो ऐसी आशंका नहीं है।

तुम्हारा
बापू

पुनश्च:

काशी से लिखा हुआ खत मिल गया है। आपरेशन मुल्तवी रहता जाता है, यह मुझे अच्छा नहीं लगता।

कलकत्ता
१६ मार्च, १९३३

परम पूज्य बापू,

मैं कल यहां से दिल्ली जा रहा हूं। देखता हूं कि नाक का आपरेशन स्थगित करने से आप मुझ पर नाराज हो गए हैं। पर क्या करूं, लाचार हूं। दिल्ली में कोई अच्छा डाक्टर नहीं है, और कलकत्ते में मैं ठहर नहीं सकता हूं। परन्तु यहां मैंने डाक्टर राय और एक नासिका-विशेषज्ञ से अपनी परीक्षा करा ली है। नासिका-विशेषज्ञ आपरेशन कराने की सलाह देता है। उसकी राय है कि नासिका की भीतरी नाली की दिशा फेरने के बजाय नाली को स्थायी रूप से ऐसा बनाना होगा कि फिर बहाव में कोई बाधा उत्पन्न न हो। वास्तव में कई विशेषज्ञों ने मुझे इन दोनों प्रकार के आपरेशनों की सलाह दी है। डा० राय एक-आध महीने बाद

उपचार कराने की सलाह देते हैं। हर हालत में आपरेशन दिल्ली से वापसी के बाद ही होगा।

जहां तक रचनात्मक कार्यक्रम का सम्बन्ध है, खास कलकत्ता नगर में काम संतोषजनक ढंग से हो रहा है। प्राय: बीस पाठशालाएं चल रही हैं। हां, सबका संचालन कुछ मारवाड़ी कार्यकर्त्ता ही कर रहे हैं। पर सतीशबाबू कड़ा परिश्रम कर रहे हैं। मुझे कहना पड़ता है कि प्रान्तीय बोर्ड का काम प्राय: नहीं के बराबर है। रुपया इकट्ठा किया जा रहा है, पर यह भी खेतान और कई अन्य मित्रों के द्वारा ही। मैंने डा० राय से कलकत्ते की बस्तियों की बाबत बात की थी। आज तीसरे पहर मैं उन्हें कुछेक स्थान दिखाने ले जा रहा हूं। आशा है, भविष्य में यह अधिक हाथ बंटायेंगे। यह सुझाये जाने पर कि सतीशबाबू को प्रान्तीय बोर्ड में ले लिया जायगा तो कार्य अधिक सफलतापूर्वक किया जा सकेगा, मैंने डा० राय को इशारा किया और अब सारा मामला उन्हीं के ऊपर छोड़ दिया है।

मैंने कुछ मित्रों से श्री डेविड की योजना के लिए ४००) रुपये वार्षिक देने को कहा है। बाजार की हालत इतनी खराब है कि रुपया मांगने में संकोच होता है। पर आशा है कि कुछ लोग देंगे। हर हालत में, जैसा कि मैं कह चुका हूं, जो रुपया हमारे पास मौजूद है उससे काम मजे में शुरू किया जा सकता है। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि अंग्रेजी 'हरिजन' स्वावलंबी हो गया है। आप जबतक अंग्रेजी 'हरिजन' में अपने कुछ लेखों के द्वारा विशेष आशीर्वाद नहीं देंगे तबतक हिन्दी 'हरिजन' आपकी बराबरी न कर सकेगा। पत्र की मांग बढ़ रही है। इस सम्बन्ध में अधिक दिल्ली पहुंचने पर लिखूंगा।

जी हां, हमें महाराष्ट्र बोर्ड को रुपया देना होगा, बशर्ते कि अपने बजट का एक-तिहाई वे लोग खुद इकट्ठा करें। सम्भवत: वे अभी तक कुछ इकट्ठा नहीं कर सके हैं। केन्दीय बोर्ड को रुपया भेजने का सुगम उपाय यह है कि रुपया बम्बई में मेरी फर्म को भेज दिया जाय। वहां से दिल्ली आ जायगा। इससे कमीशन भी बच जायगा।

आपने अखबारों में पढ़ा ही होगा कि बंगाल कौन्सिल ने पूना-पैक्ट को धिक्कारा है। हार भारी नहीं हुई, पर मुझे कौन्सिल का रवैया बिलकुल पसन्द नहीं आया। मैंने इस मामले पर समाचार-पत्रों में प्रकाशन के लिए तो कुछ नहीं कहा, जैसा कि उचित भी था, पर साथ ही मेरा विश्वास है कि पूना-पैक्ट के विरुद्ध जो प्रचार-कार्य हो रहा है उसका निराकरण करने के लिए कुछ-न-कुछ करना आवश्यक है। मैं इस चिट्ठी के साथ 'एडवांस' और 'लिबर्टी' पत्रों के कटिंग भेजता हूं, जिनसे आपको सम्पादकीय रवैये का अन्दाजा होगा। पर सतीशबाबू[1] का कहना है कि

---

१. श्री सतीश चन्द्र दासगुप्त।

आम जनता पैक्ट के खिलाफ बिलकुल नहीं है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि बंगाल में जनमत विभाजित है। स्वयं विधानबाबू[1] पैक्ट के पक्ष में नहीं हैं, इसलिए अबतक एक भी प्रमुख नेता ने पैक्ट के पक्ष में जबान नहीं खोली है। आज सुबह मैंने सतीशबाबू से बात की और उन्हें सर प्रफुल्लचन्द्र राय और डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पास जाने की सलाह दी। यदि वे सहमत हो गये तो प्रस्ताव पास किया जा सकता है। आज तीसरे पहर मैं डा० राय से भी बात करूंगा। यह सब सूचनार्थ है।

विनीत
घनश्यामदास

अछूतों के हित के लिए हम जो काम कर रहे थे उसके निमित्त चन्दा इकट्ठा करने में कठिनाई हो रही थी।

२१ मार्च, १९३३

परम पूज्य बापू,

मैं यहां परसों आया। कुछ दिन यहीं रहूंगा। संघ[2] का वार्षिक अधिवेशन अप्रैल के मध्य में होगा। तबतक मैं यहीं हूं।

जब मैं कलकत्ते में था तो डा० विधान को कई बस्तियों में ले गया था। इनमें हरिजन लोग रहते हैं। कुल मिलाकर ६०० बस्तियां हैं, जिनमें से लगभग २०० बस्तियां पिछले कुछ वर्षों से सुधर गई हैं। ये बस्तियां 'सुधरी हुई बस्तियां' कहलाती हैं। उनमें रोशनी, जल और नाली आदि की व्यवस्था है, इसलिए इनमें सार्वजनिक पाखाने खोलना सम्भव है। बाकी ४०० बस्तियों की दशा अकथनीय है। इनमें कुछ बस्तियां तो शहर के उस पार हैं, और इनमें नाली आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। ये बस्तियां सड़क की सतह के नीचे हैं, इसलिए पानी की एक-एक बूंद इकट्ठी हो जाती है। पानी इकट्ठा न हो, इसलिए हौज बनाने को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता है। पाखानों की व्यवस्था भयंकर है, क्योंकि नालियां नहीं हैं। आदमी गलियों में निवृत्त होते हैं और झोंपड़ियों में रहने वालों को सड़क पर इन्हीं में से होकर जाना पड़ता है। गर्मियों में अवस्था बड़ी भयंकर हो जाती है और बरसात में घुटनों तक पानी हो जाता है, क्योंकि उसके बह निकलने का कोई मार्ग नहीं है। इस अवस्था का अन्त दो प्रकार से ही किया जा सकता है। या तो इन बस्तियों को ढहा दिया जाय, या नालियों की व्यवस्था की जाय। मुझे

---

१. डा० विधान चंद्र राय।
२. भारतीय वाणिज्य उद्योग-संघ।

बताया गया है कि सारे इलाके में नालियों की व्यवस्था करने में ५० लाख रुपये लगेंगे, जिसका प्रश्न ही उठाना बेकार है। एक और उपाय यह भी है कि इन इलाकों में कुछ पंप लगा दिये जायं, जो इकट्ठे हुए पानी को पंप कर दें। समस्या का हल आसान नहीं है, और समस्या को हल करना नितान्त आवश्यक भी है। डा० राय का कहना है कि वह अपने कारपोरेशन के अमले के सामने भी लाचार हैं और कौन्सिलरों के सामने भी। अधिकांश कौन्सिलरों का इन वस्तियों में प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष हित है। परन्तु जब इन वस्तियों को सुधारने का प्रश्न उठाया जाता है तो ये लोग विरोध करते हैं। मैंने देखा कि डा० विधान हृदय से कुछ करना चाहते हैं। वास्तव में जिन बस्तियों में सुधार की गुंजाइश थी उन्हें पहले से ही सुधार दिया गया है। उन्होंने अन्य बस्तियों को भी हाथ में लेने का वचन दे दिया है। यह आपकी सूचनार्थ है।

मैंने 'हरिजन' में आपका लेख देखा है, जिसमें टट्टी ले जाने के आधुनिक ढंग की चर्चा की गई है। मैंने इस प्रश्न पर भी डा० विधान से बात की। उन्होंने मुझे बताया कि जब उन्होंने अपनी इस नई प्रणाली को कारपोरेशन में जारी करना चाहा तो मेहतरों ने घोर विरोध किया। बात यह है कि यदि टट्टी गाड़ियों में ढोई जायगी तो उसके लिए इतने भंगियों की दरकार नहीं होगी, इसलिए जब उन्होंने इस सुधार की बात सुनी तो तुरन्त विरोध करना शुरू कर दिया। साथ ही कुछ कौन्सिलर भी ऐसे हैं, जो मेहतरों के हितैषी होने का दम भरते हैं। उन्होंने भी इन मेहतरों को भड़काया। आप कह सकते हैं कि मेहतरों की संख्या घटाये बगैर भी टट्टी गाड़ियों में ढोई जा सकती है, पर आदमियों की दरकार न होने पर भी उन्हें रखे रहने की आशा करना कारपोरेशन के साथ न्याय नहीं होगा।

हिन्दी 'हरिजन' में मैं बड़ी दिलचस्पी ले रहा हूं। इस सम्बन्ध में मैं आपको दो-एक दिन बाद फिर लिखूंगा। मैंने खुद भी उसमें कई लेख लिखे थे। पर अब नहीं लिख रहा हूं, क्योंकि पता नहीं वे आपको अच्छे भी लगे या नहीं। मुझे कलकत्ते में मालूम हुआ कि उन्हें मारवाड़ियों ने ध्यानपूर्वक पढ़ा और सभी हिन्दी पत्रों ने उन्हें उद्धृत किया। आपके कुछ लेखों का अनुवाद मुझे पसन्द नहीं आया। रा० द्वारा किया गया अनुवाद तो सबसे बुरा था। इसलिए यदि अनुवाद स्वयं आपकी पसन्द का हो तब तो बात दूसरी है, अन्यथा अपने लेख उनके पास सीधे न भेजिये। पत्र के सम्बन्ध में अब आपकी क्या राय है, सो लिखने की कृपा करियेगा।

श्री डेविड की योजना के सम्बन्ध में यह जानकर मुझे सचमुच दुःख हुआ कि इस प्रगति से आप सन्तुष्ट नहीं हैं। मैं जानता हूं कि मैंने यह काम सरगर्मी के साथ हाथ में लिया था, परन्तु धन-संग्रह के संबन्ध में जैसा मैंने अनुमान कर रखा था उसके विपरीत परिणाम से मुझे घोर निराशा हुई। मैंने समझा था कि

जिनके पास पैसा है, कम-से-कम वे तो खुशी-खुशी देंगे, पर कलकत्ते में मैं ५०,०००) रुपये से अधिक एकत्र नहीं कर सका। दिल्ली में मैं दरवाजे-दरवाजे फिरा और फिर भी १,५००) रुपये बड़ी मुश्किल से एकत्र कर सका। एक बड़े ठेकेदार ने, जो कांग्रेसवादी है, और काफी पैसे वाला है, देने का वादा तो किया, पर दिया कुछ नहीं। मैंने कानपुर में अपने कई मित्रों को लिखा है। वे पत्र तो सुन्दर लिखते हैं, पर देते-दिलाते कुछ नहीं हैं। अहमदाबाद से भी निराशा ही हुई। बम्बई में चार मारवाड़ी फर्मों ने देने का वचन दिया था, पर अभी तक कुछ नहीं दिया है। इसका कारण यह नहीं है कि लोग इस कार्य को पसन्द नहीं करते हैं। असली बात यह है कि हर कोई जेब से बचना चाहता है। मुझे यह जानकर बड़ा दुःख होगा यदि आपकी यह धारणा हो कि पहले तो मैंने काम सरगर्मी के साथ हाथ में लिया, और फिर रुपया इकट्ठा नहीं कर सका। आप मुझसे जितना देने को कहें, देने को तैयार हूं, पर दूसरों से पैसा निकालना मेरे बूते के बाहर की बात है। आपको पत्र लिखने के बाद से मैं तीन और जगहों से २,५००) रुपये एकत्र करने में सफल हुआ हूं। इस रुपये का उपयोग भी श्री डेविड की योजना में हो सकता है। मैंने कलकत्ते में कई मित्रों को सुझाया कि किस्तों में दे दो, पर संतोषजनक उत्तर नहीं मिला। ताजा संग्रह के सम्बन्ध में यही स्थिति है। पर मैं आपसे इस बात में सहमत नहीं हूं कि केन्द्रीय कोश से रुपया न लिया जाय। जब रुपया मौजूद है तो उसे काम में क्यों न लिया जाय? यदि उसे काम में नहीं लिया जायगा तो वह धीरे-धीरे कार्यालयों के खर्च और आवश्यक बातों में खप जायगा। कई प्रान्तीय बोर्ड तो रचनात्मक कार्य पर एक पैसा तक खर्च नहीं कर रहे हैं। दिल्ली प्रान्तीय बोर्ड को ठक्कर बापा ने और मैंने इसके लिए आड़े हाथों लिया है। अब मैंने सारे प्रान्तीय बोर्डों से कैफियत तलब की है कि उन्होंने दफ्तर के खर्च में कितना लगाया और रचनात्मक कार्य में क्या खर्च किया। इसलिए मैं तो फिर वही कहूंगा कि आप डेविड-योजना पर २०,०००) रुपये केन्द्रीय बोर्ड में से और ६,०००) रुपये रघूमल चैरिटी ट्रस्ट के खर्च कर सकते हैं। रघूमल चैरिटी ट्रस्ट ने १२,०००) रुपये का वचन दिया है, पर इसका आधा बंगाल में खर्च किया जायगा। डा० विधान राय छोटी-छोटी छात्रवृत्तियों में खर्च करना चाहते हैं, इसलिए बंगाल के हिस्से में आया हुआ रुपया डेविड-योजना के काम में नहीं आ सकेगा। इस प्रकार आपके पास २०,०००) रुपये केन्द्रीय बोर्ड के, ६;०००) रुपये रघूमल चैरिटी ट्रस्ट के, २५००) रुपये मेरे, २५००) रुपये जानकीदेवी के और वे २,५००) रुपये हो जायंगे, जो मैंने हाल में इकट्ठा किये हैं। कुल मिलाकर ३३,५००) रुपये हुए। कुछ और भी संग्रह हो जायगा। पर यदि हम ४०,०००) रुपये से काम आरम्भ करें तो रकम अच्छी-खासी है। जब आप निश्चय कर लेंगे तो मैं श्री ठक्कर बापा से निर्वाचन-समिति के बारे में बात

करूंगा। कृपया मेरे सुझाव पर अच्छी तरह विचार करने के वाद मुझे लिखियेगा।

मैं कलकत्ते के कुछ सनातनी मित्रों से भी मिला। वे भी मीठी-मीठी बातें तो करते हैं, पर देते-दिलाते कुछ नहीं।

आशा है, आप सानन्द हैं। सरदार, महादेवभाई और जमनालालजी को मेरा नमस्कार।

विनीत
घनश्यामदास

बापू ने अपने दूसरे पत्र में सबसे पहले इस बात पर जोर दिया कि मैं आपरेशन को स्थगित न करूं :

यरवडा केन्द्रीय जेल
२३ मार्च, १९३३

भाई घनश्यामदास,

तुम्हारा पत्र और कटिंग मिले। तुम जबतक आपरेशन के लिए समय नहीं निकालोगे तबतक तुम्हें समय नहीं मिलेगा। कार्यव्यस्त आदमियों का ऐसा ही होता है। इसलिए स्वास्थ्य की वात को भी व्यापार की बात जैसा समझना आवश्यक है। मैं यह एक दार्शनिक तथ्य नहीं बल्कि एक ऐसा व्यावहारिक सत्य बता रहा हूं, जिसका प्रयोग मैंने जीवन में भी किया है और दूसरों के जीवन में भी। इसलिए मुझे आशा है कि तुम इलाज के लिए एक महीना अलग निकाल लोगे और डाक्टर के साथ पहले ही तय कर लोगे, और यह भी संकल्प कर लोगे कि डाक्टर को दिया हुआ वक्त टल न जाय।

कलकत्ते के कार्य के सम्बन्ध में जो लिखा सो जाना।

श्री डेविड की योजना के सम्बन्ध में मैं और अधिक सुनने की आशा करता हूं।

जब मैं हिन्दी 'हरिजन' को इस योग्य देखूंगा कि उसके सम्बन्ध में अंग्रेजी 'हरिजन' के स्तम्भों में कुछ लिखूं, तो तुरन्त लिखूंगा। इस सम्बन्ध में मैं ठक्कर बापा और वियोगी हरि को खुलासा करके लिख ही चुका हूं, इसलिए और अधिक लिखना अनावश्यक है। तुम उसके लिए जितना समय दे सकते हो, दोगे, और उसमें इतनी खबर और हिदायतें दोगे कि किसी कार्यकर्त्ता का काम उसके बगैर नहीं चले। तुम कहते हो कि केन्द्रीय बोर्ड को दिया जाने वाला रुपया मैं बम्बई में तुम्हारी फर्म के पास भेज दूं। इस तरह कमीशन कैसे बचेगा? यदि नोट किसी बम्बई आते-जाते के हाथ भेज दिये जायें तो बात दूसरी है, पर उसमें

रुपया खो जाने का भी तो भय है। मुझमें इतना साहस नहीं है।

यरवडा-पैक्ट को बंगाल कौन्सिल ने धिक्कारा है, पर उससे मैं विशेष उद्विग्न नहीं हुआ हूं, न मेरा यह खयाल है कि यह समय मुकाबले का प्रचार-कार्य आरंभ करने का है। जबतक सारे दल राजी न होंगे, पैक्ट में हेर-फेर असम्भव है। जब दलों के साथ बाकायदा मशवरा कर लिया जायगा तो बंगाल के विरोध की ओर ध्यान देने के लिए काफी समय मिलेगा। मेरी सलाह ली गई थी, और मैंने अपनी राय भेज दी है। साथ में उसकी नकल भेजता हूं। परन्तु बंगाल में क्या करना उचित होगा, यह तो मेरी अपेक्षा तुम और सतीशबाबू ही ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हो।

तुम्हारा
बापू

तीन दिन बाद उन्होंने फिर लिखा :

२६ मार्च, १९३३

भाईघ नश्यामदास,

दो-तीन बात अभी लिखता हूं, बाकी पीछे।

हिन्दी 'हरिजन' में पढ़ने के लायक हम एक ही चीज पाते हैं, वह तुम्हारे लेख। तुम्हारी भाषा मीठी और तेजस्विनी है। लेकिन इतने ही से मुझे संतोष नहीं हो सकता है। जबतक वहां अच्छा प्रबन्ध नहीं हुआ है तबतक ज्यादातर यहीं से लेख भेजे जायंगे। महादेव और मैं अनुवाद करेंगे, वियोगीजी हम लोगों की हिन्दी को दुरुस्त कर लेवें। इसके उपरांत संघ की तरफ से नोटिस, सूचना, प्रान्तीय खबरें इत्यादि आनी चाहिए। तब तो हिन्दी 'हरिजन' की हजारों कापियां बिकनी चाहिए। सेवा संघ का यह मुख्य गजट बन जाना चाहिए। रामदासजी को और किसी को अनुवाद के लिए यहां से लेख भेजने का मैंने इन्कार किया है। ऐसे 'हरिजन' चल ही नहीं सकता है। हिन्दी में अनुवाद न मिलें, या वियोगीजी खुद न कर सकें और कोई दूसरा प्रबन्ध न हो सके तो हि० सं० बन्द करना आवश्यक समझता हूं।

कलकत्ते की बस्ती के बारे में कुछ ज्यादा कार्य होने की आवश्यकता देखता हूं।

डेविड-योजना के बारे में मैं समझता हूं कि इसका चिन्तन किया जाय। मैं अधिक लिखूंगा। परीक्षक बोर्ड बनाओ।

बापू के आशीर्वाद

२८ मार्च, ३३

परम पूज्य बापू,

मैं दो-एक बातों के बारे में आपकी सलाह चाहता हूं।

जब मैं बनारस में था तो मुझे मालूम हुआ कि कुछ डोम, जिन्होंने कुछ दिन पहले अपना धर्म छोड़ दिया था, अब इस आन्दोलन के फलस्वरूप हिन्दू धर्म में वापस आना चाहते हैं। वहां के आर्यसमाजियों ने संघ से आर्थिक सहायता मांगी, जिससे उन्हें शुद्ध किया जा सके। मुझे इसमें कोई बुराई दिखाई नहीं दी, इसलिए मैंने अपनी जेब से सहायता देने का वचन दे दिया। अब प्रश्न यह है कि संघ को ऐसे मामलों में दिलचस्पी लेनी चाहिए या नहीं, और यदि नहीं तो क्यों? जब हम ऐसे मामलों में दिलचस्पी लेने से इन्कार कर देते हैं तो लोगों को यह वैध शिकायत करने का अवसर मिल जाता है कि हम दूसरों को खुश करने के लिए हिन्दू हितों का बलिदान करने को तैयार रहते हैं। इस आलोचना में काफी सचाई है। मैं शुद्धि की खातिर 'शुद्ध' करने के और ईसाइयों और मुसलमानों को अपना धर्म छोड़ने को राजी करने के पक्ष में नहीं हूं। परंतु यदि किसी हिन्दू ने अपना धर्म छोड़ दिया है और वह हिन्दू धर्म में पुनः वापस आना चाहता है तो मैं तो उसे प्रोत्साहित न करने का कोई कारण नहीं देखता हूं।

मैंने बेंथल[1] को लिखा था कि हिन्दी 'हरिजन' के लिए कागज मुफ्त दें। आप को पता ही होगा कि वह टीटागढ़ पेपर मिल्स के मैनेजिंग एजेंट हैं। बेंथल ने कहा कि पत्र में विज्ञापन देने की बात पर तो विचार किया जा सकता है, पर कागज उपहारस्वरूप देना सम्भव नहीं है। मैंने कहा कि पत्र में लिख देंगे कि टीटागढ़ पेपर मिल्स ने हमें कागज मुफ्त दिया है, तो यही विज्ञापन का काम करेगा। उन्होंने कहा कि इतने से काम नहीं चलेगा। मैंने कहा कि हम पत्र में विज्ञापन बिलकुल नहीं छापते हैं, इसलिए टीटागढ़ पेपर मिल्स का विज्ञापन छापने में असमर्थ हैं। अब मामला डाइरेक्टरों के बोर्ड के सामने पेश है। टीटागढ़ पेपर मिल्स का विज्ञापन लेने के सम्बन्ध में आपकी क्या सम्मति है?

पता नहीं, हिंदी 'हरिजन' के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है। मेरा तो खयाल है कि कुल मिलाकर पत्र अच्छा-खासा है। अभी इसे आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने में देर लगेगी। पर मैं समझता हूं कि पत्र बराबर उन्नति करता जा रहा है और तीन-चार महीने में पूर्णतया अपने-आप निर्भर करने लगेगा।

विनीत
घनश्यामदास

---

१. सर एडवर्ड बेंथल

बापू के दूसरे पत्र से पता चलता है कि कलकत्ते की गन्दी गलियों का सफाई के बारे में उनका दिमाग किस प्रकार व्यावहारिक ढंग से काम कर रहा था :

यरवडा सेन्ट्रल जेल
२८ मार्च, १९३३

भाई घनश्यामदास,

मैंने २६ तारीख को हिन्दी में जो पत्र लिखा था, आशा है, वह तुम्हें मिल गया होगा। कलकत्ते की बस्तियों की समस्या को सामूहिक रूप से हल करना होगा, एक-एक, दो-दो बस्तियां करके नहीं। इसलिए अब जब कलकत्ता जाओ तो वहां कारपोरेशन के प्रमुख कौंसिलरों की एक आपसी बैठक बुलवाकर उनसे मिलो। यदि इस समस्या का हल करने में कुछ व्यक्तियों के स्वार्थों को आघात पहुंचता है तो इससे क्या, काम तो करना ही है। तुमने मुझे जो कुछ लिखा है, उससे मैं तो यही समझता हूं कि सबसे सस्ता उपाय बस्तियों को तोड़ देना है। पाखाना हटाने के उन्नत और मानवतापूर्ण साधन काम में लाना जरूरी भी है और आगे चलकर मितव्ययितापूर्ण भी सिद्ध होगा। सभी आधुनिक साधनों को काम में लाने में आरम्भ में तो अधिक खर्च होता है, पर अन्त में वे मितव्ययितापूर्ण सिद्ध होते हैं। उनका विरोध व्यर्थ की बात है। इस समस्या को हल करने में जो कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं उनके पीछे उन लोगों की उदासीनता छिपी हुई है, जो मुंह से तो सुधार की आवश्यकता बताते हैं, पर उसके लिए किसी प्रकार का त्याग करने को तैयार नहीं होते हैं। तुम्हें इस उदासीनता को सक्रिय सहानुभूति में परिणत करना है। मार्ग अपने-आप निकल आयगा।

हिन्दी 'हरिजन' के सम्बन्ध में मैं तुम्हें परसों लिख चुका हूं कि पहले लेख को छोड़कर बाकी लेखों में यदि कोई लेख पढ़ने योग्य थे तो वे तुम्हारे लेख थे। तुम्हारी शैली मनोहर, सीधी-सादी और मुहावरेदार है। तुम विषय पर सीधे और बोधगम्य ढंग से पहुंचते हो। मेरे लेखों का अनुवाद दोषपूर्ण अवश्य था, पर अब तो अनुवाद यहीं से भेजे जायेंगे। उनकी हिन्दी वहां परिष्कृत कर ली जाया करेगी। इससे खर्च भी कम होगा और पत्र का स्टेण्डर्ड भी ऊंचा होगा।

डेविड-योजना की चिन्ता मत करो। मैं तो तुम्हें बताना चाहता था कि उस पर मैंने कैसे लिखा। पर तुम्हारी कठिनाई को मैं समझता हूं। यदि जरूरत हुई तो केन्द्रीय कोश का तो सहारा लेना पड़ेगा ही। परन्तु पहले देख लें कि पूरी रकम देने वाले आधे दर्जन दाता भी मिलते हैं या नहीं। मैं निराश नहीं हुआ हूं, पर सुन्दर पत्र तैयार करने का समय ही नहीं मिलता है। पर इधर मैं समय निकालूंगा। जहां एक-दो नाम मिले कि उनके साथ तुम्हारे नाम की भी घोषणा कर दूंगा।

तुम्हारा
बापू

इन दिनों हमारा पत्र-व्यवहार अधिकतर 'हरिजन' के प्रकाशन और उसकी रूपरेखा तथा विषय-सूची तय करने के बारे में होता था।

३१ मार्च, १९३३

परम पूज्य बापू,

आपका २३ तारीख का पत्र मिला और २६ तारीख का हाथ का लिखा पत्र भी मिला। १५ अप्रैल को संघ[1] की वार्षिक बैठक होगी। इसमें दो-तीन दिन लगेंगे। इसके बाद अर्थात् अप्रैल के अन्त में, मैं कलकत्ता जाकर आपरेशन करा डालूंगा। मैंने आपरेशन का लगभग निश्चय कर लिया है।

केन्द्रीय बोर्ड के पास रुपया भेजने का एक और अमली सुझाव पेश करता हूं। पूना में श्री शिवलाल मोतीलाल की एक काटन मिल है। यदि रुपया उन्हें दे दिया जायगा तो वे दिल्ली में केन्द्रीय बोर्ड को रुपया दे देंगे।

यरवडा-पैक्ट के विरुद्ध बंगाल की तू-तू, मैं-मैं में अब कोई दिलचस्पी नहीं ले रहा हूं। जब मैं कलकत्ते में था तो सतीशबाबू से भी मिला था। उनका कहना है कि जब कवीन्द्र और आचार्य दौरे पर से लौटेंगे तो उस समय कुछ करना आवश्यक समझा गया तो कार्रवाई करेंगे।

श्री ठक्कर बापा आपसे मिलने जा ही रहे हैं। निर्वाचन बोर्ड के सम्बन्ध में आपसे खुलासा बात कर लेंगे। इसके बाद आपकी इच्छा के अनुरूप बोर्ड नियुक्त कर दिया जायगा।

विनीत
घनश्यामदास

३१ मार्च, १९३३

परम पूज्य बापू,

हिन्दी 'हरिजन' के सम्बन्ध में आपका सुझाव पढ़ ही चुका हूं। मेरी अपनी सम्मति तो यह है कि पत्र उन्नति करता जा रहा है। आर्थिक दृष्टि से भी पत्र समय आने पर अपना खर्च स्वयं निकालने लगेगा। पत्र की वर्तमान आर्थिक अवस्था इस प्रकार है :

हम कोई १,००० प्रतियां बेच रहे हैं। यदि २,५०० प्रतियां बिकने लगेंगी तो पत्र स्वावलंबी हो जायगा। १२ पृष्ठों की २,५०० प्रतियों पर प्रति सप्ताह इस प्रकार खर्च बैठेगा :

---

१. भारतीय वाणिज्य उद्योग-संघ

छपाई	४५) रुपये
कागज	३३) रुपये
मुड़ाई	५) रुपये
डाक और रेल-खर्च	२८) रुपये

लगभग ४८०) रुपये प्रतिमास आयगा। कर्मचारियों का खर्च १६०) रुपये प्रतिमास लगाने के बाद २,५०० प्रतियों पर ६४०) रुपये प्रतिमास खर्च बैठेगा।

यदि हम ये सारी २,५०० प्रतियां बेच सकें, आधी ग्राहकों को और बाकी एजेंटों के जरिये, तो हमें औसत तीन रुपये प्रति पड़ जायगा, जो साल-भर में ७,५००) रुपये हुए। २,५०० प्रतियां खपाना मुश्किल नहीं है। पत्र का विज्ञापन अच्छी तरह नहीं हुआ है। मैंने अपने कई निजी मित्रों को पत्र की बिक्री बढ़ाने को लिखा है। पता नहीं, वे कहां तक सफल होंगे। हम एक एजेंट को घूम-फिरकर ग्राहक जुटाने के लिए बाहर भेज रहे हैं। आशा है कि इस तरह भी काफी ग्राहक मिल जायंगे। यदि आप पत्र की मौजूदा क्वालिटी से सन्तुष्ट हों और एक विशेष सार्वजनिक अपील निकालें तो अच्छा रहे। इसकी तुलना गुजराती के पत्र से की जाय तो यह कुछ बहुत घटिया साबित नहीं होगा। कृपया पत्र का छठा अर्थात् ३१ मार्च का संस्करण देखियेगा। इसमें श्री ठक्कर बापा के दो लेखों को, श्री कालेलकर के एक लेख को, और सम्पादकीय टिप्पणियों को छोड़कर बाकी सब आपके ही लेख हैं। श्री ठक्कर बापा के लेख मेरी राय में अच्छे हैं, कम-से-कम उनका वह लेख जो १०वें पृष्ठ पर छपा है। श्री कालेलकर का लेख भी बुरा नहीं है, पर उसे न दिया जाता तो कोई हानि नहीं थी। बाकी सब लेख आपके हैं। साप्ताहिक समाचार अधिक महत्त्व के नहीं हैं, पर जो भी मिलें, उन्हें छापना चाहिए। इस समय मेरी शिकायत तो अनुवाद के सम्बन्ध में है। हरिजी ने अंग्रेजी से शब्दशः अनुवाद किया है, सो मुझे पसन्द नहीं आया। मैंने उनसे कह दिया है कि अंग्रेजी के मुहावरों का ज्यों-का-त्यों अनुवाद करने के बजाय शुद्ध हिन्दी के मुहावरे व्यवहार में लावें। आशा है कि आपको भी यह बात पसन्द आयेगी। महादेवभाई द्वारा किये गए अनुवाद भी उतने ही बुरे हैं, इसके अलावा मैं यह भी नहीं चाहता हूं कि आप अपने ऊपर व्यर्थ का भार लादें। कृपया अनुवाद का काम वियोगीजी के जिम्मे छोड़ दीजिये। देखें हम कहां तक सफल होते हैं। यदि आप किसी लेख का स्वयं अनुवाद करना चाहें तो मेरी प्रार्थना यही है कि शब्दशः अनुवाद करने के बजाय उसी विषय पर स्वतंत्र लेख लिखें। वह पढ़ने में भी अधिक रोचक होगा। उदाहरण के लिए आपके लेख का जो अनुवाद ३१ मार्च के संस्करण में ८वें पृष्ठ पर छपा है वह पढ़ने में महादेवभाई के कई अनुवादों की अपेक्षा कहीं भला लगता है। इसी प्रकार आपका तीसरे पृष्ठ पर छपा गुजराती का अनुवाद

भी बड़ा सुन्दर हुआ है। बाकी अच्छे नहीं रहे। इसलिए मैं यही निवेदन करूंगा कि या तो आप मूल लेख भेज दिया करें या स्वतंत्र अनुवाद भेजा करें। यदि आप चाहें तो अंग्रेजी या गुजराती के मूल लेखों के अविकल अनुवाद का काम हमारे जिम्मे कर दें। अनुवाद-सम्बन्धी दोष को बाद देने पर मेरी अपनी राय तो यह है कि ३१ मार्च का अंक तो स्टैण्डर्ड के अनुरूप ही हुआ है। कृपया बताइये, आप इस मामले में मुझसे सहमत हैं या नहीं। यदि आपकी राय दूसरी हो तो अपनी निश्चित आलोचना भेजने की कृपा करियेगा।

भविष्य के लिए मेरा सुझाव है, और मैंने यही बात वियोगीजी से कही है, कि पत्र १२ पृष्ठ का रहे और छोटे टाइप में छपे। सामग्री के सम्बन्ध में बात यह है कि जहां तक आपके लेखों का ताल्लुक है, मूल और अनुवाद सब जाने चाहिए। दो-एक टिप्पणियां सम्पादक की ओर से हों, पर दो कालम से अधिक नहीं। यदि आपके मूल लेख मिल सकें तो अग्रलेख का स्थान उन्हें दिया जाया करे। इसके अलावा साप्ताहिक रिपोर्ट भी छपनी चाहिए। पौराणिक कहानियां या भक्तमाल-जैसे पुस्तकों में से ली गई कहानियां भी दी जानी चाहिए। इस प्रकार की सामग्री के लिए भी एक पृष्ठ लिखना चाहिए। आशा है, आपको मेरा सुझाव पसन्द आयगा, यदि नहीं तो कृपया अपने सुझाव से सूचित करियेगा। आशा है, १२ पृष्ठों का पत्र निकालने की बात आपको पसन्द आयेगी। घटाकर ८ पृष्ठों का भी किया जा सकता है। पर मेरी राय में १२ पृष्ठों लायक काफी सामग्री है, इसलिए पत्र के साइज को घटाना जरूरी नहीं है। अबतक जो रिपोर्टें निकली हैं वे महत्त्व-पूर्ण नहीं हैं। मैं प्रान्तीय बोर्डों का ध्यान इस ओर दिला रहा हूं।

इस पत्र के साथ 'पतित बन्धु' से एक कटिंग भेज रहा हूं। इससे आपको पता चल जायगा कि हम किस प्रकार की कहानियां छापना चाहते हैं।

पता नहीं, अंग्रेजी 'हरिजन' की एक प्रति बंगाल के गवर्नर के सेक्रेटरी के पास भेजना आपको पसन्द आयेगा या नहीं। गवर्नर के सम्बन्ध में मेरी राय का आपको पता है ही। आदमी अच्छा है और आपको हृदय से समझना चाहता है। खर्च मैं दूंगा। यदि आप मुझसे सहमत हों तो एक प्रति हर शुक्रवार को प्राइवेट सेक्रेटरी के पास भेजी जा सकती है। एक पत्र प्राइवेट सेक्रेटरी के नाम इस विषय का भेजा जा सकता है कि यह प्रति गवर्नर के लिए है।

कल मैं ग्वालियर जा रहा हूं। कोई दस-बारह दिन बाद लौटूंगा।

विनीत
घनश्यामदास

१० अप्रैल, १९३३

परम पूज्य बापू,

आपका २८ मार्च का पत्र मिला। कलकत्ते से हरिजन-कार्य के सम्बन्ध में मैं

तो खुद ही कहता हूं कि कुछ-न-कुछ करना पड़ेगा। मैं कलकत्ता पहुंचकर इस मामले को उठाऊंगा। कठिनाइयां मौजूद हैं ही, इसलिए सफलता प्राप्त करना उतना आसान नहीं है। पर हमें तो भरसक चेष्टा करनी है, इसलिए मैं इस मामले को पूरी लगन के साथ में लूंगा।

आपने यह नहीं लिखा कि आप टीटागढ़ पेपर मिल का विज्ञापन स्वीकार कर सकते हैं या नहीं। बैंथल हमें विज्ञापन देने को तैयार हैं, पर कागज मुफ्त देने को तैयार नहीं हैं।

मुझे कानपुर के लाला कमलापत से ३,०००) रुपये मिले हैं। यह रुपया वह छात्रवृत्तियों में खर्च करना चाहते हैं। मैंने पंडित कुंजरू को लिखकर पूछा है कि यह रकम वह किस रूप में खर्च करना चाहते हैं। यदि वह इसे श्री डेविड की योजना पर खर्च करने को तैयार होंगे तो हमें ३,०००) रुपये और मिल जायंगे। हर हालत में रुपया युक्त प्रान्त में ही खर्च किया जायगा।

वैसे तो अन्य संस्थाएं भी खामोशी के साथ काम कर रही हैं, पर उस दिन मैंने एक हरिजन बालिका विद्यालय के पारितोषिक वितरणोत्सव का सभापतित्व किया तो वहां के कार्यकर्त्ताओं की कार्यशीलता का मेरे ऊपर अच्छा प्रभाव पड़ा। मैंने उनसे अपनी कार्यशीलता की सूची तैयार करने को कहा है। यदि हम संतुष्ट हुए तो मेरी राय में बोर्ड को इन संस्थाओं की सहायता के लिए कुछ रकम निकालनी चाहिए।

विनीत
घनश्यामदास

११ अप्रैल, १९३३

परम पूज्य बापू,

आपका ३-४ अप्रैल का पत्र मिला। 'हरिजन' की एक प्रति बंगाल के गवर्नर के प्राइवेट सेक्रेटरी के पास भेजने के सम्बन्ध में आप जो कहते हैं सो जाना। यदि मैं आपके तर्क को ठीक समझता हूं तो प्रधान की हैसियत से मेरा अपने किसी भी मित्र को 'हरिजन' भेजना औचित्यपूर्ण होगा। अतएव मैं चाहूंगा कि 'हरिजन' की एक-एक प्रति मेरे खर्च से निम्नलिखित सज्जनों के पास भेज दी जाया करे :

१. बंगाल के गवर्नर के निजी मंत्री
२. सर एडवर्ड बैंथल, कलकत्ता
३. सर वास्टर लिटन मार्फत 'इकानामिस्ट', लन्दन
४. सर हैनरी स्ट्रेकाश, इंडिया आफिस, लन्दन
५. लार्ड रीडिंग, लन्दन
६. लार्ड लोदियन, लन्दन

मैं ३-४ दिन के लिए दिल्ली जाऊंगा और यहां फिर वापस आकर पिताजी के नासिक से लौटने तक उनकी प्रतीक्षा करूंगा। पिताजी यहां हरिद्वार को जाते हुए मई के पहले सप्ताह में आयेंगे। उन्हें विदा करके मैं सीधा कलकत्ते के लिए रवाना हो जाऊंगा और वहां कम-से-कम दो महीने रहूंगा।

मेरा लड़का और पुत्रवधू जल्दी ही पूना जायंगे। दोनों का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। वह तो काफी बीमार है। मैंने उनसे प्राकृतिक चिकित्सा-विशेषज्ञ डा० मेहता का इलाज कराने को कह दिया है। वह तो चल तक नहीं सकती है, पर लड़का केवल दुर्बल है, कोई खास शिकायत नहीं है। वह बीच-बीच में आपके दर्शन कराने आयगा। आशा है, आप उसे अनुमति देंगे।

विनीत
घनश्यामदास

९. हरिजनों के सम्बन्ध में कुछ और

सन् १९३३ में बापू के जेल से बाहर आने से हमारे हरिजन-उद्धार-कार्य में नई जान आ गई।

ग्वालियर
२९ अप्रैल, १९३३

परम पूज्य बापू,

जैसा कि आप इस पत्र से देख लेंगे, मैं ग्वालियर में पिताजी की प्रतीक्षा कर रहा हूं। वह अगले महीने की तीसरी तारीख को यहां पहुंचने वाले हैं। इसके बाद मैं हरिद्वार जाऊंगा और उन्हें विदा करने के बाद कलकत्ते के लिए रवाना हो जाऊंगा। कलकत्ता ७ या ८ मई तक पहुंच जाऊंगा।

'हरिजन' में स्वयं लेख लिखने के सम्बन्ध में सबसे बड़ी रुकावट यह है कि मैं तभी लिख पाता हूं जब लिखने की इच्छा होती है। पर मैं अनुवाद-कार्य में हाथ बंटा रहा हूं। 'हरिजन' के गतांक में एंड्रयूज के पत्र के सम्बन्ध में आपके लेख का अनुवाद प्रायः मेरे ही द्वारा, या मेरी सहायता से, तैयार किया गया था। मैं कलकत्ते से लेख लिखकर भेजने की फिर चेष्टा करूंगा। हो सकता है, मैं पत्र का उपयोग कलकत्ते की बस्तियों के सुधार के प्रचार-कार्य के लिए करूं।

पिताजी आपसे मिले, इससे मुझे आनन्द हुआ। मामूली-सी शिक्षा है, पता नहीं, उनकी बातचीत का आप पर कैसा प्रभाव पड़ा। पर उनका हृदय बड़ा निर्मल है और वह आपकी बड़ी भक्ति करते हैं। स्वयं कट्टर सनातनी होते हुए भी वह आपके विचारों की सराहना करते हैं और अपने निजी ढंग से आपके पक्ष में प्रचार करते रहते हैं।

जी हां, कलकत्ता पहुंचते ही आपरेशन करा डालूंगा। आपको याद ही होगा कि पूना और बम्बई में डाक्टरों की राय थी कि मुझे अपना नासिका के दोनों छिद्रों को अलग करने वाली दीवार को, जो अपने स्थान से हट गई है, निकलवा देना चाहिए। कलकत्ते के विशेषज्ञ का कहना है कि उस दीवार को हटाना उतना जरूरी नहीं है, जितना छिद्र में स्थायी नाली बनाना। अमरीका में डाक्टरों ने दोनों काम कराने की सलाह दी। अतएव मैं पहले तो नासिका की नाली ठीक कराऊंगा, और यदि इससे लाभ न हुआ तो बाद में दूसरा आपरेशन करा डालूंगा।

मेरी पुत्रवधू ने डा० मेहता का इलाज शुरू किया तो, पर उसे बीस दिन से अधिक जारी रखने का धैर्य नहीं हुआ। अब लड़का और पुत्रवधू दोनों महाबलेश्वर गये हैं।

महादेवभाई पूछते हैं कि लार्ड रीडिंग और लार्ड लोदियन को जो 'हरिजन' भेजा जा रहा है उसके पैसे क्या मैं दूंगा। मामूली-सी बात है। यदि पत्र को सहायता देने के लिए मेरा पैसा देना जरूरी समझा जाय तो शास्त्री को ताकीद कर दीजियेगा।

विनीत
घनश्यामदास

१२ अगस्त, १६३३

परम पूज्य बापू,

आपकी अभी तक कोई खबर नहीं मिली। परंतु आशा है कि यह पत्र आप तक पहुंचने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

हम अंग्रेजी 'हरिजन' के लिए सामग्री यहां से भेजते हैं। आपके लेखों का अभाव बड़ा खल रहा है। पर किसी-न-किसी तरह काम चला लेते हैं। मुझे एक ऐसा विशेषज्ञ मिल गया है, जो कपड़ा रंगने और तैयार करने की विद्या पर लेख लिखेगा। आशा है, ऐसे लेख पाठकों के लिए रुचिकर होंगे। हम इसी तरह काम चलाते रहेंगे, पर आपके लेख मिले बगैर पत्र को अच्छी तरह रोचक नहीं बनाया जा सकता।

ठक्कर बापा दौरे पर हैं। १८ तारीख तक लौट आवेंगे।

मैं जब से यहां आया हूं, एक चमड़ा तैयार करने का स्कूल और एक छात्रा-

वास खोलने की चेष्टा कर रहा हूं। यह छात्रावास खास तौर से हरिजनों के लिए होगा। मैं अच्छी-सी जमीन की तलाश में हूं। कुछ हफ्तों में श्रीगणेश हो जायगा, ऐसी आशा है। यदि आप कोई बात सुझाना चाहें तो लिख भेजें। मेरा अनुमान है कि कोई ५०००) रुपये जमीन मोल लेने में लगेंगे, और ५०००) रुपये इमारत बनवाने में। यह रुपया मैं संघ के धन में से खर्च करने की बात सोच रहा हूं। सदस्यों की स्वीकृति अवश्य लेनी होगी, पर मैं समझता हूं कि इस काम को आगे बढ़ाने के मामले में आप सहमत हैं। रही चमड़े के स्कूल की बात, सो इसका चालू खर्च एक वर्ष के लिए मैं खुद वहन करने की बात सोच रहा हूं।

लक्ष्मी सानन्द है और पूरे आराम में है। मैं बिलकुल स्वस्थ हूं और आशा करता हूं कि आप और महादेवभाई अच्छी तरह से हैं।

विनीत
घनश्यामदास

सत्याग्रहाश्रम
वर्धा
३० सितम्बर, १९३३

प्रिय घनश्यामदास,

आपको मालूम ही है कि आश्रमवासियों ने गत १० अगस्त को साबरमती के सत्याग्रह आश्रम और उसकी भूमि को त्याग दिया था। मुझे आशा थी कि सरकार मेरे पत्र के अनुसार इस व्यक्त सम्पत्ति पर अधिकार कर लेगी। ऐसी अवस्था में अपना कर्त्तव्य निर्धारित करना मेरा फर्ज हो जाता है। मुझे प्रतीत हुआ कि कीमती इमारतों और उतनी ही कीमती खेती और पेड़ों को यों ही नष्ट होने देना एक गलती होगी। मैंने मित्रों और सहकर्मियों के साथ परामर्श किया और मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि आश्रम का सबसे अच्छा उपयोग यही हो सकता है कि उसे हमेशा के लिए हरिजन सेवा के निमित्त अर्पित कर दिया जाय। मैंने अपना सुझाव आश्रम के ट्रस्टियों के, जो बाहर हैं, और सह-सदस्यों के सम्मुख रखा, और मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि वे इससे हृदय से सहमत हैं। जब इस सम्पत्ति का त्याग किया गया था तो यह आशा अवश्य की जा रही है कि किसी दिन सम्मानपूर्ण समझौते के द्वारा, अथवा भारत की लक्ष्य-सिद्धि होने पर, ट्रस्टी सम्पत्ति पर पुनः अधिकार कर सकेंगे। इस नवीन सुझाव के अनुरूप ट्रस्टी लोग सम्पत्ति से पूरी तरह हाथ धो रहे हैं। वसीयतनामे के अनुसार ऐसा करने का उन्हें अधिकार है क्योंकि ट्रस्ट का एक उद्देश्य हरिजन-सेवा भी है। अतएव यह नया सुझाव आश्रम और ट्रस्ट के व्यवस्था-विधान के पूर्णतया अनुरूप है।

ट्रस्टियों के और मेरे लिए विचारणीय प्रश्न यही था कि जिस विशेष उपयोग

का मैंने उल्लेख किया है उसके लिए सम्पत्ति किससे सुपुर्द की जाय, और हम सब सर्वसम्मति से इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उसे भारत-व्यापी उपयोग के लिए आखिल भारतीय हरिजन संघ के सुपुर्द करना चाहिए। ट्रस्ट के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

१. भविष्य में बनाये जाने वाले नियमोपनियमों के अनुरूप आश्रम की भूमि पर वांछनीय हरिजन-परिवार बसाये जायं, २. हरिजन बालकों और बालिकाओं के लिए छात्रावास खोला जाय, जिसमें गैर-हरिजनों को भर्ती करने की स्वतन्त्रता रहे, ३. खाल उतारने, रंगने, चमड़ा तैयार करने और इस प्रकार तैयार किये गए चमड़े के जूते, चप्पल और दैनिक आवश्यकताओं की ऐसी ही अन्य चीजें तैयार करने की कला में दीक्षित करने के लिए एक शिक्षा-विभाग खोला जाय, और ४. इमारतों को गुजरात प्रान्तीय या केन्द्रीय बोर्ड के कार्यालय के रूप में, और उन सारे उपयोगों के लिए काम में लाया जाय, जिन्हें निम्नलिखित पैरे में निर्दिष्ट समिति उचित समझे।

मैं ट्रस्टियों की ओर से यह सुझाव पेश करता हूं कि हरिजन सेवक संघ एक विशेष समिति नियुक्त करे जिसमें आप और मंत्री पदेन (एक्स आफिशियो) सदस्य रहें और अन्य सदस्य अहमदाबाद के तीन नागरिक रहें। इस समिति को अपनी संख्या में वृद्धि करने का अधिकार रहे, और यही इस ट्रस्ट को हाथ में लेकर उसके उद्देश्यों की पूर्ति करे।

दो मित्र, श्री बुधाभाई और श्री जूथाभाई इस आश्रम के साथ हमेशा से रहे हैं। उन्होंने आश्रम में अवैतनिक प्रबन्धकों की हैसियत से रहने की तत्परता प्रकट की है। इनके जीवन-निर्वाह के अपने स्वतन्त्र साधन हैं और ये हरिजन सेवा-कार्य में बहुत काल से लगे हुए हैं। एक ऐसा आश्रमवासी भी है, जिसने हरिजन-सेवा के लिए अपना जीवन अर्पण कर दिया है। यह भी आश्रम में खुशी-खुशी रहने को तैयार हो जायेगा। हरिजन बालकों और बालिकाओं के शिक्षण-कार्य में तो इसने कमाल हासिल किया है। अतएव मैंने जैसी समिति बताई है उसे ट्रस्ट का प्रबन्ध करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए, न यह जरूरी है कि मैंने जितने काम बताये हैं वे एक साथ और तुरन्त ही हाथ में ले लिये जायं। आपको पता है ही कि कुछ हरिजन-परिवार वहां इस समय भी रहते हैं। आश्रम के सदस्यों का यह स्वप्न रहा है कि हरिजन-परिवारों की एक नगरी बसाई जाय, पर कुछेक को बसाने को छोड़कर हम इस दिशा में अधिक आगे नहीं बढ़ सके। वहां चमड़ा रंगने का प्रयोग भी जारी रखा गया था और आश्रमवासियों को इतस्ततः बखेरने के समय तक वहां चप्पल भी बनती थी। इमारत में बड़ा-सा छात्रावास है, जिसमें १०० जन आसानी से रह सकते हैं। इसमें बुनाई करने का काफी बड़ा पटा हुआ स्थान है, और मैंने जो-जो काम गिनाये हैं उनके लिए पूरी व्यवस्था है। १००

एकड़ भूमि है। इस प्रकार मैं कह सकता हूं कि उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्थान काफी बड़ा तो नहीं है, पर फिर भी फिलहाल उनकी जितनी पूर्ति की आवश्यकता है, उसे देखते हुए अच्छा-खासा है। आशा है, मेरा प्रस्ताव स्वीकार करने में और इस स्वीकृतिजन्य उत्तरदायित्व की पूर्ति में, संघ को कोई आपत्ति नहीं होगी।

आपका
मो० क० गांधी

४ अक्तूबर, १९३३

प्रिय गांधीजी,

आपने अपने ३० सितम्बर, १९३३ के पत्र के द्वारा साबरमती आश्रम की भूमि और इमारत को हरिजन-सेवा-कार्य के निमित्त अर्पित करने और इस उद्देश्य से उन्हें हरिजन सेवक संघ के सुपुर्द करने का प्रस्ताव किया है। यह आपकी और आश्रम के ट्रस्टियों की महती उदारता है। मैं इस प्रस्ताव को अविलम्ब स्वीकार करता हूं और आशा करता हूं कि संघ अपने आपको आपके विश्वास के योग्य प्रमाणित करेगा। मैं केन्द्रीय बोर्ड के सदस्यों की सम्मति की प्रतीक्षा किये बगैर ही इस प्रस्ताव को स्वीकार करता हूं, क्योंकि मुझे पूरा भरोसा है कि वे मेरे कार्य का अनुमोदन करेंगे।

जिन चार उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस सम्पत्ति के उपयोग की बात आपने पत्र के दूसरे पैरे में कही है, संघ उन्हें सदैव अपने ध्यान में रखेगा और सबकी पूर्ति अविलम्ब की जायगी। सर्वश्री बुधाभाई और जूथाभाई और तीसरे सज्जन की, जिनका नाम शायद भगवानजी गांधी है, सेवाओं से लाभ उठाया जायगा। आशा है, ये सज्जन मूल्यवान सहायक सिद्ध होंगे। आपने अपने पत्र के तीसरे पैरे में कहा है कि संघ को एक विशेष समिति नियुक्त करनी चाहिए, जिसमें पांच आदमी रहें और इस संख्या में वृद्धि करने का उसे अधिकार रहे, यह समिति ट्रस्ट को अपने जिम्मे ले और इसके उद्देश्यों की पूर्ति करे। आपका सुझाव है कि मेरे और प्रधान मंत्री के अतिरिक्त अहमदाबाद के तीन नागरिक उस समिति में रहें। इन तीनों सज्जनों को आपके मशवरे से लिया जायगा। क्या मैं यह सुझाव पेश कर सकता हूं कि प्रबन्धकारिणी समिति के गठन का कार्य बिलकुल संघ के ऊपर ही छोड़ दिया जाय और संघ को ही ट्रस्ट के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उत्तरदायी समझा जाय? यदि अहमदाबाद के तीन नागरिक इस संघ के केन्द्रीय बोर्ड के सदस्य निर्वाचित हुए और साथ ही ट्रस्ट की प्रबन्धकारिणी समिति के सदस्य नियुक्त हुए तो समिति में सब संघ के सदस्य ही भर जायंगे, यह नहीं होगा कि कुछ लोग इस संघ के सदस्यों में से रहें, और कुछ बाहर से लिये जायं। परन्तु यह एक साधारण-सी

बात है जिसके ऊपर, आवश्यकता पड़ने पर, व्यक्तिगत रूप से वातचीत करके निर्णय कर लिया जायगा।

संघ को सम्पत्ति और उसकी खेती और पेड़ों का चार्ज लेने में कुछ देर लगेगी। इसीलिए मेरा आपसे अनुरोध है कि जो लोग इस समय देखभाल कर रहे हैं, उनसे आप इसी प्रकार देखभाल करते रहने को कह दें।

आपकी उदारहृदयता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हुआ,

मैं हूं
आपका
घनश्यामदास
प्रधान, हरिजन सेवक संघ

५ अक्तूबर, १९३३

परम पूज्य बापू,

आश्रम को मंडल के सुपुर्द करने के आपके प्रस्ताव की मैंने तार द्वारा स्वीकृति भेज दी थी। आरम्भ में तो मुझे संदेह था कि हम आश्रम का प्रबन्ध दूर बैठकर कर भी सकेंगे या नहीं, पर अब मालूम हुआ है कि आपके कुछ विश्वासी आदमी आश्रम में रहेंगे और अपना सारा समय देंगे। अब मुझे कोई चिन्ता नहीं है। आपने हमारे जिम्मे यह भरोसे का काम दिया है, हम भी अपने को आपके विश्वास के योग्य साबित करने में कुछ उठा न रखेंगे। मैंने आपके प्रस्ताव को बोर्ड के अन्य सदस्यों की सम्मति का इन्तजार किये बगैर स्वीकार कर लिया है, क्योंकि मुझे पूरी आशा है कि वे मेरे इस कार्य का अनुमोदन करेंगे। संघ इस सम्पत्ति का उपयोग करने के मामले में उन चारों उद्देश्यों को सामने रखेगा, जो आपके पत्र के दूसरे पैरे में दिये गए हैं।

आपके दान और हमारी स्वीकृति के फलस्वरूप दो-एक बातों की ओर आपका ध्यान दिलाना आवश्यक है। अबतक हमारे पास बैंक में जमा रुपये को छोड़कर कोई सम्पत्ति नहीं थी। हम लोग हरिजन छात्रावास बनाने के लिए जमीन खरीदने का विचार कर रहे थे, पर अब हमारे पास आपकी दी हुई बहुमूल्य स्थावर सम्पत्ति हो जायगी। अब यह प्रश्न तुरन्त ही उठ खड़ा होगा कि इस सम्पत्ति का स्वामी कौन होगा। हरिजन मंडल ? यदि हरिजन मंडल ही इसका स्वामी हुआ तो उसी की बाध्यता के अनुरूप इसका अस्तित्व रहेगा, और हमारे संघ में बाध्यता नाम की चीज अभी तक नहीं है। इसलिए हमें यही तय करना है कि हम भविष्य के लिए किस प्रकार का व्यवस्था-सम्बन्धी ढांचा रखेंगे। मुझे विशेष प्रजातन्त्रीय ढांचा पसन्द नहीं है, क्योंकि व्यवस्था के मामले में प्रजातन्त्र के द्वारा असुविधाएं उत्पन्न हो जाती हैं और दलबन्दी होने लगती है। पर साथ ही,

जहां किसी संस्था के पास लाखों रुपये की सम्पत्ति हो वहां नितान्त निरंकुश ढंग की शासन-व्यवस्था भी वांछनीय नहीं है। इन दोनों दूषणों में से अपेक्षाकृत कम हानिकर दूषण नियंत्रित निरंकुशता, या यों कहिये कि किन्हीं शर्तों के साथ दिया गया प्रजातन्त्र, ठीक रहेगा। इस सुझाव के बारे में आपकी क्या राय है कि संघ के कार्यक्रम में दिलोजान से लगे रहने वाले एक दर्जन आदमी संस्थापक सदस्य बनें और राय देने का अधिकार केवल उन्हीं को रहे ? इस समय प्रधान को जो विशेषाधिकार दिये गए हैं वे उन सदस्यों को सौंप दिये जायं। यदि आप इसे ठीक न समझें तो सम्पत्ति रखने के लिए ट्रस्टियों का एक अलग बोर्ड बना दिया जाय। इस बोर्ड को विशेषाधिकार दिये जायं और यदि वह यह समझे कि हरिजन बोर्ड सम्पत्ति का अच्छा उपयोग नहीं कर रहा है तो वह उससे वह सम्पत्ति वापस ले सके। यह दूसरा सुझाव तभी अपनाना चाहिए, यदि हम संघ के लिए प्रजा-तन्त्रीय ढंग की व्यवस्था रखें। आपने पांच व्यक्तियों की एक ऐसी समिति बनाने की बात कही है, जिसके सदस्यों में से तीन अहमदाबाद के निवासी हों, और संघ के प्रधान और मंत्री पदेन (एक्स आफिशियो) सदस्य रहें। मुझे पता नहीं कि आप यह चाहते हैं कि यह समिति आश्रम की सम्पत्ति रखने और चलाने के मामले में ट्रस्टियों-जैसा काम करे या यह कि वह परामर्शदायिनी समिति-मात्र रहे। यदि यह समिति ट्रस्टियों की भांति आचरण करेगी तो संघ की क्या स्थिति रहेगी और अहमदाबाद के नागरिकों को किस ढंग से निर्वाचित किया जायगा ? और यदि हरिजन मंडल प्रजातन्त्रीय ढांचे का बना तो यह पता नहीं कि ट्रस्ट बोर्ड में उसका प्रतिनिधित्व करने वाले प्रधान और मंत्री किस तरह के होंगे ? वर्तमान व्यवस्था में अथवा अत्यधिक प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में किस प्रकार की कठिनाइयां उत्पन्न होना सम्भव है, मैंने यह स्पष्ट करने की भरसक चेष्टा की है। कृपया इस मामले पर अच्छी तरह विचार करके मुझे अपने सुझाव दीजियेगा। यदि हम लोगों के जिम्मे कोई सम्पत्ति नहीं दी जायगी तब तो वर्तमान व्यवस्था ही ठीक है।

विनीत

घनश्यामदास

सत्याग्रह आश्रम

वर्धा

८ अक्तूबर, १९३३

भाई घनश्यामदास,

तुम्हारा पत्र मिला।

तुमने जिस कठिनाई की बात कही है वह तो मौजूद है ही। उसी की बात

सोचकर तो मैंने ट्रस्ट वोर्ड के गठन की वात कही थी। मेरी राय है कि यह संपत्ति ट्रस्टियों के पास स्थायी रूप से रहे और उन्हें उसे वेचने तक का अधिकार रहे। हरिजन सेवक संघ का भविष्य चाहे जो हो, तुम और ठक्कर वापा उसके स्थायी सदस्य रहें। इस प्रस्ताव से उस प्रश्न का भी निपटारा हो गया, जिससे अपेक्षाकृत अधिक वड़े प्रश्न का जन्म हुआ है और जिसकी मैं यहां समयाभाव के कारण चर्चा नहीं करना चाहता हूं। इस वीच मैं तुम्हें अखिल भारतीय चर्खा संघ का व्यवस्था-विधान पढ़ जाने को कहूंगा। मुलाकात होने तक इसकी चर्चा मुल्तवी रही। मैं यहां ७ नवम्वर तक तो हूं ही, इसलिए यदि सम्भव हो तो उस प्रश्न की खातिर ही सही, एक दिन के लिए आ सकते हो।

तुमने दिल्ली में छात्रावास खोलने की वात कही है। अव आश्रम की जमीन और इमारतें अपने पास होने के वाद भी क्या दिल्ली वाले छात्रावास की कोई खास जरूरत रह गई है? एक और नई योजना आरम्भ करने से पहले क्या सावरमती की योजना की प्रगति देखना अच्छा नहीं रहेगा? मैं तो समझता हूं कि हमें सावरमती वाली योजना को सफलीभूत वनाने की ओर ही सारा ध्यान देना चाहिए, और उसे सफल वनाने के काम में हममें से अनेक की पूरी शक्ति के उपयोग की आवश्यकता पड़ेगी।

आशा है, तुम स्वस्थ होगे। नाक का क्या रहा? इन दिनों तो दिल्ली का मौसम वड़ा अच्छा होगा।

तुम्हारा
वापू

सत्याग्रह आश्रम
वर्धा
२६ अक्तूवर, १९३३

भाई घनश्यामदास,

तुम्हारे हिन्दी के पत्र का उत्तर अंग्रेजी में वोलकर लिखवा रहा हूं। हरिजन सेवक संघ के व्यवस्था-विधान के सम्बन्ध में मुझे अधिक लिखना नहीं था। विचारणीय प्रश्न यही है कि हमें अर्द्ध-प्रजातन्त्रीय संस्था को तुरन्त ही जन्म देना चाहिए या नहीं। पता नहीं, नियुक्ति के अन्तर्गत यह अधिकार भी दिया गया है या नहीं, पर मैंने जो वात सुझाई है उस पर तो तुरन्त ही अमल किया जा सकता है। मेरा सुझाव यही है कि आश्रम को उन ट्रस्टियों के नाम में, जिनके नाम मैं वता चुका हूं, रजिस्ट्री करा दिया जाय। तुम्हें अपने विचार के सम्बन्ध में ठक्कर वापा और हरिजी के साथ वात करनी चाहिए।

रही चर्खा संघ की वात, सो इस सम्वन्ध में मुझे पूरी स्वतन्त्रता थी, इसलिए

मैंने जो योजना बनाई उसके फलस्वरूप एक मजबूत और आसानी से चलने वाली संस्था बन गई—ऐसी संस्था, जिसे मनमाना प्रजातन्त्रीय रूप दिया जा सके। आश्रम को हरिजन सेवक संघ के निमित्त देने का निश्चय होने के तुरन्त बाद ही मैं तुम्हें लिखना चाहता था कि दिल्ली वाली महत्त्वाकांक्षापूर्ण योजना को त्याग दिया जाय। इसमें संदेह नहीं कि ऐसे अनेक छात्रावासों की जरूरत पड़ेगी और यदि उनकी व्यवस्था ठीक-ठीक हो सकी तो उनके द्वारा बहुत कुछ ठोस काम होने की सम्भावना है। जब मैं दिल्ली में होऊं तो मुझसे जो काम चाहो, ले सकते हो।

बिहारीलाल यदि छात्रावास आदि की योजनाओं के सिलसिले में काम करने को तैयार हो तो उससे काम लिया जा सकता है। पर मैं वेतनभोगी उपदेशक रखने के बिलकुल खिलाफ हूं, चाहे वह हरिजन हो, चाहे कोई और। इस मामले में जितनी दृढ़ता बरती जाय, थोड़ी है।

तुम्हारा
बापू

२४ जनवरी, १६३४

भाई घनश्यामदास,

लोगों के विचार का खूब परिवर्तन हुआ है। देखें क्या होता है। मुझे तो ईश्वर का हाथ इस कार्य में देखा जाता है (दिखाई देता है।) यह एक रूढ़ वचन नहीं है। यह कार्य कोई एक मनुष्य की शक्ति से हो ही नहीं सकता, न हजारों से। लेकिन इस बारे में अधिक लिखा या कहा नहीं जा सकता है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि ईश्वर पर मेरा विश्वास बढ़ता ही जाता है। अपनी शक्ति की अल्पता का प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है।

तुम्हारा शरीर अच्छा रहता होगा।

बापू के आशीर्वाद

बिहार-भूकम्प के बारे में मैंने इस समय बापू को जो पत्र लिखा उसकी नकल मेरे पास नहीं हैं, किन्तु बापू का उत्तर इस प्रकार था :

३१ जनवरी, १६३४

भाई घनश्यामदास,

तुम्हारा खत मिला है। भूकम्प और हरिजन-प्रश्न का मुकाबिला मुझे बहुत प्रिय लगा है, क्योंकि वह सत्य है। बिलकुल गरीबों को कम भुगतना पड़ा है यह तो स्वयंसिद्ध है। लेकिन जिसके पास दो कौड़ी थी, वह आज भिखारी बन गये हैं,

यह भी इतना ही सत्य है न ? मैं यहां बैठा हुआ जितना सम्भावित है, कर रहा हूं।

बंगाल के दौरे ने मुझे कर्त्तव्यमूढ़ बना दिया है। अच्छा है, तुम वहीं हो। आज डाक्टर विधान को लम्बा खत लिखा है। उसे देखो और वही निश्चय करो। मुझे लगता है कि मेरे से तो एक ही निश्चय हो सकता है।

अगर आप लोग न रुकें तो जाना।

बापू के आशीर्वाद

लार्ड हैलीफैक्स ने भी, जिनके पिता की तभी मृत्यु हुई थी, भूकम्प के बारे में लिखा :

बोर्ड आफ एजूकेशन
ह्वाइट हॉल, लन्दन
१३ फरवरी, १९३४

प्रिय श्री बिड़ला,

कृपापत्र के लिए अनेक धन्यवाद। यह आपकी सद्भावना है कि आपने एक ऐसे समय में हमारा ध्यान रखा जब पिताजी की मृत्यु से उनके सभी मित्र इतने लम्बे और सुखमय सौहार्द का अन्त हो जाने पर शोक में निमग्न हैं। किन्तु पिताजी के लिए मेरे पास कृतज्ञता को छोड़कर और है ही क्या ?

बिहार में भूकम्प से धन-जन की हानि के समाचारों से मुझे बड़ा दुःख हुआ। वहां के सम्वाद-साधनों के भंग हो जाने के कारण हम शुरू-शुरू में इस भारी क्षति का अन्दाजा नहीं लगा पाये थे। जिन लोगों को नुकसान पहुंचा है उनके साथ मेरी गहरी सहानुभूति है और मुझे आपसे यह जानकर खुशी हुई है कि कष्ट-पीड़ितों के दुःख-निवारण-कार्य में सभी कोई हाथ बंटा रहे हैं।

आपका
हैलीफैक्स

१०. राजनैतिक विश्रांति

इस समय बापू सर जान एंडरसन से मिलने को उत्सुक थे।

१२ फरवरी, १९३४

भाई घनश्यामदास

मिस लेस्टर से मैंने मिदनापुर[1] की बात की और कहा गवर्नर से मिले। उसने गवर्नर को खत लिखा और गवर्नर ने तार भेजा। अब वह जा रही है। मैंने जो खत उसको दिया है उसे पढ़ो। मैंने उससे कहा है कि तुमसे मिले और सब जान लेवे। सब हाल बतलाइये। आवश्यकता समझी जाय तो डाक्टर विधान से और सतीशबाबू से भी मिला दें। शुक्र को वहां से मेरे पास चली आयेगी। उसको खर्च के लिए यहां से पैसे दिये हैं। टिकट यहीं से कटवा दी है। उसका खर्च तुम्हारे से लूं ? जमनालाल से तो है ही। क्या उचित है वह नहीं जानता हूं।

पत्र बहुत जल्दी से लिखा है। तुम्हारे पत्र मिले हैं उसका उत्तर दूंगा। समय ही नहीं मिलता है।

बापू के आशीर्वाद

२१ फरवरी, १९३४

भाई घनश्यामदास,

तुम्हारा खत मिला। मैं देखता हूं गवनर को कुछ लिखूं या नहीं। मिदनापुर की सलामी तो बन्द हुई। लेकिन अपने दोष को स्वीकार नहीं किया। मिस लेस्टर ने अब वाइसराय से मिलने का समय मांगा है। इन सब चीजों से आज कुछ परिणाम नहीं निकल सकता है। लेकिन समझौते का एक भी मौका हम छोड़ना नहीं चाहते हैं।

विधान राय को मिलने का प्रयत्न पूरा करना चाहिए। भले कांग्रेसवादी कुछ भी कहें।

मेरा वहां आने का कम-से-कम बिहार तक तो मौकूफ कर दिया है। पीछे देखेंगे।

जवाहरलाल से मिलने की कोशिश करोगे ना ?

मिस हैरिसन २ मार्च को विलायत से छूटेगी। उसका आना अच्छा ही है। मैंने इस बारे में पहले भी लिखा ही था न ?

बापू के आशीर्वाद
पटना

---

१. जहां उन्हीं दिनों मजिस्ट्रेट की हत्या हुई थी।

१३.३.३४

भाई घनश्यामदास,

सर सेम्युअल को मैंने खत लिखा है, उसकी एक प्रतिलिपि इसके साथ रखता हूं। और एक धारवाड़ के मेजिस्ट्रेट को पत्र लिखा था। धारवाड़ का केवल तुम्हारे जानने के लिए हैं। सर सेम्युअल के बारे में कुछ काम लेना चाहता हूं। स्कार्पा[1] अगर वहां है तो उनसे पूछो कभी उस मिटिंग में (क्या) हुआ था, क्योंकि वह वहां मौजूद था। अगर वह न था तो उसी के जरिये मिटिंग हुई थी। जो लोग हाजिर थे उनके नाम-ठाम देवे तो भी अच्छा होगा। जो कुछ भी हकीकत मिल सकती है वह इकट्ठा करना चाहता हूं। आज तक इस चीज की बातें अंग्रेजी में हो रही हैं। और हैं सबकी-सब जाल। 'अजमेर' का 'आज मरा' बनाया गया है।

मुझे मिलने के लिये आना चाहते हैं। हरिजन-कार्य के लिए थोड़ी देर बाद बुलाऊंगा। ठक्कर बापा को दिल्ली जाने दिये हैं। उनका यहां काम नहीं था। यों तो सब कार्य में उनके जैसा सेवक मदद दे सकता है, विशेषतया आवश्यकता न थी। लेकिन बिहार के बारे में अथवा सर सेम्युअल से जो पत्र-व्यवहार इधर किया है उस बारे में आना है तो दिल चाहे तब आ सकते हो। बुध से शुक्र तक मोतीहारी की तरफ रहूंगा। शुक्र की शाम को वापस आऊंगा।

अगाथा हैरीसन १६ को मुंबई पहुंचेगी। लेस्टर वाइसराय से मिली है। कल यहां आती है।

बापू के आशीर्वाद

सर सेम्युअल होर को भेजा गया पत्र बापू के साथ की गई एक झूठी मुलाकात के बारे में था जिसका विवरण इटली के एक पत्र में प्रकाशित हुआ था। यह विवरण 'टाइम्स' के रोमस्थित सम्वाददाता ने अपने पत्र में दिया था :

वर्धा

जनवरी, १९३४

प्रिय सर सेम्युअल

आपको याद होगा कि जब मैं १९३१ के दिसम्बर में वापस लौट रहा था तो आपने रोम में मेरे द्वारा एक पत्रकार को दी गई तथाकथित मुलाकात के सम्बन्ध में मेरे पास एक तार भिजवाया था और मैंने उत्तर देकर समाचार का खण्डन

---

१. डा० स्कार्पा, जो १९३१ में कलकत्ते में इटली के कौंसल जनरल थे। जब बापू रोम में थे तो यह वहां थे।

किया था। इस खण्डन का भी खण्डन निकला, पर मैंने उसे हाल ही में देखा है, क्योंकि बम्बई में कदम रखने के एक सप्ताह के भीतर ही मुझे पकड़कर जेल भेज दिया गया था।

गत अगस्त में आखिरी दफा जेल से छूटने के बाद मुझे मीराबाई (स्लेड) ने बताया कि एक अंग्रेज मित्र, बम्बई के विल्सन कालेज के प्रोफेसर मैकलीन की धारणा है कि यद्यपि बात पुरानी पड़ गई है तथापि उसकी सफाई हो जाना अच्छा है, क्योंकि जिस समय रोम के सम्वाददाता ने मेरे कथन का खण्डन प्रकाशित कराया था तो उसका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था और सम्भवतः उसी के फलस्वरूप वाइसराय द्वारा मेरे विरुद्ध १६३२ की कार्रवाई की गई थी। मैं प्रोफेसर मैकलीन से सहमत हुआ और मैंने मीराबाई से मिस अगाथा हैरिसन को तत्सम्बन्धी कटिंग संग्रह करने को लिखने को कहा। इनमें जो सबसे जरूरी कटिंग थी वह मुझे गत मास के मध्य में मिली। मैं उस समय अस्पृश्यता-निवारण-कार्य में तेजी के साथ इधर-उधर दौरा कर रहा था। आपके अविलम्ब हवाले के लिए मैं वे कटिंग 'क', 'ख' और 'ग' का चिह्न लगाकर भेजता हूं।

यह बात स्मरण रखनी होगी कि मैंने कटिंग मिस अगाथा हैरिसन से प्राप्त होने पर पहली बार देखी। मैंने इन कटिंगों को कई बार पढ़ा है, और मैं यह बगैर किसी संकोच के कह सकता हूं कि, 'क' 'ग' और कटिंग, जो कुछ वास्तव में हुआ था, उसका उपहासजनक खाका-मात्र हैं। 'क' को इटालियन पत्रकार को दिये गए तथाकथित लम्बे वक्तव्य का संक्षिप्त संस्करण बताया गया है। 'ग' में 'टाइम्स' का सम्वाददाता, तथाकथित मुलाकात के समाचार का मेरे द्वारा खण्डन देखकर अनिच्छापूर्वक स्वीकार करता है कि, सम्भव है, मेरी बात ही ठीक हो, क्योंकि सीनोर ग्याडा ने बाकायदा मुलाकात की अनुमति नहीं चाही थी, पर इतने पर भी वह प्रतिपादन करता है कि मेरे द्वारा दिया गया बताया वक्तव्य साररूप में ठीक है। परन्तु यदि मैं अपनी जानकारी की बात न बताकर केवल 'क' और 'ग' का विश्लेषण-मात्र कर दूं तो सत्य की रक्षा अच्छी तरह हो जायगी।

१ 'क' में जो कहा गया है कि मैंने ग्याडा को एक लम्बा वक्तव्य दिया सो मैंने न कभी लम्बा वक्तव्य दिया, न छोटा।

२ मुझे सीनोर ग्याडा से किसी भी स्थान पर मिलने को नहीं कहा गया। हां, मुझे एक निजी मकान के ड्राइंग रूम में कुछ इटालियन नागरिकों से मिलने का निमंत्रण अवश्य दिया गया। उस अवसर पर मेरी मुलाकात जिन लोगों से कराई गई उनके नाम अब मुझे याद नहीं हैं, न मैं उनके नाम उस भेंट के दूसरे दिन ही याद रख सकता था। मुलाकात बिलकुल साधारण ढंग से कराई गई थी।

३. इस अवसर पर वार्तालाप आम ढंग से हो रहा था और किसी को सम्बोधन करके नहीं किया जा रहा था। कई मित्रों ने प्रश्न किये और असम्बद्ध रूप से

वातचीत चलती रही जैसा कि ऐसे अवसरों पर हुआ करता है।

४. अतएव सीनोर ग्याडा या 'टाइम्स' के सम्वाददाता ने मेरी वातों को एक सम्वद्ध वक्तव्य का रूप देकर, मानों वह किसी व्यक्ति को सम्वोधन करके दिया गया हो, गलती की।

५. सीनोर ग्याडा ने मेरी तसदीक के लिए कुछ नहीं दिखाया कि क्या लिखा है।

६. वार्तालाप अनेक विषयों पर हुआ, जैसे गोलमेज परिषद् मेरी तत्सम्बन्धी धारणा, और मेरा भावी कार्यक्रम। 'क' में मेरे द्वारा जो अनेक वातें कहलाई गई हैं वे मैंने कभी नहीं कहीं। अपनी आशाओं, आशंकाओं और भावी कार्यक्रम के सम्वन्ध में मुझे जो कुछ कहना था, मैंने गोलमेज परिषद् की समाप्ति पर अपने भाषण के दौरान नपी-तुली भाषा में कह दिया था। आपसी वार्तालाप के दौरान मैंने जो कुछ कहा वह उस भाषण का रूपान्तर-मात्र था। मेरा यह स्वभाव नहीं है कि सार्वजनिक रूप से कुछ कहूं और आपसी वातचीत में कुछ, या एक मित्र से कुछ कहूं, और दूसरे से कुछ। मैं यह कैसे कह सकता था कि भारतीय राष्ट्र और ब्रिटिश सरकार में निश्चित रूप से झगड़ा खड़ा हो गया है, क्योंकि मैंने उसी अवसर पर यह कहा था कि गांधी-अरविन-पैक्ट के द्वारा जो मैत्रीपूर्ण सम्वन्ध स्थापित हुआ है उसे अक्षुण्ण रखने की मैं पूरी शक्ति के साथ चेष्टा करूंगा और भेद नहीं पड़ने दूंगा। मैं तो आशावादी हूं, इसलिए मनुष्यों में अमिट झगड़ा खड़ा होने की सम्भावना में मेरा विश्वास नहीं है।

७. मैंने यह कभी नहीं कहा था कि मैं इंग्लैंड के विरुद्ध संघर्ष नये सिरे से छेड़ने के लिए भारत लौट रहा हूं। उस वार्तालाप के अवसर पर मुझसे कई प्रकार की सम्भावनाओं के बारे में प्रश्न किये गए थे, और 'क' में उस बातचीत को इस रूप में रखा गया मानो मैं उन सम्भावनाओं को प्रकृत रूप देने के लिए भारत लौट रहा होऊं।

८. मैं यह भी कहूंगा कि जनता ने न सीनोर ग्याडा द्वारा तैयार किये मूल नोट देखे हैं, न उनके द्वारा तैयार और प्रकाशित की गई कहानी। 'क' और 'ग' में तो 'टाइम्स' के सम्वाददाता की अपनी धारणाएं हैं, जो उसने सीनोर ग्याडा के लेख या कथन से ग्रहण कीं।

पता नहीं, 'ग' का सवके ऊपर क्या प्रभाव पड़ा। यदि मेरे खण्डन की सत्यता के सम्वन्ध में आपको शंका होने लगी थी तो जिस प्रकार आपने पहली रिपोर्ट की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया था, उसी प्रकार मेरे खण्डन के खण्डन की ओर भी करना चाहिए था। पता नहीं, आप इस पत्र को किस रूप में लेंगे, परन्तु यदि आपको मेरी सत्यता में कुछ संदेह हो गया है तो मैं यथाशक्ति उसका निवारण करना चाहूंगा। 'ग' में जिस अनुचरी का जिक्र किया गया है, वह मिस स्लेड हैं। मैं

इस पत्र के साथ उनके उक्त वार्तालाप-सम्बन्धी संस्मरण भेजता हूं।

मैं इस पत्र को प्रकाशित नहीं करा रहा हूं, पर इसकी प्रतिलिपियां अपने कुछ मित्रों को उनके निजी उपयोग के लिए भेज रहा हूं, पर मैं चाहूंगा कि आप स्वयं इसे प्रकाशित करवाएं, या प्रोफेसर एन्ड्र्यूज से, जिनका पता वुडब्रुक सैली ओक बर्मिंघम है, इसका जिस प्रकार चाहें उपयोग करने को कह दें।

आपका
मो० क० गांधी

'क'

एक नया व्यापारिक बहिष्कार
निजी सम्वाददाता द्वारा

रोम
१४ दिसम्बर

श्री गांधी ने, जो अवतक अनेक इटालियन और विदेशी पत्रकारों को वक्तव्य देने से इन्कार करते आ रहे थे, 'जरनेल द इटालिया' के सीनोर ग्याडा को एक लम्बा वक्तव्य दिया है।

श्री गांधी ने कहा कि गोलमेज परिषद् भारतीयों के लिए दीर्घकालीन और धीरे-धीरे दी जानेवाली व्यथा का साधन थी, अब उसके अन्त के साथ ही ब्रिटिश सरकार और भारतीय राष्ट्र में निश्चित रूप से सम्बन्ध विच्छेद हो गया है। पर इसके द्वारा ब्रिटिश सरकार को भारतीय राष्ट्र और उसके नेताओं की वास्तविक भावनाओं का पता लग गया है और यह भी मालूम पड़ गया है कि इंग्लैंड का क्या इरादा है। श्री गांधी ने कहा कि वह भारत को इंग्लैंड के विरुद्ध तुरन्त संघर्ष आरम्भ करने के लिए लौट रहे हैं; यह संघर्ष निष्क्रिय प्रतिरोध और ब्रिटिश माल के वहिष्कार का रूप धारण करेगा। उनकी धारणा है कि मुद्रा-सम्बन्धी संकट और बेकारी के कारण इंग्लैंड को जिस विपत्ति का सामना करना पड़ रहा है, बहिष्कार के द्वारा उसमें और भी वृद्धि हो जायगी। भारतीय बाजार में ब्रिटिश माल की खपत न होने के फलस्वरूप ब्रिटिश औद्योगिक कार्यशीलता में बहुत कमी हो जायगी, जिससे बेकारी और बढ़ेगी और पौंड की दर और भी कम हो जायगी।

श्री गांधी ने अन्त में कहा कि यूरोप के बहुत ही कम देश भारतीय समस्या में दिलचस्पी दिखाते हैं, यह बड़े खेद का विषय है, क्योंकि स्वतन्त्र और समृद्ध भारत का अर्थ है अन्य राष्ट्रों के माल की अधिक खपत। उन्होंने यह भी कहा कि भारतीय स्वतन्त्रता के फलस्वरूप अन्य सारे देशों के साथ व्यापारिक और बौद्धिक विनिमय होगा।

'ग'

('लन्दन टाइम्स' से उद्धृत)

२१ दिसम्बर, १९३१

श्री गांधी ने उस मुलाकात का, जो उन्होंने रोम में स्वल्पकालीन आवास के समय 'जरनेल द इटालिया' को दिया बताते हैं और जिसका संक्षिप्त विवरण १५ दिसम्बर के 'टाइम्स' में छप चुका है, अक्षरशः खण्डन किया है। उनके द्वारा कही गई बात भारत में सविनय आंदोलन के पुनः आरम्भ होने की संभावना के सम्बन्ध में उनकी अबतक की सारी युक्तियों से इतनी बढ़-चढ़कर थी कि उनसे यह पूछना जरूरी समझा गया कि वास्तव में उन्होंने क्या कहा था। फलतः अधिकारपूर्ण क्षेत्र से उनके पास भूमध्यसागर में इटालियन स्टीमर पिल्सना पर एक तार भेजा गया, जिसमें कहा गया :

"प्रेस रिपोर्टों का कहना है कि जहाज पर सवार होने से पहले आपने 'जरनेल द इटालिया' को एक वक्तव्य दिया, जिसमें निम्नलिखित उद्गार थे :

"१. 'गोलमेज परिषद् के द्वारा भारतीय राष्ट्र और ब्रिटिश सरकार में निश्चित रूप से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है।'

"२. 'आप भारत इंग्लैंड के विरुद्ध तुरन्त संघर्ष आरम्भ करने के लिए लौट रहे हैं।'

"३. 'बहिष्कार ब्रिटेन के संकट में वृद्धि करने का शक्तिशाली साधन सिद्ध होगा।'

"४. 'हम कर नहीं देंगे, हम इंग्लैंड के लिए किसी रूप में काम नहीं करेंगे, हम अंग्रेज अधिकारियों, उनकी राजनीति और उनकी संस्थाओं से बिलकुल नाता तोड़ लेंगे, और हम ब्रिटिश माल का पूरी तौर से बहिष्कार कर देंगे।'

"यहां आपके कुछ मित्रों का कहना है कि आपने जो कुछ कहा होगा, यह उसी की गलत रिपोर्ट है। यदि ऐसी बात है तो खण्डन वांछनीय है।"

कल श्री गांधी के पास से तार द्वारा निम्नलिखित उत्तर मिला :

"'जरनेल द इटालिया' का कथन बिलकुल असत्य है। मैंने रोम में पत्र-प्रतिनिधियों को कोई वक्तव्य नहीं दिया। मेरी अन्तिम मुलाकात स्विट्जरलैंड के विलेन्यूव नामक स्थान पर रायटर के साथ हुई, जिसके दौरान मैंने भारतीय जनता से झटपट किसी नतीजे पर पहुंचकर मेरे वक्तव्य की प्रतीक्षा करने को कहा था। यदि सीधी कार्रवाई अभाग्यवश अनिवार्य हुई तो भी मैं कोई कदम जल्दबाजी में नहीं उठाऊंगा और पहले अधिकारियों की चिरौरी करूंगा। कृपया इस वक्तव्य को पूरा प्रकाशन दीजिए।"

'जरनेल द इटालिया' में श्री गांधी का जो तथाकथित वक्तव्य छपा था,

श्री गांधी ने उसका खण्डन किया है, पर सीनोर ग्याडा उनके इस खण्डन को स्वीकार करने को बिलकुल तैयार नहीं है। सीनोर ग्याडा ने एक संक्षिप्त से नोट में कहा है कि जो शब्द महात्मा द्वारा कहे बताये गये हैं उन्हें उन्होंने स्वयं उनके सामने और अन्य साक्षियों के सामने लिखा है। जहां तक मैं समझता हूं, श्री गांधी का खण्डन सत्यतापूर्ण भी हो सकता है, क्योंकि सीनोर ग्याडा ने बाकायदा मुलाकात का अनुरोध नहीं किया और न वैसी मुलाकात हुई ही।

मुझे यह खबर मिली है कि महात्मा के साथ सीनोर ग्याडा की मुलाकात एक निजी मकान में कराई गई और श्री गांधी को यह स्पष्ट रूप से बता दिया गया कि सीनोर ग्याडा कौन हैं। जब श्री गांधी ने वह उल्लेखनीय वक्तव्य देना आरम्भ किया, जो उनके द्वारा दिया गया बताते हैं, तो सीनोर ग्याडा ने उसके महत्त्व को समझकर, और किसी प्रकार की भूल न करने की इच्छा से प्रेरित होकर, कागज और पेंसिल मांगी जो उन्हें दी गई। सीनोर ग्याडा ने उनका वक्तव्य वहीं उसी समय श्री गांधी और उनकी एक अनुचरी के सामने नोट कर लिया। इन दोनों में से किसी ने इस विषय में एक शब्द तक नहीं कहा कि जो कुछ कहा गया है वह प्रकाशन के लिए नहीं है।

इससे यह प्रकट है कि जहां तक श्री गांधी के उद्‌गारों के तथ्य का सम्बन्ध है, सीनोर ग्याडा ने, जिनके अंग्रेजी भाषा-विषयक ज्ञान की बात मैं स्वयं जानता हूं, वे सारी बातें विशेष सावधानी के साथ नोट कीं।

मीराबहन का वक्तव्य

अब से दो वर्ष तीन मास पहले की घटना के सम्बन्ध में मेरे संस्मरण निम्नलिखित हैं :

गांधीजी और उनके साथियों को रोम में एक इटालियन काउण्टेस के घर, आपसी मुलाकात के लिए आमन्त्रित किया गया। यह काउण्टेस इटली के बम्बई-स्थित कौंसल की, जो उस समय रोम में ही थे, मित्र थीं। बैठक काफी देर तक रही। पहले वार्त्तालाप हुआ, फिर जलपान, उसके बाद फिर वार्त्तालाप। आरम्भ में गांधीजी के साथ अकेली मैं ही थी, बाद को अन्य साथी एक-एक करके आने लगे। इस मुलाकात के दौरान मैं बराबर गांधीजी के साथ ही रही। हां, उनके लिए कुछ फल आदि तैयार करने और स्वयं जलपान करने के लिए १५-२० मिनट के लिए भोजनालय में अवश्य गई थी।

जहां तक मुझे याद है, आरम्भ में बातचीत खानगी विषयों पर होती रही। काउण्टेस मुलाकातियों का परिचय गांधीजी से कराने और बातचीत का सिलसिला जारी रखने में लगी हुई थीं। जब बातचीत ने जोर पकड़ा तो मैंने देखा कि दो या तीन सज्जन राजनैतिक और आर्थिक विषयों पर भांति-भांति के प्रश्न कर

रहे हैं। उनमें से एक ने कागज और पेंसिल मांगी, और नोट करना शुरू किया। कुछ समय बाद हमारे अन्य साथी भी आने लगे और हम सब भोजनालय के पास वाले बड़े कमरे में चले गये। यहां फिर आम ढंग की बातचीत होने लगी। हां, किसी एक सज्जन के साथ थोड़ी-सी गम्भीर बातचीत अवश्य हुई थी, पर मुझे उस बातचीत का विवरण याद नहीं है।

थोड़े मिनटों को छोड़कर, जबकि मैं वहां नहीं थी, मैंने गांधीजी द्वारा कही गई सारी बातें सुनीं। वह राजनैतिक और आर्थिक ढंग के उत्तर में यथासम्भव जो कुछ कह रहे थे, विशेष जोर और स्पष्टता के साथ कह रहे थे, क्योंकि इटालियन सज्जन को अंग्रेजी समझने में कठिनाई हो रही थी, और साथ ही प्रश्नकर्त्ता बराबर प्रश्न कर रहे थे। 'टाइम्स' के सम्वाददाता ने जो बातें गांधीजी द्वारा कही बताई हैं यदि वह वैसी कोई बात कहते तो मैं अवाक् रह जाती। इसका अर्थ यही होता कि उन्होंने अपने आदर्शों और सिद्धान्तों को एक ओर फेंक दिया है। वैसी अवस्था में मैं उन्हें अपना पथ-प्रदर्शक और पिता कभी न मानती रहती।

मीरा (मिस स्लेड)

स्वराज्य पार्लमिंटरी पार्टी ने कुछ साल पहले केन्द्रीय धारा सभा का परित्याग कर दिया था। सन् १९३४ में वह फिर बनी। मैं कांग्रेस के साथ उस पार्टी के सम्बन्ध को लेकर बड़ा उद्विग्न था। बापू उस समय आसाम में थे। मैंने उन्हें वहीं यह पत्र लिखा :

१४ अप्रैल, १९३४

परम पूज्य बापू,

आप पहले कार्यकारिणी की आपसी बैठक और बाद को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बाकायदा बैठक बुला रहे हैं, इसलिए मैंने सोचा कि स्वराज्य पार्टी के गठन के सम्बन्ध में मैं भी अपने विचार रख दूं। जहां तक आपकी दोनों प्रेस मुलाकातों का सवाल है, मुझे उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना है। किसी-न-किसी प्रकार मैं आपसे सहमत हो जाता हूं, पर इससे आप यह न समझें कि मुझमें बुद्धि-विवेक का अभाव है। जब आपकी बातें हमेशा ठीक ही हों तो मैं क्या कर सकता हूं ? अब स्वराज्य पार्टी के सम्बन्ध में जब से डा० अन्सारी, भूलाभाई और डा० राय ने नई पार्टी के जन्म की घोषणा की है, तब से पंडित मालवीयजी बड़े उद्विग्न हो गये हैं। उन्हें पूरी तौर से निश्चय नहीं है कि निर्वाचन के अवसर पर वह कौन-सा रुख अख्तियार करेंगे। आप जानते ही हैं कि साम्प्रदायिक निर्णय के मामले में उनके विचार बड़े कठोर हैं और जो हिन्दू-सभाई व्यवस्थापिका सभा में जाने की इच्छा रखते हैं उन्होंने उनका दुरुपयोग करना अभी से आरम्भ कर

दिया है। यदि परिस्थिति के अनुसार ठीक-ठीक आचरण नहीं किया गया तो, सम्भव है, पण्डितजी के नेतृत्व में एक और दल का जन्म हो जाय। साम्प्रदायिक प्रश्न पर पण्डितजी कांग्रेस और हिन्दू महासभा, दोनों के बीच में हैं। वह दोनों में से किसी से सहमत नहीं हैं। वह मैत्रीपूर्ण समझौता तो चाहते हैं, पर औचित्य की परिधि में रहकर मुसलमानों को सन्तुष्ट करने को तत्पर नहीं हैं। इस समय वह इस बात की हठ पकड़े हुए हैं कि साम्प्रदायिक निर्णय का अन्त कर दिया जाय, जो कि असम्भव बात है। वह कहते हैं कि मुसलमानों को केन्द्र में ३३ प्रतिशत और बंगाल में ५१ प्रतिशत सीटें दी जा सकती हैं, पर अवशिष्ट सीटों को वह हिन्दुओं और यूरोपियनों में बांटना नहीं चाहते। वह चाहते हैं कि बाकी सारी सीटें हिन्दुओं को मिलें। वह जो कहते हैं, उसमें बुद्धि-विवेक की मात्रा पर्याप्त है, पर उनकी कार्यप्रणाली आपके लिए रुचिकर नहीं होगी। वह मुसलमानों की सहायता पाने के लिए सचेष्ट हैं, पर वह उन्हें कभी प्राप्त नहीं होगी, और वह वाइसराय और ब्रिटेन के मंत्रिमंडल के पास डेपुटेशन ले जाना चाहते हैं, जो निष्फल सिद्ध होगा। पता नहीं, साम्प्रदायिक मामलों में स्वराज्य पार्टी की क्या नीति रहेगी, पर यदि वह अपने सदस्यों को साम्प्रदायिक निर्णय का विरोध अपने-अपने ढंग से करने को स्वतन्त्र छोड़ दें तो पण्डितजी और स्वराज्य पार्टी के दृष्टिकोणों में सामंजस्य स्थापित करना सम्भव है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो राष्ट्रीय विचार वाले हिन्दुओं में फूट पड़ने की सम्भावना है और यह कादापि वांछनीय नहीं है। पण्डितजी तो केवल यही चाहते हैं कि नई स्वराज्य पार्टी साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति कोई लगाव न दिखावे।

दूसरा प्रश्न स्वराज्य पार्टी के नियंत्रण का है। मैं पण्डितजी की इस बात से सहमत हूं कि या तो कांग्रेस को स्वराज्य पार्टी को पूरी तौर से अपने काबू में रखना चाहिए, या फिर उससे कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए; क्योंकि यदि आसफअली-जैसे आदमियों को पूरा अधिकार दे दिया जायगा और कांग्रेस केवल आशीर्वाद देगी और किसी प्रकार का अनुशासन नहीं रखेगी तो वह अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करेगी। इससे पार्टी कमजोर पड़ जायगी, साधारण श्रेणी के सदस्यों में भ्रष्टाचार की वृद्धि होगी और अन्त में कांग्रेस की ही बदनामी होगी। पुरानी स्वराज्य पार्टी का मेरा जो अपना अनुभव है, उसके आधार पर मैं कह सकता हूं कि बहुत बड़ा खतरा पैदा हो जायगा, विशेषकर इसलिए कि अब मोतीलाल-जैसे व्यक्ति मौजूद नहीं हैं। पार्टी के अनुशासन द्वारा ही सही, पर किसी-न-किसी रूप में कांग्रेस द्वारा नियंत्रण अत्यावश्यक है। पर यदि कांग्रेस किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रखना चाहती है तो उसका आशीर्वाद भी अनावश्यक है। आपको इस मामले में पूर्ण निश्चय कर लेना चाहिए। मैं तो कांग्रेस

के नियंत्रण के पक्ष में हूं।

विनीत
घनश्यामदास

इसके बारे में गांधीजी ने अपनी राय दी और अपने अप्रैल के पत्र में, जिस पर तारीख नहीं लिखी है, साम्प्रदायिक निर्णय की भी चर्चा की :

डिब्रूगढ़
अप्रैल, १९३४

भाई घनश्यामदास,

एवार्ड की बात बहुत मुश्किल है। यदि मैंने जो रास्ता बताया है उसका स्वीकार मुसलमान करें तो कुछ हो सकता है, न भी करें तो वह रास्ता बिलकुल सीधा है। मुझे डर है कि वह स्वराज्यवादियों को अच्छा नहीं जंचेगा। हिन्दू-मुसलिम-सिख ऐक्य आज सिद्ध होने के लिए मैं कोई वायुमंडल नहीं पाता हूं।

धारा-सभा-प्रवेश को मैंने स्वतंत्रतया देखा है। मुझे लगता है कि कांग्रेस में हमेशा धारा-सभा-प्रवेश का दल रहेगा ही। उसी दल के हाथ में कांग्रेस की वाग-डोर होनी चाहिए और वही दल को कांग्रेस के नाम की आवश्यकता रहती है। मैंने यह बात हमेशा के लिए मान ली है। वही लोग कोई वार वहिष्कार भी करना होगा तो करें।

धारा-सभा-प्रवेश में मुसीवत काफी है। इसका फैसला तो होता रहेगा, गलतियां होती रहेंगी, दुरुस्ती होगी, नहीं होगी ऐसे चलता रहेगा।

कलकत्ता से रांची मुझको तो ज्यादा अच्छा लगता है। रांची में लोगों के लिए सुभीता न रहे, यह दूसरी बात है। रांची में शान्ति मिलेगी। कलकत्ते में असम्भावित है। मैंने राजेन्द्रवावू पर छोड़ दिया है।

तुम्हारा फेडरेशन का व्याख्यान पढ़ूंगा और पढ़ने के वाद अभिप्राय भेजूंगा।

रांची में मिटिंग होवे तो और आना शक्य है तो आ जाना अच्छा हो सकता है। निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता हूं।

वापू के आशीर्वाद

अव मैंने लार्ड हेलीफैक्स को पत्र लिखने का निश्चय किया :

२३ अप्रैल, १९३४

प्रिय लार्ड हेलीफैक्स,

मैं यह पत्र वड़े हताश भाव से लिख रहा हूं, पर प्रवृत्ति इतनी प्रबल थी कि मैं रोक नहीं सका।

तीन वर्ष से अधिक हुए, इतिहास में पहली बार दो महान् पुरुषों की भेंट हुई। दोनों अपने-अपने देश की ओर से मिले और दोनों ने भारत और इंग्लैंड को एक-दूसरे के इतना निकट ला दिया, जितना वे पहले कभी नहीं आये थे। आपने पहला कदम उठाकर दोनों देशों के आगे एक उदाहरण रख दिया कि एक-मात्र पारस्परिक अवबोध और बातचीत के द्वारा ही शांति और सद्भावना का लक्ष्य सिद्ध हो सकता है। उसके बाद का इतिहास बड़ा दुःखद है। पर मुझे मालूम हुआ है कि हाल ही में एक प्रान्तीय गवर्नर ने मेरे एक मित्र से कहा था कि गांधी ने पैक्ट के अंतर्गत अपनी जिम्मेदारियां सोलह आने पूरी कीं।

जो हो, वर्तमान अवस्था तो अत्यन्त दुःखदायी और असह्य है। अंग्रेजों की प्रतिज्ञाओं के प्रति इस समय जितना अविश्वास दिखाई देता है और वातावरण में जितनी कड़वाहट दृष्टिगोचर होती है, उतनी पहले कभी नहीं थी। यह सब तो है ही, इससे भी बुरी बात यह है कि पारस्परिक अवबोध और मानवीय सम्पर्क के चिर-परिचित मार्ग को हमेशा के लिए त्याग दिया गया है। इस वयोवृद्ध पुरुष को कभी अव्यावहारिक और अरचनात्मक कल्पनावादी बताया जाता है, कभी बेईमान, चालाक और कपटी राजनीतिज्ञ। उनके लिए एक साथ दोनों ही होना सम्भव नहीं है, और आप स्वयं जानते हैं कि वह वास्तव में क्या हैं। उन्हें समझने की कोई इच्छा नहीं है। मानवीय सम्पर्क-मात्र को हौआ समझा जाता है। हाल ही में गांधीजी ने लार्ड विलिंग्डन को एक पत्र लिखा था, जिसे मैंने भी देखा था। उसमें उन्होंने कहा था, "विश्वास करिये, मैं आपका और इंग्लैंड का सच्चा मित्र हूं।" वास्तव में उन्होंने यथार्थ बात कही थी। बिहार की पुनर्रचना के कार्य में उन्होंने मर्यादा पर अड़ने के बजाय बगैर किसी शर्त के सहयोग प्रदान किया और इस प्रकार यह प्रमाणित कर दिया कि यद्यपि वह अपने-आपको पक्का असहयोगी बताते हैं, तथापि वह सबसे अच्छे सहयोगी हैं। अब उन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन भी उठा लिया है और ऐसा करके कांग्रेस के वामपंथियों को रुष्ट कर दिया है। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि उन्होंने जो कदम उठाया है, कांग्रेस उस पर अपनी सही कर देगी। कांग्रेस और देश में उनका जितना प्रभाव था, अब उससे भी अधिक हो गया है।

पर उसके बाद क्या? मेरी राय में तो इस समय सबसे अधिक आवश्यक वस्तु अपेक्षाकृत अच्छे विधान की नहीं, अपेक्षाकृत अधिक पारस्परिक अवबोध की है। अविश्वास के वातावरण में तैयार किया गया विधान कभी सफल नहीं हो सकता है। इसके विपरीत, पारस्परिक अवबोध स्वयं वैधानिक गुत्थियां सुलझाने में सहायक होगा। मैं तो यहां तक कहूंगा कि यही एकमात्र ऐसा उपाय है, जिसके द्वारा चर्चिलों की दिलजमई कराई जा सकती है कि भारत पर विश्वास करके वे इंग्लैंड के हितों को खतरे में नहीं डालेंगे। अतएव इंग्लैंड और भारत के प्रत्येक

हितैषी का इस समय एकमात्र यही मिशन हो सकता है कि दोनों देशों के नेता एक-दूसरे को समझें। महोदय, इस महान् सत्य का पता सबसे पहले आपने लगाया और इस सत्य को हृदयंगम करने की आवश्यकता जितनी इस समय है उतनी पहले कभी नहीं थी। मेरा कहना यही है कि समुद्र के इस ओर जिन लोगों का अब भी इस सत्य में विश्वास है, वे आपकी सक्रिय सहायता की अपेक्षा करते हैं। इन दुर्दिनों में आपके प्रशंसकों की जबान पर एकमात्र प्रश्न यह है : "लार्ड अरविन क्या कर रहे हैं ?" आप हमारे मामलों में इस समय भी जितनी रुचि लेते हैं, मैं जानता हूं। पर यदि मुझे अनुमति दी जाय तो मैं कहूंगा कि आपने पहले भारत को जिस प्रकार उदारतापूर्वक सहायता दी थी वह अब आपसे उससे भी अधिक सहायता की आशा करता है। आपने १९३१ में एक उदाहरण रखा था, पर उससे पूरी तौर से लाभ नहीं उठाया गया। मेरी अब भी यही धारणा है कि दोनों देशों के लिए यही एकमात्र मार्ग है और मेरी आपसे यही अपील है कि आपने १९३१ में जिस चीज का श्रीगणेश किया था उसे आगे बढ़ाइये। इस समय जैसा कुछ वातावरण है उसके कारण सफलता दूर भले ही दिखाई देती हो, पर केवल इसी कारण स्तुत्य प्रयास का त्याग क्यों किया जाय !

इस लम्बे पत्र के लिए क्षमा करिए। अपनी सफाई में मैं केवल गांधीजी के प्रति अपनी भक्ति, आपके प्रति अपनी प्रशंसा और अपने देश के प्रति अपने प्रेम का हवाला दे सकता हूं।

भवदीय
जी० डी० बिड़ला

उन्होंने बड़े ही आश्वासनपूर्ण शब्दों में उत्तर दिया :

८८, ईटन स्क्वायर, लंदन, एस० डब्ल्यू० १
११ मई, १९३४

प्रिय श्री बिड़ला,

कुछ दिन हुए आपका पत्र मिला था। अनेक धन्यवाद। विश्वास रखिए, आजकल की कठिन परिस्थिति में भी भारत को संतोष और शांति देने वाले हर मामले में सद्भावना पैदा कराने के काम में जितनी भी सहायता मैं दे सकता हूं, अवश्य दूंगा। मुझे आज भी पक्का विश्वास है कि जो लोग इस लक्ष्य को प्राप्त करने की सच्ची आकांक्षा रखते हैं उनकी चेष्टाओं से यह महान् कार्य अवश्य पूरा होगा। इसलिए निश्चय मानिए कि मैं जो कुछ भी कर सकता हूं, सहर्ष करूंगा। मेरी सदा से ही यह धारणा रही है कि आजकल की स्थिति में सभी पक्षों को बड़े धैर्य से काम लेना चाहिए और वर्तमान कण्टकाकीर्ण मार्ग को भविष्य की आशा

के प्रकाश से आलोकित रखना चाहिए।

आपका
हेलीफैक्स

इस अध्याय को मैं बापू के एक पत्र के साथ समाप्त करता हूं। इस पत्र से इस बात का एक और प्रमाण मिलता है कि किस प्रकार वह अपने कामों में आर्थिक सहायता के लिए मुझ पर निर्भर रहते थे। इस बार वह निम्नवर्ग के लोगों की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए घरेलू उद्योगों की स्थापना करना चाहते थे।

वर्धा
२९-११-३४

भाई घनश्यामदास,

तुम्हारा पत्र मिला।

मैं कैसे कहूं मुझे क्या चाहिए। जब सौ दो-सौ, हजार की बात रहती है तब तो मांग लेता हूं। यह ग्राम-उद्योग का बहुत बड़ा काम लेकर मैंने निजी हाजत बढ़ा दी है। इसलिए मैं तो कह सकता हूं कि दूसरा जो आवश्यक दान हो उसे बाद कर बाकी जो रहे सो मुझे दे दिया जाय।

ग्राम-उद्योग का बोर्ड बनाने में कुछ मुसीबत पैदा हो रही है। मैं बोर्ड बहुत छोटा, कम-से-कम तीन का, ज्यादा-से-ज्यादा दस का, उसी आदमी को चाहता हूं जो उद्देश्य में पूर्ण विश्वास रखते हैं जो करीब-करीब अपना पूर्ण समय देवें। यह काम थोड़ी तकलीफ दे रही है, इसमें कुछ ख्याल रखते होंगे।

उतमनझाई खान साहब की देहात है। वहां जाकर बैठने का इरादा कब से रहा है। गुरुवार के रोज दिल्ली खत भेज दिया है। जाने का कारण बताया है और पूछा है क्या कुछ हर्ज है मेरे सरहदी सूबे में जाने में? देखें, क्या उत्तर आता है।

आपरेशन का समय क्या निश्चय हुआ?

बापू के आशीर्वाद

११. भारतीय शासन बिल

जिस समय ब्रिटिश लोकसभा में भारतीय शासन बिल पर विचार हो रहा था, उस समय स्वभावतः सारे भारतवर्ष की दृष्टि उधर ही लगी हुई थी। इस बिल में भारतवर्ष के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता की व्यवस्था नहीं थी, पर गांधीजी हरिजन-आन्दोलन को स्वतन्त्रता की ओर बढ़ने का एक आवश्यक उपकरण निश्चय मानकर अपना सारा ध्यान उसी पर केन्द्रित कर रहे थे। वह जानते थे कि यदि ठीक भावना से काम किया जाय तो बिल से लाभ ही होगा। इसके विपरीत कुछ कांग्रेसवादियों को इस बिल में कोई तथ्य नहीं दिखाई देता था और उनका मत था कि इसे मांटेग्यू ऐक्ट से भी बुरा समझकर उसका तिरस्कार करना चाहिए। अब जबकि भारत पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो गया है, हम भारतवासी इस स्थिति में हैं कि अतीत पर अपेक्षाकृत अधिक निष्पक्ष भाव से विचार करें और इस बात को स्वीकार करें कि भारतीय शासन बिल में निश्चय ही वे बीज मौजूद थे, जो आगे चलकर अंकुरित, पुष्पित, पल्लवित होकर अन्त में हमें हमारी मनोवांछित स्वतन्त्रता देने वाले थे। आज हमने अपने राष्ट्र का जो संविधान बनाया है उसमें भारतीय शासन-विधान के अनेक अंशों को ले लिया गया है, जिससे पता चलता है कि उसे हमारी भावी योजनाओं के सांचे में ढाला गया था।

कलकत्ता
१४ दिसम्बर, १९३४

प्रिय महादेवभाई,

कल यहीं अपने यहां मूर के साथ कोई ढाई घण्टे तक बातें होती रहीं। श्री मुगरिज जो नये आये हैं, भी उनके साथ थे। वार्त्तालाप का विषय आरम्भ से अन्त तक बापू थे। उन्होंने यों ही रिपोर्ट के विषय में मेरी सम्मति मांगी। मैंने कहा कि रिपोर्ट उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना महत्त्वपूर्ण वर्तमान वातावरण है। मैंने पारस्परिक सम्पर्क के अभाव की कड़ी आलोचना की। वह भी सहमत हुए, पर उन्होंने कहा कि सरकारी हलकों में सबको यही आशंका है कि गांधीजी के साथ जहां किसी प्रकार का संपर्क स्थापित किया गया कि तरह-तरह की अटकलबाजियों को जन्म मिल जायगा। मेरे साथ उनकी जो बातचीत हुई है, वह वाइसराय को बताएंगे। उन्होंने मुझे यह भी बताया कि अंग्रेज लोग गांधीजी में अब पहले से अधिक दिलचस्पी दिखाने लगे हैं। उन्होंने कहा कि वाइसराय से कल ही उन्होंने बातचीत की थी, और वाइसराय ने पूछा कि सरहद-संबंधी पत्र-व्यवहार को बापू ने किस उद्देश्य से प्रकाशित कराया। मूर ने कहा कि बापू का

उद्देश्य बिलकुल ईमानदारी से भरा हुआ था। वह कबीले के लोगों को सविनय अवज्ञा की सलाह देना नहीं चाहते हैं। उन्होंने कहा कि वाइसराय तो उनके दृष्टि-कोण से सहमत हो भी जाते, पर एक वर्ग ऐसा भी है, जिसका विश्वास है कि गांधीजी को समझना कठिन है, उनकी हर एक बात में चाल रहती है। बहुतों की धारणा है कि वह सरकार के खिलाफ नये सिरे से आन्दोलन आरंभ करने के मौके की तलाश में हैं। उन्होंने यह भी कहा कि वाइसराय को जो दूसरा पत्र लिखा गया था उसमें सविनय अवज्ञा की धमकी देना ठीक नहीं हुआ। मुझे जो कुछ मालूम हो सका है उससे तो मैं इसी नतीजे पर पहुंचा हूं कि काफी गलतफहमी मौजूद है। यह गलतफहमी दूर हो जायगी, पर समय लगेगा। खबर है कि सीमा-प्रान्त के गवर्नर कनिंघम को, जो बापू को जानता है, आशंका है कि बापू के आगमन से सरहद में उत्तेजना फैल जायगी और इससे वहां की सरकार को परे-शानी होगी। मुझे मूर ने बताया कि बंगाल के गवर्नर बापू से मिलने को बड़े उत्सुक थे, पर किसी-न-किसी कारण से मुलाकात न हो सकी। उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या बापू कलकत्ता आ रहे हैं, जिसका अभिप्राय यह था कि यदि वह आवें तो मुलाकात करा दी जाय। मैंने उत्तर दिया कि बापू को बंगाल में कुछ करना नहीं है, इसलिए वह बंगाल नहीं जायंगे, पर यदि अधिकारी उनसे मिलना चाहें तो बात दूसरी है।

मेरी धारणा है कि उनके ऊपर जो प्रतिबन्ध लगाया गया है उसका एक कारण अविश्वास है, साथ ही यह भी आशंका है कि उनकी सरहद-यात्रा से सरकार को परेशानी होगी। मैं समझता हूं कि इस अविश्वास का निवारण बहुत जरूरी है, और निवारण होगा भी। मुझे यह भी मालूम हुआ है कि विलिंग्डन बापू के प्रति विरोध की भावना से उतने प्रेरित नहीं हैं, जितने अविश्वास की भावना से। इन लोगों के लिए सत्याग्रह का मर्म समझना बड़ा कठिन है। मूर ने कहा कि बापू के उपवास को तो सत्याग्रह कहा जा सकता है, पर और जो कुछ हुआ उसे तो सत्याग्रह न कहकर हिंसा कहना ही ठीक होगा। वह तो अतिशयोक्ति से काम ले रहे थे, पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि जनता ने जो कुछ किया उसे सत्या-ग्रह किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता है।

मैंने यह भी देखा है कि एड्रयूज आदि व्यक्तियों के प्रति इन लोगों की भावना में कोमलता की प्रचुरता नहीं है। उनके बुद्धि-विवेक के संबंध में तो उनकी धारणा बड़ी हीन है ही, साथ ही इन लोगों में उनके प्रति एक ऐसी कुत्सा-सी है, जिसका पता मुझे अभी लगा है।

आपका
घनश्यामदास

१ फरवरी, १९३५

परम पूज्य बापू,

आपके विदा होने के तुरन्त बाद ही होम मेम्बर और वाइसराय के साथ मेरी मुलाकात हुई। इस पत्र के साथ उस मुलाकात का ब्योरा भेज रहा हूं। मैं शब्द-चित्र खींचने में पटु नहीं हूं, विशेषकर अंग्रेजी के शब्दचित्र, इसलिए मैं यह नहीं कह सकता कि इससे आपको सही अंदाजा हो सकेगा या नहीं। पर मैं इस ब्योरे के पूरकस्वरूप यह तो कह ही दूं कि होम मेम्बर के साथ जो मुलाकात हुई उसके दौरान अधिकतर मैं ही बोलता रहा, जबकि वाइसराय वाली मुलाकात में अधिक-तर वही बोलते रहे। होम मेम्बर बड़ी सहृदयता से पेश आया। कोई तीक्ष्ण बुद्धि तो नहीं है, पर वैसे वह बड़ा स्पष्टवादी है। उसे शासनपटु कहा जा सकता है। यदि आप उसके अनुदार होने का अंदाजा लगाना चाहें तो लगा सकते हैं, पर यदि वह अनुदार है तो ईमानदार ढंग का अनुदार है। इसके विपरीत वाइसराय ने उस ढंग का आचरण नहीं किया, जिस ढंग का पहली मुलाकातों में किया था। कांग्रेसियों ने अपने नाम नहीं लिखे, इससे उसके दिल को सचमुच ही चोट पहुंची है। पता नहीं, भूलाभाई इस मामले में अन्य कांग्रेसी सदस्यों की बात छोड़कर स्वयं अपनी स्थिति पर पुनः विचार करने को तैयार होंगे या नहीं। आप स्वयं भी तो सविनय अवज्ञा आन्दोलन के संबन्ध में पत्र लिखने का विचार कर रहे थे। उसी प्रकार भूलाभाई भी प्राइवेट सक्रेटरी को लिखकर आश्वासन दे सकते हैं कि उनका किसी प्रकार का व्यक्तिगत अपमान करने का उद्देश्य नहीं था। इसके बाद आवश्यकता होने पर वह अपना नाम लिख सकते हैं, क्योंकि पहले नाम न लिखना अपमानजनक समझा गया था। मैं कम-से-कम बंगाल के गवर्नर के साथ तो एक बार फिर बात करूंगा ही। इसके बाद मैं घटनाओं को स्वयं अपनी रूपरेखा निश्चित करने के लिए छोड़ दूंगा। इसमें थोड़ा समय तो अवश्य लगेगा, पर मेरी धारणा है कि यदि धैर्य से काम लिया गया तो बहुत-सी बातें स्वतः ही समय पर हो जायंगी। जब उचित समझें, मुझे लिख सकते हैं। होम मेम्बर कम-से-कम वल्लभभाई से भेंट करेंगे ही, सो अच्छा ही है।

विनीत

घनश्यामदास

१५ फरवरी, १९३५

परम पूज्य बापू,

इस पत्र के साथ सर सेम्युअल होर के अभी आये हुए पत्र की नकल, मेरे उत्तर की नकल तथा बंगाल के गवर्नर के साथ मेरी मुलाकात का ब्योरा भेज रहा हूं। अब गवर्नर निश्चित रूप से कह रहे हैं कि बिल पास हो जाने के बाद

ऐसी बातों को लेकर मित्रता का हाथ बढ़ाया जायगा, जिन पर दोनों पक्ष सहमत हैं। आपने भी यही कहा था कि यदि वे लोग कुछ करेंगे तो बिल पास होने के बाद ही करेंगे। यह अटकल लगाना तो बेकार है कि लोग क्या करेंगे, पर फिलहाल यह सन्तोष की बात है कि उन लोगों ने कोई योजना बना रखी है। सर सेम्युअल होर का पत्र भी उतना ही स्पष्टवादिता और सहृदयतापूर्ण है, पर यह स्पष्ट है कि जितना परिस्थितियों के अनुरूप उनके लिए कहना सम्भव है वह उससे अधिक नहीं कहना चाहते हैं। मुझे गवर्नर ने जो बात बताई है, सर सेम्युअल होर उसे ध्यान से रख सकते हैं। बिल पास होने के बाद कांग्रेसवादियों के लिए समझौता करना कठिन होगा, पर हमें आशा करनी चाहिए कि ठीक समय पर आपकी सूझ हमारी सहायता करेगी। इस पत्र को पढ़ने के बाद लिखिये कि स्थिति के सम्बन्ध में आपका क्या विचार है और यह भी बताइये कि मुझे क्या करना है।

शायद वल्लभभाई और सर हेनरी क्रेक के बीच में एक और मुलाकात हो। मुलाकात मेरे यहां भी हो सकती है और भूलाभाई और होम मेम्बर द्वारा निश्चित किये गये किसी आम स्थान पर भी। होम मेम्बर ने इच्छा प्रकट की है कि उसे वल्लभभाई के आगमन की सूचना दे दी जाय। इसलिए कल सुबह भूलाभाई उनसे बात करेंगे और यदि वल्लभभाई ने बातचीत करने की इच्छा प्रकट की तो बातचीत का समय निश्चित कर लेंगे।

आप होम मेम्बर को लिखें या न लिखें, इस असमंजस के सम्बन्ध में मेरा कहना यही है कि जबतक मामला एक-न-एक प्रकार से तय नहीं हो जाता तबतक लिखने से कोई लाभ नहीं है। फिलहाल तो भूलाभाई के मुलाकाती रजिस्टर में अपना नाम लिखने का प्रश्न ही नहीं उठता है, पर यदि दूसरा पक्ष निश्चित रूप से कहे कि एकमात्र यही अड़चन है तो, जैसा कि मुझे बताया गया है, इस सम्बन्ध में कोई कठिनाई नहीं होगी, परन्तु जब वातावरण में परिवर्तन होगा तो ऐसी छोटी-छोटी बातों का महत्त्व बिलकुल जाता रहेगा।

मैं अपने इस विचार पर कायम हूं और मित्रों के साथ बातचीत करने के बाद मेरा यह विचार और भी दृढ़ हो गया है कि प्रस्तावित शासन-विधान मान्टेग्यू सुधारों से गया-बीता नहीं है। उसे उससे भी बुरा और अत्याचारपूर्ण रूप दिया जा सकता है, पर साथ ही उसे अच्छा रूप देना भी सम्भव है। इसलिए मेरा आपसे यही अनुरोध है कि आप संधि का द्वार बन्द न करें। यदि आपके साथ समझौता न हुआ तब तो योजना रद्द हुई रखी है। पर उस समय तक के लिए दरवाजा खुला रखना क्या ठीक न रहेगा?

अच्छा, तो अब मेरे जाने के सम्बन्ध में क्या रहा? गवर्नर के साथ बात करने के बाद से तो मेरी जाने की इच्छा हो रही है, पर अन्तिम निश्चय तो आप ही करेंगे।

साम्प्रदायिक समझौते के बारे में राजेन्द्रबाबू ने एक फार्मूला तैयार किया है, जिसे जिन्ना ने मान लिया है। इस फार्मूले का आधार संयुक्त निर्वाचन है। सीटें उतनी ही रहेंगी और वोट देने के अधिकार की व्यवस्था इस प्रकार रखी गई है, जिससे विभिन्न इलाकों की दोनों जातियों के संख्या-सम्बन्धी परिमाण का ठीक-ठीक अन्दाज लगाया जा सके। वह मेरे साथ निकट सम्पर्क बनाये हुए हैं और मैंने उन्हें सलाह दी है कि बंगाल के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए कलकत्ता जाने के बजाय रामानन्द चटर्जी और जे० एन० बसु को यहीं बुला लिया जाय। बंगाल का वातावरण ठीक नहीं है, इसलिए दिल्ली को ही बातचीत का केन्द्र रखना ठीक है। पर असली अड़चन सिखों को लेकर होगी। पंजाब तक के हिन्दुओं को राजी करना सम्भव है। पर काम कठिन अवश्य है। मुझे आशंका है कि हमेशा की तरह इस बार भी मालवीयजी से सहायता नहीं मिलेगी।

यदि मैंने किसी मामले में गलती कर दी हो तो कृपया भूल-सुधार कर दीजिये। मैं इस क्षेत्र में नौसिखुआ हूं, पर वैसे मैं आपके विचारों और तर्कबुद्धि से भली-भांति परिचित हूं।

विनीत

घनश्यामदास

मालवीयजी का इस बिल में दिलचस्पी लेना स्वाभाविक ही था। हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न को दृष्टि में रखते हुए मताधिकार के बारे में उनके अपने निश्चित विचार थे। अपने कट्टर हिन्दूपन और जात-पांत के प्रति अनुराग के कारण उन्होंने गांधीजी के हरिजन-आन्दोलन को पसन्द नहीं किया। उनके इन विचारों के कारण और भी दूसरी कठिनाइयां सामने आईं, जिनकी चर्चा मैंने महादेव देसाई के नाम गांधीजी के लिए भेजे गये अपने २७ फरवरी के पत्र में की :

"पंडितजी आज विदा हो गये हैं। हस्वमामूल वह न तो घोर सम्प्रदायवादियों से सहमत हैं, न जिन्ना-राजेन्द्रप्रसाद-फार्मूला से। उन्होंने मुझे कई सुझाव बताये हैं, पर उनकी चर्चा करने से कोई लाभ नहीं है, क्योंकि मैं जानता हूं कि अन्त में हमें कांग्रेस-लीग समझौते का आश्रय लेना ही पड़ेगा। अब तो यह बात निश्चित-सी होती जा रही है कि पंडितजी इंग्लैंड जायंगे। वास्तव में बम्बई के लिए रवाना होने से पहले उन्होंने मुझे निश्चयात्मक रूप से बताया कि वह १५ मार्च को रवाना हो रहे हैं।

"मेरे ये दिन परेशानी में कटे। पंडितजी बराबर 'हिन्दुस्तान टाइम्स' की नीति वाली बात पर जोर देते रहे और कहते रहे कि मुझे पत्र को सोलह आने उन्हीं के हाथ में छोड़ देना चाहिए। उन्होंने तो यहां तक कहा कि यदि मुझे उनकी नीति पसन्द नहीं है तो मैं त्यागपत्र दे सकता हूं। मैं उनका सुझाव स्वीकार करने में

असमर्थ था, क्योंकि सवाल सिर्फ मेरे ही इस्तीफा देने का नहीं था; बल्कि पारसनाथ और देवदास दोनों ही मेरा अनुकरण करते, जिसके फलस्वरूप संकट आया ही रखा था। परिणामस्वरूप पत्र नष्ट हो जाता। अतएव मैंने निश्चयात्मक रूप से कहा 'नहीं', और बताया कि सारा मामला डाइरेक्टरों और शेयर होल्डरों के सामने पेश किया जाय। इससे पंडितजी कुछ समय तक क्षुब्ध रहे, पर अन्त में पत्र द्वारा तटस्थ नीति बरते जाने पर राजी हो गये। इस प्रकार अब 'हिन्दुस्तान टाइम्स' न पंडितजी के खिलाफ ही टीका-टिप्पणी करेगा, न पक्ष में ही। मेरी समझ में वर्तमान परिस्थिति में यही सबसे अच्छा उपाय रहा। मैंने बोर्ड से हटाकर उन्हें दुःखी नहीं करना चाहा।"

१२. संकट-काल

उधर ब्रिटिश पार्लमेंट में भारतीय शासन विधान मंथर गति से पास हो रहा था, इधर उसे लेकर भारत और इंग्लैंड में विचार-विमर्श का सिलसिला जारी था। यह सिलसिला बिल के पास हो जाने के बाद भी बना रहा। इस विचार-विमर्श के शुरू के दौर में आर्थर मूर ने मुझे बताया कि सी० एफ० एंड्रयूज के सम्बन्ध में उनके देशवासियों की धारणा कुछ विशेष अच्छी नहीं है। मेरी धारणा वैसी नहीं थी और मैं उनकी साधु प्रकृति और नेकनीयती पर तनिक भी सन्देह करने को तैयार नहीं था। पर उनमें ये गुण शायद उनकी बुद्धि की अपेक्षा अधिक परिमाण में थे, जिनके कारण वह अंग्रेजों की निगाह में व्यर्थ ही टांग अड़ाने वाले जंचने लगे थे। फलतः उन्हें मध्यस्थता के काम में सफलता प्राप्त नहीं हुई। एक बात और थी। उनका अपना चरित्र बहुत ही अच्छा था और उनके आधार पर उनका आत्मविश्वास क्षन्तव्य भी माना जाता, पर विचित्र बात यह थी कि वह दूसरे की छाया को छोड़कर अपना निजी अस्तित्व कायम रखने में असमर्थ थे। यही कारण था कि कभी उनमें गांधीजी के प्रति भक्ति की भावना जोर पकड़ती, कभी कवीन्द्र के प्रति उतनी ही प्रबल आसक्ति। रवीन्द्रबाबू को तो वह हमेशा 'गुरुदेव' के नाम से पुकारा करते थे।

वर्धा
१६-१२-३४

प्रिय घनश्यामदासजी,

मूर के साथ आपकी बातचीत के अत्यन्त रोचक वर्णन का पत्र प्राप्त हुआ।

तदर्थ धन्यवाद। आप जो कहते हैं सो तो ठीक है, परन्तु इस सन्देह का निवारण कैसे हो ? सी० एफ० ए० जैसे मध्यस्थों के द्वारा तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके सम्बन्ध में उच्च पदस्थ व्यक्तियों की तुच्छ धारणा है। यह तो केवल उन्हीं लोगों के द्वारा सम्भव है जो बापू को अच्छी तरह जानते हों और दूसरे पक्ष से भी भली-भांति परिचित हों और उनके विश्वासभाजन हों। परन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि जो लोग इस गणना में आते हैं उनमें से अधिकांश भीरु हैं और उन्हें धमकाया या नीचा दिखाया जा सकता है।

सी० एफ० ए० दिल्ली होम सेक्रेटरी और होम मेम्बर से मिलने गये थे। वह दोनों से मिलने में सफल हुए या एक से, पता नहीं। वह अपने स्वभावसिद्ध भ्रामक ढंग से तार भेजते हैं : "लम्बी मुलाकात हुई। आया, अच्छा ही हुआ। विवरण लिख रहा हूं। अपने कार्यक्रम का तार भेजिये।" इसके बाद दूसरा तार आया, जिसमें उन्होंने कहा, "कल पहुंच रहा हूं।" ऐसा मालूम होता है कि हमेशा की तरह इस बार भी वह कुछ नहीं कर सके हैं, परन्तु देखें। मैं आपको सूचना दे दूंगा।

सप्रेम,

आपका ही
महादेव

जिस दिन महादेवभाई ने यह पत्र लिखा उस दिन मैं स्वयं भी अपने नीचे लिखे पत्र में भारत मंत्री के सामने भारतीय दृष्टिकोण पेश करने की चेष्टा कर रहा था :

कलकत्ता
१६ दिसम्बर, १९३४

प्रिय सर सेम्युअल होर,

मैं यह पत्र संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट को ध्यानपूर्वक पढ़ने और कामंस सभा में दी गई आपकी सुन्दर स्पीच का अवलोकन करने के बाद ही लिख रहा हूं।

मैं पत्र कुछ हिचकिचाहट के साथ लिख रहा हूं, क्योंकि मैं जानता हूं कि प्रायः मेरा और आपका दृष्टिकोण एक नहीं होता है। पर मैं आपका आदर करता हूं और जिन क्षेत्रों में आपके प्रयासों के गलत मानी लगाये जाते हैं उनमें उन्हें मैत्री-पूर्ण प्रकाश में पेश करता हूं। इसलिए मैं अपने हृदय के भावों को आपके सामने रखने का अधिकार-सा समझने लगा हूं और इस प्रेरणा को दबाना ठीक नहीं समझता हूं।

मुझे रिपोर्ट के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना है। आपने पार्लमेंट में ठीक ही कहा है कि भारत में उसके द्वारा इनेगिने आदमी संतुष्ट हुए हों तो हुए हों। इधर मेरे कानों में आपके वे शब्द गूंज रहे हैं जो आपने मेरी अंतिम मुलाकात के मौके पर कहे थे : "भारत-सचिव चाहे कितने ही उन्मूलक विचारों वाला हो, वर्तमान पार्लमेंट में वह एक खास पद तक ही आगे बढ़ सकता है।" मैं मानता हूं कि वर्तमान पार्लमेंट में संयुक्त प्रवर समिति द्वारा की गई सिफारिशों से बहुत आगे बढ़ना शायद सम्भव नहीं होगा, पर मैं तो स्थिति को बिलकुल दूसरे ही दृष्टिकोण से देख रहा हूं।

जिस योजना की सिफारिश की गई है, मैं उसकी तुलना व्यापारिक फर्मों में दिये जाने वाले मुख्तारनामों से करता हूं। हम लोग आवश्यकतानुसार अपने मैनेजरों और मातहतों को मुख्तारआम और मुख्तारखास के अधिकार देते हैं। हम वे अधिकार छीन भी सकते हैं और यदि उन पर से हमारा विश्वास उठ गया हो तो उन्हें बर्खास्त तक कर सकते हैं। पर मेरी फर्म में तथा और बहुत-सी फर्मों में, इस प्रकार अधिकार छीनने और बर्खास्त करने के मौके शायद ही कभी आते हों। यह व्यवस्था बड़ी सफल सिद्ध हुई है, क्योंकि मालिक मैनेजर पर विश्वास करता है और मैनेजर मालिक पर, और दोनों एक ही लक्ष्य की सिद्धि के लिए काम करते हैं। इसका अर्थ यह है कि पारस्परिक विश्वास और एक समान लक्ष्य मुख्तारनामे के विषय से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जहां तक हमारा सम्बन्ध है, मैं समझता हूं कि हम सभी का लक्ष्य सोलह आने उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार है। इस लक्ष्य की दिशा में उठाया गया पहला कदम मामूली सुधार भी हो सकता है और भारी सुधार भी। पर अभीष्ट की सिद्धि के लिए जो चीज सबसे अधिक आवश्यक है, वह है पारस्परिक विश्वास, सद्भावना, सहानुभूति और पारस्परिक अवबोध। क्या हम कह सकते हैं कि ये इस समय भारत में मौजूद हैं ? मैं किसी दल को दोष नहीं दे रहा हूं, पर मेरे मन के भाव यही हैं कि चूंकि सरकार शासक दल है, इसलिए उसी को वैसी अवस्था को जन्म देना है।

मैं आपसे अनुरोध करूंगा कि आप इस घटनाक्रम के मनोविज्ञान का विश्लेषण करें, क्योंकि योजना में संशोधन करने के बजाय उसके रद्द किये जाने की जो बात सुनाई पड़ रही है, उसका कारण उसकी त्रुटियां नहीं, बल्कि यह घटनाक्रम ही है।

गांधी-अरविन पैक्ट ने स्वीकार किया था कि:

१. केन्द्र उत्तरदायित्वपूर्ण हो।

२. संघ सरकार बने।

३. जो आरक्षण और अभिरक्षण हों वे स्पष्टतया ही भारत के हित में हों।

यह स्पष्ट है कि पैक्ट पर हस्ताक्षर करने वाले व्यक्तियों के द्वारा यह बात

मान ली गई थी कि अन्तिम लक्ष्य चाहे जो हो, अंतरिम समय के लिए उनका रहना जरूरी है। जो लोग स्वतन्त्रता की बात करते थे—और इस शब्द के भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न अर्थ लगाते थे—वे भी आरक्षणों को अंतरिम समय के लिए पूर्ण और सोलहों आने उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार वाले अन्तिम लक्ष्य का विरोधी नहीं समझते थे। क्या इसका कारण यह नहीं था कि इस समय जिस वैयक्तिक नाते का अभाव है, वह उस गांधी-अरविन पैक्ट में मौजूद था ? आपने साझेदारी की भावना पर जोर दिया सो ठीक ही किया, पर जबतक वह पारस्परिक सम्पर्क स्थापित नहीं होता जिसके द्वारा दोनों में पारस्परिक अवबोध और विश्वास हो सकता है तबतक उस साझेदारी को प्रकृत रूप कैसे दिया जा सकता है ? क्या मैं यह निवेदन कर सकता हूं कि प्रगति की मात्रा नहीं, उसका ढंग ही असली चीज है ? मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों को एक दुर्भाग्यपूर्ण वातावरण में अमल में लाया गया था और मुझे आशा है कि उसकी पुनरावृत्ति नहीं की जायगी।

यह न जानते हुए भी कि आपकी निगाह में मेरी क्या साख है, मैंने यह सब इसलिए लिखने का साहस किया कि मैं दोनों देशों के बीच मैत्री और शान्ति का सम्बन्ध स्थापित होते देखना चाहता हूं, और इस दिशा में विनम्र ढंग से बराबर काम भी करता जा रहा हूं।

सदाकांक्षाओं के साथ,

मैं हूं
आपका
जी० डी० बिड़ला

साथ ही मैंने बंगाल के गवर्नर से भी भेंट की, जिसका विवरण मैंने बापू की जानकारी के लिए महादेव देसाई के नाम अपने इस पत्र में दिया :

कलकत्ता
१८ दिसम्बर, १९३४

प्रिय महादेव भाई,

मूर से मिलने के बाद मैं गवर्नर से मिला और उसी विषय पर चर्चा की। वह मुझसे सहमत तो हुए, पर साथ ही उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा, "आप वाइसराय से क्यों नहीं मिलते ?" मैंने कहा, "वाइसराय के लिए तो मैं अछूत जैसा हूं।" इस पर वह बोले, "आप गत वर्ष तो मिले थे ?" मैंने कहा, "नहीं।" मैंने उनसे कहा कि मैं वाइसराय से तभी मिल सकता हूं जब इस विषय पर बात करने का उनकी ओर से बढ़ावा मिले, पर यदि वह समझें कि मैं ख्वाम-ख्वाह टांग अड़ाता फिरता हूं और अपना कोई स्वार्थ सिद्ध करना चाहता हूं, तो

मेरा जाना ठीक नहीं है। उन्होंने कहा कि यदि वाइसराय समझेंगे कि आप गांधी के दूत बनकर आये हैं तो उन्हें बातचीत करने में हिचकिचाहट होगी। मैंने उत्तर दिया, "मैं किसी का दूत नहीं हूं, और जहां तक मुझे मालूम है, गांधीजी ने किसी को अपना दूत नियुक्त नहीं किया है।" उन्होंने मेरी नेकनीयती में पूरा विश्वास प्रकट करते हुए कहा, "वाइसराय से बात करके देखूंगा और यदि उनसे भेंट करने में कोई लाभ दिखाई देगा तो आपको लिखूंगा।" उन्होंने मुझसे पूछा, "अभी कलकत्ते में ही रहेंगे ?" मैंने उत्तर दिया, "हां" मेरी धारणा है कि सी० एफ० ए० का उनसे मिलना निरर्थक होगा। कहना तो यह चाहिए कि वह बना-बनाया खेल बिगाड़ देंगे।

मैं इन लोगों के साथ घनिष्ठता बढ़ाना चाहता हूं, जिससे बापू का प्रतिनिधित्व अच्छी तरह किया जा सके। ऐसा किया भी जा सकता था, पर इसके लिए अनुकूल अवसर दिखाई नहीं देता है। यदि मैं व्यवस्थापिका सभा में होता तो बात दूसरी होती। पर इस समय तो मैं अपने निजी ढंग से काम कर रहा हूं और स्थिति को अपने ही ढंग से चलने देना चाहता हूं।

एक सप्ताह-भर सोच में पड़े रहने के बाद मैंने कल यह निश्चय किया कि मैं इसी ढंग से सेम्युअल होर को भी लिखूं। मैं समझता हूं कि मौजूदा हालत में सरकार के लिए यह सम्भव नहीं कि वह बापू के साथ विधान-सम्बन्धी मामलों पर बातचीत शुरू करे और इसलिए मैं इस बात पर जोर नहीं दे रहा हूं। मैं तो केवल इस बात पर जोर दे रहा हूं कि वे लोग बापू को समझें और उनके व्यक्तिगत संपर्क में आवें। मेरे विचार में ऐसा करने से बाकी सब गुत्थियां अपने-आप सुलझ जायंगी। बापू और सरकार के बीच केवल बापू ही मध्यस्थ बन सकते हैं।

संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट में कुछ नहीं रखा है। उसकी सिफारिशों का मतलब केवल इतना ही है कि स्वामी अपने नौकर को ऐसे अधिकार सौंपे जो इच्छानुसार छीने जा सकें। पर यदि सरकार और बापू के बीच उचित समझौता हो जाय तो यह बात भी हमें स्वराज्य के निकट ले जा सकती है और कुछ समय के बाद बेहतर विधान प्राप्त करने में हमारी सहायक हो सकती है। इसलिए बापू जिसे हृदय-परिवर्तन कहते हैं, उसे मैं वैधानिक मामले की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता हूं।

मैंने बड़े विश्वस्त सूत्र से सुना है कि वाइसराय भवन में यह बड़ी जबर्दस्त धारणा है कि बापू गांवों में यह सारा संगठन-कार्य इसीलिए चालू कर रहे हैं कि बाद में सविनय अवज्ञा के आन्दोलन में गांवों के लोगों को भी सम्मिलित कर सकें।

मुझे यह जानकर खुशी हुई है कि बापू केवल मेरी खातिर नहीं आ रहे हैं। यदि ऐसा होता तो मुझे बड़ा संकोच होता। अब कुछ दिन उनके संसर्ग का आनन्द

लेने की आशा है; पर क्या लोग उन्हें शांति से रहने देंगे ?

आपका
घनश्यामदास

राजाजी को भ्रम हो गया कि मैं बीमार हूं उन्होंने मुझे मेरे स्वास्थ्य के बारे में एक पत्र लिखा और मैंने निम्नलिखित उत्तर दिया :

कलकत्ता
२० सितम्बर, १९३४

प्रिय राजाजी,

आपके पत्र के लिए धन्यवाद।

मैं थोड़े या बहुत समय के लिए खाट पर बिलकुल नहीं पड़ा। हां, तीन-चार दिन तक आराम जरूर किया, पर मुझे अपने घर में घूमने-फिरने की पूरी आजादी थी। मुझे आफिस या कलकत्ते के बाहर नहीं जाने दिया गया, क्योंकि डाक्टरों को भय था कि कोई रोग न घेर ले।

आपके दिल्ली जाने की खबर सुनी और संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट पर आपकी प्रेस मुलाकात भी पढ़ी। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आपने उसे वर्तमान शासन-व्यवस्था से भी गया-बीता बताया। मैं तो समझे बैठा था कि हम दोनों इस मामले में सहमत हैं कि उसकी सारी बुराइयों को ध्यान में रखते हुए भी वह वर्तमान शासन-व्यवस्था से बुरी नहीं है। हो सकता है, आपकी स्पीच की गलत रिपोर्ट ली गई हो। मेरी अपनी राय तो यह है कि इस समय जिस चीज की सबसे अधिक आवश्यकता है, और जो सम्भव भी है, वह वैधानिक परिवर्तन नहीं, बल्कि वर्तमान वातावरण में परिवर्तन है। यदि दोनों ओर का वातावरण मैत्रीपूर्ण हो और ब्रिटेन की ओर से सद्भावना प्रकट की जाय तो असंतोषजनक होते हुए भी वर्तमान शासन-व्यवस्था अच्छी तरह अमल में लाई जा सकती है। पर यदि वातावरण में सुधार नहीं हुआ तो इससे भी अच्छी शासन-व्यवस्था को अमल में नहीं लाया जा सकता। अतएव मैं तो इस बात की अपेक्षा कि कितनी प्रगति हुई, वातावरण को अधिक महत्त्व देता हूं।

अगाथा का कहना है कि आपको लंदन जाना चाहिए। स्वयं मेरी राय भी यही है कि अच्छे-से-अच्छे इरादे लेकर इधर-उधर फिरने और कुछ हासिल न कर सकने वाले श्री एण्ड्रयूज की अपेक्षा आपका और वल्लभभाई का लंदन जाना कहीं अच्छा रहेगा। इस समय श्री एण्ड्रयूज मेरे पास ही हैं, और वाइसराय से मिल रहे हैं। वाइसराय से मिलने के लिए भूलाभाई सबसे उपयुक्त हैं, और अब तो उन्हें वैधानिक मर्यादा भी प्राप्त है, इसलिए उनके जाने से कुछ लाभ भी निकलेगा।

आशा है, लक्ष्मी और बच्ची दोनों सकुशल हैं। देवदास भी एक दूसरे तुषार-

कान्ति होते जा रहे हैं, जो दिन-भर 'पत्रिका' के लिए परिश्रम करते हैं और रात को उसके स्वप्न देखते हैं।

आपका
घनश्यामदास

सर सेम्युअल का उत्तर नये वर्ष के बिलकुल शुरू में आया। उस पर ४ जनवरी १९३५ की तारीख पड़ी हुई है :

(निजी)

प्रिय श्री बिड़ला,

मुझे फिर से आपका पत्र पाकर खुशी हुई। मेरे भाषण के बारे में आपने जो कुछ लिखा है उसके लिए अनेक धन्यवाद। विधान के सवाल पर आपकी और मेरी राय एक नहीं है। फिर भी यह अच्छी बात है कि हम एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझ लें। यह तो स्पष्ट ही है कि आपके विचार में संरक्षणों की बात प्रमुख है। यहां हम लोगों को बड़ी बात यह मालूम देती है कि स्वराज्य का क्षेत्र कितना विस्तीर्ण हो रहा है। कठिनाई की—बहुत बड़ी कठिनाई की—बात यह है कि लोगों को यह कैसे समझाया जाय कि संरक्षण काफी ठोस है। और वे सचमुच के संरक्षण हैं, केवल कागजी नहीं। यहां कुछ आदमी ऐसे हैं, जो यह मानने को कभी तैयार न होंगे, पर मैं समझता हूं कि ऐसे समझदार लोगों की संख्या अब बहुत अधिक हो गई है जो इस बात पर विश्वास करने लगे हैं। ये वे लोग हैं जो सारी समस्या पर गम्भीरता के साथ विचार करते हैं और इस बात के लिए उत्सुक हैं कि भारत के साथ उचित व्यवहार किया जाय। हमारी चेष्टाओं के फलस्वरूप आजकल यहां जो लोकमत तैयार हुआ है, उसे अभी पिछले दिनों हमारे एक चोटी के राजनैतिक लेखक ने इन शब्दों में व्यक्त किया : "जहां एक ओर हमने स्वतन्त्र संस्थाएं प्रदान की हैं, वहां संरक्षणों के रूप में भारत में ब्रिटिश राज्य-सम्बन्धी एक नई भावना की रूपरेखा तैयार हो रही है। हम आजादी देने के साथ-ही-साथ उसके खतरों का बीमा भी कर रहे हैं।" मुझे उम्मीद है कि आप व्यापारिक भाषा में व्यक्त किये गए, इन अंतिम शब्दों को पसन्द करेंगे। मैं चाहता हूं कि आप और आपके मित्र इस मामले को इसी दृष्टिकोण से देखें। यहां की आम भावना सोच-समझकर काम करने की है। आप शायद इसे सतर्कता कहेंगे, किन्तु निश्चय ही इसमें अनुदारता की भावना का समावेश नहीं है। यह बात भारत के कुछ लोग नहीं समझ रहे हैं, लेकिन मुझे अब भी उम्मीद है कि यह सबकुछ आपको जैसा प्रतीत हो रहा है, अन्त में वह उससे अच्छा सिद्ध होगा।

आपका
सेम्युअल होर

इस पत्र को पाते ही मैंने फिर लिखा :

१९ जनवरी, १९३५

प्रिय सर सेम्युअल होर,

आपके ४ जनवरी के पत्र के लिए धन्यवाद। मुझे ऐसा लगता है कि अपने पिछले पत्र में मैं अपने को पूरी तरह स्पष्ट नहीं कर पाया, नहीं तो आप यह न कहते कि मेरे चित्त में संरक्षण की बात ही सबसे मुख्य है। मैं संरक्षणों से बिलकुल भयभीत नहीं हूं। भारत के हित में भी कुछ-न-कुछ संरक्षण की तो आवश्यकता होगी ही, पर मैं यह नहीं कह सकता कि रिपोर्ट में जिन संरक्षणों की व्यवस्था की गई है वे भारत के लिए हितकर हैं। इसके अतिरिक्त रिपोर्ट में इसका कोई भी उल्लेख नहीं है कि अन्तिम लक्ष्य की ओर अगला कदम क्या होगा। यह कोई साधारण त्रुटि नहीं है। फिर भी मैं जानता हूं—और मैंने अपने पिछले पत्र में भी माना था—कि आपकी अपनी कठिनाइयां हैं। मैं यह भी मानता हूं कि अब जब कि पांसा फेंका जा चुका है, मेरा आपसे यह कहना कि आप अपनी योजनाओं में भारतवासियों के मत के अनुकूल परिवर्तन कर दें, शायद तथ्य की ओर से आंखें बन्द करने के समान होगा। इसलिए अपने पिछले पत्र में मैंने आपसे जो बात कहनी चाही थी वह यह थी कि संरक्षणों का रूप चाहे कुछ भी हो, उनके पीछे यदि सच्ची सहानुभूति और सद्भावना होगी तो उनसे प्रगति में बाधा नहीं पड़ेगी। मैं आपका यह कथन स्वीकार करने को तैयार हूं कि योजना में अनुदारता की नहीं, बल्कि सोच-समझकर काम करने की भावना है। पर क्या आप यह नहीं चाहेंगे कि भारतवर्ष के सभी अच्छे व्यक्ति आपसे सहमत हों और कह उठें, "विधान वैसा तो नहीं है जैसा हम चाहते हैं, फिर भी निर्माण के उद्देश्य को सामने रखकर हम इसे पूरी ईमानदारी के साथ चलाने की चेष्टा करेंगे, क्योंकि लिखित रूप में जिस वस्तु का अभाव रह गया है उसकी पूर्ति भावना के द्वारा हो जायगी।" मैं चाहता हूं कि आपके शासन-कार्य में जो नये साझी बनने वाले हैं (अर्थात् भारतवासी) उन्हें उनके ब्रिटिश साझी स्वयं यह विश्वास दिलावें कि वे भारत के साथ न्याय करना चाहते हैं और इस मामले में उदारता की कमी नहीं है। मैं ये बातें अनिश्चित विचारों वाले लोगों की तरह नहीं लिख रहा हूं, बल्कि एक ऐसे व्यवहारी कामकाजी व्यक्ति की हैसियत से लिख रहा हूं, जिसे इस बात का विश्वास है कि सद्भावना मौजूद रहेगी तो यह काम पूरा हो सकता है और अवश्य पूरा होना चाहिए। कभी-कभी तो मैं यह महसूस करता हूं कि मैं लन्दन जाकर और आपसे मिलकर आपसे भी अपना यह दृष्टिकोण मनवाऊं कि पारस्परिक सद्भावना से बुरे संरक्षण भी खतरों के लिए बीमे का काम कर सकते हैं, जबकि मानवीय भावनाओं के अभाव में अच्छे संरक्षण भी शांति और सहज कार्य-संचालन के मार्ग में बाधक सिद्ध होंगे।

मैंने यह सबकुछ आपके पिछले पत्र की स्पष्टवादिता से प्रोत्साहित होकर ही लिखा है और मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि मित्रता की भावना उत्पन्न करने के लिए आप जो भी कदम उठायेंगे, उसमें आपको मेरा पूरा सहयोग मिलेगा। इस भावना का भारतवर्ष के आजकल के वातावरण में अभाव-सा है। भाग्य ने दोनों देशों को एक साथ बांध दिया है, इसलिए यह भावना नितान्त आवश्यक है।

आपका
जी० डी० बिड़ला

पिछले अध्याय में मैंने होम मेम्बर सर हैनरी क्रेक के साथ ३० जून सन् १९३५ को की गई अपनी मुलाकात की चर्चा की थी। इस बात का दृष्टांत देने के लिए कि व्यक्तिगत सम्पर्क के महत्त्व में मेरा कितना दृढ़ विश्वास रहा है और किस प्रकार मैं हर सम्भव अवसर पर इसकी आवश्यकता पर जोर देता रहता हूं, मैं उक्त मुलाकात का विवरण कुछ विस्तार के साथ देना पसन्द करूंगा :

"आदमी ६० वर्ष के लगभग है। शक्ल-सूरत से निश्चल और ईमानदार दिखाई दिये। आरम्भ ही में भेंट करने को आने के लिए धन्यवाद दिया। बोले कि उन्हें वाइसराय से पता चला है कि मेरा उन लोगों से मतभेद है, जिनके विचार में प्रस्तावित सुधार मांटेग्यू सुधारों से भी गये-बीते हैं। मैंने कहा, "सो तो है, पर मेरी सम्मति अमर्यादित नहीं है। मैंने तो वाइसराय से कहा भी था कि मैं अबतक जिन लोगों से मिला हूं उनमें से एक भी तो ऐसा नहीं है, जिसका यह विचार न हो कि प्रस्तावित सुधार मांटेग्यू-सुधारों से भी गये-बीते हैं, और यदि मेरा इन लोगों से मतभेद है तो केवल मेरी इस धारणा के कारण कि यदि दोनों पक्षों ने सद्भावना और सहानुभूति का परिचय दिया तो इन प्रस्तावित सुधारों के द्वारा हम अपने लक्ष्य-स्थान तक पहुंच सकते हैं।" मैंने कहा, "मैं तो रिपोर्ट को जांचने की कसौटी उसकी सामग्री को नहीं, बल्कि उसे जिसे नीयत के साथ कार्यान्वित किया जायगा, उसे मानूंगा। यदि ब्रिटेन ने नेकनींयती से काम नहीं लिया तो संरक्षण मार्ग के रोड़े-मात्र सिद्ध होंगे, और यदि नेकनीयती और सहानुभूति के दर्शन हुए तो यही संरक्षण खतरे का बीमा सिद्ध होंगे।" उन्होंने कहा, "मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि हार्दिक सहानुभूति और नेकनीयती मौजूद है। मैं चर्चिल और उसके अनु-यायियों की तो बात नहीं कहता, पर अनुदार दल में युवक समाज काफी संख्या में है और उन लोगों की सहानुभूति वास्तविक है। वे अनुभव कर रहे हैं कि वे भारी अधिकारों का त्याग कर रहे हैं। संरक्षण केवल जोखिम के अवसर के लिए हैं, और मैं तो नहीं समझता कि उन्हें कभी काम में लाया जायगा। यदि भारत ने इन्कार किया तो इससे बड़ी गलती दूसरी नहीं होगी। इसमें संदेह नहीं कि योजना का

असन्तोषजनक पहलू भी है। हमें तो वह तक नहीं मिला जो हम—अर्थात् सरकार—चाहती थी। अंग्रेज लोग कांग्रेसियों के उद्‌गारों से सशंकित हो उठे थे, इसीलिए इन संरक्षणों का जन्म हुआ। पर आप श्री गांधी को आश्वासन दीजिए कि हम हृदय से भारत की भलाई करना और श्री गांधी का सहयोग प्राप्त करना चाहते हैं।" मैंने उत्तर दिया, "मैं आपका आश्वासन स्वीकार करने को तैयार हूं और यह भी मानने को तैयार हूं कि आप सब लोग सहानुभूति रखते हैं और भलाई करना चाहते हैं। पर जब मैं गांधीजी के चरणों में जाकर बैठता हूं तो देखता हूं कि वह भी देश के कल्याण के लिए सहयोग करने को अत्यन्त उत्सुक हैं। जब मैं देखता हूं कि यहां भी मेल-मिलाप की इच्छा है, और वहां भी वैसी ही इच्छा है, पर तो भी खाई बदस्तूर है तो मेरा आश्चर्य-चकित होना स्वाभाविक ही है। यदि आप गांधीजी की ओर मैत्री का हाथ नहीं बढ़ा सकते हैं तो आपकी मेल-मिलाप सम्बन्धी अभिलाषा में कोई-न-कोई त्रुटि अवश्य है।" उन्होंने उत्तर दिया, "आपकी बात मेरी समझ में नहीं आई। क्या आप यह चाहते हैं कि वाइसराय श्री गांधी से मिलें? हिज एक्सीलेन्सी उनसे मिलना तो चाहते हैं, पर व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों ने बहिष्कार करके नई जटिलताएं उत्पन्न करदी हैं। यदि आप इस सम्बन्ध में कुछ कर सकें तो बड़ी बात हो, क्योंकि उससे सहायता मिलेगी।" मैंने कहा, "इसके लिए आपको भूलाभाई से बात करनी चाहिए, परन्तु व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकालने से पहले आप इस बात की ओर ध्यान न देकर कि उन्होंने क्या किया है; इस बात की ओर ध्यान दें कि उन्होंने क्या कुछ नहीं किया है।" और मैंने बताया कि किस प्रकार व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों ने वाइसराय की स्पीच के समय मौजूद न रहने का निश्चय किया था। वह काफी प्रभावित हुए।

"मैंने कहा, "गांधीजी की न्यायप्रियता का एक और उदाहरण लीजिए। उन्होंने जान-बूझकर ६-१/४ प्रतिशत की छांट मंजूर कर ली, जिससे पता चलता है कि समझौते और रचनात्मक कार्य में उनका कितना विश्वास है। सर हैनरी क्रेक, आप जैसे आदमी के सम्बन्ध में, जिसने हजारों आदमियों की खोपड़ियां तोड़ दीं हैं और जिसने आर्डिनेन्स जारी किये हैं, पिस्तौल और तलवार हाथ में लेकर चलने की कल्पना आसानी से की जा सकती है। पर जब मैं आपसे मिलता और बात करता हूं तो आपको स्पष्टवादी और ईमानदार आदमी पाता हूं। आप गांधीजी और उनका अनुसरण करने वालों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की बातें सुनते रहते हैं और उनके सम्बन्ध में आपके मन पर संदेह के बादल छाये रहते होंगे। आप यह भूल जाते हैं कि मनुष्य मनुष्य ही है, उसके पास हृदय है, और उसमें भाव उठते हैं। क्या आपने कभी गांधीजी के हृदय को स्पर्श करने की चेष्टा की है?" उन्होंने कहा, "हां, मैं मानता हूं कि यह सबकुछ बड़े परिताप का विषय है, पर

आप मुझे यह बताइये कि सुधारों के सम्बन्ध में श्री गांधी के क्या विचार हैं ?" मैंने उत्तर दिया, "आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि उन्होंने अभी रिपोर्ट पढ़ी तक नहीं है और यह उनके अनुरूप ही है। वह बड़ी-बड़ी चीजों को साधारण-सी घटनाओं से जांचते हैं। यदि उन्हें छोटी-छोटी चीजों में उदारता के दर्शन नहीं हुए तो वह स्वगत कहेंगे, "रिपोर्ट में भी उदारता के दर्शन होने की क्या आशा है ?" पर मैं उनकी विचारधारा के सम्बन्ध में एक बात कह दूं। उनके पास लोग-बाग आते हैं और कहते हैं कि प्रस्तावित सुधार मांटेग्यू-सुधारों से भी गये-बीते हैं और वह उनकी बात का अनुमोदन करते हैं। और जब मैं उनसे कहता हूं कि यदि दोनों ओर सहानुभूति और सदाकांक्षा प्रचुर मात्रा में मौजूद रहे तो आयोजित योजना को व्यवहार में लाया जा सकता है, तो वह मेरी बात का भी अनुमोदन करते हैं, और उनके इस रवैये में किसी प्रकार का विरोधाभास भी नहीं है। वह अपना दृष्टिकोण इस प्रकार समझाते हैं : 'जब मांटेग्यू ने अपने सुधारों का श्रीगणेश किया था तो कम-से-कम कुछ लोगों को अपना विश्वास-भाजन अवश्य बना लिया था, और उसे उनका समर्थन भी प्राप्त हुआ था। इससे पता चलता था कि उसने भारतीय जनमत को अपने साथ लेने की दिल से कोशिश की। पर इस प्रस्तावित योजना के लिए सरकार के साथ जनता का कोई भी वर्ग नहीं है। इससे पता चलता है कि सरकार को इसकी कोई चिन्ता नहीं है कि उसे जनता का विश्वास प्राप्त होगा या नहीं। इस प्रकार प्रस्तावित सुधार मांटेग्यू-सुधारों से भी गये-बीते सिद्ध हो रहे हैं।' आप साझेदारी की बात तो करते हैं, पर जो लोग आपके साथ साझे में आने वाले हैं उनके साथ आप किसी प्रकार का सम्पर्क स्थापित करना नहीं चाहते। इससे सदाकांक्षा या सहानुभूति कैसे प्रमाणित होगी ? यदि आप यह प्रमाणित कर सकें कि सदाकांक्षा और सहानुभूति तो मौजूद हैं, पर परिस्थिति ही ऐसी है कि आप आगे कदम नहीं बढ़ा सकते तो गांधीजी समस्या का हल ढूंढ़ निकालेंगे और आपकी ओर सहायता का हाथ बढ़ायंगे। तब वह इन सुधारों को वर्तमान शासन-विधान के मुकाबिले में अच्छा समझकर ग्रहण कर लेंगे। एक बार गांधीजी से स्वराज्य की परिभाषा करने को कहा गया तो उन्होंने उसकी कोई कानूनी परिभाषा करने के बजाय दस या चौदह मुद्दे रखे और उन्हें स्वराज्य का प्रतीक बताया। आपको गांधीजी की विचार-शैली का पता इसी से चल जायगा।' उन्होंने कहा, "इससे पता चलता है कि गांधीजी व्यावहारिक आदमी नहीं हैं।" मैंने उत्तर दिया, 'न, इससे पता चलता है कि गांधीजी सबसे अधिक व्यावहारिक आदमी हैं और जो लोग व्यावहारिक आदमी नहीं होते, वे लकीर के फकीर बनकर चलते हैं। गांधीजी बिलकुल भिन्न हैं, और मैं एक व्यवसायी की हैसियत से कह सकता हूं कि यदि सदाकांक्षा और सहानुभूति उपस्थित रही तो इन प्रस्तावित सुधारों तक की सहायता से लक्ष्य-स्थान तक पहुंचा जा सकता है।"

"उनकी समझ में तुरन्त ही आ गया कि उन्होंने गांधीजी को अव्यावहारिक बताकर गलती की। मैंने कहना जारी रखा, 'गांधीजी के आगमन से पहले लोगों की राजनैतिक दीक्षा विध्वंसात्मक प्रणाली में हुई थी। हमें यह सोचना बताया गया था कि राजनीति का अर्थ है सरकार की विध्वंसात्मक आलोचना करना। गांधीजी ने एक नई भावना प्रदान की। उन्होंने कहा, कातो और बुनो। अस्पृश्यता का निवारण करो, अल्पसंख्यक जातियों के साथ मेल करो,' इत्यादि-इत्यादि। जनता के सामने पहली बार रचनात्मक पहलू रखा गया। पर हमने अभीतक सरकार की प्रशंसा करना नहीं सीखा है, क्योंकि आप लोगों ने हमें अभीतक इसका मौका ही नहीं दिया। जो हो, इस प्रकार की शिक्षा बड़ी खतरनाक है। एक खास वर्ग धीरे-धीरे बढ़ रहा है, जिसका विश्वास है कि वैधानिक उपायों से अच्छी-से-अच्छी चीज भी प्राप्त नहीं करनी चाहिए। उस वर्ग की धारणा है कि वैधानिक उपायों से प्राप्त किया गया स्वराज्य भी स्वराज्य नहीं है। उनके निकट स्वराज्य से भी अधिक क्रान्ति का महत्त्व है। यह वर्ग विभिन्न श्रेणियों और सरकार के खिलाफ घृणा का प्रचार जारी रखेगा, सरकार चाहे विदेशी हो चाहे देशी[1] गांधीजी इस मनोवृत्ति के खिलाफ लड़ रहे हैं। वह हरएक कदम पर कटुता से बचना चाहते हैं। हिंसा के द्वारा प्राप्त किये गये स्वराज्य का उनके निकट कोई उपयोग नहीं है। वह तो अहिंसा को स्वराज्य से भी अधिक महत्त्व देते हैं। उनके निकटतम सहकारी उनकी नीति में आस्था रखते हैं। पर गांधीजी कितने दिन जीवित रहेंगे? यह अतीव आवश्यक है कि उनके जीवन-काल में ही ऐसा समझौता हो जाय जिसके द्वारा जनता और सरकार एक-दूसरे के निकटतम आ जायं। इस प्रकार एक दूसरे प्रकार की शिक्षा का प्रारम्भ हो जाय, जिसके द्वारा लोग यह जानना सीखेंगे कि सरकार उन्हीं की संस्था है, इसलिए उसका विध्वंस नहीं, सुधार करना चाहिए। यदि शिक्षा-प्रणाली में तुरन्त ही परिवर्तन नहीं किया गया तो बड़ा भारी अहित होगा। रक्तपातपूर्ण क्रान्ति अनिवार्य हो जायगी, और यह न केवल भारत के लिए ही, बल्कि इंग्लैंड के लिए भी घोर दुर्भाग्य की बात होगी। अनुदार दलवाले कह सकते हैं कि यह भारत का जनाजा होगा, मैं तो कहूंगा कि यह दोनों का जनाजा होगा। अकेले गांधीजी ही ऐसे व्यक्ति हैं जो न्यायपूर्ण बात के लिए अड़ सकते हैं, चाहे इससे उनकी बदनामी ही क्यों न होती हो।'

"उन्होंने कहा, "इसमें संदेह नहीं कि श्री गांधी साहस में अपना सानी नहीं रखते हैं। उनकी नेकनीयती में मुझे बिलकुल संदेह नहीं है और मैं यह स्वीकार करता हूं कि उन्होंने साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रवाह को रोक दिया है। परन्तु मान

---

१. बाद की घटनाओं ने इस कथन की सचाई को अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया।

लिया कि हम लोग श्री गांधी को अपनी नेकनीयती का विश्वास दिला सकें और उनके साथ किसी प्रकार का समझौता भी हो जाय, पर क्या देश उनकी बात मान लेगा ?" मैंने कहा, "हां, मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। और उनमें अन्याय का प्रतिरोध करने की क्षमता है, चाहे वह अन्याय स्वयं उन्हीं के आदमियों ने किया हो।" उन्होंने कहा, "मेरे पास तो कांग्रेसियों का मापदण्ड समाचार-पत्र हैं, जो कि आजकल बहुत ही खराब हैं।" मैंने कहा, "हम लोग एक दुष्ट चक्र में घूम रहे हैं। अविश्वास से अविश्वास उत्पन्न होता है। आपने अविश्वास का वातावरण उत्पन्न करके यह साबित कर दिया है कि आप इस समय जिस साझे-दारी की बात करते नहीं अघाते हैं वह तबतक मक्कारी समझी जाती रहेगी जबतक आप अपने साझियों से मिलने को तैयार नहीं होंगे।" वह बोले, "आप श्री गांधी को आश्वासन दीजिये कि वह हम सबको बहुत भाते हैं और हम उन्हें सहयोग देने को तैयार हैं।" मैंने उत्तर दिया, "मेरे संदेश पहुंचाने से क्या लाभ, जब आपको उनके सम्पर्क में आने में संकोच है !" उन्होंने पूछा, "आप यह संपर्क अभी चाहते हैं या बिल पास होने के बाद ?" मैंने कहा, "देर करने से क्या लाभ ? हम दूसरे ढंग से जनता के शिक्षण का कार्य जितनी जल्दी आरम्भ करें, हम सबके लिए उतना ही अच्छा है।" उन्होंने कहा, "सच बात तो यह है कि मुझे उनसे मिलते डर लगता है। मेरा छोटा-सा दिमाग है और मैं सीधा-सादा आदमी हूं। सम्भव है, वह मेरे बूते से अधिक सिद्ध हों।" मैंने कहा, "मुझे यह जानकर दुःख हुआ। जब आप खुद ही स्वीकार करते हैं कि वह निष्कपट और ईमानदार आदमी हैं तो आपको तो उनकी शक्ति अपनी ओर करके प्रसन्न होना चाहिए।" मैंने उन्हें यकीन दिलाया कि गांधीजी को उनके जैसा स्पष्टवादी और ईमानदार आदमी बहुत ही अच्छा लगेगा। उन्होंने पूछा, "क्या आपका सचमुच विश्वास है कि मेरे जैसा आदमी उन्हें भायेगा ?" मैंने कहा, "हां, क्योंकि मैंने आपको दिल का साफ आदमी पाया है।" उन्होंने कहा, "मेरी बात पर विश्वास करिए, मैंने भारत में ३२ वर्ष बिताये हैं, और मैं अपने-आपको एक भारतवासी कहता हूं। मैंने भारतीय भावनाओं और आकांक्षाओं का पक्ष लिया है और लेता रहूंगा। मैं नहीं कह सकता कि मैं ईमानदार हूं या नहीं, पर इतना तो मैं कह ही सकता हूं कि मैंने हमेशा स्पष्टवादी और ईमानदार होने की चेष्टा की है। आप जो-कुछ कहते हैं, मैं उस पर बड़ी गम्भीरता के साथ विचार करूंगा, और आप श्री गांधी को यह बता दीजिये कि हम लोग प्रस्तावित शासन-विधान से कहीं अच्छा शासन-विधान चाहते थे। हम लोगों ने संघर्ष किया, होर ने संघर्ष किया। पर चर्चिल के दलवालों की ओर से जो कठिनाइयां पेश की जा रही हैं वे वास्तविक हैं और उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। अनुदार दल का युवा समाज भारत की भलाई करने को सचमुच उत्सुक है। हम सबकी सहानुभूति मौजूद है, नेकनीयती

भी मौजूद है। आप यह न समझिये कि मजदूर दलवाले आपको कुछ दे देंगे।"

"इसके वाद हमने वल्लभभाई की चर्चा की। उन्होंने उनसे मिलने की उत्सुकता प्रकट की' मैंने अपने यहां ६ तारीख को संध्या के ५ वजे मुलाकात का आयोजन किया है।

"मैं अपनी धारणा के आधार पर कह सकता हूं कि ये लोग वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित करने को बड़े उत्सुक हैं, पर साथ ही हिचकिचा भी रहे हैं। उन्होंने देख लिया है कि देश उनके साथ नहीं है। उन्होंने यह भी अनुभव किया है कि गांधीजी में साहस है, ईमानदारी है और यदि विधान पर कोई आदमी समझौता कर सकता है तो अकेले वही कर सकते हैं। इससे उनमें एक नई आशा जाग्रत हो गई है। मैं समझता हूं इन लोगों का दिमाग ठीक दिशा में काम कर रहा है।"

१३. हिन्दू और मुसलमान

३० जनवरी, १९३५ को सर सेम्युअल होर ने फिर लिखा :

व्यक्तिगत

इंडिया आफिस
ह्वाइट हाल
३० जनवरी, १९३५

प्रिय श्री बिड़ला,

आपके १९ जनवरी के एक और पत्र के लिए अनेक धन्यवाद। उसमें जो उद्गार व्यक्त किये गए हैं उन्हें पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई। भारत को हमारी वास्तविक सदाकांक्षा का विश्वास दिलाना कठिन कार्य अवश्य दिखाई देता है। मुझे विश्वास है कि उसका प्रचुर भण्डार है। जो लोग हमारी वर्तमान नीति का विरोध कर रहे हैं, उनमें से अधिकांश लोग भी सदाकांक्षा की भावना से ही प्रेरित हैं। हां, उनका अपना दृष्टिकोण अवश्य है। दूसरे शब्दों में उन्हें भारत के जनसाधारण के मंगल की हृदय से चिन्ता है, और वे हमारे सुझावों का विरोध इसलिए करते हैं कि उनका सचमुच यह विश्वास है कि उनसे उस अभीष्ट की सिद्धि नहीं होगी। यदि आम आश्वासन निष्फल सिद्ध हुआ तो हमें आशा करनी चाहिए कि आप और आपके मित्र जिस सहानुभूति और सदाकांक्षा की खोज कर रहे हैं उसका प्रत्यक्ष प्रमाण उस समय मिलेगा जब शासन-विधान को प्रकृत रूप दिया जायगा। कहावत है, "खीर का स्वाद उसे खाने से ही जाना जा सकता है।" मैंने

हाल ही में आक्सफोर्ड में एक स्पीच के दौरान नवीन शासन-विधान की रूपरेखा देने की चेष्टा की थी, उसकी एक प्रतिलिपि भेजता हूं, शायद आप उसे पढ़ना चाहें। आप देखेंगे ही कि मैंने अपने पिछले पत्र में जो विचार व्यक्त किये थे इस स्पीच में उन्हें विकसित रूप दिया गया है। जिसे आप मानवी सम्पर्क कहते हैं, उसे मुझे एक से अधिक विचार-शैलियों के लोगों के साथ बनाए रखना पड़ता है। पर अगले सप्ताह बिल का द्वितीय वाचन होगा ही, उस अवसर पर मैं यथासम्भव सहानुभूति के साथ अपने दिल की बात कहने की चेष्टा करूंगा।

आपका
सेम्युअल होर

हवाई डाक द्वारा

१५ फरवरी, १९३५

प्रिय सर सेम्युअल,

आपके पत्र और आपकी स्पीच की प्रति के लिए धन्यवाद। मैंने स्पीच स्थानीय दैनिक 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में प्रकाशनार्थ भेज दी है।

आपकी दलील अच्छी तरह समझता हूं। वह इस प्रकार है : "हम लोग भारत को पर्याप्त प्रगति प्रदान कर रहे हैं, पर अभी इस बात को पूरी तौर पर नहीं समझा जा रहा है। खीर का स्वाद खाने से ही जाना जा सकता है और जब भारतवासी सुधारों को काम में लायंगे तो उन्हें हमारी नेकनीयती और सदाकांक्षा का पता चलेगा, और साथ ही वे यह भी जानेंगे कि कितनी कुछ प्रगति सम्भव है। जब आपकी ओर ऐसी भावनाएं हैं तब तो व्यक्तिगत सम्पर्क की सहायता से पारस्परिक समझौता और भी आसान हो जायगा। पर यह स्पष्ट ही है कि फिलहाल आपको परिस्थितियां इनसे अधिक और कुछ कहने की इजाजत नहीं देती हैं। मुझे तो सिर्फ इतना ही कहना है कि साझेदारी का दस्तावेज एक ऐसा कागज है, जिस पर दोनों साझियों के हस्ताक्षर किये जाते हैं। वर्तमान बिल पर केवल एक ही दस्तखत है। यदि आप भले फल का कामना करते हैं तो मेरा निवेदन है कि, आज नहीं तो कल, आपको अपने साझियों के दस्तखत लेने ही पड़ेंगे। लंकाशायर-पैक्ट के सम्बन्ध में सबसे बड़ी शिकायत यही है कि वह सम्मत पैक्ट नहीं था, लादा हुआ पैक्ट था। आशा है, आप असल सुधारों के सम्बन्ध में इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न नहीं होने देंगे। मैं आपको अपने विचारों से और अधिक तंग नहीं करना चाहता हूं, इसलिए मंगल की आशा करता हुआ इस विषय को यहीं छोड़ता हूं।

यह कहना अनावश्यक है कि मैंने आपके पत्र की नेकनीयती को अच्छी तरह

हृदयंगम किया है। इसीसे मुझे आशाजनक दृष्टिकोण अपनाने का साहस होता है।

सदाकांक्षाओं के साथ,

आपका

जी० डी० बिड़ला

भारतीय शासन-विधान के बनने से पहले गोलमेज परिषद् की जितनी भी बैठकें हुईं उन सभी में हिन्दू-मुस्लिम-समस्या एक जटिल प्रश्न बनी रही। सभी सम्प्रदायों के लिए एक ही निर्वाचन-सूची और एक ही निर्वाचन-क्षेत्र हो या अलग-अलग हों, या फिर चुनाव तो मिले-जुले हों, लेकिन कुछ स्थान विशेष रूप से सुरक्षित कर लिये जायं—इन सभी प्रश्नों पर बड़ी सरगर्मी के साथ विचार किया गया। दुर्भाग्यवश कोई पक्का फैसला नहीं हो सका और इसका दुःखान्तर परिणाम विभाजन के रूप में सामने आया। राजनैतिक क्षेत्र के प्रमुख हिन्दू नेता बापू की सलाह मानने को तैयार नहीं थे, यद्यपि वे उनका आदर करने का बराबर दम भरते थे। गांधीजी सोलहो आने आपसी समझौते के पक्ष में थे और हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए अपने प्राण तक न्योछावर करने को तैयार थे; पर अपेक्षाकृत अधिक सांसारिक राजनीतिज्ञ सारी समस्या को अपनी-अपनी जाति के लोगों के लिए रोटी-दाल के सवाल के रूप में देखते थे। उधर मुसलमानों की ओर से श्री जिन्ना भी अपनी बात पर पूरी तरह से अड़े हुए थे। उन्होंने मुसलमानों के प्रति बापू की मंगलकामना को दुरदुराया और उसे एक ऐसा स्वतंत्र पाकिस्तान बनाने की, जिसके वह स्वयं प्रधान हों, महत्त्वाकांक्षा-पूर्ण योजना को विफल बनाने के हिन्दू-षड्यन्त्र का एक अंग-मात्र माना। कहना तो यह चाहिए कि एक बार उनके दिमाग में इस भड़कीली योजना को प्रश्रय मिलने के बाद, विभाजन को छोड़ और किसी आधार पर समझौते की बातचीत की, और उससे संबंध रखने वाले सुझावों की, असफलता उस समय तक एक स्वयंसिद्ध बात थी, जबतक अपनी जाति के नेतृत्व की बागडोर उनके हाथ में थी। इतने पर भी बापू के कुछ इने-गिने कट्टर अनुयायियों ने समझौते की आशा नहीं छोड़ी और डा० राजेन्द्रप्रसाद ने एक मसविदा तैयार किया। इसके सम्बन्ध में मैंने २१ फरवरी, १९३५ को महादेव देसाई को एक पत्र लिखा :

प्रिय महादेवभाई,

मैंने राजेन्द्रबाबू को सलाह दी है कि यदि मुसलमान नेता इस फार्मूले को मान लें (जैसी कि आशा नहीं है) तो हिन्दू महासभा के विरोध के बावजूद हमें उसे हिन्दू जनता द्वारा स्वीकार करा लेना चाहिए। एक बार कांग्रेस निश्चित रुख अख्तियार कर ले, फिर तो परिणाम अच्छा ही होगा। यदि कांग्रेसी नेता फार्मूले

को मूर्त रूप दे देंगे तो हिन्दू महासभा भी अपने अधिवेशन में उस पर सही कर देगी। सम्प्रदायवादियों के द्वारा काफी क्षति हुई है। जबतक मुसलमान समझौते का रुख न दिखावें तबतक तो इन सम्प्रदायवादियों के प्रति सहनशीलता दिखाई भी जा सकती है, पर यदि मुसलमान समझौता करने की इच्छा दिखावें तो कांग्रेसी नेताओं को हिन्दुओं को स्पष्टरूप से बता देना चाहिए कि उनके लिए यही ठीक रहेगा। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि हिन्दू जनता उनके पीछे हो लेगी।

सस्नेह,

तुम्हारा ही
घनश्यामदास

कुछ दिन बाद मैंने इसी विषय पर बापू को भी लिखा :

ता० २६-२-१९३५

परम पूज्य बापू,

बेचारे राजेन्द्रबाबू बुरी तरह परेशान हैं। राजा नरेन्द्रनाथ और पंडित नानकचंद, इन दोनों ने तो राजेन्द्रबाबू के मसविदे को स्वीकार कर लिया है। पर बंगाली हिन्दुओं और सिखों में काफी मतभेद है। पंडितजी कुछ इनको समझाते हैं, कुछ उनको। किन्तु यह साफ जाहिर है कि जितना जिन्ना-राजेन्द्रबाबू मसविदे में है उसके बाहर जाना उनके लिए सम्भव नहीं है। मेरा खयाल है कि प्रायः लोग कायरता के शिकार बने हुए हैं। उदाहरण के लिए बंगाल के हिन्दू एम० एल० ए० वर्ग को यह चीज अच्छी लगती है, पर हिम्मत नहीं कि उसपर दस्तखत कर दें। 'अमृत बाजार पत्रिका' के सम्पादक को अच्छी लगी तो 'आनन्द बाजार पत्रिका' के सम्पादक को रुचिकर नहीं है। इधर कुछ उग्र लड़के, जो क्रान्तिकारी बताये जाते हैं, उनके सामने सब भीगी बिल्ली बन जाते हैं। नलिनी आ रहे हैं, पर पूर्वी बंगाल के होने के कारण सम्मिलित चुनाव के नाम से घबराते हैं। मंगलसिंह और तारासिंह कुछ-कुछ पसन्द तो करते हैं, पर डरते हैं। ज्ञानी शेरसिंह तो उसे छूना भी नहीं चाहते। गोकुलचंद नारंग वगैरा पसन्द करते हैं, पर सिखों से डरते हैं। यदि व्यक्तियों के दस्तखतों से ही समझौता होने वाला है तो यह समझ लेना चाहिए कि आज के वातावरण में वह प्रलयकाल तक स्वप्न बना रहेगा। हम लोग चेष्टा तो कर ही रहे हैं, पर इधर मैंने राजेन्द्रबाबू को सुझाया है कि कांग्रेस और लीग समझौता कर लें और उसे देश के सामने रख दें। यह सही है कि सरकार उस पर फिलहाल अमल नहीं करेगी, पर और कोई रास्ता भी तो नहीं है। यदि राजेन्द्रबाबू ने ऐसा किया तो मेरा खयाल है कि समझौते का पक्ष समय पाकर अत्यन्त प्रबल हो जायगा। राजेन्द्रबाबू और वल्लभभाई दोनों ही इस प्रस्ताव को पसन्द करते

हैं। देखें, क्या होता है।

हरिजन आश्रम के लिए नक्शे कमेटी के सुपुर्द हैं। पास होते ही काम शुरू हो जायगा।

मेरे भेड़-मेढ़े आस्ट्रेलिया से आ पहुंचे हैं। मैं सातेक रोज के लिए पिलानी जा रहा हूं। आपके पत्न की प्रतीक्षा करूंगा।

विनीत
घनश्यामदास

२८ फरवरी, १९३५

प्रिय महादेवभाई,

साम्प्रदायिक समझौते की वातचीत तो भंग होती दिखाई देती है। पंजाव के हिन्दू तो सुझाव के उतने विरुद्ध नहीं थे, पर मुख्य कठिनाई सिखों और बंगाल के हिन्दुओं के द्वारा उत्पन्न की गई है। बंगाली हिन्दुओं में भी जो लोग पश्चिमी बंगाल से आये हैं वे संयुक्त निर्वाचन के पक्ष में हैं। पर पूर्वी बंगाल के हिन्दू तो उसकी संभावना-मात्र से भयातुर हो गये हैं। सबसे अधिक क्षोभ की वात तो यह है कि बंगालियों में एक भी तो ऐसा नहीं है, जो जिम्मेदारी के साथ वात कर सके। जो लोग सुझाव के पक्ष में हैं उन तक में इतना साहस नहीं है कि यह वात स्पष्ट रूप से कह दें।

आज सुवह हमने एक छोटी-सी बैठक की, जिसमें राजेन्द्रवावू, भूलाभाई और वल्लभभाई थे। मैं था ही। हमने यही सोचा कि और आगे जाना ठीक नहीं रहेगा, क्योंकि हमें यह जंचा कि समझौते की वातचीत को और अधिक दिनों तक घसीटा जायेगा तो उससे मामला और भी पेचीदा हो जायगा। हम सब एकमत थे कि यदि कांग्रेस और लीग में समझौता सम्भव हो तो हमें कर लेना चाहिए। पर जिन्ना इसके लिए तैयार नहीं थे, और हमने यह भी देखा कि बंगाल के वगैर (कांग्रेसी बंगाल तक हमारा समर्थन करने को तैयार नहीं हैं) समझौता निरर्थक होगा। यह वड़ा दुःखद प्रसंग हैं, पर हमें इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। सबसे पहली वात तो यह है कि एक भी बंगाली दृढ़तापूर्वक हमारा समर्थन करने को तैयार नहीं है। यह वात बंगाल के लिए वड़ी शर्म की अवश्य है, पर कांग्रेस का दोष भी कम नहीं है। हमने बंगाल में किसी का समर्थन नहीं किया, फलतः बंगाल में हमारे दृष्टिकोण का समर्थन करने वाला एक भी आदमी नहीं है। साम्प्रदायिक समस्या वैसी-की-वैसी ही है और अपनी विफलता के फलस्वरूप हम संसार की दृष्टि में लांछित हैं।

तुमने देखा ही होगा कि सरकार ने ग्रामोत्थान के निमित्त एक करोड़ रुपये की रकम निकाली है। बापू की चेष्टाओं की वदौलत सरकार के कानों पर जूं

रेंगी तो, पर मुझे आशंका है कि यह रुपया ठीक तरह से खर्च नहीं किया जायगा। सरकार तो वस्तुस्थिति तक से अनभिज्ञ है। इसलिए सम्भव है, वह जनता के लिए भोजन और कपड़े की अपेक्षा रेडियो की अधिक आवश्यकता समझे। यह रुपया प्रान्तों के मंत्रियों द्वारा खर्च किया जायगा। यदि ग्रामोद्योग संघ इस मामले में आगे बढ़कर सरकार की सहायता करने में तत्परता दिखावे तो कैसा रहे? यदि मैं भूल नहीं रहा हूं तो जब वल्लभभाई ने गुजरात बाढ़ रिलीफ फंड का आयोजन किया था तो एक प्रकार से सरकारी चंदे पर कब्जा कर लिया था। मैं समझता हूं, यदि बापू एक बार संकल्प कर लें और प्रांतीय सरकारों और मंत्रियों के साथ ठीक ढंग से पेश आया जाय तो इस एक करोड़ की निधि को एक प्रकार से अपने अधिकार में लिया जा सकता है। यह बात बापू के सूचनार्थ है।

सस्नेह,

तुम्हारा ही
घनश्यामदास

१४. पिलानी

मेरी पिलानी वाली प्रिय योजना ने अब एक ऐसी संस्था का रूप ले लिया है कि उसके प्रारम्भिक दिनों की याद करना शायद कुछ रोचक सिद्ध हो। अब पिलानी की संस्था एक यूनीवर्सिटी कालेज के स्तर पर पहुंच गई है और राजपूताना मरु-भूमि का वह खंड गुलाब के फूल की तरह खिल उठा है; पर ऐसी स्थिति सदा से ही नहीं थी।

महादेव देसाई के नाम बापू के लिए लिखा गया मेरा एक पत्र आरम्भ तो दूसरी बातों से होता है, किन्तु शीघ्र ही उसमें पिलानी की चर्चा छिड़ जाती है। उस पत्र के पहले भाग में बंगाल सरकार का जिक्र है, जिसने उन्हीं दिनों सार्व-जनिक रूप से अपनी एक भूल स्वीकार करके उसका परिष्कार किया था। बंगाल सरकार के इस कार्य की तुलना मैंने अपने पत्र में कुछ ऐसे नेताओं के रवैये से की है, जिन्होंने यह जानते हुए भी कि जनता के दोषारोपण ठीक नहीं हैं, उनका खण्डन करने की चेष्टा नहीं की। उस समय 'नेशनल कॉल', जो अब बन्द हो गया है, मेरे खिलाफ गंदा प्रचार कर रहा था। उससे मुझे बड़ा क्लेश होता था, खास-तौर से इसलिए कि उस पत्र के डाइरेक्टरों में मेरे कुछ ऐसे मित्र थे, जो जानते थे कि इन ऊल-जलूल बातों की जड़ में हीन अर्थलोलुपता-मात्र है।

बिड़ला हाउस
नई दिल्ली
१७-१-१९३६

प्रिय महादेवभाई,

तुम्हारे पत्र के लिए धन्यवाद। इससे मेरी चिन्ता दूर नहीं हुई है। इस बार बापू के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में चिन्ता की बात यह है कि उन पर विश्राम या चिकित्सा का पूरा प्रभाव नहीं पड़ रहा है। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि वह बराबर आराम कर रहे हैं। सरदार से और बापू से कह देना कि जबतक वे पूरी तरह चंगे न हो जायं, दिल्ली बिलकुल न आवें। हां, इसमें सन्देह नहीं कि दिल्ली का जलवायु बड़ा अच्छा है, इसलिए यदि वे आवें तो केवल विश्राम के लिए आवें, और किसी काम के लिए नहीं। पर यदि अहमदाबाद उनके स्वास्थ्य के लिए अधिक अच्छा स्थान प्रतीत हो तो स्थान-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। सरदार ने मुझसे कहा है कि जब बापू अहमदाबाद में हों तो मैं भी कुछ समय के लिए आ जाऊं। मुझे ट्रस्टी की हैसियत से साबरमती आश्रम भी जाना है, पर मैं अपना कार्यक्रम कुछ समय बाद निश्चित करूंगा। यदि बापू यहां नहीं आते हैं तो फरवरी का महीना कलकत्ते में बिताऊंगा।

देखता हूं कि वे दोनों पत्र न तुम्हें रुचे, न बापू को। मैं अपने पत्र पर तुम्हारी आलोचना चाहूंगा। यदि उस पत्र की भाषा अच्छी न लगी हो तो इसका दोष मेरी मनोवृत्ति को देना चाहिए। यदि मैं उसे कुछ दूसरे ढंग से लिखता तो मैं अपने नहीं, किसी दूसरे के विचारों को व्यक्त करता। अतएव आलोचना पत्र की नहीं, बल्कि उसमें व्यक्त किये गए मेरे विचारों की है, इसलिए मैं जानना चाहूंगा कि तुम्हारी आपत्ति का विषय क्या है। इससे मेरा पथ-प्रदर्शन होगा।

रही गवर्नर के उत्तर की बात, सो मैं इस मामले में तुमसे सहमत नहीं हूं। तुम अपने लोगों से इतने कम की और विरोधियों से इतने अधिक की आशा क्यों करते हो? यदि मैं तुलना के लिए एक उदाहरण दूं तो गलत माने मत निकालना। 'नेशनल कॉल' की ही बात को लो। वह मुझे पिछले तीन साल से आए-दिन दुर्वचन कहता आ रहा है; न डा० अन्सारी ने और न किसी और डाइरेक्टर ने उस सम्बन्ध में कुछ कहा है। तुम कहोगे, और मैं तुम्हारी बात मान लूंगा, कि बेचारे राजेन्द्रबाबू तो संत हैं, पर न्याय की बात उठाने पर संतपन की ओर ध्यान नहीं दिया जा सकता। गवर्नर ने एक मामले में आपत्तिजनक अंशों को हटवा तो दिया पर इस मामले में तो डा० अन्सारी ने इस बात की ओर ध्यान तक देना जरूरी नहीं समझा। मैं किसी के खिलाफ शिकायत नहीं कर रहा हूं। तुम स्वयं जानते हो कि मैं राजेन्द्रबाबू का कितना आदर करता हूं। मेरा यह दृष्टांत देने

का उद्देश्य यही था कि हमें मानव-स्वभाव जैसा है उसे उसी रूप में लेना चाहिए और ठीक जिस प्रकार हमें 'नेशनल कॉल' के डाइरेक्टरों के प्रति सहिष्णुता का रुख अख्तियार करना चाहिए, उसी प्रकार बंगाल के गवर्नर के प्रति भी। पर मुझे तो अपने पत्र के सम्बन्ध में,या यों कहो कि अपनी मनोवृत्ति के सम्बन्ध में, तुम्हारी आलोचना की दरकार है।

मैं पिलानी के सम्बन्ध में 'हरिजन' में कुछ लिखना नहीं चाहता हूं। ऐसा करना बेकार की इश्तहारबाजी होगी, क्योंकि सारा काम अभी प्रयोग-मात्र है। हमने गत वर्ष तय किया था कि स्कूल और कालेज के सभी ८०० लड़कों को आध सेर दूध मिला करे और जो लड़के मूल्य न दे सकें उन्हें दूध मुफ्त दिया जाय। बहुत कोशिश करने के बावजूद पंड्या २० से अधिक गायें एकत्र नहीं कर सका और वे सभी अच्छी नस्ल की नहीं थीं। गांव वाले उसे खेती-मास्टर कहते हैं। जब वह हिसार और रोहतक से बुड्ढी गायें लाया तो उन्होंने काफी दिल्लगी की। दूध की समस्या ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। इसके विपरीत गांव में तुम्हें रुपये का २६ पौंड दूध मिल सकता है। इसलिए पंड्या से कहा गया कि जबतक पर्याप्त संख्या में गायों का प्रबन्ध न हो जाय, दूध खरीदकर लड़कों को पिलाया जाय, इससे पंड्या को बड़ी परेशानी हुई है। लगभग ६ हन्डर दूध खरीदना, फिर उसे उबालना और इसके बाद उसे लड़कों में बांटना उसके लिए उतनी ही बड़ी समस्या हो गई होगी जितनी मेरे लिए अपनी किसी बड़ी मिल की समस्या हो। उसकी अस्त-व्यस्तता विनोद की सामग्री है। पर लड़कों को दूध मिलना शुरू हो गया है। हम लोगों को आशा है कि आगामी १० दिनों में हर कोई दूध पा सकेगा।

हम लोग हर ६ महीने बाद डाक्टरी परीक्षा कराते हैं। इसलिए खुराक के वैज्ञानिक नियमन का परिणाम देखने की चीज होगी। रसोई घर में मिर्चों का निषेध है और हम लोग रसोई घर का प्रबन्ध लड़कों को स्वयं अपना करने देने के बजाय उस पर नियन्त्रण करने की बात सोच रहे हैं। सम्भव है, हमें पाकशास्त्र में दीक्षा देने के लिए कक्षा खोलनी पड़े।

हरिजन होस्टल उन्नति कर रहा है। एक ऊंची कक्षा का विद्यार्थी एक बड़े होस्टल में रख दिया गया है, जिसमें सवर्ण हिन्दू रहते हैं। इस हरिजन लड़के के आगमन पर अन्य लड़कों ने किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की।

इस समय हमारे पास १५० भेड़ें हैं। उन चार आस्ट्रेलियन भेड़ों ने दो मेमने दिये और दो और देनेवाले हैं। इस प्रकार हमारे पास शीघ्र ही लगभग १० आस्ट्रेलियन भेड़ें हो जायंगी। आस्ट्रेलियन दुम्बों को बीकानेरी भेड़ों के साथ लगाया गया, जिसके फलस्वरूप एक कलमी नस्ल तैयार हो रही है। पर पंड्या ने प्रत्येक भेड़ की ऊन का ठीक-ठीक ब्योरा नहीं रखा, जिसके फलस्वरूप हम लोग

सही पता लगाने में असमर्थ हैं कि बीकानेर और हिसार की भेड़ों के मुकाबिले में आस्ट्रेलियन भेड़ें कितनी ऊन देती हैं।

आर्थिक दृष्टि से डेयरी असफल सिद्ध नहीं हुई है। अब हम छीजन को हिसाब से अलग रखें तो हमें किसी प्रकार का घाटा नहीं हुआ है। हम लोग दूध)।।। पौंड के हिसाब से बेचते हैं और इस हिसाब से प्रति गाय पर आय और व्यय १० रुपया मासिक आता है। यदि हम छीजन को हिसाब में नहीं लेते हैं तो हमें नवीन उत्पादन को भी हिसाब में नहीं लेना है।

मैं जिस होल्स्टीन नस्ल के सांड को इंग्लैंड से लाया था उसने गायों के साथ जोड़ी करना शुरू कर दिया है। बड़ा बढ़िया जानवर है और उसकी गांव में बड़ी चर्चा है। मुझे लार्ड लिनलिथगो ने इंग्लैंड में बताया था कि दूध की दृष्टि से होल्स्टीन नस्ल बड़ी सफल सिद्ध होगी। मैं यह प्रयोग इसीलिए कर रहा हूं। साहबजी महाराज की भी यही सम्मति है। परमेश्वरी प्रसाद इसके विरुद्ध हैं और पंड्या की इस नस्ल के सम्बन्ध में कोई खास सम्मति नहीं है।

रही कृषि-सम्बन्धी प्रयोग की बात, सो गत वर्ष हमें १,५००) रुपये का घाटा हुआ। हमें पता चला कि हम ४) रुपये प्रति बीघा कृषि में खो रहे हैं, इसलिए हमने इस लाइन को छोड़ने का निश्चय कर लिया है। अच्छा बीज तैयार कराने के लिए सिर्फ ५० बीघा जमीन जोती-बोई जायगी।

इस समय हम लोग दस्तकारी के निम्नलिखित विभाग चला रहे हैं—बढ़ई का काम, टोपी बनाना, चमड़े का काम, कालीन बुनना, कम्बल बुनना, रंगना, छांटना और छापना। इस वर्ष हम निम्नलिखित विभागों की वृद्धि कर रहे हैं—दर्जी का काम, राज का काम, जिल्दसाजी, खिलौने बनाना और मधुमक्खी-पालन। कुछ समय बाद हम मुर्गियों का फार्म भी खोलने का विचार रखते हैं। हमने यह तय किया है कि अगले वर्ष से निम्नतम श्रेणी से लगाकर इन्टरमीडियेट तक के लड़के को उपर्युक्त विषयों में से कोई एक या दो विषय अवश्य लेने पड़ेंगे। प्रत्येक सप्ताह में लड़के को कम-से-कम ३ घंटे इनमें से लिखे हुए विषयों को सीखने में लगाने पड़ेंगे, जिसके फलस्वरूप जब लड़का इण्टर के बाद छोड़ेगा तो उसे एक-दो विषयों का ज्ञान अवश्य रहेगा। इससे उद्योग-धन्धा विभाग स्वावलम्बी भी हो जायगा, क्योंकि हम लोग विद्यार्थियों से निःशुल्क काम लेंगे। इस समय हमारा खर्च ८०,०००) रुपये है। तुम कहोगे, यह बहुत है, पर यदि ८०० लड़कों को अच्छी शिक्षा देनी है तो १००) रुपये प्रति लड़का अधिक नहीं है। कुछ समय बाद हमें लड़कों से शुल्क भी मिलने लगेगा, जिससे कुछ सहायता मिल सकती है। लड़कों की शारीरिक अवस्था बहुत अच्छी है। चार बातें अनिवार्य हैं : सामूहिक प्रार्थना, सामूहिक व्यायाम और खेलकूद, दुग्धपान और चुनी हुई पुस्तकों का स्वाध्याय। पर यद्यपि लड़कों का स्वाध्याय बड़ा अच्छा है, और उनका परीक्षा-

फल संतोषजनक होता है, तथापि मैं यह कहने में असमर्थ हूं कि वे चरित्र के मामले में अन्य कालेजों के लड़कों से बढ़कर हैं, अथवा नहीं। कुछ विद्यार्थियों का कहना है कि बड़े शहरों के अनेक कालेजों के लड़के मद्यपान की कुटेव डाल लेते हैं। हमारे गांव में तो एकमात्र पेय पदार्थ या तो जल है या दूध।

कालेज, स्कूल और बालिकाओं के स्कूल के अतिरिक्त हम लोग इस समय १५ ग्राम-पाठशालाएं भी चला रहे हैं। अगले वर्ष उनकी संख्या २० हो जायगी। इस वर्ष हमने यह भी निश्चय किया है कि ग्राम-पाठशालाओं के शिक्षक हरेक घर में फलों के वृक्ष लगावें। मैं इस बसन्त में दिल्ली से नारंगी के २,००० पौधे भेज रहा हूं। राजपूताना में नारंगी खूब फलती है। पन्द्रह वर्ष पहले हमने प्रयोग किया और स्वयं मेरे बाग में, २,००० पौधे लगाये गये। इनमें से २०० पौधों ने तो इस वर्ष फल भी दिये। यदि हम ५० मील की परिधि में प्रत्येक घर में एक पौधा लगा सकें तो दर्शनीय दृश्य होगा।

सरदार को मेरा प्रणाम कहना। उनका पत्र अभी मिला। उन्हें अलग से उत्तर नहीं दे रहा हूं। शायद यही चिट्ठी काफी होगी।

तुम्हारा ही
घनश्यामदास

१५. लंदन में सम्पर्क-स्थापन-कार्य

मैं अब भी यही चाहता था कि एक ओर ब्रिटिश नेताओं और दूसरी ओर गांधीजी तथा कांग्रेसी नेताओं के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित हों और इसी उद्देश्य से सन् १९३५ की गर्मियों में लंदन गया। इस यात्रा के निमित्त मुझे बापू और बंगाल के गवर्नर का आशीर्वाद प्राप्त था और दोनों ने ही मुझे महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के नाम परिचय-पत्र दिये थे। मेरी पहली मुलाकात इंडिया आफिस के सर फिण्डलेटर स्टीवार्ट के साथ हुई। मैंने उनका रुख बहुत ही सहानुभूतिपूर्ण पाया। यह स्पष्ट था कि उनके हृदय में गांधीजी के लिए कुछ प्रेम है। गांधीजी से उनकी मुलाकात भारत के अलावा लंदन में भी हुई थी, जहां वह गोलमेज परिषद् में भाग लेने गये थे। १४ जून को मैंने गांधीजी को इस मुलाकात की पूरी रिपोर्ट लिख भेजी। यहां उसके अंतिम पैरे का उल्लेख करना ही काफी होगा :

"उन्होंने आपके स्वास्थ्य के बारे में पूछताछ की और कहा कि आज भी उनको उस रविवार के उन तीन सुखद घंटों की याद है जब आपसे उनकी बातचीत हुई

थी। मैंने कहा, "यह तो मेरे पक्ष में एक बहुत ही अच्छा तर्क है। राजनीति की दृष्टि से आप दोनों एक-दूसरे से सहमत नहीं हैं, फिर भी आपको उनकी भेंट की सुखद याद है। यह व्यक्तिगत सम्पर्क का ही परिणाम है। इस समय इस व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव-सा है। हमें इसी के जरिये मित्रता स्थापित करनी चाहिए।" वह मुझे फिर लिखेंगे।"

कुछ दिन बाद मैं श्री बटलर से मिला। यह इस समय ब्रिटेन के अर्थमंत्री हैं, तब इंडिया आफिस में भारत के उपसचिव थे। उनसे जो बातचीत हुई उसकी भी लम्बी रिपोर्ट मैंने गांधीजी को भेजी। मुझे इसमें संदेह नहीं रह गया था कि लंदन में रहने वाले अंग्रेजों को सचमुच इस बात का पक्का विश्वास है कि भारतीय शासन बिल पास होना भारत में स्वायत्त शासन की दिशा में एक बहुत बड़ा कदम होगा। उधर भारत में ठीक इसके विपरीत यह भावना थी कि यह कानून पीछे ले जाने वाला कदम होगा। श्री बटलर इस तथ्य को समझ गये और हमने गति-अवरोध का अंत करने वाले कितने ही सुझावों पर विचार-विमर्श किया। मेरा एक सुझाव यह था कि भारत में जो नया वाइसराय भेजा जाय उसे भारतवासियों के साथ तुरन्त सम्पर्क स्थापित करने की पूरी ताकीद रहे। दूसरा सुझाव यह था कि या तो स्वयं भारत सचिव ही, नहीं तो उपसचिव, भारत आकर व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करें। मैंने उनके सामने एक और विकल्प रखा। वह यह था कि गांधीजी को लंदन बुलाया जाय और यदि सम्भव हो तो उनके बुलाने का कारण कुछ और बताया जाय, यद्यपि असली उद्देश्य बातचीत करना हो। श्री बटलर ने इस मामले में काफी सहानुभूति दिखाई। उन्होंने कहा, "हमें यह देखकर बड़ी निराशा होती है कि जिस बिल के लिए हमने अपने स्वास्थ्य, अपने मित्रों और अपने समय की चिन्ता नहीं की, उसे एक पीछे ले जाने वाला कदम समझा जा रहा है। सर सेम्युअल होर का स्वास्थ्य बिगड़ ही गया। मैं काम के बोझ को इसलिए वहन कर पाया कि मैं जवान था, फिर भी मुझ पर बड़ा श्रम पड़ा, और उसका पुरस्कार यह मिल रहा है!" उन्होंने कहा कि लार्ड हेलीफैक्स ने तो भारत-सम्बन्धी कार्य को अपने जीवन का मिशन बना लिया है। उन्होंने जोर दिया कि मैं जल्दी-से-जल्दी प्रधान मंत्री श्री बाल्डविन और भारत मंत्री लार्ड जेटलैंड से मिलूं।

सर जार्ज शुस्टर से भी मेरी बड़ी मनोरंजक बातचीत हुई। इस मुलाकात के सम्बन्ध में मैंने गांधीजी को अपनी रिपोर्ट में लिखा था, "मैंने उन्हें बताया कि मैं अपने गांव में क्या-कुछ कर रहा हूं। उन्होंने बड़ी दिलचस्पी दिखाई और कहा कि उन्हें दूध के पाउडर से ताजा दूध ज्यादा अच्छा लगता है। उन्होंने मुझसे इसके बारे में लार्ड लिनलिथगो से बातचीत करने को कहा। उन्होंने यह भी कहा, "जब कभी सहायता की जरूरत हो, आ जाइए, मुझसे जो कुछ भी बन पड़ेगा, मैं उठा नहीं रखूंगा।"

इसके बाद जल्दी-जल्दी कई मुलाकातें हुईं। ये मुलाकातें ज्यादातर भोजन के समय ही होती थीं। पहले सर बैसिल ब्लेकेट से; फिर अनुदार दल के सदस्य सर हैनरी पेजक्रॉफ्ट से और फिर मैन्चेस्टर के नेताओं के पूरे समूह के साथ बातचीत हुई, जिन्हें श्री किर्क पैट्रिक ने लोकसभा में दोपहर का भोजन करने को बुलाया था। इसके बाद (स्वर्गीय) लार्ड लोदियन के साथ लम्बी बातचीत हुई। वह भारत के सच्चे मित्र थे। आज हम इस बात को देख सकते हैं कि उन्होंने स्थिति का जो चित्र उस समय खींचा था वह बिलकुल सही उतरा। भारतीय शासन-विधान में अंग्रेजों की आगे बढ़ने की इच्छा के दर्शन इतने स्पष्ट रूप से हुए कि कांग्रेस ने पद-ग्रहण करने का और प्रान्तों में मंत्रिमंडल बनाने का निश्चय किया। ये प्रान्त अब राज्य कहलाते हैं। यदि चार वर्ष बाद लड़ाई न भड़क उठती तो केन्द्र में भी एक संयुक्त संघीय शासन की स्थापना हो जाती और विभाजन की नौबत न आती। पर युद्ध ने सबकुछ उलट-पलट दिया। कांग्रेसी सरकारों ने तो इस्तीफा दिया ही, समस्त पूर्वीय देशों में भी राष्ट्रीयता की भावना को जबर्दस्त प्रोत्साहन मिला और युद्ध के दौरान ही वह भावना इतनी बलवती हो उठी कि गांधीजी अपना 'भारत छोड़ो' आन्दोलन छेड़ने में सफल हुए। श्री एटली और ब्रिटिश सरकार ने भी युद्धकाल में दिये गए अपने वचनों का पालन किया।

मैंने लार्ड लोदियन के साथ अपनी बातचीत की जो रिपोर्ट भेजी उसमें उनके उद्‌गारों का इस प्रकार उल्लेख किया :

"उन्होंने कहा, "आप लोगों ने कोई शासन-विधान नहीं चलाया है, इसलिए आपके लिए यह अंदाजा लगाना सम्भव नहीं है कि आप लोग कितने बड़े अधिकार का उपयोग करने वाले हैं। यदि आप शासन-विधान को देखेंगे तो आपको ऐसा प्रतीत होगा मानों सारे अधिकार गवर्नर जनरल और गवर्नरों को सौंप दिये गए हैं। पर क्या यहां भी सारे अधिकार राजा को सौंपे हुए नहीं हैं? सबकुछ राजा के नाम से किया जाता है, और क्या राजा ने कभी हस्तक्षेप किया है? हम लोग शासन-विधान में विश्वास रखनेवाले लोग हैं। जहां अधिकार व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों के हाथ में गये कि गवर्नर या गवर्नर जनरल कभी हस्तक्षेप नहीं करेंगे। हां, यदि कानून और व्यवस्था अथवा देश की शांति पर खतरा आया तो आपका भी यह इरादा नहीं है कि शान्ति खतरे में पड़े। सिविल सर्विस हमेशा सहायता करेगी। किसी जमाने में इंग्लैंड के मजदूर लोग सिविल सर्विस को गालियां दिया करते थे, पर ज्योंही मजदूरों की सरकार बनी कि वे लोग सिविल सर्विस के सबसे अच्छे मित्र सिद्ध हुए। आप भी यही देखेंगे। हम लोग अनुशासन-प्रिय लोग हैं। वे लोग आप लोगों को सलाह-मशवरा अवश्य देंगे, पर जहां एक बार कोई नीति निर्धारित हुई कि वे लोग वफादारी के साथ उसे कार्यरूप में

परिणत करेंगे।" मैंने बाधा देते हुए बताया कि यहां की सिविल सर्विस और भारत की विदेशी सिविल सर्विस में अन्तर है। मैंने कहा, "आप लोगों को नौकरियों के भारतीयकरण की गति को तेज करना होगा।" वह सहमत हुए। बोले, "आपको अब जिस सबसे बड़ खतरे का मुकाबला करना है वह है सैन्य विभाग के नियंत्रण का विरोध। पर आपको बाकी सारी चीजें मिल ही गई हैं।" परन्तु वह मुझसे इस मामले में सहमत थे कि भारत में लोगों की मानसिक अवस्था में सुधार करना आवश्यक है। इस समय वह बहुत खराब है। बोले, "हम इस दिशा में कुछ नहीं कर सकते। हमें यहां अनुदार दलवालों के साथ मोर्चा लेना पड़ा। श्री बाल्डविन और सर सेम्युअल होर ने जिस साहस का परिचय दिया आप उसका अंदाजा नहीं लगा सकते थे। यह उदार ढंग की राजनीति की भारी विजय थी। हम लोग भारत में भी इसी ढंग की मानसिक अवस्था उत्पन्न नहीं कर सके, क्योंकि हम अनुदार दल वालों को भी नहीं छोड़ना चाहते थे। इन लोगों ने इस विधान को आत्म-समर्पण के नाम से पुकारा, इसलिए हमें यहां एक दूसरे ही ढंग की भाषा में बात करनी पड़ी। इसके अलावा एक और कठिनाई लार्ड विलिंग्डन-विषयक थी। उन्हें महात्मा गांधी में भारी अविश्वास है और वह कुछ अधिक बुद्धिमान भी नहीं हैं। पर जुलाई के मध्य तक बिल कानून बन जायगा और आगामी अप्रैल मास में नया वाइसराय चला जायगा। इसलिए हमें कुछ-न-कुछ तो करना ही है।" मैंने कहा, "मेरे धीरज का अन्त हो गया है। मैं आगामी अप्रैल तक तो ठहरने से रहा, तबतक तो पासा पड़ भी चुकेगा। भारतीय जनमत को आने वाले सुधारों को अविश्वास की दृष्टि से देखना सिखाया गया है और आगामी अप्रैल तक उनको विध्वंस करने के सिद्धान्त को लेकर नये निर्वाचन लड़ने की तैयारी कर ली जायगी।" वह इस मामले में सहमत हुए कि कुछ-न-कुछ तुरन्त ही करना आवश्यक है, और पूछने लगे, "क्या आपके पास कोई रचनात्मक सुझाव है ?" मैंने कहा, "पहली बात पारस्परिक सम्पर्क और दूसरी बात समझौता।" उन्होंने पूछा कि भारत में सबसे अच्छा गवर्नर कौन-सा है। मैंने कहा, "या तो एंडरसन को बातचीत करनी चाहिए, या भारत सचिव को भारत जाना चाहिए, या फिर गांधीजी को यहां बुलाना चाहिए।" उन्होंने कहा कि उनकी भी यही राय है कि इस मानसिक अवस्था में परिवर्तन करने के हेतु कुछ-न-कुछ तुरन्त करना आवश्यक है। आशा है, लार्ड जेटलैंड इस सम्बन्ध में कुछ कर सकेंगे। उन्होंने यह भी बताया कि वह लार्ड जेटलैंड, लार्ड हेलीफैक्स और श्री मैकडानल्ड से बात करेंगे। उन्होंने सलाह दी कि मुझे श्री मैकडानल्ड से मिलना चाहिए। वह मेरे सम्बन्ध में श्री मैकडानल्ड को लिखेंगे और इसके बाद मैं उनसे मुलाकात का समय निश्चित कर लूंगा।"

लार्ड जेटलैंड उन दिनों भारत सचिव थे। अपने पिता के जीवन-काल में वह

लार्ड रोनाल्डशे के नाम से पुकारे जाते थे और बंगाल के गवर्नर रह चुके थे। वहां हिन्दू-धर्म से उन्हें कुछ रुचि हो गई थी और उन्होंने 'दी हार्ट आफ आर्यावर्त' नाम की एक पुस्तक लिखी थी। लंदन में मैं उनसे मिलने गया, और उन्होंने मेरी बातें बड़े ध्यान से सुनीं। बातचीत के दौरान उन्होंने बहुत ही कम बाधा डाली। बस, एक बार पूछा-भर कि क्या गांधीजी एक व्यावहारिक आदमी हैं ? मैंने कहा कि होर, हेलीफैक्स, फिन्डलेटर स्टीवार्ड और स्मट्स से पूछ देखिये, वे आपको गांधीजी की व्यावहारिकता का प्रमाण दे सकते हैं। तब लार्ड जेटलैंड ने पूछा, "लेकिन उनकी 'हिन्द-स्वराज्य' पुस्तक के बारे में आपका क्या खयाल है ?" मैंने उत्तर दिया, "गांधीजी ने कुछ चरम लक्ष्य निर्धारित कर दिये हैं। पर संभव है कि जबतक हम उन लक्ष्यों तक पहुंच न जायं तबतक उनके अनुरूप आचरण न कर सकें। उदाहरणस्वरूप मैंने उन्हें बताया कि यद्यपि गांधीजी ने अपनी पुस्तक में अस्पतालों की आलोचना की है, फिर भी उन्होंने लाजपतराय और सी०आर० दास द्वारा बनाये गए अस्पतालों का उद्घाटन किया। लार्ड जेटलैंड बोल उठे, "और खुद श्री गांधी ने भी तो अपना आपरेशन कराया था।" मैंने कहा, "आपको उनके व्यावहारिक होने में कोई शंका नहीं करनी चाहिए। वह मात्रा नहीं, गुण देखते हैं। वह तो भावना के भूखे हैं।" लार्ड जेटलैंड ने कहा, "मुझे आपकी बात बहुत पसन्द आई। मुझे गलतफहमी से नफरत है। जब मैं कलकत्ते में था तो मेरी समझ में नहीं आता था कि गलतफहमी हो ही क्यों। अंग्रेजों को कांग्रेस के बारे में कुछ गलतफहमियां हो गई हैं। ऋण न चुकाने की और इसी प्रकार की अन्य बातों ने उन्हें भयभीत कर दिया है। आशंका की यह भावना सिर्फ सरकार के विरोधियों तक ही सीमित नहीं है, समर्थकों ने भी अपने निजी पत्रों में लिखा है कि वे लोग (अर्थात् भारतवासी) बड़ा खतरनाक काम कर रहे हैं।" लार्ड जेटलैंड चाहते थे कि भारत में रहने वाले उनके मित्र इस बात को समझने की चेष्टा करें कि उन्हें भारतीय शासन बिल को पास कराने में कैसी-कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। मैंने कहा कि मैं यह बात भारतवासियों को तभी समझा सकता हूं जब उसके अनुकूल वातावरण उत्पन्न हो। "हमसे न मिलिये" की नीति से सारा वातावरण दूषित हो गया है।

मैंने क्वेटा वाले मामले का उदाहरण दिया। गांधीजी और लार्ड विलिंग्डन के बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ था वह उस समय उनके सामने था। मैंने उसके सम्बन्धित अंशों को पढ़ा और उनसे कहा कि देखिये, दोनों रुखों में कितना अन्तर है। उन्होंने इसे महसूस किया और कहा, "अब क्या किया जाय ?" मैंने उत्तर दिया, "वैसे गांधीजी और लार्ड विलिंग्डन की मुलाकात निरर्थक सिद्ध होगी, फिर भी यह मुलाकात होनी अवश्य चाहिए, क्योंकि जबतक वाइसराय गांधीजी से नहीं मिल लेंगे तबतक गवर्नर लोग भी उनसे नहीं मिल सकते।" उन्होंने कहा,

"मैं इस बात को महसूस करता हूं। आपको फिन्डलेटर स्टीवार्ट से सम्पर्क रखना चाहिए। मैं जितनी भी सहायता कर सकता हूं, करूंगा और आपसे फिर बात-चीत करूंगा।"

मैंने इसकी एक लम्बी रिपोर्ट गांधीजी को भेजी :

२६ जून, १६३५

परम पूज्य बापू,

लंदन में लोगों से मिलने में बड़ा समय लगता है, क्योंकि उनका समय हफ्तों पहले बंध जाता है। हेलीफैक्स से मैं पांच तारीख को मिलूंगा यानी यहां आने के एक महीने बाद। होर जर्मनी, इटली और चीन की बातों में इतने व्यस्त हैं कि उन्होंने मुझसे कुछ दिन प्रतीक्षा करने और मुलाकात के लिए उन्हें बार-बार याद दिलाते रहने को कहा है। फिर भी मैं जानता हूं कि दोनों मेरे कार्य-कलाप से जानकारी बनाये रहते हैं। मैं जितने लोगों से मिला हूं उन सभी ने मेरे यहां आने के उद्देश्य के प्रति सहानुभूति प्रकट की है और मैं जानता हूं कि यह सहानुभूति दिखावटी नहीं है। सबसे अधिक सहायता मुझे सर फिन्डलेटर स्टीवार्ट से मिल रही है और मेरा खयाल है कि लोगों पर उनका काफी प्रभाव है। उनके मन में आपके प्रति बड़ा सौहार्द है, आपके गुण गाते-गाते वह कभी नहीं अघाते हैं, और जब मैंने उन्हें आपका पत्र दिया तब उसे उन्होंने बड़े स्नेह और भावातिरेक के साथ पढ़ा। उन्होंने हर तरह की सहायता देने का वचन दिया है और वह सहायता कर भी रहे हैं। मैफे[1] ने मुझे बताया कि उनका लोगों पर प्रभाव है और वह कुशाग्र बुद्धि तथा दृढ़प्रतिज्ञ हैं। मुझे यह भी बताया गया है कि जहां कहीं उनके अपने वर्ग का स्वार्थ नहीं टकराता वहां वह भारतीयों का समर्थन करते हैं। अब मैं इस बात को समझ गया हूं कि यहां जो लोग रोजमर्रा के शासन-कार्य की देख-भाल करते हैं और व्यापक नीतियों की रूपरेखा तैयार करने के लिए स्थायी रूप से मौजूद हैं, हमें मुख्यत: उन्हीं से बातचीत करनी चाहिए। मंत्रियों का तो महत्त्व है ही, पर स्थायी अफसरों का महत्त्व भी कम नहीं है। लार्ड जेटलैंड ने मेरे उद्देश्य के प्रति बड़ी सहानुभूति दिखाई और कहा कि मैं फिन्डलेटर स्टीवार्ट के सम्पर्क में रहूं, इसलिए मैं उन्हीं से चिपका हुआ हूं और सभी महत्त्वपूर्ण मुलाकातों की व्यवस्था उन्हीं के द्वारा होती है। मुझसे दो बार मुलाकात करने के बाद, जो ढाई घंटे तक चली, उन्होंने मुझसे कहा कि सिद्धान्त-रूप में वह मुझसे सहमत हैं और अब कुछ-न-कुछ ठोस और लिखित रूप में अस्तित्व में आ जाना चाहिए। आगे क्या कदम उठाया जाय, सो अब वही बतायंगे।

---

१. अब लार्ड रगबी।

मैं अब अपने काम के बारे में कुछ विस्तार के साथ बताता हूं।

मैं इन आदमियों से मिल चुका हूं :

सर फिन्डलेटर स्टीवार्ट से दो बार मिला, बातचीत ढाई घंटे तक चली। भारत के उपसचिव श्री बटलर से, जो देखने में बहुत आकर्षक हैं और बिलकुल युवक होते हुए भी बड़े कुशाग्रबुद्धि हैं, एक घंटा बातचीत हुई। इस सप्ताह मैं उनके साथ दोपहर का भोजन करूंगा। जेटलैंड से ४५ मिनट तक बातचीत हुई। सामन्त सभा में बिल के पास होने के बाद उनसे फिर मिलूंगा। इसी तरह लोदियन से भी ४५ मिनट तक बातचीत हुई और बिल के पास होने के बाद फिर मिलूंगा। लार्ड डरबी से फिर मिलने वाला हूं और उनसे तो जितनी बार चाहूं, मिल लेता हूं। सर हेनरी पेज क्रॉफ्ट से मैं दो बार मिला। मैंन्चेस्टर वालों के साथ लोकसभा में भोजन किया। सर हेनरी स्ट्राकोश के साथ भोजन कर चुका हूं और उन्होंने कहा है कि जब कभी भी मुझे उनकी सहायता की आवश्यकता हो मैं उनके साथ भोजन करने चला आऊं। सर टामस कैंटो और बहुत-से प्रमुख नागरिकों के साथ भी भोजन कर चुका हूं। इन लोगों ने मुझे फिर भोजन के लिए बुलाया है। सर जार्ज शुस्टर के साथ दो बार भोजन कर चुका हूं। सर बेसिल ब्लैकेट के साथ भोजन कर चुका हूं और फिर भोजन करने जाना है। भारत मंत्री के प्राइवेट सेक्रेटरी क्रॉफ्ट के साथ भोजन किया। 'मैंन्चेस्टर गार्जियन' के श्री वोन से मिला और उसी पत्र के श्री क्रोजियर मुझसे मैन्चेस्टर में मिलेंगे। और अब मैं इस सप्ताह में लार्ड लिनलिथगो, लार्ड हेलीफैक्स और श्री मैक्डानल्ड से मिलूंगा। सर सेम्युअल होर के सिवाय और सबसे मिलने का समय निश्चित हो चुका है। श्री बाल्डविन के साथ मेरी भेंट की व्यवस्था फिन्डलेटर स्टीवार्ट कर रहे हैं। शुस्टर ने सलाह दी है कि साइमन के चक्कर में समय नष्ट मत करो। लोदियन ने कहा है कि लायड जार्ज को फिलहाल छोड़ दो। डरबी ने कहा है कि मुझे सेलिसबरी और सर आस्टिन चैम्बरलेन से अवश्य मिलना चाहिए। उन्होंने कहा कि अनुदार दल के लोगों में लार्ड सेलिसबरी और सर हेनरी पेजक्रॉफ्ट ही सबसे अधिक ईमानदार हैं। उन्होंने मुझे मैन्चेस्टर जाने की सलाह दी, जहां वह मुझे वहां के प्रभावशाली मित्रों के साथ दोपहर के भोजन पर बुलायेंगे। लार्ड रीडिंग बीमार हैं। नगर के कुछ और प्रमुख निवासियों से भी मिलने वाला हूं। मजदूर दल के अधिकांश वजनी सदस्य इस सप्ताह मेरे साथ लोकसभा में भोजन करेंगे। इसके बाद मैं पादरियों तथा दूसरे पत्रकारों से मिलूंगा। किन्तु अब मैंने यह समझ लिया है कि मेरे काम के लिए हेलीफैक्स, जेटलैंड, होर, बटलर, बाल्डविन, लोदियन और सर फिन्डलेटर स्टीवार्ट औरों के मुकाबले में ज्यादा महत्त्व रखते हैं, इसलिए अब मैं अपना अधिकतर समय इन्हीं के साथ बिताऊंगा। सर फिण्डलेटर स्टीवार्ट ने यह बताने का वचन दिया है कि आगे मुझे क्या करना

चाहिए। इसलिए अब मैं पूरी तरह से उन्हीं के हाथों में हूं।

अब लोगों से जो बातचीत हुई, कुछ उसके सम्बन्ध में कह दूं। सबसे पहले मैंने उन्हें बताया कि भारतवासियों की यह कोई राजनैतिक चाल नहीं है, बल्कि सचमुच ही उनकी यह भावना है कि बिल आगे की ओर बढ़ानेवाला नहीं, बल्कि पीछे की ओर हटाने वाला कदम है, जिससे अंग्रेजों की पकड़ और भी मजबूत हो जाय। मेरी इस बात पर यहां के लोग चकित रह जाते हैं और उनकी समझ में नहीं आता कि भारतवासी ऐसा क्योंकर सोच सकते हैं। दूसरे मैंने उन्हें बताया, "मैं इस बात को स्वीकार करता हूं कि इस बिल को आप लोग सच्चे दिल से एक भारी प्रगति मानते हैं। यदि इन सुधारों के पीछे सद्भावना हो तो यह बिल सचमुच ही भारी प्रगति सिद्ध हो सकता है। पर भारतवर्ष के ब्रिटिश अधिकारियों के व्यवहार में हमें इस भावना का अभाव दिखाई देता है। मेरा तो सदा से यह विश्वास रहा है कि असल चीज बिल की भाषा नहीं, बल्कि उसके पीछे छिपी भावना है। सद्भावना के बिना तो यह बिल एक बहुत ही प्रतिगामी कानून सिद्ध होगा।" मैंने कहा कि चूंकि हर बात का अन्तिम निर्णय गवर्नर जनरल और गवर्नर करेंगे, इसलिए यदि वे अपने अधिकारों से काम लेने लगेंगे तो उनका शासन एक परले सिरे का स्वेच्छाचारी शासन बन जायगा। इसके विपरीत यदि वे वैधानिक राज्य-सत्ता के आदर्श को सामने रखकर काम करेंगे, और ये सब लोग इसी आदर्श की बात कहते हैं, तो इस बिल के द्वारा बहुत अच्छी शासन-व्यवस्था अस्तित्व में आ सकती है। इसलिए सबकुछ इस बात पर निर्भर है कि बिल को किस भावना के साथ प्रकृत रूप दिया जायगा। मैंने यह बात स्वीकार की कि हमारे इंग्लैंड वाले मित्रों के मन में सद्भावना और सहानुभूति है, पर ये भावनाएं समुद्र को पार नहीं कर पाई हैं, क्योंकि भारत में जिन लोगों के हाथ में शासन की बागडोर है उनका आचरण यहां व्यक्त की गई भावनाओं के विपरीत है। मैंने एक बिलकुल ही हाल की क्वेटा वाली घटना का उदाहरण दिया। इसके बारे में आपके और लार्ड विलिंग्डन के बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ था वह मैंने उन्हें दे दिया है और यह समझाने की चेष्टा की है कि आपके अनुरोध में और लार्ड विलिंग्डन के उत्तर में कितना अन्तर है। मैंने कहा कि ऐसी परिस्थिति में यह कैसे विश्वास किया जा सकता है कि आज जब हमें अपने दुःखी भाइयों से ही मिलने की अनुमति नहीं दी जाती तब निकट भविष्य में ही हमें अधिक अधिकार क्योंकर मिल सकेंगे? भारत के इस दमनपूर्ण वातावरण के कारण ही हमें यह विश्वास करना पड़ता है कि नये सुधार हमें पीछे की ओर ले जायंगे। सुधारों के प्रति एक दूसरे ही प्रकार की मनोवृत्ति उत्पन्न करने के लिए, जिससे उन्हें अमल में लाया जा सके और हमारे यहां के हितैषियों की अभिलाषा की पूर्ति हो सके और मौजूदा कशमकश का हमेशा के लिए अन्त किया जा सके, यह जरूरी है कि तुरन्त ही भारत में अपेक्षा-

कृत अधिक अच्छी भावना को उद्दीप्त किया जाय। मैंने उन्हें यह भी बताया कि मैंने दिल्ली में यह भावना पैदा करने की चेष्टा की, पर असफल रहा। तीसरे, मैंने उनसे कहा कि मित्रता की इस भावना के अभाव में इस बिल के द्वारा, संभव है, दोनों देशों में कटुता और भी बढ़ जाय। मैंने कहा कि वर्तमान वातावरण से तो चारों तरफ गैरजिम्मेदारी बढ़ती जा रही है। सिविल सर्विस के लोग गैरजिम्मेदार और अनुशासनविहीन होते जा रहे हैं। उदाहरणस्वरूप मैंने खां साहब के मामले की चर्चा की और बताया कि किस प्रकार नीचे के अफसरों के खां साहब के खिलाफ उठ खड़े होने के कारण उस मामले में गृहमंत्री कुछ भी नहीं कर सके। आजकल तो भारत के सिविल सर्विस वालों का खयाल है कि उनका एकमात्र कर्त्तव्य कानून और शांति की रक्षा करना है, इसलिए जनप्रिय लोगों की ओर से जो भी सुझाव आयें उनका विरोध होना ही चाहिए, चाहे वे अच्छे ही क्यों न हों। कांग्रेसी कार्य-कर्त्ताओं में उत्तरदायित्व की भावना का अभाव होने के कारण वे सरकार के हरेक काम को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। इसका परिणाम यही होगा कि दक्षिण-पंथी तो कमजोर पड़ते जायंगे और वामपंथी मजबूत होते जायंगे। यदि स्थिति का सम्यक् ज्ञान न हुआ तो, सम्भव है, दक्षिण-पंथी भी सुधारों को निकम्मा बनाने में लग जायं। वर्तमान परिस्थिति से मुसलमानों में अनैतिकता फैल रही है, क्योंकि वे समझते हैं कि वे चाहे बुरे-से-बुरा आचरण करें, उन्हें सरकार का समर्थन मिलता रहेगा। मैं यहां इन लोगों से कहता हूं कि इन कठिनाइयों के बावजूद गांधीजी ने इस बाढ़ में वह चलने से इन्कार कर दिया है। "आप लोग उस आदमी की हत्या किये डाल रहे हैं, जो इस संसार में आपका सबसे बड़ा हितैषी है।" मैं इन लोगों को बताता हूं कि वर्तमान वातावरण के कारण इतनी अनैतिकता फैल रही है कि भारतवर्ष में कोई रचनात्मक कार्य करना असम्भव-सा हो गया है। जनसाधारण की क्रयशक्ति में वृद्धि करने की आवश्यकता पर अंग्रेज अर्थशास्त्री इतना जोर देते हैं, पर वैसा उस समय तक सम्भव नहीं होगा जबतक दोनों के बीच की खाई न पट जाय।

उधर शासक वर्ग का सारा समय कानून और शांति की रक्षा में लगा रहे और इधर जनता का समय उससे मोर्चा लेने में बीते—यह बड़े ही परिताप की परिस्थिति है। इसलिए मैं यहां वालों से कहता आ रहा हूं कि इस क्रम को बिल-कुल उलट देना चाहिए। जो पहला कदम उठाया जाय वह हो व्यक्तिगत सम्पर्क की स्थापना। दूसरा काम यह हो कि गवर्नर जनरल और गवर्नरों के पद संभालने के लिए अच्छे-से-अच्छे आदमी भेजे जायं, जिससे मंत्रियों और गवर्नरों के बीच संघर्ष की सम्भावना ही नष्ट हो जाय। मैं इन लोगों से यह भी कहता आ रहा हूं कि यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सरकार का संचालन करने या शासन के यन्त्र को योग्यतापूर्वक चलाते रहने में कांग्रेस को कोई दिलचस्पी नहीं है। यदि

कांग्रेस पद-ग्रहण करेगी तो कुछ रचनात्मक कार्य करने के लिए। छंटनी, ग्रामोत्थान, स्वास्थ्य-सुधार, सफाई, शिक्षा का विस्तार, करों में इस प्रकार का सन्तुलन कि गरीबों का बोझ कम और अमीरों का बोझ अधिक हो, अधिक भारतवासियों को नौकरी, उद्योग-धंधों में सहायता, महाजनी, जहाजरानी और बीमा-व्यवस्था को प्रोत्साहन, सैन्य विभाग के राष्ट्रीयकरण और पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति की दिशा में अटूट प्रगति—बस, केवल ऐसी कार्य-योजना कांग्रेस को सुधार अमल में लाने के लिए आकर्षित कर सकती है।

मेरी बातों के उत्तर में ये लोग कहते हैं, "आप कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं को जितना भी अधिकार देना चाहते हैं वे सब तो उन्हें बिल के द्वारा प्राप्त हो ही जायंगे। इस बिल को लेकर हमारे विरोधियों की तो कौन कहे, समर्थकों तक में कितनी हलचल मच गई है, इसका आप लोग अन्दाजा तक नहीं लगा सकते। विरोधियों ने तो विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया था और बिल को आत्मसमर्पण का कार्य बताया था। उधर समर्थकों ने बिल का समर्थन किया तो केवल पार्टी के प्रति वफादारी की खातिर, फिर भी भीतर-ही-भीतर वे हमें चेतावनी-पर-चेतावनी देते रहे कि बिल से ब्रिटेन के शासन पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ेगा।" इन लोगों का कहना हैं, "बाल्डविन, होर और हेलीफैक्स को इस बिल के पास कराने में बड़े साहस से काम लेना पड़ा है, इसलिए यदि हम लोग उनके और भारत के दूसरे हितैषियों के साहस की सराहना न करें, उनके दल के त्याग और मैत्री के बन्धन को भुला दें और इस बिल को लेकर उनके स्वास्थ्य पर जो जोर पड़ा उसकी ओर से आंखें मूंदे रहें तो यह घोर अन्याय की बात होगी। इससे अधिक निर्दयता की बात और क्या हो सकती है कि यह कहा जाय कि सब कुछ भारत पर ब्रिटेन की पकड़ को और भी मजबूत करने के लिए किया गया है? इसकी जरूरत ही क्या थी? क्या पकड़ ढीली थी? भारतवासियों के हाथों में कितना बड़ा अधिकार सौंपा गया है इसकी आप कल्पना तक नहीं कर सकते हैं। अंग्रेजी सत्ता का अंत हो रहा है। अधिकार एक बार दे देने के बाद उसे फिर कोई वापस नहीं ले सकता, और अधिकार दिया जा चुका है। यह ठीक है कि बिल से ऐसा लगता है मानो सारे अधिकार गवर्नरों और गवर्नर जनरल के हाथों में सुरक्षित कर दिये गए हों, किन्तु क्या ऐसी ही स्थिति इंग्लैंड में राजा और सामन्त सभा की नहीं है? जो संरक्षण रखे गये हैं वे आपके ही हित में हैं। कौन इतना बेवकूफ होगा जो आपके मामले में दखल देगा? हम लोग विधान-भीरु जाति हैं और इंग्लैंड के किसी भी दल को यह बात सहन नहीं होगी कि कोई गवर्नर या गवर्नर जनरल किसी मंत्री के मामले में हस्तक्षेप करे। हां, कोई मंत्री अराजकता या अशान्ति फैलाना चाहता हो तो बात दूसरी है। अब केवल एक चीज रह जाती है, जिसके लिए आप लोगों को लड़ना पड़ेगा, वह है सैन्य विभाग पर अधिकार; पर यदि

आपने शासन-यंत्र पर पूरी तरह से काबू पा लिया और समझदारी के साथ काम लिया तो आपको इस लड़ाई को लड़ने और जीतने में कोई कठिनाई नहीं पड़ेगी। निर्देशविधि (इन्स्ट्रूमेंट आफ इंस्ट्रक्शन्स) में दिया हुआ है कि सैनिक मामलों में मंत्रियों के साथ मिलकर सलाह की जाय। कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं ने कभी शासन-यन्त्र को चलाने का काम नहीं किया है, इसलिए वे इस बात को नहीं समझ रहे हैं कि संरक्षण तो भवन को सुरक्षित रखने के लिए सिर्फ ताले-कुंजी का काम करेंगे। जो कोई उसके भीतर जाकर उसमें रहना चाहेगा उसके मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। आप तो ग्रामोत्थान और शिक्षा आदि जैसी छोटी-छोटी बातों की चर्चा कर रहे हैं, पर अब तो समूची सरकार ही आपकी होगी। आपको तो अपनी नीति निर्धारित करके विधान सभा के सदस्यों को अपने साथ रखना है, फिर आप जो भी कार्य-योजना चाहें, अमल में ला सकते हैं। (इन लोगों को यह बताना बेकार है कि सरकारी आय का ८० प्रतिशत भाग तो पहले से ही सैनिक कार्यों और ऋणों के मद्दे लिख दिया गया है। इस समय इस सवाल को आगे बढ़ाना निरर्थक होगा।) आपकी योजनाओं में कोई भी दखल नहीं देगा।"

भारत के मौजूदा वातावरण के सम्बन्ध में उनका कहना है, "हम अवस्था को पूरी तरह से समझते हैं, पर उसके सम्बन्ध में पहले कुछ करना-धरना सम्भव नहीं था। हम यहां से कोई भी ऐसी बात नहीं कह सकते थे जिससे कट्टरपंथियों के आन्दोलन को उत्तेजना मिलती। श्री बाल्डविन, लार्ड हेलीफैक्स और सर सेम्युअल होर-जैसे अनुदार दलवालों के लिए एक अनुदार दलीय पार्लमेंट में, जहां कट्टरपंथी लोग उन्मत्त सांड़ों की तरह लड़ रहे थे, इस बिल को पास कराना कोई आसान काम नहीं था। हम चाहते हैं कि ये सब बातें आप भारतवर्ष में अपने मित्रों को समझा दें। यह तो ठीक है कि कोई दूसरा वाइसराय होता तो शायद वातावरण अपेक्षाकृत अधिक अच्छा होता। जो हो, वाइसराय और गांधीजी की एक-दूसरे के साथ पटरी नहीं बैठी। पर अब जब बिल पास हो गया है, लोगों की मनोवृत्ति में सुधार करने के लिए कुछ-न-कुछ तो करना ही पड़ेगा। हम यह स्वीकार करते हैं कि बिल की धाराओं से भी अधिक महत्त्व की बात है लोगों की मनोवृत्ति। यदि सम्भव हो तो हमें गांधीजी को अपनी ओर करना चाहिए। इस मामले में हम आपसे पूरी तरह से सहमत हैं। सवाल सिर्फ यही है कि यह कैसे किया जाय ?"

इन लोगों की नेकनीयती से भरी बातों से मैं बड़ा प्रभावित हुआ हूं। जब जेटलैंड, बटलर, लोदियन और फिन्डलेटर स्टीवार्ट-जैसे लोग इस ढंग की बातें करते हैं और हमें आश्वासन देते हैं कि संरक्षण मंत्रियों के कार्य-कलाप में हस्तक्षेप करने के लिए नहीं रखे गये हैं, तब यह विश्वास क्योंकर न किया जाय कि वे ये

बातें सच्चे हृदय से कह रहे हैं ? मैं यह नहीं मान सकता कि ये सारी बातें कोरी भावुकता-मात्र हैं। अपने व्यापारी कामकाज में मैं कभी मीठी-मीठी बातों के धोखे में नहीं आया, इसलिए यदि मैं इन लोगों के सद्व्यवहार और वक्तृता के प्रवाह में वह जाऊं तो मेरे लिए बड़े आश्चर्य की बात होगी। फिर भी सारी बातों का निर्णय आप स्वयं ही करिये, क्योंकि यदि मुझे धोखा हुआ हो तो भी मैं इन लोगों से इसके सिवाय और कुछ नहीं कह रहा हूं कि इन्हें आपके साथ व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करना चाहिए और सुधारों को अमल में लाने के लिए कोई समझौता कर लेना चाहिए। इन लोगों से मेरी जो बातचीत हुई, मैंने जिन-जिन बातों पर जोर दिया, और उन्होंने जो उत्तर दिया, उसका सार मैंने आपको बता दिया। आशा है, यह सब व्यर्थ नहीं जायगा।

नीचे कुछ सवाल और अपने उत्तर दे रहा हूं। इनका अपना महत्त्व है, क्योंकि ये उन लोगों की ओर से आये हैं जिनकी बात यहां चलती है :

१. प्रश्न—हम किसके साथ समझौता करें ?

उत्तर—मुसलमानों का तो कोई सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि वे सुधारों के विरोध में नहीं हैं। हम उन्हें उनके अधिकारों से वंचित नहीं करना चाहते। उदार दल वालों के पीछे जनता का वल नहीं है, इसलिए उनके सम्बन्ध में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। कम्युनिस्टों को वाद दे देना चाहिए, क्योंकि वे तो कांग्रेस का ही एक अंग हैं। किन्तु यदि उन्हें अलग माना जाय तो उनपर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अपने दृष्टिकोण के मामले में वे समझौता करने के इच्छुक नहीं हैं। इसलिए जो एकमात्र संस्था रह जाती है वह है कांग्रेस, और कांग्रेस से बातचीत करने का मतलब है गांधीजी से बातचीत करना, क्योंकि अकेले वही ऐसे व्यक्ति हैं, जो समझौते को मूर्त रूप दे सकते हैं।

२. प्रश्न—क्या गांधीजी समझौते को मूर्त रूप दे सकेंगे ?

उत्तर—हां।

३. प्रश्न—समझौते की शर्त क्या होगी ?

उत्तर—पारस्परिक विश्वास और मित्रता ही उसका आधार होना चाहिए। विधान पर इस तरह अमल करना चाहिए कि उससे भारत की उन्नति हो और हम औपनिवेशिक स्वराज्य की ओर बढ़ सकें। (इसपर वे कहते हैं कि औपनिवेशिक स्वराज्य अथवा मित्रता कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसे कोई कानूनी कागज-पत्र जन्म देगा। उसकी प्राप्ति तो कठोर परिश्रम के बाद ही सम्भव है और उसे पाने के लिए ब्रिटेन से भी अधिक भारत को चेष्टा करनी होगी। फिर भी वे इस बात का आश्वासन देते हैं कि इस दिशा में वे सदा हमारी सहायता करेंगे।)

४. हमें समझौता या संधि-जैसे शब्दों से अरुचि है।

ये लोग कहते हैं कि इस समय इंग्लैंड में इन शब्दों के प्रति बड़ी दुर्भावना

है। दोनों पक्षवालों की बद्धमूल धारणाओं को ध्यान में रखना ही होगा। इसका उत्तर मैं यों देता हूं : "यदि सार वस्तु मिल जाती है तो मैं शब्दों को लेकर नहीं झगड़ूंगा। क्या आप एन्थनी ईडन को फ्रांस, इटली और दूसरी जगहों पर इसलिए नहीं भेज रहे हैं कि वे दिल खोलकर बातचीत करके आपसी समझौता करें ? क्या आप इस समय भी आयरलैण्ड से समझौते की बातचीत नहीं चला रहे हैं ?" इसका वे जवाब देते हैं। "मान लीजिये कि व्यक्तिगत सम्पर्क और समझौते के बाद हमारी ओर से यानी राजा की ओर से, पक्की घोषणा कर दी जाय और कांग्रेस उसका उत्तर दे, तो ?" मेरा जवाब यह है : "यदि दोनों पक्ष कर्त्तव्यों के बारे में एक-दूसरे का दृष्टिकोण समझ लें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी।" मेरा उनसे कहना है कि समझौता उन्हीं के हित में अच्छा होगा, क्योंकि उससे दूसरा पक्ष बंध जायगा। फिर भी जब तक अभिप्राय को ठीक समझने की भावना मौजूद है तबतक मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

५. प्रश्न—गांधीजी से मिले कौन ?

उत्तर—यह तो स्पष्ट ही है कि पहल वाइसराय को करनी होगी, क्योंकि जबतक वह ऐसा नहीं करेंगे तबतक दूसरे लोग गांधीजी से बातचीत नहीं कर सकेंगे। पर वाइसराय की भेंट से ही प्रयोजन उतना सिद्ध नहीं होगा; किसी और को भी गांधीजी को अपने हाथ में लेना होगा। इसके लिए मैं एन्डरसन का नाम सुझाता हूं।

प्रश्न—इमर्सन[1] के बारे में आपकी क्या राय है ? क्या वह गांधीजी को पसन्द हैं ?

उत्तर—कह नहीं सकता। लोग कहते तो हैं कि वह बहुत अच्छे आदमी हैं।

६. प्रश्न—क्या गांधीजी व्यावहारिक हैं ?

उत्तर—हेलीफैक्स, होर, स्मट्स और फिन्डलेटर स्टीवार्ट का हवाला काफी होगा। मैं खुद व्यापारी हूं, इसलिए मैं किसी कोरे भावुक आदमी के पीछे कभी नहीं लगता।

७. प्रश्न—श्री गांधी से मिलने के बाद और हमारी ओर से घोषणा हो जाने पर क्या गांधीजी यह घोषणा कर सकेंगे : "ये सुधार अच्छे नहीं हैं, इनमें वह बात नहीं है, जो मैं चाहता हूं, पर रचनात्मक कार्य के लिए मुझे सद्भावना और सहायता का आश्वासन दिया गया है, इसलिए अपने देश की सहायता करने के लिए मैं इन्हें कुछ समय तक कसौटी पर कसकर अवश्य देखूंगा।"

उत्तर—हां, वह ऐसा उत्तर दे सकते हैं। मुझे इसकी बड़ी आशा है, बशर्ते

१. सर हरबर्ट इमर्सन, जो १९३३ से १९३८ तक पंजाब के गवर्नर थे।

कि आपको उनसे व्यवहार करने का ढंग मालूम हो। अगर आप उनसे ईमानदारी का बरताव करें, उनके सामने अपना हृदय खोलकर रख दें और उन्हें अपनी सारी कठिनाइयां बतलावें तो वह अवश्य आपकी सहायता करेंगे।

८. इसपर वे लोग कहते हैं, "श्री गांधी के बारे में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यद्यपि भारत की ९० प्रतिशत जनता उन्हें आदर और प्रेम की दृष्टि से देखती है तथापि उनकी कोई वैधानिक स्थिति नहीं है। हम अंग्रेजों को ऐसे आदमियों के साथ व्यवहार करने की आदत पड़ी हुई है, जिनकी कोई वैधानिक स्थिति होती है।"

इस पर मैं कहता हूं, "तो क्या आप तबतक प्रतीक्षा करेंगे जबतक गांधीजी मंत्री न बन जायं? तब तो इसके लिए आपको प्रलय काल तक बाट जोहनी होगी।"

तब मुझसे कहा जाता है, "दुर्भाग्यवश श्री गांधी और वाइसराय के मिलन ने दो विरोधी नेताओं के मिलन का रूप ले लिया है।"

इसपर मैं जवाब देता हूं, "यह सब आपका ही किया हुआ है। गांधीजी लार्ड चेम्सफोर्ड से मित्र की तरह मिले थे, और बाद में समझौता होने से पहले लार्ड रीडिंग और लार्ड अरविन से भी इसी प्रकार मिले थे।"

९. प्रश्न—क्या आप नये वाइसराय के जाने तक नहीं रुक सकते?

उत्तर—तबतक बहुत देर हो जायगी।

मुझे उम्मीद है कि इन सवालों से आपको इस बात का आभास मिल जायगा कि यहां हवा का रुख किधर है।

अब कुछ लार्ड हेलीफैक्स, बटलर और लार्ड डरबी के बारे में सुन लीजिये। बटलर ने मुझसे जान-बूझकर पूछा कि भारतवर्ष में लार्ड हेलीफैक्स के बारे में लोगों के कैसे विचार हैं? मैंने कहा, "लोग अब भी उनसे प्रेम करते हैं, पर हमारा खयाल है कि उनकी वह प्रतिष्ठा नहीं रही है, भारतीय मामलों में अब उनका कोई प्रभाव नहीं रह गया है और भारत में रहने वाले अंग्रेजों को तो वह बिलकुल ही अप्रिय हैं।" उन्होंने कहा, "मैं आपका भ्रम दूर करना चाहता हूं। यह बात बिलकुल गलत है कि उनकी प्रतिष्ठा जाती रही है। उनका बड़ा प्रभाव है और वह भारत को भूले नहीं हैं। भारत को तो उन्होंने अपने जीवन का एक मिशन बना लिया है।"

श्री बटलर का दृष्टिकोण व्यापक है और वह बहुत ही योग्य और बुद्धिमान व्यक्ति हैं। उनमें जातीय भेदभाव या बड़प्पन की भावना लेशमात्र भी नहीं है। हम लोग अंग्रेजों की नेकनीयती पर सन्देह करते हैं, इससे उन्हें बड़ा दुःख होता है। वह मुझे हर प्रकार की सम्भव सहायता दे रहे हैं। पर अब तक मैं जितने लोगों से मिला हूं, उन सबमें लार्ड डरबी का व्यक्तित्व सबसे आकर्षक है। वह तकल्लुफ

से दूर रहते हैं। जब मैंने उनसे मिलना चाहा तब मुझे अपने घर बुलाने के बजाय वह स्वयं मुझसे मिलने के लिए फौरन मेरे होटल में चले आये। मैं जिनसे भी मिलना चाहूंगा उनसे वह मेरी मुलाकात की व्यवस्था करा देंगे। उन्होंने कहा है कि जब कभी जरूरत हो, टेलीफोन कर दिया कीजिये, मैं या तो स्वयं आपके पास आ जाया करूंगा या आपको बुला भेजूंगा। उन्होंने मुझसे पितृवत् स्नेह के साथ बातचीत की। मुझे तो वह बहुत ही अच्छे लगे।

मैं समझता हूं कि अब पत्र लिखने की बारी आपकी है। आपको जो कुछ कहना हो लिखकर मेरे आदमी को दे दीजिये और वह उसे मेरे पास दिल्ली से हवाई डाक से भेज देगा। मुझे आशा है कि यहां मैं आपका ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व कर रहा हूं। यहां के वातावरण में जो सचमुच की गलतफहमी फैली हुई है उसे हटाने के लिए मुझे भारी प्रयास करना पड़ रहा है। जब क्वेटा से महादेवभाई का पत्र मिला तब मेरा हृदय टूक-टूक हो गया। वहां और यहां के वातावरण में कितना भारी अन्तर है! भारतवर्ष में रहते हुए मैं इस अन्तर को नहीं समझ पाता था। मैं समझता हूं कि अधिकांश दोष मशीनरी का है और यद्यपि यहां काफी सहृदय और नेक लोग हैं तथापि मुझे मशीनरी के चलने में शंका है। मैं तो, बस, इतना ही कह सकता हूं कि मशीनरी के कल-पुर्जों में भरपूर तेल डाल दिया जायगा। मुझे आपके हरेक काम में गलतफहमी को दूर करने की चेष्टा दिखाई देती है। इस क्षोभकारी वातावरण में ऐसा करना अकेले आपही के लिए सम्भव है। एक प्रतिष्ठित मित्र का कहना है, "हम लोग वैधानिक कार्य-प्रणाली के अभ्यस्त हैं। जबतक लायड जार्ज पदासीन रहे तबतक वह बहुत बड़े आदमी थे पर अब जबकि वह अपने पद पर नहीं हैं, हम उनकी आज्ञा का पालन नहीं कर सकते और न उनके विचारों पर अमल ही कर सकते हैं, चाहे हम उनका या किसी भी दूसरे आदमी का कितना ही सम्मान क्यों न करते हों। आपको यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि श्री गांधी किसी पद पर नहीं हैं। जब आपकी अपनी सरकार हो जायगी तब बात कुछ और ही होगी। सिविल सर्विस वाले तो आपके दास-मात्र होंगे। फिलहाल ऐसा मुमकिन नहीं है। यह परिवर्तन कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी, क्योंकि सिविल सर्विस वालों को तो केवल अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करना सिखाया जाता है।" इस समय तो मैं इस बात की प्रतीक्षा में हूं कि सर फिण्डलेटर स्टीवार्ट मुझसे अगला कौन-सा कदम उठाने को कहते हैं।

जुलाई के महीने में मैं बहुत ही व्यस्त रहा। प्रारम्भ मंत्रिमंडल के प्रधान श्री रैमसे मैक्डानल्ड की भेंट से हुआ। उन्होंने उन्हीं दिनों प्रधान मंत्रित्व का भार श्री बाल्डविन को सौंपा था। उनसे जो बातचीत हुई, उसके कुछ नोट नीचे देता हूं :

बातचीत ३५ मिनट तक जारी रही। उन्होंने पूछा, "भारत कैसा है?" मैंने उत्तर दिया, "बड़ा दुःखी है।" वह बोले, "सभी दुःखी हैं।" मैंने कहा, "पर हमारी

बात जुदा है। आपने हमें एक शासन-विधान दिया है, जिसके बारे में आपकी धारणा है कि वह सचमुच प्रगतिपूर्ण है और हमें हमारे लक्ष्य स्थान तक ले जायगा, जबकि हम समझते हैं कि यह एक पीछे की ओर ले जाने वाला कदम है, जिससे शिकंजा और भी कस जायगा। हमारी यह धारणा भारत-व्यापी वातावरण के कारण है। हम लोगों के साथ कोढ़ियों-जैसा अविश्वासपूर्ण व्यवहार किया जाता है। आप लोग सहानुभूतिपूर्ण व्याख्यान झाड़ते हैं, पर उनसे हमारा कोई भला नहीं होता। हम लोग चाहते हैं सहानुभूतिपूर्ण कार्य। मानवीय सम्पर्क का पूर्णतया अभाव है। हम लोग जब कभी किसी अच्छे काम के लिए सहयोग देने की तत्परता प्रकट करते हैं, इन्कार कर दिया जाता है, और हमें नीचा दिखाया जाता है, और ऐसे वातावरण में आप लोग चाहते हैं कि हम सुधारों की सराहना करें! यह स्वाभाविक ही है कि हम इन सुधारों को और आपकी नीयत को संशय की दृष्टि से देखें। आप जमीन को भली प्रकार जोते बिना और सिंचाई का समुचित प्रबन्ध किये बगैर बीज बखेर रहे हैं। यह स्वाभाविक ही है कि आपको फसल से वंचित होना पड़े।"

उन्होंने कहा, "आपका कहना बिलकुल ठीक है। मानवीय सम्पर्क अत्यावश्यक है। पर कठिनाइयां नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है। वाइसराय स्वयं एक अच्छे आदमी हैं, और श्री गांधी भी अच्छे आदमी हैं, पर वे एक-दूसरे के साथ मिल-बैठ नहीं सकते। दोनों दो प्रकार की सुन्दर गतों के समान हैं, उन्हें अलग-अलग निकाला जाय तो दोनों कर्ण-प्रिय लगेंगी, पर यदि दोनों को एक साथ निकाला जाय तो सामंजस्य का नितान्त अभाव सिद्ध होगा। बस, यही मुश्किल है। अब यही देखना है कि अगला वाइसराय कौन होगा"। "कौन होगा?" मैं मुस्कराकर बोला, "आप यह सवाल मुझसे कर रहे हैं?—मुझसे, जिसे गुप्त बातों का कुछ भी पता नहीं है? मैं इस प्रश्न का उत्तर कैसे दे सकता हूं? पर अन्य लोग लार्ड लिनलिथगो, बंगाल के गवर्नर लार्ड लोदियन और लार्ड पर्सी का नाम लेते हैं। आपका और होर का नाम भी लिया जा रहा है।" अब वह कुछ गम्भीर भाव से बोले, "देखिये, एक प्रान्तीय गवर्नर तो वाइसराय हो ही नहीं सकता। लोदियन का प्रश्न ही नहीं उठता है। रहा मैं, सो यदि मेरा स्वास्थ्य ठीक रहता तो मैं अवश्य जाना चाहता, पर ऐसी बात नहीं है। आपको पता ही है कि मैं भारत से कितना प्रेम करता हूं। मैंने ही गोलमेज परिषद् के सिद्धान्त को जारी रखवाया था। जब सरकार बदली तो मेरी एक शर्त यह भी थी कि इस प्रश्न को योंही न छोड़ दिया जाय, बल्कि गोलमेज-सिद्धान्त में नये प्राणों का संचार किया जाय। हां, यह बात दूसरी है कि परिषद् पहले की अपेक्षा कम बड़ी हो। हमें सहानुभूतिपूर्ण श्रीगणेश करना चाहिए। अनेक व्यक्ति चाहते हैं कि संरक्षण तुरन्त अमल में आवें। यदि कांग्रेस के साथ छिड़ गई तब तो संरक्षणों को महत्त्व प्राप्त होगा, अन्यथा यहां कोई

संरक्षणों से काम लेना नहीं चाहता है। यदि कांग्रेस ने श्रीगणेश शासन-विधान का विध्वंस करने के इरादे से किया तो अनुदार दलवालों के मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे। हां, हमें भी इस बात की चेष्टा करनी चाहिए कि प्रारम्भ सहानुभूतिपूर्ण ढंग से हो। सारा व्यापार एक उद्यान-जैसा है। आपको संतोषपूर्वक उद्यान का विकास करना है, आपको हमसे भी इस बात का वचन लेना चाहिए कि हम सहानुभूतिपूर्ण ढंग से कार्य करेंगे। मैं आपसे इस मामले में बिलकुल सहमत हूं कि वैसा वातावरण उत्पन्न करने के लिए कुछ-न-कुछ करना आवश्यक है।"

मैंने कहा, "मैं जो कुछ कहना चाहता था वह आपने और भी सुन्दर ढंग से कह दिया।" इसके बाद वह अपनी विचारधारा अनायास ही शब्दों द्वारा व्यक्त करने लगे। उनकी दृष्टि छत की ओर लगी हुई थी। बोले, "यह सब-कुछ कैसे किया जाय, यही एक प्रश्न है। अभी हमने श्रीगणेश भी नहीं किया है। यह एक उतनी ही बड़ी समस्या है जितनी अपने नये दफ्तर में कमरों का पता लगाने की। मैं रास्तों और कोनों से बिलकुल अनभिज्ञ हूं और इस नई इमारत की शनैः-शनैः जानकारी हासिल कर रहा हूं। पर आपकी समस्या स्थायी तो है नहीं। हां, काफी बड़ी अवश्य है। उसका सामना तो करना ही होगा। न करना मूर्खता का काम होगा। पर मैं यह नहीं जानता कि आपकी मदद कैसे करूं। सोच रहा हूं कि आगामी शरद ऋतु में भारत जाकर श्री गांधी से मिलूं। मैं विश्राम के लिए और एक पर्यटक की हैसियत से जा सकता हूं। मेरे जाने के मार्ग में कठिनाइयां अवश्य हैं, पर मेरी इच्छा यही है कि जाऊं। मैं मौके की तलाश में रहूंगा। यदि गया तो अपने मित्र श्री गांधी से अवश्य मिलूंगा। मुझे इसकी चिन्ता नहीं है कि लोग क्या सोचेंगे। यदि मैं उनसे मिला तो मैं जानता हूं कि सारा झमेला तय हो जायगा। पर फिलहाल मुझे प्रकाश दिखाई नहीं दे रहा है। मैं अभी-अभी भारी कार्य से अलग हुआ हूं और मुझे नींद न आने की अभी तक शिकायत है। अपना नया घर ठीक कर रहा हूं। मेरे नये घर में अव्यवस्था और गड़बड़ का राज्य है। न कोट टांगने के लिए खूंटी है, न पुस्तक रखने के लिए अलमारी। आप शायद जानते ही होंगे कि मैं गरीब आदमी हूं। घर को ठीक-ठीक करने में एक सप्ताह लगेगा, इसके बाद इन चीजों की ओर अधिक ध्यान दूंगा। पर फिलहाल मुझे खुद दिखाई नहीं पड़ता कि मैं किस प्रकार सहायता कर सकूंगा।" उन्होंने बातचीत के दौरान तीन बार भारत जाने की इच्छा को दुहराया, और तब मैंने कहा कि यदि वह न जा सकें तो कोई और आदमी ही गांधीजी से बात करे। बंगाल के गवर्नर बात क्यों न करें? उन्हें बंगाल के गवर्नर पर गर्व था, क्योंकि वह भी स्काटलैंड के निवासी थे। मैंने कहा, "पर आपको सहायता तो करनी ही होगी। आप मंत्रिमण्डल के सदस्य हैं, आप बहुत-कुछ कर सकते हैं।" उन्होंने पूछा, "क्या आपने इंडिया आफिस से बात की है?" मैंने कहा, "हां।" उन्होंने बताया कि लार्ड

जेटलैंड भले आदमी हैं। मैंने कहा, "सो तो है, पर मुझे पता नहीं कि उनमें होर-जैसा लौह संकल्प है या नहीं।" उन्होंने कहा, "होर को बिल का समर्थन करने के मामले में न्याय का विश्वास हो गया था। जेटलैंड पहले से ही भारत के साथ सहानुभूति रखते हैं, इसलिए संभव है, उनका समर्थन अपेक्षाकृत अधिक दूरस्थ हो। पर मैं कह नहीं सकता। जो हो, पहला कदम भारत-सचिव की ओर से ही उठाया जायगा। हमारे मंत्रिमंडल की बैठक सप्ताह में एक बार दो घंटे के लिए होती है, इसलिए जेटलैंड से अधिक मिलने का अवसर नहीं मिलता है। पर वह जब किसी चीज को उठायेंगे तो वह पूरी होगी ही। वह इस बात से पूरी तौर से सचेत हैं कि यदि सुधारों को अच्छी तरह समर्थन नहीं मिला तो उनकी ख्याति को बट्टा लगेगा। अतएव आपकी बात सुनने को बाध्य हैं।" मैंने कहा, "लार्ड जेटलैंड मेरे साथ सहमत हैं और फिन्डलेटर स्टीवार्ट मेरी काफी मदद करते हैं। पर अगले कदम की बात कोई नहीं उठाता है।" मैंने उन्हें बताया कि मैं अबतक कितने आदमियों से मिल चुका हूं। उन्होंने कहा, "मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि आपने अपनी पहुंच काफी दूर तक फैला रखी है। पर आप यह मत समझिये कि वे लोग अगले कदम की बात सोच नहीं रहे हैं। वे सोच तो रहे हैं, पर वे अभी कुछ कह नहीं सकते। वे आपकी बात तो सुनेंगे ही। आप भारत इस धारणा के साथ न लौटिये कि अगला कदम है ही नहीं। आपको सफलता मिलेगी। मैं भारत जा सकता तो बड़ी बात होती, पर इसबीच मैं यह सोचूंगा कि आपकी किस प्रकार सहायता करूं। आप मुझसे एक बार फिर मिलिये।"

मैंने उन्हें बताया कि अपने नींद न आने के रोग से पीछा छुड़ाने के लिए मैंने क्या किया था। मैंने उन्हें अपनी खुराक में परिवर्तन करने की सलाह दी। उन्होंने कहा, "मुझे एक मित्र डाक्टर की दरकार है, पर वैसे मुझे डाक्टरों में आस्था नहीं है। मैं प्रतिदिन होर्डर के साथ नाश्ता करता हूं, जिससे मुझे बड़ी सहायता मिलती है।" उन्होंने पुराने दिनों का जिक्र किया जब उन्होंने भारत जाकर खूब शिकार खेला था। उन्होंने कई पुराने व्यक्तियों की भी चर्चा की जिन्होंने उनके साथ बड़ी शिष्टता का व्यवहार किया था।"

मैं व्यक्तिगत सम्पर्क के प्रचार-कार्य में जुटा हुआ था। अगले दिन मेरी मुलाकात लार्ड लिनलिथगो से हुई। मैंने दोपहर का भोजन श्रीमती बटलर के साथ किया, चाय श्री एटली और श्री लैन्सबरी के साथ ली, और रात का खाना लोकसभा के मजदूर दल के सदस्यों के साथ खाया। रात वाले भोजन-समारोह का विवरण नीचे देता हूं :

"मेजर एटली, रेस डेवीस, सेमोर काक्स, टाम स्मिथ, टाम विलियम्स, मार्गन जोन्स, जान विलमोर और चार्ल्स एडवर्ड्स उपस्थित थे। मैंने कुछ खरी-खरी बातें कही, और देखा कि कुछ लोग चिढ़ गये हैं। प्रायः सभी निर्बुद्धि और नीरस

निकले। मैंने कहा, "आप लोग एक ओर हमारी नेकनीयती पर शक करते आ रहे हैं, दूसरी ओर यह चाहते हैं कि हम आपकी सहानुभूति पर विश्वास करें, और हर बार आप ही यह तय करते हैं कि हमारे लिए क्या अच्छा रहेगा। जब हम लोग कष्ट में होते हैं तब भी आप ही निश्चय करते हैं कि इस परिस्थिति में हमारे लिए क्या अच्छा रहेगा।" एटली ने सरकारी दृष्टिकोण सामने रखा और कहा, "दोष दोनों पक्षों का है। आप लोगों ने १९३० में, जबकि सरकार हमारी थी, मामले का निपटारा न करके भारी भूल की।" मैंने कहा, "आप हमें कोई बिल नहीं दे सकते थे, क्योंकि सामन्त सभा आपके रास्ते में रुकावट डाल देती। आप मजदूर दल के सदस्य तो लम्बी-चौड़ी स्पीचें देना-भर जानते हैं। आप जो वादे करते हैं उन्हें पूरा करने का आपका इरादा बिलकुल नहीं है।" इससे कुछ लोग चिढ़ गये और मैंने बातचीत का रुख आर्थिक समस्या की ओर फेरा, पर यहां भी भारत का प्रसंग आ ही गया। मैंने कहा, "आप लोगों के रहन-सहन का स्तर विदेशी व्यापार और विदेशों में लगाई पूंजी के ऊपर निर्भर है। आप जानते ही हैं कि विदेशी व्यापार की मात्रा में कमी होती जा रही है, और कभी वह समय भी आयगा जब आपको विदेशों में लगाई पूंजी से हाथ धोना पड़ेगा। तब क्या आप अपने रहन-सहन का स्तर आंतरिक उत्पादन की सहायता से ही कायम रख सकेंगे?" उन्होंने कहा, "नहीं।" मैंने पूछा, "तो फिर आप अपना रहन-सहन सम्बन्धी स्तर और भी ऊंचा करने की आकांक्षा का मेल भारत की आत्मनिर्णय-सम्बन्धी अपनी मांग के साथ कैसे बढ़ा सकते हैं?" उन्हें इस असंगति का निर्देश कराया गया, सो उन्हें पसन्द नहीं आया। मैंने उन्हें कुछ ऐसी किंवदन्तियां सुनाईं, जो मैंने सुनी थीं। मैंने एक प्रमुख मजदूर नेता से पूछा कि उन लोगों ने श्री बेन को इंडिया आफिस में क्यों रखा जबकि भारत के सम्बन्ध में उनका ज्ञान नहीं के बराबर था। मुझे बताया गया कि एक तीव्र बुद्धि के आदमी की यहां सर्विसों के साथ और वहां भारत सरकार के साथ झड़प हो जाती है। श्री मैकडानल्ड ने बड़ी चतुरता के साथ हरेक आफिस में एक ऐसा आदमी रख दिया जो काम सुचारु रूप से चलाता रहे और सर्विसों के आगे हमेशा झुकता रहे। मुझे बताया गया कि जब सन् १९२४ में लार्ड पासफील्ड ने अपने विभाग का चार्ज संभाला तो विभाग के सभी सिविलियनों को इकट्ठा करके कहा, "सज्जनो मैं जानता हूं कि अबतक आप ही मालिक रहे हैं, और भविष्य में भी आप ही रहेंगे। इसलिए कामकाज बदस्तूर जारी रखिये।" एक अतिथि ने कहा, "बात सच्ची है। हम लोग जो कहते हैं उसे कर दिखाना सम्भव नहीं है। हमने गत परिषद् में तरह-तरह के प्रस्ताव पास किये। यदि उनपर अमल किया जाय तो सारे संसार की निधि समाप्त हो जाय।" श्री एटली को यह बात पसन्द नहीं आई और वह और भी चिढ़ गये। मैंने जो कुछ भी कहा उन्होंने उसी का खण्डन किया। उन्होंने कहा, "मजदूर दल

आपका सबसे बड़ा मित्र था। गांधी ने परस्पर-विरोधी बातें कीं, वह विचक्षण राजनीतिज्ञ हैं और उनके दिल में जो कुछ होता है उसके विपरीत बात कहते हैं। कांग्रेस में भ्रष्टाचार भरा हुआ है। भारत का कोई भी बड़ा नेता वयस्क मताधिकार नहीं चाहता। मैंने कहा, "मेजर एटली, ऐसा मालूम होता है कि आप गांधीजी को मुझसे अधिक अच्छी तरह जानते हैं। मैं इंग्लैंड अंग्रेजों का अध्ययन करने आया था, पर यह स्पष्ट है कि आप मुझे मेरे देश के सम्बन्ध में ही कुछ सिखाना चाहते हैं, परन्तु मैं आपसे कुछ सीखने को तैयार नहीं हूं।" इसके बाद हम सब लोग शांत हो गये। एटली और अन्य सदस्यों ने कहा कि मुझे अनुदार दल के कुछ युवा सदस्यों से भेंट करनी चाहिए। इस बात पर सब सहमत हुए कि वातावरण में सुधार होना चाहिए; पर सभी ने इस मामले में लाचारी जाहिर की। उन्होंने कहा कि उनके पास न शक्ति है, न प्रभाव (वे यह भी जोड़ सकते थे कि 'और न बुद्धि')। वे अपने-आपको नीचा समझने के रोग से पीड़ित हैं, वे लार्ड लिनलिथगो का वाइसराय बनना भले ही मंजूर कर लेंगे, पर अपने ही दल के किसी आदमी को मंजूर नहीं करेंगे। उन पर अनुदार दलवालों का बड़ा रौब-दाब है, या लार्ड डरबी-जैसे अत्यन्त धनी आदमियों का।

शासन-विधान के सम्बन्ध में उन्होंने कहा, "आप गवर्नर जनरल के लिए रिजर्व रखे गये अधिकारों की बात को जरूरत से ज्यादा तूल दे रहे हैं, पर यह बात भूल जाते हैं कि संसार के सभी शासन-विधानों में सर्वोच्च अधिकारी के विशिष्ट अधिकारों की व्यवस्था अवश्य रहती है। हमारे यहां भी राजा को वही अधिकार प्राप्त हैं।"

अन्त में हम लोग मित्रों की भांति विदा हुए। मैं तो नहीं समझता कि यह समय व्यर्थ नष्ट हुआ। लार्ड लिनलिथगो के साथ मेरी जो बातचीत हुई मैंने उसे भी संक्षेप में नोट कर लेने की चेष्टा की :

लार्ड लिनलिथगो :

लम्बा कद, गठीला शरीर, तीव्र बुद्धि तो नहीं, पर सुयोग्य और ठोस। कल्पना शक्ति का अभाव, काम की बात से सरोकार, स्पष्टवादी और अच्छे संकल्प रखने वाले।

मैंने अपना पुराना तर्क आरम्भ किया। दो प्रकार के वातावरण उपस्थित हैं—एक वातावरण इंग्लैंड में है, जिसमें भविष्य के लिए सदाकांक्षा और सहानुभूति की अनुभूति होती है, दूसरा भारत में है—कठोर और कड़े शासन से परिपूर्ण। भारत के लोग शासन-विधान का पारायण वहां के प्रकाश में करते हैं। ऐसी स्थिति का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि शासन-विधान भंग हो जायगा और कड़वाहट और भी बढ़ेगी। नये शासन-विधान का आरम्भ करने के लिए यह

आवश्यक है कि श्रीगणेश अच्छे ढंग से किया जाय।

उन्होंने सारी बात बड़े ध्यान से सुनी और कहा कि वह पूर्णतया सहमत हैं, पर क्या मेरे पास कोई ठोस सुझाव है ? मैंने व्यक्तिगत सम्पर्क और समझौते की चर्चा की। वह व्यक्तिगत सम्पर्क की बात पर तो राजी हुए, पर समझौते के खिलाफ थे। उन्होंने सुझाया कि पारस्परिक समझौता ठीक रहेगा। उन्होंने बताया कि यहां के अनुदार दल में ऐसे पुराने दृष्टिकोण वाले लोग हैं, जिन्हें भारत का अनुभव है, पर इंग्लैंड में समायोजन का, कहना चाहिए कि नूतन अनुस्थापन का, सिलसिला भी जारी है। ४५ से इधर की आयु वाले लोग उदार नीति के वरते जाने के पक्ष में हैं। भारत में भी समायोजन अवश्यम्भावी है। यह अवश्य समझ लेना चाहिए कि लक्ष्य-स्थान तक शासन-विधान के द्वारा ही पहुंचा जा सकता है।

मैंने कहा कि यह हो सकता है, पर व्यक्तिगत सम्पर्क के बिना नहीं। उन्होंने कहा कि श्री गांधी को दो रास्तों में से एक के सम्बन्ध में निश्चय करना होगा। भारतीय राष्ट्र के पुनर्जन्म के लिए कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर है—पारस्परिक संपर्क, मैत्री और उनके द्वारा विकास का मार्ग, अथवा अपेक्षाकृत अधिक साहसपूर्ण कदम-वाला मार्ग, जिसके द्वारा वर्षों तक अशांति और अव्यवस्था का बोलबाला रहे और जिसके द्वारा स्वतन्त्रता भी संभव है, और उलटी खराबी भी।

मैंने उत्तर दिया कि गांधीजी ने कभी रक्तपातपूर्ण क्रांति में आस्था नहीं रखी। मुझे उसमें कोई खराबी दिखाई नहीं देती है, पर मैं जानता हूं कि उससे हमें सहायता मिलने वाली नहीं है, इसलिए मैं भी सम्पर्क और मित्रता का इच्छुक हूं। गांधीजी का रुख इस सम्बन्ध में बिलकुल स्पष्ट है। मैंने अगाथा हैरिसन के नाम उनका पत्र दिखाया। उन्होंने उसे चाव के साथ पढ़ा और कहा, "हां, यह बड़े महत्त्व का है। मैं आपसे सहमत तो हूं, पर मेरे दिमाग में कोई योजना नहीं है। मैं इस पर विचार करूंगा। यदि कोई बात संभव नहीं होगी तो साफ-साफ कह दूंगा। इस बीच आप अन्य लोगों से मिलिये और १० तारीख के आसपास खबर दीजिये। तभी हमारी दुबारा बातचीत होगी। पर जब स्वतन्त्रता-प्राप्ति के ढंग पर आपने अपनी सम्मति दी है तो मुझे भी अपनी सम्मति देने की अनुमति दीजिये। रक्तपातपूर्ण क्रान्ति साहसपूर्ण कदम अवश्य होगा, पर वह गलत कदम होगा। यातायात-सम्बन्धी सुविधाएं उपलब्ध होने के फलस्वरूप अब संसार बहुत संकुचित हो गया है, इसलिए उसका सफल होना उतना आसान नहीं है। इसके विपरीत मित्रतापूर्ण वातावरण में शासन-विधान को अमल में लाने का परिणाम ठोस होगा।"

मैंने कहा कि मैं निष्कर्ष से तो सहमत हूं, पर तर्क से नहीं। आज शासन-विधान प्राणशून्य देहमात्र है। सुन्दर-से-सुन्दर देह भी प्राणशून्य होने पर केवल

दाह के उपयुक्त होती है। मैं चाहता हूं कि शासन-विधान एक स्पंदनयुक्त शरीर हो। केवल पारस्परिक सम्पर्क और पारस्परिक समझौते के द्वारा ही ऐसे प्राणों का संचार हो सकता है।

वह पुनः सहमत हुए और उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया कि भारत की सिविल सर्विस और व्यापार में जो अंग्रेज हैं, वे इंग्लैंड के कोई बहुत अच्छे प्रतिनिधि नहीं हैं।

१६. इंग्लैण्ड की बड़ी-बड़ी आशाएं

मैं गांधीजी की ओर से प्रत्येक संभव प्रयास कर लेना चाहता था और इसलिए मैंने उन सभी आदमियों से भेंट की, जो सहायक हो सकते थे।

मैं भूतपूर्व भारत-मंत्री सर आस्टिन चेम्बरलेन, जिन्होंने वाइसराय का पद ग्रहण करने का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था, केंटरबरी के लाट पादरी, श्री बाल्डविन, 'टाइम्स' के संपादक ज्योफरी डासन, सर वाल्ट रलेटन, 'न्यू स्टेट्स-मैन' के श्री किंगसले मार्टिन, 'मैन्चेस्टर गार्जियन' के श्री बोर्न तथा अन्य लोगों से मिला। उस समय अनुदार दल के लोग सत्तारूढ़ थे। भारतीय शासन-विधान के निर्माता वही थे, और वे सभी हितैषिता का दम भरते थे। मजदूर दल के और नरम लोगों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता था।

बाल्डविन लार्ड हेलीफैक्स के विशेष रूप से प्रशंसक थे। उनके सम्बन्ध में उनकी बड़ी ऊंची धारणा थी। यह स्पष्ट था कि लार्ड हेलीफैक्स के साथ मेरी जो मित्रता थी वह उनके निकट मेरी सबसे बड़ी सिफारिश थी। उनकी एक अजीब-सी आदत थी कि वह बिना किसी खास कारण के हर दो-तीन मिनट के अन्तर पर ठहाका मारकर हंस पड़ते थे। वह कहते थे कि पांच वर्ष तक प्रधानमंत्री की हैसियत से घोर परिश्रम करने के बाद अब वह थक गये हैं। हां, बीच-बीच में कुछ ऐसा समय भी अवश्य गुजरता है जब वह थकावट महसूस नहीं करते।

स्वर्गीय लार्ड सेलिसबरी के साथ मेरी बातचीत का विवरण इस प्रकार है :

"वृद्ध और बहरे। न अधिक सामर्थ्य है, न विशेष बुद्धि। पर अपने उत्तर-दायित्व की ओर से सचेत हैं। मुझसे पूछने लगे कि क्या मुझे गांधीजी प्रिय लगते हैं। मैंने कहा, "हां।" उन्होंने कहा कि उन्हें गांधीजी से मिलने का सुयोग कभी नहीं मिला। मैंने उन्हें बिल के प्रति उनके विरोध की याद दिलाई और कहा कि

मैं भी बिल के खिलाफ ही हूं, पर अन्य कारणों से। मैंने कहा, "यह प्रगति अपर्याप्त है, पर क्या हम लोग राजनैतिक मतभेद के बावजूद बिल को सफल बनाने में मित्रों की तरह आचरण नहीं कर सकते ?" उन्होंने पूछा, "क्या हम इस समय मित्र नहीं हैं ?" मैंने कहा, "नहीं। इस समय भारत में गलतफहमी और विरोध की भावना का वातावरण व्याप्त है।" उन्होंने उत्तर दिया, "मैं श्री गौर के संपर्क में आ चुका हूं। क्या वह भारत का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं ?" मैंने कहा कि उन्हें व्यवस्थापिका सभा में जाने के लिए एक भी निर्वाचन-क्षेत्र न मिलेगा। वह बोले, "हां, यह मैं जानता हूं।" उन्होंने ठोस सुझाव मांगा। मैंने कहा, "हेलीफैक्स की भावना को पुनः जीवन दीजिये। उन्होंने कहा कि वह हेलीफैक्स से सहमत नहीं हैं, परन्तु हेलीफैक्स ने जो कुछ किया वह केवल हेलीफैक्स के लिए ही सम्भव था, अच्छे आदमी हैं। डर्बी भी अच्छे आदमी हैं।" पर उनके साथ पटरी नहीं बैठती है। मैंने कहा, "और इस पर भी आप मित्र बने रह सके हैं।" वह सहमत हुए और बोले कि राजनैतिक मामलों में सहमत हुए बिना भी वे मित्र बने रह सके।

उन्होंने गांधीजी की साधुता, महान् चरित्र और सदाकांक्षाओं की सराहना की, पर साथ ही कहा, "सबसे बड़ी भूल की बात यही है कि आप भारतीय लोग सद्गुणों और अनुभव को एक समझ लेते हैं। इंग्लैंड को १००० वर्ष का अनुभव प्राप्त है। आप लोग इस मामले में बिलकुल कोरे हैं।" मैंने कहा, "हमारी पृष्ठ-भूमि इंग्लैंड की अपेक्षा कहीं पुरानी और गौरवपूर्ण है।" उन्होंने कहा, "मैं तो घटाकर नहीं कहना चाहता हूं। आपकी सभ्यता और आपके दर्शन-शास्त्र किसी भी देश की सभ्यता और दर्शन-शास्त्रों से पुराने हैं, पर यह प्रजातंत्र तो नहीं है। आप को अभी सीखना है।" मैंने कहा, "क्या आप लोगों ने भूलें नहीं कीं ?" उत्तर मिला, "हां।" मैंने कहा, "हम लोगों में कुछ चीजों का अभाव है, इसी कारण हम मैत्री की चर्चा चला रहे हैं।"

आदमी तो अच्छे हैं, किन्तु मैं तो नहीं समझता कि वह विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे।"

बात विचित्र-सी है, पर श्री विन्सटन चर्चिल की भेंट मेरा सबसे सुखद अनुभव था। वह भारत शासन-विधान बिल के सबसे बड़े विरोधी थे और उन्हें सदन में सरकारी पक्ष की ओर से आक्रमण करने की सुविधा प्राप्त थी। पर मैंने उन्हें आग उगलने वाला नहीं पाया। उन्होंने मुझे अपने ग्राम्य निवास-स्थान चार्टवेल पर दोपहर के भोजन के लिए बुलाया। उस भेंट का ब्योरा यह है :

"बहुत ही असाधारण व्यक्ति हैं। निजी बातचीत में भी उतने ही ओजस्वी

हैं, जितने सार्वजनिक व्याख्यानों में। उनके साथ जो बातें हुईं, उन्हें तद्वत् देना असम्भव है। मैं उनके साथ दो घंटे रहा।

श्रीमती चर्चिल भी बड़ी रोचक हैं, पर जब उनके पति बात करते हैं तो वह चुपचाप सुनती-भर हैं। वह गत वर्ष केवल छः घंटे के लिए भारत में ठहरी थीं।

जिस समय मैं वहां पहुंचा, श्री चर्चिल अपने उद्यान में थे। उन्हें उनकी धर्म-पत्नी ने बुला भेजा। वह मजदूरों का एक जामा पहने हुए थे, जिसे उन्होंने दोपहर के भोजन के समय भी नहीं बदला। इसके बाद वह बड़ा-सा परदार टोप ओढ़कर फिर उद्यान में चले गये। भोजन के बाद वह उद्यान में मुझे भी अपने साथ लेते गये। उन्होंने मुझे चारों ओर घुमाकर उद्यान दिखाया और वे इमारतें भी दिखाईं, जो उन्होंने बनाई थीं और वे ईंटें दिखाईं, जो उन्होंने स्वयं अपने हाथ से तैयार की थीं। उन्होंने वे चित्र भी दिखाये, जो उन्होंने बनाये थे।

मकान, उसके आसपास की वस्तुएं, उनका तैरने का हौज—सभी कुछ अत्यन्त आकर्षक है। तैरने के हौज के पानी को एक बायलर द्वारा गर्म रखा जाता है। एक पम्प जल को हौज में से खींचता है, उसे गर्म करता है, छानता है और उसे फिर हौज में वापस भर देता है। श्री चर्चिल ने मुझे बताया कि वह पुस्तकें लिखकर जीविका अर्जन करते हैं। मैंने स्वगत कहा, "तब तो इस विलासिता का काफी मूल्य चुकाना पड़ता होगा।" पर उन्होंने बताया कि वह इस हौज पर केवल तीन पौंड प्रति सप्ताह खर्च करते हैं। बातचीत में तीन-चौथाई हिस्सा उनका था, बाकी एक-चौथाई में मैं और श्रीमती चर्चिल थे। मैं बीच-बीच में उनकी कोई बात ठीक करने के लिए अथवा एकाध प्रश्न करने के लिए बोल उठता था, पर वैसे मुझे उनकी बातचीत बड़ी अच्छी लगी। बातचीत से कभी ऊब पैदा नहीं हुई और कभी-कभी उन्होंने काफी भावातिरेक प्रकट किया। पर उन्हें भारत के सम्बन्ध में बिलकुल गलत जानकारी है। उनकी कुछ अपनी धारणाएं हैं। उदाहरण के लिए, उनका विश्वास है कि भारत के गांव शहरों से बिलकुल अलग हैं। मैंने उनकी भूल सुधारी और कहा कि भारत में कोई भी शहरी सोलह आने शहरी नहीं है, हरएक का गांव से सम्पर्क बना हुआ है। मैं जिन पच्चीस हजार आदमियों को अपनी मिलों में लगाये हुए हूं, वे वर्ष में एक से अधिक बार अपने घर जाते हैं। इस प्रकार वास्तव में लिस्ट में ५०,००० व्यक्ति हैं। उनका यह भी खयाल था कि मोटर गाड़ियां गांव तक नहीं पहुंची हैं। मैंने उनकी यह भूल भी सुधारी; अमरीकी मोटर गाड़ियां सड़कों के बिना भी यात्रा कर सकती हैं, इसलिए मोटर गाड़ियां देश के कोने-कोने में जा पहुंची हैं।

उनकी धारणा थी कि शिक्षित व्यक्ति—ग्रेजुएट और राजनेता—सब शहरों में ही हैं। मैंने उनकी यह भूल भी ठीक की। मैंने कहा, "मैं अपने गांव में से ही आधा दर्जन ग्रेजुएट निकाल सकता हूं। हां, वे अपने गांव में बीच-बीच में आ

जाते हैं, वहां स्थायी रूप से ठहरते नहीं हैं।"

उन्हें अपने-आपको अनुदार बताने का बड़ा गर्व है। उन्होंने कहा, "पिछले तीन वर्षों में भारत में १० करोड़ प्राणी और बढ़ गये हैं। उनके निर्वाह का प्रश्न भी एक समस्या है। उत्पादन में वृद्धि करने के लिए शान्ति आवश्यक है। जबतक हम कानून और व्यवस्था बनाए रखेंगे तबतक सबकुछ ठीक रहेगा, पर भारत में तो साम्प्रदायिक दंगे होते रहते हैं—लाहौर, कानपुर, कलकत्ता सब जगह। अब इन दंगों की संख्या में वृद्धि होगी और फल भोगना पड़ेगा जनता को।" मैंने उन्हें बताया कि पंजाब में एक देहाती दल भी है, जिसमें जाट और मुसलमान शामिल हैं। उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार के अन्तर्गत शायद आर्थिक ढंग के दल बनेंगे। इससे अवस्था में सुधार सम्भव है। साम्प्रदायिक निर्णय से कोई सहायता नहीं मिली, पर आपसी समझौते के अभाव में वह अनिवार्य था। मैंने उन्हें यह भी बता दिया कि मेरा दृष्टिकोण इतना निराशापूर्ण नहीं है। उन्होंने कहा, "सम्भव है, आपकी बात ठीक हो।"

उन्होंने पूछा, "गांधीजी क्या कर रहे हैं?" मैंने बताया। उन्हें बड़ी दिलचस्पी हुई। उन्होंने कहा, "जब से गांधीजी ने अस्पृश्यों का पक्ष लेना आरम्भ किया है, वह मेरी दृष्टि में बहुत ऊंचे उठ गये हैं।" उन्होंने अस्पृश्यता-निवारण-कार्य के सम्बन्ध में विशेष जानकारी हासिल करने की इच्छा प्रकट की। मैंने बताया। उन्हें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मैं अस्पृश्यता-निवारक संघ का प्रधान हूं। इसके बाद उन्होंने गांधीजी के ग्रामोद्धार-सम्बन्धी कार्य के सम्बन्ध में जानना चाहा। मैंने बताया। उन्होंने पूछा, "भारतीय किसान की कृषि-सम्बन्धी प्रणाली पिछड़ी हुई क्यों है?" उन्होंने कहा कि यह लार्ड लिनलिथगो की राय है। मैंने बताया कि इसका कारण यह है कि बराबर उसकी उपेक्षा होती रही है। "अब तो आपको अवसर मिल ही रहा है। मुझे बिल अच्छा नहीं लगता है, पर अब वह कानून बन ही गया है। अब मैं उसके सम्बन्ध में अधिक माथापच्ची नहीं करूंगा, पर आप हमें यह कहने का मौका मत दीजिये कि हम तो पहले ही जानते थे कि यह असफल सिद्ध होगा। यदि ऐसा हुआ तो अनुदार दलवालों को हर्ष होगा। आप लोगों के हाथ में अपार शक्ति आ गई है। सिद्धान्त रूप में सारी शक्ति गवर्नरों के हाथ में है, पर वास्तव में उनके हाथ में कुछ नहीं है। सिद्धान्त-रूप राजा के हाथ में सारी शक्ति है, पर व्यवहार में उसके हाथ में कुछ भी नहीं है। जब समाजवादियों ने शासन की बागडोर हाथ में ली थी तो उनके हाथ में सारी शक्ति थी, पर उन्होंने कोई उन्मूलक कार्य नहीं कर दिखाया। गवर्नर लोग कभी अभिरक्षण काम में नहीं लायंगे, इसलिए आप विधान को सफल बनाइये।" मैंने पूछा, "आपका सफलता का मापदण्ड क्या है?" उन्होंने उत्तर दिया, "मेरा मापदण्ड जनसाधारण की नैतिक और मौलिक अवस्था में सुधार है। मुझे इसकी चिन्ता

नहीं है कि आप ब्रिटेन के प्रति कितने वफादार हैं, मुझे अधिक शिक्षा-प्रसार की भी चिन्ता नहीं है। पर जन-साधारण को मक्खन अवश्य दीजिये। मैं तो मक्खन का समर्थक हूं। जैसा कि फ्रांस के राजा ने कहा था—मुर्गी को हांडी में डालो। जी हां, मैं तो हमेशा मक्खन का हामी रहा हूं। गायों की संख्या में कमी करिये, पर उनकी नस्ल सुधारिये। हरएक खेतिहर अपना जमींदार हो। सबसे बढ़िया नस्ल को जिबह मत होने दीजिये। हरएक गांव के लिए एक सांड़ की व्यवस्था कीजिये। गांधीजी से कहिये कि जो अधिकार दिये जा रहे हैं, उन्हें काम में लावें और विधान को सफल बनावें। गांधीजी इंग्लैंड में थे उस समय मैं उनसे नहीं मिला था। अवस्था ही कुछ ऐसी भोंड़ी थी, पर मेरा लड़का तो उनसे मिला ही। अब मैं उनसे मिलना चाहूंगा। मरने से पहले एक बार भारत जाने की साध है। यदि गया तो कोई छह महीने ठहरूंगा।"

उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या गांधीजी शासन-विधान का विध्वंस करना चाहते हैं? मैंने कहा, "गांधीजी उदासीन हैं। उनका विश्वास है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता बिलकुल हमारी चेष्टाओं के द्वारा ही प्राप्त होगी और राजनैतिक प्रगति हमारे ऊपर ही निर्भर करती है। अतएव वह जनता के उत्थान में दत्त-चित्त हैं। शासन-विधानों में उन्हें विशेष रुचि नहीं है।" वह सहमत हुए। पूछा कि यदि वह भारत गये तो क्या उनकी आवभगत की जायगी। मैंने कहा, "आप इस ओर से निश्चिन्त रहिये।" उन्होंने बताया कि जबतक लार्ड विलिंग्डन वहां हैं तबतक वह वहां नहीं जाना चाहते हैं, पर उनके चले आने के बाद वह अवश्य जाना चाहेंगे। बोले, 'भारत के प्रति मेरी वास्तविक सदाकांक्षा है। भारत के भविष्य के सम्बन्ध में मैं सचमुच चिन्तातुर हूं। मेरी धारणा है कि भारत हमारे लिए भारस्वरूप है। हमें सेना रखनी पड़ती है। यदि भारत अपनी देख-भाल स्वयं कर सके तो हमें आनन्द होगा। आदमी का जीवन है ही कितना? मैं अधिक स्वार्थपरता से काम नहीं लूंगा। यदि सुधार सफल सिद्ध हुए तो मुझे बेहद खुशी होगी। मेरी हमेशा से धारणा रही है कि पचास भारत हैं। अब आपको असली पदार्थ मिल ही गया है, आप उसे सफल बनाइये और यदि आपने ऐसा किया तो आप जब और अधिक की मांग करेंगे, मैं आपका समर्थन करूंगा।"

मैं वहां जो कुछ कहता रहा था उसका मैंने एक संक्षिप्त विवरण तैयार किया और उसकी प्रतिलिपि लार्ड हेलीफैक्स को भेजी, जिससे मेरे विचारों का स्पष्टीकरण हो जाय। वह विवरण इस प्रकार है :

"गांधी-अरविन समझौता भारत और ब्रिटेन को एकसूत्र में बांधने की दिशा में एक बड़ा कदम था। उसने एक उदाहरण कायम किया। उसने अव्यवस्था फैलाकर राजनैतिक प्रगति करने के तरीके की जड़ों पर प्रहार किया और पारस्परिक

चर्चा और विश्वास के तरीके की स्थापना की, किन्तु उसके फलितार्थों को समझौते के रचयिताओं को छोड़ बहुत कम लोगों ने समझा। समझौते के कागज की स्याही भी मुश्किल से सूख पायी होगी कि दोनों ही देश से बाहर चले गये।[1] अगर वे दोनों भारत में रहे होते तो समझौता जीवित रहता। कांग्रेस के अनुयायी और सरकारी हलके इन दोनों ने ही समझौते को गलत समझा। कांग्रेसी लड़ना तो जानते थे, किन्तु यह नहीं जानते थे कि समझौता किस तरह किया जाता है। सरकारी हलकों ने यह कभी नहीं छिपाया कि उन्हें उत्तेजना फैलाने वालों से अरुचि है। उनसे चर्चा करने का अर्थ अपनी प्रतिष्ठा घटाना था। इसलिए समझौते ने अलग-अलग कारणों से दोनों पक्षों में असन्तोष पैदा कर दिया और दोनों ने ही उसे पहला अवसर मिलते ही दफना दिया।

इसके बाद दूसरा संघर्ष शुरू हुआ और आर्डिनेन्स राज चला। कांग्रेस को दबा दिया गया। गांधीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का दौर शुरू हुआ। गांधीवाद अपने विशुद्ध रूप में अहिंसा, सचाई और कष्ट-सहन द्वारा अंग्रेजों का हृदय-परिवर्तन करने में विश्वास रखता है। घृणा का उसमें कोई स्थान नहीं, ऐसा माना जाता है; किन्तु वातावरण घृणा से व्याप्त है, कारण सत्याग्रहियों ने गांधीवाद को उसके विशुद्ध रूप में कभी अंगीकार नहीं किया। उग्रपंथियों ने उससे फायदा उठाया, किन्तु उसमें उनकी आस्था न थी। उनका लक्ष्य राजनैतिक स्वतन्त्रता-प्राप्ति है, साधनों की उन्हें चिन्ता नहीं है। इस प्रकार कांग्रेस की हार ने एक नई शक्ति को जन्म दिया, जिसका सिद्धांत ही दूसरा था।

आमरण-अनशन और अस्पृश्यता-विरोधी आंदोलन के बाद स्थिति ने मूर्त रूप धारण कर लिया। उग्रपंथियों को गांधीवाद की उपयोगिता में संदेह होने लगा। वे वाम पक्ष की ओर झुक गये, जबकि लोकमत के एक अन्य महत्त्वपूर्ण अंग को असेम्बली-बहिष्कार के औचित्य में सन्देह होने लगा। इस समय गांधीजी ने महसूस किया कि संसदीय कार्यशीलता स्थायी बन चुकी है। साथ ही उन्होंने यह भी देखा कि कांग्रेस के अनुयायियों में अहिंसा के वेश में हिंसा घुस आई है। इसलिए वह सविनय अवज्ञा आंदोलन बन्द कर सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक बुराइयों को दूर करने के काम में जुट गये। उन्होंने हरिजन-सेवा और ग्राम-सुधार का काम प्रारम्भ किया। इस प्रकार वह कांग्रेस की शुद्धि करना चाहते थे। गांधीजी ने हमेशा यह माना है कि स्वराज्य भीतर से आयगा, बाहर से नहीं। गांधीजी ने अनुभव किया कि अपने विचारों को लोगों पर लादा तो जा सकता है, किन्तु लोगों के लिए उनको पचाना कठिन होगा। इसलिए उन्होंने

---

१. अरविन का कार्यकाल खत्म हो गया और वे इंग्लैंड चले गये। गांधीजी गोल मेज परिषद् में शामिल होने विलायत चले गये थे।

अपने विचारों पर आग्रह करने की अपेक्षा कांग्रेस की सक्रिय सदस्यता से अलग होना ही अच्छा समझा।

असेम्बली भंग कर दी गई, इससे संसदीय मनोवृत्ति वाले दल को नया बल प्राप्त हुआ। उग्रपंथियों ने इसका विरोध किया, कारण उनकी यह धारणा थी कि उससे आम जनता का ध्यान कार्यक्रम से हट जायगा। किन्तु वे प्रतिरोध नहीं कर सके। चुनाव हुए। गृह मन्त्री कांग्रेस नेता श्री भूलाभाई देसाई की भावना और भाषणों से प्रभावित तो हुए, पर मानवीय सम्पर्क के दर्शन नहीं हुए। सरकार ने व्यक्तिगत सम्पर्क और पारस्परिक समझौते के महत्त्व को न पहचानकर एक अच्छा-खासा अवसर हाथ से गंवा दिया। असेम्बली के अधिवेशन के समाप्त होते-न-होते विरोधी पक्ष के भाषण अधिकाधिक उत्तरदायित्व-शून्य होते गये। कांग्रेसी सदस्यों ने वाइसराय की अतिथि-पुस्तिका में हस्ताक्षर नहीं किये, जिससे लार्ड विलिंग्डन चिढ़ गए। खाई और भी चौड़ी हुई, उग्रपंथियों की शक्ति बढ़ी। जब हाल ही में जबलपुर-कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक हुई और असेम्बली के काम का पर्यालोचन होने लगा तो इस वर्ग (कांग्रेस समाजवादी पार्टी) ने संसदीय कार्यशीलता में आस्था रखने वाले सदस्यों के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला विद्रोह कर दिया। अनेक उग्र प्रस्ताव पेश किये गए और नाम-मात्र की जीत भी हासिल हुई। स्थिति को दक्षिणपक्ष वालों की, खासकर श्री राजगोपालाचार्य की, व्यवहार-कुशलता और बुद्धिमता के द्वारा ही संभाला जा सका। इस प्रकार दक्षिणपक्षीय कांग्रेसियों को दो शक्तियों से लड़ना पड़ रहा है: एक ओर तो सरकार से और दूसरी ओर समाजवादियों से। समाजवादी सीधा हमला कर रहे हैं। वे नेताओं को यह कहकर बदनाम करते हैं कि वे कुछ भी हासिल नहीं कर सके। सरकार दक्षिण पक्ष की उपेक्षा करके अप्रत्यक्ष रूप से समाजवादियों की सहायता कर रही है। इस प्रकार दक्षिण पक्ष दो शक्तियों के बीच कुचला जा रहा है। इसका परिणाम या तो यह होगा कि दक्षिण पक्षवाले हट जायंगे और समाजवादियों के लिए मैदान खाली छोड़ देंगे, या यह होगा कि वे लोकमत को अपने साथ रखने के लिए सुधारों के सम्बन्ध में कोई उग्र कार्यक्रम अपनायंगे। वर्तमान वातावरण का कांग्रेस के दक्षिण पक्ष पर यही प्रभाव पड़ा है। मुसलमानों पर यह प्रभाव पड़ा है कि वे यह मानने लगे हैं कि उनके बुरे कामों की ओर से भी आंखें मूंद ली जायंगी। हाल ही में मुलतान की एक सार्वजनिक सभा में प्रस्ताव पास किया गया कि पैगम्बर की आलोचना करने के लिए अमुक हिन्दू को मौत के घाट उतार दिया जाय। पुलिस को इसका पता तुरन्त चल गया, किन्तु उस हिन्दू को नहीं बचाया जा सका और उसकी हत्या हो ही गई। यह स्थिति खतरनाक है और इसके परिणाम गम्भीर हो सकते हैं। जब सरकार कोई कड़ी कार्रवाई करती है, जैसा कि कराची में किया गया, तो उसकी गम्भीर प्रतिक्रिया होती है।

इस वातावरण से सरकारी अमला भी अछूता नहीं रहा है। चाहे कैसा ही लोकप्रिय आंदोलन हो, उसे शंका और विरोध की भावना से देखने की मनोवृत्ति एक ऐसी बात है, जिसका भविष्य में गम्भीर परिणाम हो सकता है। ऐसे वातावरण में रचनात्मक काम असम्भव हो जाता है। सरकार कानून और व्यवस्था कायम रखने में जुटी है और लोग सरकार से मोर्चा लेने में संलग्न हैं।

और इधर सरकार ने विश्वस्त भारतीय नेताओं को क्वेटा न जाने देने का जो निश्चय किया है उससे सारे भारत में रोष की लहर फैल गई है। वातावरण में पहले से ही खिचाव मौजूद था, इस निश्चय ने असन्तोष के एक नये कारण को जन्म दिया है।

भारत के नये विधान का सूत्रपात ऐसे ही वातावरण में किया जायगा जबकि न व्यक्तिगत सम्पर्क मौजूद है, न पारस्परिक विश्वास।

इंग्लैंड में भारत के प्रति वास्तविक सहानुभूति और सद्भावना मौजूद है। यहां सबका हृदय से विश्वास है कि विधान के द्वारा वास्तविक प्रगति करने वाला कदम उठाया गया है, कि उससे भारतीयों को सचमुच भारी अधिकार मिलेंगे और भारत अपने लक्ष्य-स्थान तक पहुंच सकेगा। इस नेकनीयती की अनुभूति इंग्लैंड में ही होती है, भारत उससे बिलकुल बेखबर है। भारत में इन प्रस्तावों को प्रतिगामी कदम समझा जाता है। इसका कारण यह है कि पारस्परिक विश्वास, मित्रता और व्यक्तिगत सम्पर्क के बिना कोई साझेदारी सम्भव हो सकती है, ऐसा विश्वास करने को कोई भी भारतवासी तैयार नहीं है। भारत के लोग शासन-विधान को पढ़ते हैं और उसकी शब्दशः व्याख्या करते हैं, तो उन्हें यही दिखाई देता है कि उसमें वाइसराय और गवर्नरों के हाथ में कितने विशाल अधिकार सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई है। वे इस स्पष्टीकरण को केवल मित्रतापूर्ण वातावरण में ही स्वीकार कर सकते हैं कि शोधक प्राधिकारी (corrective authority) की व्यवस्था सभी विधानों में है।

यदि नये विधान को दोनों देशों के हित में सफलतापूर्वक अमल में लाना है तो यह नितान्त आवश्यक है कि वर्तमान वातावरण को बदलने के लिए तुरन्त कुछ-न-कुछ किया जाय। एक नई भावना को जन्म देना होगा, ऐसी भावना को जो अरविन-गांधी समझौते में व्याप्त थी।

समझदार भारतीय स्त्री-पुरुष अंग्रेजों की सहायता की आवश्यकता को समझते हैं, वे उनकी मित्रता की कामना करते हैं। इसलिए प्रश्न यही है कि एक ओर सरकार की स्थिति और प्रतिष्ठा को और दूसरी ओर भारतीयों की स्थिति और स्वाभिमान को ध्यान में रखकर इस मित्रता को कैसे प्राप्त किया जाय।

इसी बात को ध्यान में रखकर मैं निम्न सुझाव प्रस्तुत करने का साहस करता हूं :

१. पहला कदम जो उठाया जाय वह हो व्यक्तिगत सम्पर्क, जिससे और अधिक सम्पर्क स्थापित हो सके व एक-दूसरे को समझने की दिशा में प्रगति हो। परेशान करने वाली व अनावश्यक अटकलवाजी से वचने के लिए भेंट अनौपचारिक तौर पर और किसी गैर राजनैतिक विषय को लेकर हो तो अच्छा रहेगा।

२. यह सम्पर्क वढ़ाया जाय। एक-दूसरे का दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न किया जाय। यदि यह समझा जाय कि दिल्ली में सफलता सम्भव नहीं है तो सर जान एंडरसन-जैसा आदमी इन प्रश्नों को हाथ में ले।

३. अगर अन्तिम पूर्ति भावी वाइसराय के द्वारा करानी हो तो अंतरिम काल का उपयोग उसके लिए भूमिका तैयार करने में किया जाय, जिससे खाई और चौड़ी न हो सके।

४. इसके लिए सबसे अच्छा वातावरण इंग्लैंड में ही मिल सकता है, अतः क्या यह सम्भव नहीं है कि गांधीजी को और किसी काम से इंग्लैंड वुला लिया जाय? मुझे याद पड़ता है कि उन्हें सन् १९२९ में या तो चर्च के कुछ लोगों ने या किसी विश्वविद्यालय ने निमन्त्रण दिया था।

५. क्या भारत-मन्त्री या भावी वाइसराय अगली सर्दियों में वहां जाने वाले किसी कमीशन के अध्यक्ष वनकर भारत जा सकते हैं?

६. साथ ही क्या यह संभव नहीं है कि किसी तीसरे आदमी की मार्फत विचार-विनिमय किया जाय, जिससे दोनों पक्षों की ओर से उपयुक्त घोषणाएं की जा सकें? वैसी अवस्था में व्यक्तिगत सम्पर्क की वारी इन घोषणाओं के वाद आवेगी।"

लार्ड हेलीफैक्स ने अपने उत्तर में कहा कि वह इस विवरण की एक प्रति भारत के भावी वाइसराय लार्ड लिनलिथगो को भेज रहे हैं।

लार्ड लिनलिथगो से मैं कई वार मिला और इंग्लैंड से रवाना होने से पहले उन्हें एक पत्र भी भेजा, जिसमें मैंने लिखा :

"मैं दो-एक बातें और भी कह देना चाहता था। नये वाइसराय को अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के निमित्त कठोर परिश्रम करना पड़ेगा, इसलिए उन्हें किसी ऐसे आदमी की सहायता की दरकार हो सकती है, जो पक्षपात से मुक्त हो। क्या लार्ड विलिंग्डन की भांति नये वाइसराय के लिए भी अपना प्राइवेट सेक्रेटरी यहां से ले जाना अच्छा नहीं रहेगा?

जब नये वाइसराय व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित कर चुकेंगे तो कुछ समस्याएं विचारार्थ उपस्थित होंगी। मैं उन्हें यहां दे रहा हूं, जिससे आप उनका हल सोच सकें :

१. अहिंसात्मक राजनैतिक बन्दियों की रिहाई। इनकी संख्या अधिक तो नहीं है, पर इनमें अब्दुल गफ्फार खां और पंडित नेहरू-जैसे व्यक्ति हैं। शायद पंडित नेहरू को शीघ्र ही रिहा कर दिया जायगा।

२. जब्त की गई भूमि की वापसी। गांधी-अरविन पैक्ट में यह बात मान ली गई थी, पर पैक्ट का अन्त होने पर यह बात खटाई में पड़ गई। जबतक कांग्रेस-वादियों के सहकर्मी इस प्रकार बीच में लटके रहेंगे, उन्हें पदों पर बने रहना नहीं भायेगा।

३. आतंकवादियों की समस्या को भी हल करना होगा। आतंकवाद से पूरी तरह निस्तार पाने के हेतु किसी-न-किसी प्रकार की योजना का पता लगाना ही होगा। इस मामले में कांग्रेस और सरकार, दोनों का दृष्टिकोण समान है, पर उनकी कार्य-प्रणाली जुदा-जुदा है। कांग्रेस दंड द्वारा नहीं, मेल के द्वारा आतंक-वाद का अन्त करना चाहती है। जहां एक ओर कांग्रेस को अपनी कार्यप्रणाली में से दंड को बाद नहीं देना चाहिए, वहां मेरी राय में सरकार को भी मेल का मार्ग नहीं त्यागना चाहिए। मैं एक ऐसी अवस्था की बात सोच रहा हूं जिसके अन्तर्गत सरकार और विरोधी वर्ग, दोनों ही एक समान दृष्टिकोण अपना सकें और इस प्रकार आतंकवाद का पूरी तौर से मुकाबला कर सकें। श्री शरतचंद्र बोस की रिहाई एक ठीक दिशा में उठाया गया कदम है, और मैं समझता हूं उनके भाई श्री सुभाषचन्द्र बोस पर भी काबू पाया जा सकता है। ऐसे किसी फार्मूले को खोज निकालना सर जान एंडरसन के बुद्धिकौशल के लिए असम्भव नहीं है।

मैं ये सारी बातें मात्र आपके विचारार्थ लिख रहा हूं, क्योंकि किसी-न-किसी दिन आपको इन बातों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना पड़ेगा और आप शायद पहले से ही सोच रखना अच्छा समझें।

आपके सौजन्य और सद्भावना के लिए धन्यवाद।"

इस प्रकार मैंने इंग्लैण्ड से काफी बड़ी आशाएं लेकर विदा ली। लार्ड लोदि-यन के इस पत्र से कि नये वाइसराय लार्ड लिनलिथगो हमारे राष्ट्रीय नेताओं के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने का निश्चित उद्देश्य लेकर भारत पहुंचेंगे, मुझे खास तौर से प्रसन्नता हुई।

१७. भारत-वापसी

सितम्बर १९३५ में मैं भारत लौटा और तुरन्त वर्धा गया, ताकि गांधीजी के साथ रहकर उन्हें खुद अपनी जबानी अपने संस्मरण सुना सकूं। गांधीजी का यह अनुभव करना स्वाभाविक ही था कि मुझे इंग्लैण्ड में जिस मित्रता के दर्शन हुए, वह अभी भारत के सरकारी हलकों में व्याप्त नहीं हुई है। फिर भी उन्होंने मुझसे लिनलिथगो और दूसरों को यह लिखने को कहा कि वह वाइसराय के भारत पहुंचने के पहले सुधारों के बारे में कांग्रेस को कोई भी नया निश्चय न करने की सलाह देंगे और इस उद्देश्य की सिद्धि में अपने प्रभाव का उपयोग करेंगे। अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए लार्ड लोदियन ने जो टिप्पणी की उसे यहां देना प्रासंगिक प्रतीत होता है :

"सरकार चलाना बड़ा ही कठिन कार्य है। अरस्तू और यूनानी लोग इसे सबसे बड़ी कला समझते थे। लोग शासन करना तभी सीख सकते हैं जब वे उत्तरदायित्व ग्रहण करें और अपने विचारों को अनुभव की कसौटी पर कसें। मेरा विश्वास है कि भारत का समूचा भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि उसका युवा समाज प्रान्तों में और उसके बाद केन्द्र में शासन-भार ग्रहण करने के हेतु निर्वाचनों में जोर-शोर के साथ भाग लेता है या नहीं। भारत का शासन-विधान चाहे जो हो, युवा समाज प्रकृत कार्य द्वारा ही राजनैतिक रग-पट्ठे बना सकेगा और भारत के आगे सांप्रदायिकता, दरिद्रता, अल्पसंख्यकों का प्रश्न, देशी नरेश, सम्पत्ति का सामर्थ्य आदि जो मौलिक समस्याएं मौजूद हैं, उनका निबटारा करने के लिए आवश्यक चरित्र का निर्माण कर सकेगा। मैं आपके पास 'ट्वेन्टियथ सेन्चुरी' नामक मासिक पत्रिका के उस अंक की एक प्रति भेजता हूं, जिसमें मैंने इस विचार को अपने मस्तिष्क में प्रश्रय देने के कारण बताये हैं कि महात्मा गांधी जिस मौलिक हृदय-परिवर्तन पर हमेशा जोर देते आये हैं, वह यहां सचमुच हुआ है, और कि भारतीय सरकार का संचालन करने का भार अब से भारतीय कंधों पर ही रहेगा। यदि उन्होंने यह नहीं देखा हो तो आप इसका अवलोकन करने के बाद उनके पास भेज दें तो बड़ी कृपा हो।

यदि शासन-विधान में अपने रग-पट्ठों को अभ्यस्त करने के बाद तरुण भारत को पता चले कि वास्तविक सुधारों की सिद्धि में स्वयं शासन-विधान ही बाधक है तो उसके लिए उसकी पुनरावृत्ति की मांग करना वैध होगा, और यदि वह मांग पूरी न की गई तो उसके लिए अधिक प्रत्यक्ष कारंवाई करना भी औचित्यपूर्ण होगा। इसके अलावा व्यावहारिक सरकार-संचालन कार्य में युवकों ने जो दीक्षा और अनुभव प्राप्त किया होगा वह उन्हें सफलता प्राप्त करने और

भारत के लिए सुन्दर सरकार उपलब्ध करने में समर्थ बनायेगा। पर यदि तरुण भारत अभी से सविनय अवज्ञा और असहयोग का अथवा हिंसापूर्ण क्रान्ति का मार्ग अपना लेगा तो वह उदार और वैधानिक ढंग की शासन-प्रणाली की शिक्षा से वंचित रहेगा और फलतः तानाशाही के उन कठोर दाव-पेचों में उसकी आस्था दृढ़ हो जायगी, जो वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विनाश कर यूरोप का विध्वंस कर रहे हैं, वैयक्तिक विचार का स्थान सामूहिक संगठन को दे रहे हैं और इस प्रकार विश्व को युद्ध की ओर वापस ले जा रहे हैं। यदि ऐसा हुआ तो यह निश्चित है कि भारत खंड-खंड और विनष्ट हो जायगा। मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि यदि उपनिवेशों की भांति नवीन भारत भी अपने देश को अच्छी सरकार देने में समर्थ हुआ तो अन्य स्थानों की भांति उसके हाथों में भी पूर्ण सत्ता अनायास भाव से और अनिवार्य रूप से आ जायगी। इस समय ब्रिटेन में इस विचारधारा का प्राधान्य है कि यद्यपि वह भारत के साथ व्यापार करना चाहता है तथापि उस पर अधिकार न वनाये रखा जाय। हां, यह देखना है कि भारत संकट में पड़े बगैर भी स्वराज्य का उपभोग कर सकता है या नहीं। जहां ब्रिटेन के जनमत ने यह देखा कि भारत के राजनेता भारतीय शासन और सुधार से सम्वन्ध रखने वाली समस्याओं पर व्यावहारिकता और समझदारी के साथ काबू पा रहे हैं, बस, अभिरक्षण उसी प्रकार गायव हो जायंगे, जिस प्रकार कनाडा और आस्ट्रेलिया में हो गए थे। अतएव किसी भी दृष्टिकोण से देखिए, कांग्रेस और उसके प्रतिद्वन्दियों के लिए यह आवश्यक है कि वे प्रान्तीय सरकार पर अधिकार करें, उसे सफल बनावें और उसके वाद केन्द्र में भी यही करें।"

स्वयं लार्ड लिनलिथगो ने लिखा :

"मेरी निजी धारणा यह है कि पिछले दस वर्षों में भारतीय आकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति रखने की दिशा में यहां के जनमत में काफी प्रगति हुई है। मेरा विश्वास है कि इस वात को अच्छी तरह ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है कि जनमत की प्रगति एक खास सीमा में होती है। नई परिस्थितियों और दृष्टिकोणों के अनुरूप रुख अपनाने के मामले में वयस्क पीढ़ी को युवा समाज की अपेक्षा अधिक कठिनाई होगी और राज-कार्य इसी पीढ़ी के हाथ में है। वास्तव में बात तो यह है कि ४५ वर्ष की आयु के बाद साधारणतया लोग नई परिस्थितियों को सहज ही नहीं अपनाते हैं। यह बात दोनों ही देशों के निवासियों और सभी नस्लों के लोगों पर लागू होती है। असीम धैर्य की दरकार होगी, और यदि किसी चेष्टा के प्रारम्भिक काल में तुरन्त ही अनुकूल परिणाम उपलब्ध न हों तो निराशा के आगे सिर न झुकाने के लिए काफी साहस की आवश्यकता होगी।

मुझे नये विधान का यथाशक्ति अच्छे-से-अच्छा उपयोग करना होगा, और जहां तक मुझसे सम्भव होगा, मेरी यही चेष्टा रहेगी कि उसकी मर्यादा के भीतर

रहकर सभी प्रकार के राजनैतिक दलों के स्त्री-पुरुष काम कर सकें। शायद आप इस बात से सहमत होंगे कि भारत की राजनैतिक अवस्था पर कैसा-क्या प्रभाव पड़ेगा, इसका इस समय अनुमान करना बुद्धिमान-से-बुद्धिमान आदमी के लिए भी सम्भव नहीं होगा। इसलिए मेरी तो यही धारणा है कि इस समय हमारी सम्मति जो भी हो, हमें अन्तिम निर्णय उस समय तक के लिए स्थगित कर देना चाहिए जबतक चित्र और भी अधिक स्पष्ट न हो जाय। जैसा कि मैं समझता हूं, आप स्वयं जानते हैं, मैं इस बीच में पारस्परिक सम्मान और पारस्परिक विश्वास की उस भावना को बल देने और उसके क्षेत्र को अधिक व्यापक करने की चेष्टाओं में, जिसके अभाव में कोई भी मंगलदायी कार्य सम्पन्न होना सम्भव नहीं है, अपना योग देने को सदैव तत्पर मिलूंगा। मैं व्यक्तिगत मित्रता के उन संबंधों को भी दृढ़ करने में पूरा योग दूंगा, जिनके द्वारा सार्वजनिक जीवन की कठिनाइयां बहुधा कम हो जाती हैं और उसके भार हलके हो जाते हैं। इन मैत्री-पूर्ण सम्बन्धों का अपना निजी महत्त्व और अपना निजी मूल्य है।

पर अफसोस, आशाओं के इस नीलाकाश पर शीघ्र ही बादल छाने वाले थे! कलकत्ते के कट्टर अंग्रेज व्यवसायियों के निहित स्वार्थ विरोध की कितनी भारी दीवार खड़ी कर देंगे, यह बात लार्ड लिनलिथगो ने नहीं सोची थी। विरोध तो बम्बई के अंग्रेज व्यवसायियों की ओर से भी हुआ, पर उतना नहीं। जब वाइसराय पहली बार कलकत्ता गये और वहां उन्होंने विशुद्ध यूरोपीय बंगाल क्लब का भोजन का निमन्त्रण स्वीकार न कर, कलकत्ता क्लब का निमंत्रण स्वीकार किया, जिसके सदस्य यूरोपीय भी थे और भारतीय भी, तो सारा यूरोपीय समाज उनके खिलाफ उठ खड़ा हुआ। उन्होंने उन चंद उच्च अफसरों के असहायक रवैये की बात भी नहीं सोची थी, जिनकी सहायता और सहयोग पर अधिकांशतः निर्भर करना उनके लिए अनिवार्य था। वैसे ये लोग अपने अमले की परिपाटी के अनुरूप ब्रिटिश सरकार और पार्लमिन्ट के इरादों और विधान-निहित भावना को वफादारी के साथ मूर्तरूप देना चाहते थे, पर कई ऐसी बातें थीं, जिनके कारण उनका झुकाव विपरीत दिशा में हो गया। प्रथम तो जिन अंग्रेज व्यापारियों के साथ घनिष्ठ सामाजिक मेलजोल था, उनके विचार काफी कट्टर थे और वे आपस में अपने विचारों को खुले तौर पर व्यक्त करते थे। कहना तो यह चाहिए कि एक ओर तो कुछ अंग्रेज व्यापारी, जिनका निकास समाज के निचले स्तर से हुआ था, यह चाहते थे कि उनके पुत्र भारतीय सिविल सर्विस या भारतीय सेना में भरती हो जायं, क्योंकि वे जिस स्तर पर पहुंचना चाहते थे, वे समझते थे कि इस प्रकार वे उसकी एक सीढ़ी और लांघ जायंगे। दूसरी ओर अंग्रेज अफसर अपने व्यवसायी मित्रों से अनुनय करते थे कि वे उनके पुत्रों को अपनी फर्मों में भरती

कर लें, ताकि उनका आर्थिक जीवन एक औसत दर्जे के अफसर की अपेक्षा अधिक समृद्ध हो सके।

सन् १९३१ की गर्मियों के जोरदार आतंकवादी आन्दोलन ने, जो कि गांधी-अरविन-समझौते को भंग करके शुरू किया गया था, अंग्रेज अफसरों और व्यवसायियों के रुख को और भी कठोर कर दिया था, जैसा कि स्वाभाविक ही था। जब यह आन्दोलन चलाया गया तब गांधीजी भारत से बाहर थे, हालांकि बंगाल में डा० विधानचन्द्र राय और नलिनीरंजन सरकार-जैसे कांग्रेस के बड़े-बड़े नेताओं ने सार्वजनिक रूप से इस आन्दोलन से अपनी असहमति प्रकट की थी। दूसरा मुख्य प्रभाव भूतपूर्व वाइसराय का पड़ा, जिन्होंने खुले तौर पर गांधीजी के प्रति अविश्वास प्रकट किया। अफवाह थी कि उन्होंने बापू को फालतू आदमी कहा था। यह धारणा सरकारी और व्यापारी, दोनों ही क्षेत्रों में व्याप्त थी और उनका तर्क यह था कि माना कि उनमें से अधिकांश का बापू के साथ साक्षात्कार नहीं हुआ है, पर लार्ड विलिंग्डन तो उनसे मिल चुके हैं और वह जो कुछ उनके बारे में कहते हैं, सोच-समझकर ही कहते होंगे। सर हरबर्ट इमर्सन उल्लेख-योग्य अपवाद सिद्ध हुए। गांधी-अरविन-समझौते के सरकारी पहलू को कार्यान्वित कराने का भार उन्हीं पर था। इस सिलसिले में बापू से उनका अनेक बार साक्षात्कार हुआ, जैसा कि स्वाभाविक ही था। नतीजा यह हुआ कि दोनों एक-दूसरे को अच्छे लगने लगे और दोनों के बीच एक-दूसरे के प्रति विश्वास की वृद्धि हुई; पर कुल मिलाकर सरकारी अफसर गांधीजी की नेकनीयती में विश्वास नहीं करते थे, आपसी बातचीत में नये वाइसराय के उग्र आलोचक थे और उनकी इस बात से खास तौर पर नाराज थे कि वह अपना प्राइवेट सेक्रेटरी अपने साथ लाये और इसके लिए उन्होंने इण्डिया आफिस के एक अधिकारी को छांटा। वे प्राइवेट सेक्रेटरी के पद को भारतीय सिविल सर्विस वालों का इजारा और गवर्नरी के पद के लिए एक सीढ़ी समझते थे।

एक और दुर्भाग्यपूर्ण बात यह हुई कि इन सारी बातों का स्वयं लार्ड लिनलिथगो पर सामूहिक प्रभाव पड़ा। वह काफी लम्बे समय तक अपने प्रारम्भिक रवैये पर डटे रहे। उन्होंने कांग्रेस को शासन विधान को कार्यान्वित करने, प्रान्तीय स्वशासन की योजना के अधीन पद-ग्रहण करने और सरकारों की रचना करने के लिए राजी किया और खुद गांधीजी के साथ मित्रता का नाता जोड़ा। पर धीरे-धीरे उपर्युक्त शक्तियों ने उन्हें इतना प्रभावित कर दिया कि सन् १९३९ में जर्मनी के साथ युद्ध छिड़ते-छिड़ते उनका भारतीयों, और खासकर कांग्रेस, पर से कुछ ऐसा विश्वास उठ गया था कि वह शुरू से ही राष्ट्रीय सरकार की रचना और सम्मिलित युद्ध-प्रयास-सम्बन्धी सुझाव को दृढ़तापूर्वक ठुकराते रहे। उनका यह रुख इसलिए और भी अधिक असंगत और बेहूदा लगा कि वह तो वह, जिस ब्रिटिश

सरकार का वह प्रतिनिधित्व कर रहे थे वह स्वयं, हिटलर की खुशामद करके उसे मनाने की नीति का अनुसरण कर रही थी, जबकि भारतीय लोकमत शुरू से अन्त तक नाजी-विरोधी रहा। हां, वह जर्मन-विरोधी नहीं था। इसके अलावा, भारतीय लोकमत ने चीन का भी जोरों से समर्थन किया और मंचूरिया पर जापान के आक्रमणों को धिक्कारा। श्री नेहरू की प्रेरणा पर कांग्रेस ने एक डाक्टरी दल का संगठन करके चीनियों की सहायता के लिए भेजा। इसके विपरीत भारत में रहनेवाले अंग्रेजों की दृष्टि केवल उनके व्यापारिक हितों पर केन्द्रित प्रतीत होती थी। उन्होंने इस संभावना की ओर से आंखें बन्द कर रखी थीं कि कभी भारत पर हमला करने के लिए हिटलर और जापान में गठबंधन हो सकता है। वह तो कलकत्ते से कच्चा लोहा जहाजों में लादकर जापानी बन्दरगाहों को रवाना करने में व्यस्त थे। यही लोहा बाद में भारतीय और अंग्रेज सैनिकों की छातियों को छेदने वाली गोलियों की शक्ल में वापस आया।

यहां बापू का एक पत्र देता हूं जिससे पता चलता है कि आर्थिक समस्याओं से निबटने में बापू कितना सीधा-सादा और सहज तरीका बरतते थे :

सेगांव, वर्धा
४-७-३६

प्रिय घनश्यामदास,

मैंने संग्रहालय के बारे में महादेव को लिखने के लिए नहीं कहा था। असल में मैंने उसे दूसरी इमारतों के बारे में लिखने को कहा था। तुमको याद होगा कि मैंने अपनी जरूरतें गिनाते समय यह कहा था कि दूसरी इमारतों के लिए १,००,००० रुपये की आवश्यकता होगी। बाद में विद्यालय को इमारतों में शामिल कर लिया गया, हालांकि जब १,००,००० रुपये की राशि का उल्लेख किया गया था, मैंने विद्यालय के मामले को, इसलिए अलग रखा था कि मैं विद्यालय की इमारत के अलावा १,००,००० रुपये की लागत से अन्य इमारतें बनाने की सोच रहा था। किन्तु कोष में या सुरक्षित निधि में इतना रुपया नहीं है कि विद्यालय के निमित्त हुआ खर्च पूरा किया जा सके। मेरा यह खयाल था कि तुमने १,००,००० रु० की राशि में से कुछ रुपया बच्छराज एण्ड कम्पनी को भेज दिया है। अब मुझे पता चला है कि इस मद में कुछ भी जमा नहीं हुआ है। इसीलिए मैंने त्रिवेन्द्रम तुम्हें पत्र भेजा था। शायद यह पत्र तुम्हें नहीं मिला। अगर उस १,००,००० रुपये की राशि में से कुछ निकालना सम्भव हो तो करना चाहिए।

मैंने डा० मुंजे को एक पत्र लिखा है। उसकी प्रतिलिपि तुम्हें मिली होगी।

पारनेकर के साथ क्या व्यवस्था तय पाई है ?

बापू के आशीर्वाद

महादेवभाई का अगला पत्र इस समय के बापू के जीवनक्रम पर रोचक प्रकाश डालता है :

मगनवाड़ी, वर्धा
३० अगस्त, १९३६

प्रिय घनश्यामदासजी,

मैं आपको अलग डाक से विश्वभारती संसद की कार्रवाई की नकल भेज रहा हूं। आपको यह जानकर खुशी होगी कि ६०,००० रुपये के गुप्तदान[1] द्वारा उन लोगों को अपना पुराना कर्ज उतारने में मदद मिली है और कम-से-कम एक बार तो उनके बजट में संतुलन आ ही गया प्रतीत होता है। पर ऐसा कबतक होता रहेगा, पता नहीं। काश्मीर में क्या आपका समय अच्छी तरह नहीं बीता ?

मैंने जान-बूझकर उस ऐतिहासिक मुलाकात के बारे में नहीं लिखा। ऐसी बातों की चर्चा पत्र-व्यवहार द्वारा नहीं की जा सकती। मैं अगले महीने आपके यहां आने की बाट देखूंगा। गत सप्ताह जवाहरलालजी के आगमन के अवसर पर मौसम जैसा कुछ रहा, शायद आपके आगमन के समय उसकी अपेक्षा अधिक मंगलकारी सिद्ध होगा। उन्हें थोड़ा रास्ता वर्षा और कीचड़ में तय करना पड़ा। बापू अपने ग्राम-सेवा के कार्य में अधिकाधिक व्यस्त होते जा रहे हैं और पत्र-व्यवहार अथवा लेखन-कार्य के लिए थोड़ा-सा भी समय निकालने को तैयार नहीं हैं। तीन या चार सप्ताह पूर्व उन्होंने समाजवाद पर अपना वक्तव्य पूरा किया था, किन्तु उसे फिर से देख जाने के लिए उन्हें अभी तक एक क्षण का भी समय नहीं मिल सका है। उन्होंने अपने घर में (सारे घर में एक ही तो कमरा है) कुछ मित्रों को इकट्ठा किया और उन सबके रोगों से सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं में ही उनका अधिकांश समय खपने लगा। पर सारी कहानी यहीं समाप्त नहीं हो जाती है। असल बात यह है कि वह कांग्रेस और सारी बाहरी कार्यशीलता से अपना दिमाग हटा रहे हैं और उसे पूर्णतः गांव और उसकी समस्याओं पर केन्द्रित कर रहे हैं। वह इसी को अपनी साधना बताते हैं और अन्य किसी कार्यक्रम द्वारा उसमें बाधा पड़े, यह वह नहीं चाहते। उनके पास सर पी० टी० (सर पुरुषोत्तम-दास ठाकुरदास) के आग्रहपूर्ण पत्र आये कि उन्हें अफ्रीकी प्रतिनिधि-मंडल के स्वागत के लिए बम्बई जाना चाहिए, परन्तु उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। नवम्बर के शुरू में गुजरात साहित्य परिषद् की अध्यक्षता करनी है, एक साल

---

१. कवीन्द्र रवीन्द्र को वह गुप्तदान मैंने ही दिया था। इस दान के पीछे एक मर्मस्पर्शी इतिहास है, जिसे यहां दुहराने की जरूरत नहीं है।

पहले उन्होंने इसका वादा कर लिया था। पर उनकी इस वादे को भी पूरा करने की इच्छा नहीं है—मना रहे हैं कि कोई-न-कोई ऐसी बात हो जाय कि उनका जाना रुक जाय। जब आप यहां आवेंगे तो शायद उनकी मौजूदा मनोवृत्ति का सही अन्दाजा लगा सकेंगे।

आशा है, आप अच्छी तरह होंगे।

आपका
महादेव

१८. लिनलिथगो का शासन-काल

लिनलिथगो भारत के लिए कोई अजनबी न थे। वह पिछले वर्षों में कृषि-सम्बन्धी शाही कमीशन के अध्यक्ष रह चुके थे और इस हैसियत से उन्होंने काश्मीर और पेशावर से लगाकर कन्याकुमारी तक देश के सभी भागों की यात्रा की थी। वह कृषि-सम्बन्धी विषयों के विशेषज्ञ प्रसिद्ध थे और जब वह वाइसराय बनकर भारत आये तो उनके साथ मेरा प्रथम सम्पर्क मुख्यतः सांडों और गायों के विषय को लेकर ही हुआ। मैं पिलानी में शिक्षण-सम्बन्धी एक बृहद् प्रयोग में लगा हुआ था। वहां बच्चों के लिए दूध की समुचित व्यवस्था हो, इसके लिए अच्छी नस्ल के पशुओं की दरकार थी और यही मेरी समस्या थी। इंग्लैण्ड के प्रवास के समय मैंने एक होलस्टीन सांड़ खरीदा, किन्तु मुझे परिणाम से संतोष नहीं हुआ। मेरी एक सूझ यह थी कि बड़े शहरों को जो दुधारू गायें भेजी जाती हैं, उनकी वापसी यात्रा का रेल-भाड़ा इस तरह निर्धारित किया जाय कि जब ये गायें दूध देना बन्द कर दें तो उन्हें कसाईखानों में भेजने के बजाय वापस अपने घरों को लौटाना ज्यादा लाभदायक प्रतीत हो। मेरी प्रेरणा पर वाइसराय ने इस मामले की बारीकी से जांच कराई, पर अपने कार्यकाल के प्रारम्भ में ही उन्हें ऐसी नौकरशाही से पाला पड़ा, जिसमें वह इस मामले में पार न पा सके। रेलवे ने इस सुझाव को रद्द कर दिया। इतने पर भी वाइसराय की पूरी पराजय नहीं हुई; रेलवे बोर्ड ने स्वीकार किया कि जो पशु किसी उत्तर-पश्चिम स्टेशन से हावड़ा भेजे जायेंगे, उनके लिए विशेष वापसी दर जारी की जायगी, अर्थात् प्रति चार पहियों की गाड़ी पर भेजे जाने वाले पशुओं के लिए छः आना प्रति मील के हिसाब से किराया वसूल किया जायगा, पर शर्त यह होगी कि वापसी नौ महीने के भीतर हो जानी चाहिए। किन्तु मैंने वाइसराय को लिखा कि अधिकतर ग्वाले अशिक्षित हैं, वे वापसी

टिकट नहीं खरीदेंगे, इसलिए यह ज्यादा अच्छा हो कि कलकत्ता भेजी जानेवाली गायों के लिए एक सामान किराया तय कर दिया जाय और नौ महीने के भीतर वापस पशु भेजने वाले के लिए मुफ्त टिकट दे दिया जाय। इसका यह अर्थ होता कि भेजने वाले को वापसी टिकट खरीदना ही पड़ता। इस टिकट को वह गाय के साथ ऐसे किसी भी व्यक्ति के हाथ बेच सकता था, जो गाय को देश वापस लाना चाहता।

अपनी लन्दन की मुलाकात के बाद मैं नये वाइसराय से पहली बार ५ अगस्त, १९३६ को मिला और हमारी मुलाकात करीब एक घंटे तक रही। इस मुलाकात का जो विवरण मेरे पास है, उससे यह चित्र स्पष्ट होता है कि वाइसराय एक सदाशयी और ईमानदार आदमी हैं, जिन्हें अपने वातावरण के साथ संघर्ष करना पड़ रहा है। उनकी अवस्था उस तैराक जैसी थी, जो नदी की तेज धारा में प्रवाह के विरुद्ध तैरने की कोशिश कर रहा हो। इस प्रवाह की तेजी का उन्होंने पहले कभी अंदाजा नहीं लगाया था। अन्त में उन्हें उस प्रवाह में बह जाना पड़ा।

मैं मानता हूं कि भेंट के समय अधिकतर बात मैंने ही की। मैंने उन्हें याद दिलाई कि जेटलैण्ड, हेलीफैक्स, लोदियन और होर ने मुझसे कहा था कि गांधीजी को नये वाइसराय से मिलने के पहले कोई नया निर्णय नहीं करना चाहिए। मैंने उन्हें यह भी बताया कि किसी प्रकार मैंने उनके व्यक्तिगत संदेश और अपने संस्मरण गांधीजी तक पहुंचा दिये थे। स्थिति के बारे में मेरे आशावादी दृष्टिकोण के साथ सहमत होने में उन्हें कठिनाई का बोध हुआ था, किन्तु उन्होंने वादा किया कि कांग्रेस के लखनऊ-अधिवेशन के अवसर पर कोई नया निर्णय न किया जाय, इसकी वह चेष्टा करेंगे। मैंने कहा कि लार्ड विलिंग्डन ने यह डर फैलाने में सक्रिय भाग लिया है कि यदि वाइसराय गांधीजी से मिलेंगे तो परिणाम अच्छा न निकलेगा। लिनलिथगो को इस बात का अच्छी तरह पता था, और वह सहमत थे। वह जिस वातावरण से घिरे हुए थे उसकी विरोध-भावना की गंध उनकी नाक में पहुंच चुकी थी।

मैंने कहा, "गांधीजी ने अपने वचन का पालन किया है। मुझे पता नहीं कि आप अब भी पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करने के इच्छुक हैं, अथवा आपके विचारों में परिवर्तन हो गया है। मैंने लन्दन में अपने विचार-बिन्दु पर जोर दिया था, पर अब मैं ऐसा नहीं करूंगा। मैंने जब आपसे लन्दन में बात की थी उस समय आपको वस्तुस्थिति का उतना ज्ञान नहीं था जितना मुझे था, पर अब यह नहीं कहा जा सकता है कि आपको स्थिति का अध्ययन करने की उतनी सुविधा प्राप्त नहीं है जितनी मुझे है। आपको मेरे विचार मालूम ही हैं। मैं उन पर उसी प्रकार डटा हुआ हूं। यदि आप समझते हैं कि आपको सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कुछ-न-

कुछ करना चाहिए तो आप मेरा पथ-प्रदर्शन करिये। इसके विपरीत यदि आपने अपने विचार बदल दिये हैं और उसी पुरानी नीति को अपनाने का निश्चय कर लिया है तो मैं केवल इतना ही कहकर बात खत्म कर दूंगा कि ऐसा करना बड़ी भूल होगी।" वह कुछ क्षण विचार-मग्न हो गये, फिर बोले, "गांधी और जवाहर-लालजी का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ?" मैंने उत्तर दिया, "आपको स्थिति को समझने के लिए दोनों के स्वभाव को समझना होगा। दोनों के स्वभाव, दृष्टिकोणों और विचारों में जमीन आसमान का अन्तर है। पर इसके कारण दोनों के पार-स्परिक स्नेह-सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। जबतक गांधीजी जीवित हैं, मैं कांग्रेस में फूट पड़ने की कोई सम्भावना नहीं देखता हूं।" उन्होंने कहा, "मैं भी यही समझता हूं।" उन्होंने पूछा, "निर्वाचन का खर्च कौन उठावेगा? गांधीजी ?" मैंने कहा, "मैं तो ऐसा नहीं समझता हूं, यह सब कांग्रेस के द्वारा ही किया जायगा, और जहां तक मैं समझता हूं, कांग्रेसवादी पांच प्रान्तों में बहुमत से जीतेंगे।"

इसके बाद उन्होंने कहा, "मैं आपसे साफ कह रहा हूं। जब मैं यहां आया तो सरकारी हलकों में भारी त्रास फैला हुआ था। मैंने सर हेनरी क्रेक से अच्छी तरह बातचीत की। मुझे भय है कि फिलहाल मेरे लिए कोई कदम उठाना सम्भव नहीं होगा। मैं जानता हूं कि कांग्रेस बड़ी मजबूत पार्टी है और प्रान्तों में बहुमत प्राप्त करेगी। मैं यह भी स्वीकार करता हूं कि कांग्रेस ने जनता में स्वाभिमान और राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत की है और भारत में जो वैधानिक परिवर्तन हुए हैं उनका बहुत-कुछ श्रेय उसी को है। पर अन्य महत्त्वपूर्ण पार्टियां भी तो हैं, और यदि मैं कांग्रेस के साथ आवश्यकता से अधिक मैत्री करने लगूं तो अन्य पार्टियों को असुविधा की स्थिति में डाल दूंगा और इससे निर्वाचनों में कांग्रेस को आवश्यकता से अधिक महत्त्व मिल जायगा। सम्भव है, मुझे पक्षपात का दोषी ठहराया जाने लगे। अतएव राजा के प्रतिनिधि की हैसियत से मेरे लिए ऐसा कोई काम करना उचित नहीं होगा, जिससे पक्षपात की गंध आवे। इसके अलावा एक बात और भी है। मैं आज गांधीजी से किस विषय पर बात करूंगा ? मैं उनके साथ खिलवाड़ नहीं करना चाहता हूं। मैं भारत सरकार के विधान का एक अर्ध-विराम तक बदलने में अशक्त हूं। मैं बंगाल के कैदियों को भी रिहा नहीं कर सकता। फिर बताइये, मैं उनसे किस विषय पर बात करूं ? हां, यदि कोई अग्रगण्य व्यक्ति मुझसे मिलना चाहे तो मैं हमेशा तैयार हूं। पं० मदनमोहन मालवीय मुझसे मिल ही चुके हैं। आप मिले ही हैं। पर यदि मैं गांधीजी को विशेषरूप से निमन्त्रण दूं तो इसका कोई वैध कारण नहीं दिखाई देता है।" मैंने कहा, "मैं आपकी बात अच्छी तरह समझता हूं। इस समय गांधीजी भेंट की याचना नहीं करेंगे। पर इसका यह मतलब नहीं है कि वह थोथे लोकोपचार में विश्वास रखते हैं। आपके यह कहने-भर की

देर है कि आप उनसे मिलना चाहते हैं, और वह तुरन्त लिखकर भेंट की याचना करेंगे। पर उन्हें स्वयं कुछ नहीं कहना है। मैं कांग्रेसवादी नहीं हूं। अतएव जब मुझे आपकी स्थिति कांग्रेस को और कांग्रेस की स्थिति आपको समझानी पड़ती है तो मुझे असुविधा का सामना करना पड़ता है। आप स्वयं गांधीजी-जैसे किसी कांग्रेसवादी को कांग्रेसी राजनीति की चर्चा करते हुए देखने का अवसर क्यों नहीं ढूंढ़ते हैं ? यदि आप ऐसा करें तो आपको उनके रुख के संबंध में वास्तविक ज्ञान प्राप्त होगा और उन्हें भी आपका दृष्टिकोण समझने का अवसर मिलेगा। फिल-हाल भारत-सरकार के विधान में किसी प्रकार का परिवर्तन करना संभव है, ऐसा मैंने कभी नहीं सुझाया है; पर इसके अलावा और बहुत-सी बातें की जा सकती हैं और करनी चाहिए। क्या आतंकवाद के संबंध में एक समान ग्राह्य फार्मूला तैयार करना सम्भव नहीं है ? और भी अनेक ऐसी बातें हैं, जिन्हें करना सम्भव है। मैं तो नहीं समझता कि इस समय सरकार निष्पक्षता से काम ले रही है। खान साहब के रिहा होते ही उनके ऊपर पंजाब और सीमा-प्रान्त में प्रवेश की निषेधाज्ञा लगा दी जाती है। फर्ज़ करिये, ख़ान साहब मंत्री बनने वाले हों। आप ऐसा करके उन्हें निर्वाचन-सम्बन्धी प्रचार-कार्य की सुविधा से वंचित कर रहे हैं। यह कहां का न्याय है ? यह न निष्पक्षता है, न न्याय। इस सारी अनुचित बातों को हटाकर वातावरण में सुधार किया जा सकता है, पर जैसा कि मैंने अभी कहा है, मैं इस मामले पर अधिक जोर नहीं दूंगा। मैंने काफी जोर दिया है। अब आप खुद निर्णय करिये।" साथ ही मैंने पूछा, "पर क्या आपका खयाल है कि निर्वाचन के बाद स्थिति में परिवर्तन होगा ?" उन्होंने कहा, "निश्चय ही, भारी। निर्वाचन के बाद तो चित्र बिलकुल दूसरे ही ढंग का होगा। निर्वाचन के बाद स्वयं मेरा हिस्सा ठोस रहेगा, पर मैं वचन नहीं देता हूं। हम नहीं जानते कि निर्वाचन के बाद स्थिति कैसी होगी और हमें क्या कारंवाई करनी पड़ेगी।" इसके बाद उन्होंने बताया कि उन्हें खबर मिली है कि कांग्रेसी लोग पद-ग्रहण करने से बचने की चेष्टा कर रहे हैं, क्योंकि उन्होंने कोई रचनात्मक कार्य किया और शिक्षा-प्रसार और अन्य धंधों के लिए उन्हें टैक्स लगाना पड़े तो वे बदनाम हो जायंगे। मैंने कहा, "आपकी खबर बिलकुल निराधार है। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि यदि उचित अवबोध रहा, और वातावरण में सुधार हुआ, और कांग्रेस ने पद-ग्रहण किया तो वे लोग शिक्षा, सफाई आदि के लिए उन लोगों पर टैक्स लगाने में, जो टैक्स का भार वहन करने में समर्थ हैं, तनिक भी नहीं हिचकिचायेंगे। वास्तव में इससे कांग्रेस की लोकप्रियता बढ़ेगी ही।" उन्होंने मेरी बात मानी, पर कहा कि उन्हें यह खबर एक कांग्रेसवादी ने ही दी है। पर उन्होंने यह भी कहा, "फर्ज़ करिये, मैं गांधीजी से मिलूं और कहूं कि मैं यह कर दूंगा और वह कर दूंगा और विधान को अत्यन्त उदार ढंग से अमल में लाऊंगा और जोखिम भी उठाने को

तैयार रहूंगा, क्या आप पद-ग्रहण को तत्पर हैं तो मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि उनका उत्तर होगा, "नहीं।" मैंने उत्तर दिया, 'महोदय, आप पहले से ही बहुत कुछ फर्ज किये ले रहे हैं।" उन्होंने पूछा, "क्या आप समझते हैं कि वह पद-ग्रहण करने को राजी हो जायंगे ?" मैंने कहा, "वेशक, वशर्ते उन्हें विश्वास हो जाय कि जनता की सेवा के लिए रचनात्मक कार्य करने योग्य वातावरण मौजूद है। गांधीजी आरम्भ से ही रचनात्मक कार्य करते आये हैं, इसलिए कांग्रेस के पद-ग्रहण करने से वह तनिक भी घबराने वाले नहीं हैं। पर शर्त यही है कि वातावरण ठीक ढंग का हो।" इसके वाद मैंने कहा, "मैं आपके विचारों से परिचित हूं, मैं उन्हें गांधीजी के पास पहुंचा दूंगा। मुझे इस वात से खुशी हुई कि आपने सारी वात इतनी स्पष्टता और स्वच्छता के साथ रखी। अब मैं आपको इस मामले को लेकर और अधिक परेशान नहीं करूंगा। यदि आपको कभी मेरी सहायता की जरूरत पड़े तो मैं हाजिर हूं, पर फिलहाल आपको स्थिति का अध्ययन करने की सुविधा प्राप्त है, इसलिए मैं अधिक कुछ नहीं कहूंगा। मैं आपके निष्कर्षों से सहमत नहीं हूं, पर कोई वात नहीं है।"

इसके बाद हमने पशुपालन के सम्बन्ध में कुछ बातें कीं। उन्होंने कहा, "यदि मैं किसानों को कुछ लाभ पहुंचा सकूं तो मेरा अन्तःकरण सुखी होगा। यदि मैं ऐसा करने में सफल हुआ तो मुझे इसकी चिन्ता नहीं है कि लोग मेरे सम्बन्ध में क्या सोचेंगे।" इसके वाद वोले, "गांधीजी से कह दीजिये कि मेरी राय में राष्ट्रीयता अपराध नहीं है और मैं सहज दृष्टिकोण अपनाने में समर्थ हूं।" फिर वह वोले, "जिस समय मैं भारत पहुंचा तो अधिकारियों में कितना त्रास फैला हुआ था इसका आप अन्दाजा नहीं लगा सकते।" मैंने उनसे कहा, "मैं पहले ही जानता था और इस सम्बन्ध में मैंने आपको एक पत्र में चेतावनी भी दी थी।" उन्होंने कहा, "मैं नहीं समझता था कि स्थिति इतनी बुरी निकलेगी।"

कहना अनावश्यक है कि वार्त्तालाप के दौरान पूरी सहृदयता का दौर-दौरा रहा, और मैं अपनी इस सम्मति पर दृढ़ हूं कि वह एक अच्छे ईमानदार आदमी हैं। वह अपने विचारों का त्याग करने को बाध्य हुए हैं, और यद्यपि वह निर्वाचन के बाद कुछ कार्रवाई करेंगे, तथापि वह कोई वचन देने को तैयार नहीं हैं। जब मैंने कहा कि मैं उनसे फिर मिलने की आशा करता हूं तो वह बोले, 'मेरे पास अधिक मत आइये, नहीं तो यह समझा जायगा कि आप मुझे वहुत अधिक प्रभावित करने की चेष्टा कर रहे हैं। हां, आप जब चाहें लिख अवश्य सकते हैं, भले ही मैं आपसे सहमत न होऊं।"

इस मुलाकात के बाद लार्ड लोदियन का एक पत्र मिला। मैंने उत्तर में लिखा :

"मुझे आपकी यह धारणा जानकर आनन्द हुआ कि वाइसराय लोकोपचार की परवा न कर पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करने को दृढ़-प्रतिज्ञ हैं। अभी तक तो मुझे उसके कोई लक्षण दिखाई नहीं दिये हैं। मैं वाइसराय से परसों मिला था और मैंने देखा कि अभी कुछ होने वाला नहीं है।

भारत वापस आने पर मैंने देखा कि लार्ड विलिंग्डन ने इस बात को लेकर कि नया वाइसराय भारत में आकर क्या कुछ करने वाला है, त्रास फैलाना आरंभ कर दिया है। "नया वाइसराय गांधी से मिलेगा और पुरानी नीति को बदल देगा।" मानो गांधी के वाइसराय-भवन में पदार्पण करने मात्र से आकाश फट पड़ेगा। 'मार्निंग पोस्ट' में एक तार छपा है और उसके बाद ही सर तेज ने मित्रों और प्रेसवालों को आपका पत्र दिखाया, जिसमें आपने यह कहा मालूम होता है कि मैंने गांधीजी से वचन ले लिया है कि वह वाइसराय से मिलने तक कोई नई कार्रवाई नहीं करेंगे। आशा है, आप मेरी बात को गलत नहीं समझेंगे, क्योंकि मैं आपको दोष नहीं दे रहा हूं। जो लोग पारस्परिक सम्पर्क स्थापित किये जाने के भविष्य में दिलचस्पी रखते थे, उन्होंने इस सबका पूरा उपयोग किया। स्वयं मेरा पत्र 'हिन्दुस्तान टाइम्स' अपने बम्बई-स्थित संवाददाता द्वारा भेजी गई यह मूर्खतापूर्ण खबर छापने की गलती कर बैठा कि लार्ड हेलीफैक्स गांधीजी के साथ पत्र-व्यवहार कर रहे हैं।

मुझे हमेशा से आशंका रही है कि सरकारी अमला शासन के प्रधान और विरोधी दल के पारस्परिक सम्पर्क के बिलकुल खिलाफ है। अमले ने इस त्रास और उसकी भोंड़ी उपलक्षणा (implications) को प्रश्रय दिया ही, और जब लार्ड लिनलिथगो आये तो उन्होंने वातावरण को त्रास और भय से लदा हुआ पाया। मुझे यह तो पता नहीं कि उन्होंने क्या किया और क्या सोचा, पर वस्तु-स्थिति यह है कि उन्होंने फिलहाल पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करने का विचार त्याग दिया है। मेरी अपनी धारणा है कि उन्हें यह सब विवश होकर करना पड़ रहा है।

शायद उन्हें सलाह दी जा रही है कि यदि उन्होंने निर्वाचन के पहले कुछ किया तो वैसा करने से कांग्रेस को बल मिलेगा। मुझे आशंका है कि उन्हें बिलकुल गलत सलाह दी गई है। पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करने का विचार एक साधन-मात्र है। सारा प्रश्न इस बात का है कि क्या हमें भारत की सारी सामर्थ्य को हमेशा के लिए रचनात्मक कार्य करने की दिशा में लगाना चाहिए। यह केवल आपके शब्दों में 'पुलिस राज्य' का अन्त करके पारस्परिक अवबोध का वातावरण उत्पन्न करने से ही सम्भव हो सकता है, जिससे प्रत्यक्ष कार्रवाई का विचार तक बहुत काफी दिनों के लिए खत्म हो जाय।

पारस्परिक वार्त्तालाप के दौरान नेताओं के लिए यह जानना जरूरी है कि

ब्रिटेन भारत की प्रगति में कहां तक सहायता करने को तैयार है और सुधारों को अत्यन्त उदारतापूर्वक किस प्रकार अमल में लाया जायगा और जरूरत पड़ने पर जोखिम भी उठाई जायगी या नहीं। इन सारी बातों पर निर्वाचन के बाद नहीं, बल्कि अभी बातचीत होनी आवश्यक है। इसके लिए सबसे अच्छा समय एक वर्ष पहले था। बिहार के भूकंप ने मिल-जुलकर काम करने और पारस्परिक सम्पर्क करने का अच्छा अवसर दिया था। अब मौका उतना अच्छा नहीं है, पर निर्वाचन के बाद जबकि कांग्रेस अनेक प्रान्तों में बहुमत के साथ जीतेगी, मेरी समझ में मौका और भी बुरा हो जायगा। यदि कांग्रेस की विजय होने के बाद सरकार मैत्री का भाव दिखावेगी तो उसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ेगा। मुझे तो आशंका है कि कहीं निर्वाचन के दौरान ही भिड़न्त न हो जाय। यदि ऐसा हुआ तो सारा वातावरण ही बिगड़ जायगा। निर्वाचन के प्रति सभी प्रान्तीय सरकारों ने निष्पक्षता का रवैया नहीं अपनाया है।

एक बात और है। लार्ड लिनलिथगो ने अपने लिए बड़ा अच्छा वातावरण तैयार कर लिया है। उनके गांधीजी से मिलने के हौए ने उन्हें कुछ लोकप्रिय बना दिया है और देहाती मामलों में दिलचस्पी लेने के कारण उस लोकप्रियता में वृद्धि हो गई है। निर्वाचन के बाद सम्भव है, इस मोहिनी का अन्त हो जाय।

कुछ ऐसी बातें हो रही हैं, जिनके लिए उन्हें दोषी ठहराना ही पड़ेगा। अब्दुल गफ्फार खां के सीमा-प्रान्त और पंजाब में प्रवेश करने का निषेध है, जबकि नये सुधारों के अंतर्गत यदि कोई व्यक्ति नई सरकार पर काबू पा सकता है तो अकेले वही, क्योंकि जनता उनके वश में है। एक प्रकार से उन्हें निर्वाचन-सम्बन्धी प्रचार-कार्य करने से वंचित कर दिया गया है। हमें यह फर्ज क्यों नहीं करना चाहिए कि नये सुधारों के अन्तर्गत वह सीमा-प्रान्त के प्रधान मन्त्री बन जायंगे? इधर वर्तमान सरकार उनके प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाकर उन वर्तमान मन्त्रियों के पक्ष में लड़ रही है, जो उनके विरुद्ध मोर्चा ले रहे हैं। अभी तक वाइसराय के खिलाफ एक शब्द तक नहीं कहा गया है। कांग्रेसी समाचार-पत्र या तो खामोश हैं, या उनके सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ अच्छा ही कह रहे हैं। पर मुझे आशंका है कि यह स्थिति जारी नहीं रहेगी। हां, ईश्वर से मेरी यह प्रार्थना अवश्य है कि ऐसा हो। पर जहां एक बार वातावरण विषाक्त हुआ कि दोनों पक्षों के लिए मित्रता का आचरण करना कठिन हो जायगा। अतएव मेरी सम्मति में अवस्था ऐसी है कि देर करना ठीक नहीं होगा।

यह मेरे लिए बड़ी ही निराशा की बात हुई कि मैं इंग्लैण्ड गया, वहां से ऐसी अच्छी धारणा और गांधीजी के लिए आपके और अन्य मित्रों के व्यक्तिगत संदेश लाया और गांधीजी ने उनका समुचित उत्तर दिया, तब भी अन्त में मुझे इस प्रकार असफल होना पड़ा। पर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् की ऐसी इच्छा नहीं

थी। मैं लार्ड हेलीफैक्स को अलग से नहीं लिख रहा हूं, क्योंकि आप उन्हें यह पत्र दिखाना चाहेंगे। मेरी अब भी यही प्रार्थना है कि वाइसराय अविलम्ब अच्छा वातावरण उत्पन्न करने की आवश्यकता को समझेंगे। वह किसी हद तक असहाय भी हैं, पर वह जब कभी साहसपूर्ण कदम उठाने का निश्चय करेंगे, उन्हें अपने आदमियों के विरोध का सामना करना पड़ेगा। मैं तो समझता हूं कि जब लार्ड हेलीफैक्स ने गांधीजी को बातचीत के लिए बुलाया था तो उन्हें भी इसी प्रकार का अनुभव हुआ होगा। यही दुःख की कहानी है।"

किन्तु अगले मार्च के चुनाव समाप्त हो जाने के बाद वाइसराय के साथ मेरी जो बातचीत हुई वह कुछ अधिक आशाप्रद थी। उन्होंने कहा :

"मुझे खुशी है कि कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ। मुझे आश्चर्य नहीं हुआ। मैं पहले से ही जानता था, पर मेरे आदमी यह नहीं जानते थे। मुझे अंग्रेजी अनुभव था। मैं जानता था कि मैदान में और कोई पार्टी मौजूद नहीं है, कांग्रेस सुगठित संस्था है और जनता को प्रिय लगेगी, इसलिए उसकी विजय होनी चाहिए। मुझे तो आश्चर्य है कि उसे बम्बई में बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। उसे वहां १० सीटें और मिल सकती थीं।" मैंने उन्हें बताया कि इसका कारण महाराष्ट्र है, जहां कांग्रेस का देहाती जनता के साथ पूरा सम्पर्क नहीं है। वह सहमत हुए।

इसके बाद मैंने कहा, अब क्या होगा ? आपने सुना ही होगा कि कांग्रेस का दिमाग किस ओर काम कर रहा है। मैं वर्धा से आ रहा हूं, इसलिए गांधीजी की विचारधारा से परिचित हूं। उनकी स्थिति कुछ-कुछ इस प्रकार है : "आप लोग अपनी स्पीचों में हमसे बराबर कहते आ रहे हैं कि हमें सचमुच के अधिकार दिये जा रहे हैं। आपने अभिरक्षण अवश्य रखे हैं, पर आपने बराबर यही बताया है कि वे जोखिम का बीमा-मात्र हैं। अब गांधीजी आपकी ही बात स्वीकार करके कहते हैं कि जबतक हम विधान को तोड़ने या आपके अस्तित्व के विरुद्ध कुछ करने को न आवें तबतक आप अभिरक्षणों से काम मत लीजिये। हमें काम करने दीजिये।" उन्होंने कहा, मैं इस स्थिति को अच्छी तरह समझता हूं। वस्तुस्थिति को देखा जाय तो मूल बातों में गांधी की स्थिति में और मेरी स्थिति में कोई भेद नहीं है। अंग्रेज लोग विवेकशील होते हैं और यदि यह विधान प्रदान करने के बाद वे कांग्रेस को उसे अमल में लाने की स्वतन्त्रता नहीं देंगे तो वह हमें कहां ले जाकर पटकेगा ? यदि हम दखल देंगे और गतिरोध उत्पन्न करेंगे तो आप लोग मत-दाताओं के पास दुबारा जायंगे और फिर बहुमत प्राप्त करके वापस आ जायंगे। इसलिए हम लोग अभिरक्षणों का उपयोग केवल कौतुक के लिए नहीं करना चाहते हैं। पर यदि आप आकर कहेंगे, 'हम विधान को नष्ट-भ्रष्ट करना चाहते हैं' तब

तो हमें अभिरक्षण काम में लाने ही पड़ेंगे। इसलिए आप मुझसे जैसी सार्वजनिक घोषणा कराना चाहें, मैं करने को तैयार हूं और सहानुभूति और सद्भावना-संबंधी जैसा आश्वासन दिलाना चाहें, देने को तैयार हूं। मैंने इस सम्बन्ध में अपने गवर्नरों से जो कुछ कहा है, आपको वह सब मालूम हो जाय तो आपको आश्चर्य होगा। पर यदि कोई अभिरक्षणों का खात्मा चाहे तो यह असम्भव है। मेरे लिए ऐसा करना सम्भव नहीं है, क्योंकि मुझे विधान को बदलने का अधिकार नहीं है, और मुझे आशंका है कि हमें गलत समझा जायगा, क्योंकि यदि कोई आकर कहे, 'अभिरक्षणों का खात्मा करिये' और मैं उत्तर दूं, 'हम ऐसा नहीं कर सकते' तो सारे समाचार-पत्र कहने लगेंगे कि अभिरक्षणों द्वारा ही शासन-कार्य चलाया जायगा, यद्यपि वास्तव में ऐसी बात नहीं है। अतएव मुझे इस स्थिति से कुछ चिन्ता-सी हो गई है।' मैंने बताया कि जहां तक मैं समझ सका हूं, गांधीजी यह नहीं चाहते कि विधान बदला जाय, पर वह भद्रपुरुषों का समझौता अवश्य चाहते हैं। मैं बोला, मैं समझता हूं, गवर्नर लोग अपने-अपने प्रान्तों के कांग्रेसी नेताओं को बुला भेजेंगे, पर वे लोग गवर्नरों के सामने केवल कांग्रेस द्वारा निश्चित सिद्धांत ही पेश कर सकेंगे, जिनके उत्तर में वे कहेंगे 'न'। और प्रांतीय नेता द्वितीय श्रेणी के हैं—हां, मद्रास की बात दूसरी है, जहां हमारे राजगोपालाचार्य मौजूद हैं। वह बीच ही में बोल उठे, "मैं जानता था कि आप उन्हें बाद देंगे।" मैंने कहना जारी रखा, 'इसलिए क्या यह सम्भव नहीं है कि बातचीत का क्षेत्र प्रान्तों से हटाकर दिल्ली में रखा जाय, क्योंकि वैसी अवस्था में बात अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से हो सकेगी। तब फिर समस्या का हल ढूंढ़ निकालना कठिन न होगा।' मैंने उन्हें यह भी बताया कि यदि वह गांधीजी से मिलेंगे तो वह अपनी बात अधिक जोरदार भाषा में तो अवश्य कहेंगे, पर साथ ही कोई हल भी ढूंढ़ निकालेंगे। पर सवाल यह है कि वैसी स्थिति कैसे उत्पन्न की जाय?' उन्होंने कहा, 'कार्य कठिन अवश्य है। यदि आज मुझसे गांधीजी मिलने के लिए आवें (उन्हें यह खबर लगी थी कि उनसे गांधीजी मिलने के लिए आ रहे हैं) तो केवल इसी विषय पर बात कर सकते हैं। अब से छः महीने पहले वह एक दूसरे ही मिशन को लेकर आ सकते थे, पर उस समय मेरे आदमियों ने मुझे पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करने की सलाह नहीं दी। यदि वह एक सप्ताह बाद आवें तब भी सम्भव है, अवस्था भिन्न हो। पर इस समय मैंने आपसे जो कुछ कहा है, उनसे इससे अधिक और क्या कह सकता हूं?' मैंने उन्हें बताया कि उन्हें बिलकुल गलत खबर मिली है। वह उनसे भेंट करने बिलकुल नहीं आ रहे हैं, और दिल्ली भी वह जवाहरलालजी के अनुरोध पर आ रहे हैं। पर साथ ही मैंने उन्हें यह भी बताया कि क्या कुछ होना सम्भव है। उन्हें स्वयं अपने दिमाग से काम लेकर समस्या का हल तलाश करना होगा। उन्होंने कहा, 'मैं समझ गया, गांधीजी का मुझसे मिलने के लिए आज आना संभव नहीं है,

न मेरी समझ में यही आ रहा है कि उन्हें कैसे बुलाऊं। उस पर भी मेरी धारणा है कि हम दोनों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। मुझे आशा है कि उन्हें भी मालूम होगा कि हम दोनों के बीच किसी तरह की गलतफहमी नहीं है।' मैंने उन्हें इसका आश्वासन दिया।

बातचीत का नतीजा कुछ नहीं निकला, क्योंकि यद्यपि उन्होंने बड़ी सहृदयता दिखाई और एक प्रकार से उन्मूलनवादी विचार बड़े अच्छे ढंग से प्रकट किये, तथापि वह यह स्थिर नहीं कर सके कि अब उन्हें क्या करना चाहिए। जब मैंने नौकरशाही पर आक्रमण किया और बताया कि किस प्रकार अधिकारियों ने युक्तप्रान्त और सीमाप्रान्त में कांग्रेस के विपक्षियों का खुल्लमखुला साथ दिया, तो उन्होंने उनके पक्ष में कुछ नहीं कहा। उन्होंने कांग्रेस की विजय पर बार-बार संतोष प्रकट किया। उन्होंने आश्वासन दिया कि वे किसी भी गवर्नर को अपने अधिकारों से काम नहीं लेने देंगे, पर सहानुभूति और सद्भावना के आश्वासन से अधिक वह और कुछ नहीं दे सके, न यही बता सके कि अभिरक्षकों का खात्मा किस प्रकार संभव है। हां, वह अपने सहानुभूति और सद्भावना के आश्वासन को प्रकाशन तक देने को प्रस्तुत थे। साथ ही उन्होंने यह भी देख लिया कि गांधीजी विधान का खात्मा नहीं चाहते हैं।

उन्होंने जवाहरलालजी के सम्बन्ध में बात की और कहा, "क्या मेरा यह कहना ठीक होगा कि गांधी और जवाहरलालजी में बड़ा गहरा स्नेह है?" मैंने उत्तर दिया, "हां।" उन्होंने कहा, मैं समझता हूं, देश में जवाहरलालजी की स्थिति भी बनी-बनायी है। यदि किसी समझौते की बात पर जवाहरलाल सहमत न हों तो क्या गांधीजी उनके खिलाफ उठ खड़े होंगे?" मैंने उत्तर दिया, "जवाहरलालजी चुपचाप अनुकरण करेंगे।" उनकी भी यही राय हुई।

इसके बाद हम दोनों ने बिड़ला कालेज के संबंध में बातचीत की।"

तीन दिन बाद वाइसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी श्री लैथवेट ने इच्छा प्रकट की कि वह चाय पीने और बात करने के लिए आना चाहेंगे। १७ मार्च को मैंने वाइसराय के लिए अपना अगला पत्र उनके पास भेजा :

प्रिय श्री लैथवेट,

आपने देखा ही होगा कि गांधीजी के फार्मूले को कार्यकारिणी ने मंजूर कर लिया है और मुझे इसमें संदेह नहीं है कि अखिल भारतीय कांग्रेस समिति भी उसे मंजूर कर लेगी। अब यह घोषणा करने का भार कि गवर्नर अपने हस्तक्षेप-संबंधी विशेषाधिकारों से काम नहीं लेंगे अथवा मंत्रियों की सलाह को रद्द नहीं करेंगे, मुख्य मंत्री पर ही रहेगा। मुख्य मंत्री को इस सम्बन्ध में अपना सन्तोष करना

होगा और इस प्रकार गवर्नर का काम बहुत सरल हो जायगा। यदि मुख्य मंत्री के साथ कोई और कांग्रेसी नेता भी हो और उसे साथ लेकर गवर्नर के साथ विचार-विमर्श बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से हो सकता हो तो यह भी सम्भव होगा।

मेरी राय में 'विधान के भीतर' एक बड़ा महत्त्वपूर्ण वाक्यांश है, जिसके द्वारा कांग्रेस की ओर से गारंटी दी जा रही है कि केवल गतिरोध की खातिर गतिरोध करने की कोई इच्छा नहीं है। यदि गवर्नर लोग सहानुभूति के साथ पेश आयंगे तो मुझे आशा है कि उचित अवबोध के मार्ग में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होगी। मैं समझता हूं कि यह कांग्रेस के दक्षिणपक्ष की बहुत बड़ी विजय है, और यदि इसका उचित उत्तर मिला तो इससे कांग्रेस के हाथ बहुत मजबूत हो जायंगे। आशा है, हिज एक्सीलेन्सी इस स्थिति को समझते हैं।

सदाकांक्षाओं के साथ,

भवदीय

जी० डी० बिड़ला

बापू का दिमाग इस समय बहुत ही महत्त्व की समस्या में लगा था, तब भी वह अपने 'गोरे सामाजिक कार्यकर्त्ताओं' की कितनी हितचिन्ता रखते थे, इसका पता रामेश्वरदास के नाम उनके इस पत्र से चलता है :

सेंगांव, वर्धा

२५-६-३७

प्रिय रामेश्वरदास,

आपका पत्र मिला। वच्छराज एंड कंपनी से रकम के बारे में मुझे सूचना मिली है। लगभग एक लाख रुपया ग्रामोद्योग संघ को देना है। आप व्यक्तिगत खर्च के लिए जो दे रहे हैं वह निश्चय ही अलग है।

व्रजमोहन द्वारा मुझे कई 'गोरे सामाजिक कार्यकर्त्ताओं' के लिए इंग्लैण्ड जाने को जहाज की सीटें मिली थीं। अब वह यहां नहीं हैं। कलकत्ते में मुझे किसको लिखना चाहिए या आप ही लिखकर यह पूछें कि क्या एक अंग्रेज बहन को जहाज द्वारा भेजना संभव होगा ?

बापू के आशीर्वाद

१९. कांग्रेस द्वारा पद-ग्रहण

अगली गर्मियों में मैं फिर भारत और ब्रिटेन के बीच व्यापारिक समझौते की वातचीत करने के लिए लंदन गया। मैंने इस अवसर से लाभ उठाया और पारस्परिक संदेहों को दूर करने और ऐसे समझौते पर पहुंचने की कोशिश की, जिसके द्वारा कांग्रेस के लिए प्रान्तों में पद-ग्रहण करना सम्भव हो सके और उस स्वशासन का प्रयोग आरम्भ हो जाय, जिसे उस समय प्रान्तीय स्वायत्त शासन का प्रेरणाहीन नाम दिया गया था। पारस्परिक संदेह के कारण दोनों ओर काफी विगाड़ हो रहा था। वाइसराय गांधीजी से मिलने का विचार लेकर भारत आये थे, पर अभीतक गांधीजी से उनकी मुलाकात नहीं हुई थी। हमारे अपने पक्ष के सम्बन्ध में मुझे यह खेद के साथ कहना पड़ता है कि मेरे लन्दन पहुंचने के कुछ ही समय वाद मुझे बापू के विश्वस्त प्राइवेट सेक्रेटरी महादेव देसाई का पत्र मिला, जिसमें उन्होंने यह तक लिख डाला कि लार्ड हेलीफैक्स हमारे साथ दुरंगी चाल चल रहे हैं और भारत के मित्र नहीं हैं। उन्होंने लिखा, "क्या आपका यह पूरा विश्वास है कि ये लोग हमारी सहायता करने को उतने ही उत्सुक हैं, जितना वे आपको लिखे गए पत्रों में प्रकट करते हैं? मेरी सूचना तो यह है कि हेलीफैक्स ही हैं, जो किसी प्रकार का समझौता नहीं चाहते। दूध का जला छाछ को भी फूंक-फूंककर पीता है और यह हेलीफैक्स भारत सचिव और दूसरों को यह सलाह देते प्रतीत होते हैं कि गांधीजी के साथ किसी भी हालत में फिर समझौता न किया जाय।" मैंने उन्हें यह उत्तर दिया :

लंदन, १६ जून, १९३७

प्रिय महादेवभाई,

मैं यहां मित्रों से बातचीत कर रहा था और वार्त्तालाप के दौरान मैंने यही पाया कि केवल अविश्वास काम कर रहा है, वस्तु स्थिति के सम्बन्ध में कोई मौलिक मतभेद नहीं है। बातचीत के दौरान मुझे ऐसा लगा कि यदि दोनों पक्षों के विचारों को इस प्रकार से सजाया जा सके कि वह दोनों के लिए ग्राह्य हो तो बड़ी बात हो। कुछ-कुछ इस प्रकार :

"यदि गवर्नर और उसके मंत्री में गहरा मतभेद हो तो चाहे उस मतभेद का विषय उत्तरदायित्वों में से ही एक क्यों न हो, मंत्रिगण और गवर्नर पहले समझौता करने की भरसक चेष्टा करेंगे, पर यदि वे अपनी चेष्टा में असफल रहें और गवर्नर के लिए अपने मंत्रियों की सलाह का त्याग करना आवश्यक हो जाय तो वह उन्हें लिखकर देगा कि इस मामले में वह उनकी सलाह मानने में असमर्थ है, चाहे इसके कारण मंत्री को त्यागपत्र ही क्यों न देना पड़े। वैसी अवस्था में उक्त

मंत्री गवर्नर की उस सूचना का अर्थ यह लगायगा कि उससे त्यागपत्र मांगा जा रहा है।"

विचार कर रहा हूं कि यह सुझाव भारत-सचिव के सम्मुख अपना बताकर रखूं। हां, मैं यह साफ-साफ कह दूंगा कि मुझे यह सुझाव बापू अथवा और किसी की ओर से रखने का अधिकार नहीं है। फिर भी मैं यह जानना चाहूंगा कि इससे बापू की मांग की पूर्ति होती है या नहीं। मेरी तो धारणा है कि होती है, इसलिए मैंने सोचा था कि इसे लेकर भारत-सचिव पर दबाव डालूं। परन्तु यदि बापू इसे सन्तोषजनक न समझें तो इस पत्र के मिलते ही तार भेजना अच्छा होगा। जहां तक मैं समझता हूं, तथ्य की बात यही है कि मंत्रिमण्डल को भंग करने का उत्तर-दायित्व गवर्नर के कंधों पर रहे। इस मसविदे में मैंने इस विचार की रक्षा की है।

इस वक्तव्य में लेशमात्र सत्य नहीं है कि लार्ड हेलीफैक्स व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित किये जाने के विरुद्ध हैं। मैं यह इसलिए कह रहा हूं कि मुझे इस बात की पूरी जानकारी है।

सम्भवतः कार्यकारिणी की बैठक शीघ्र ही होने वाली है। यहां स्थिति निराशाजनक हो, ऐसी कोई बात नहीं है। अतएव जबतक मैं यह न लिखूं कि यहां कुछ होने वाला नहीं है तबतक, मुझे आशा है, कार्यकारिणी ऐसा कोई काम नहीं करेगी, जिससे दरवाजा बन्द हो जाय। यहां तो लोग हृदय से चाहते हैं कि कांग्रेस पद-ग्रहण करे। यदि उन्हें बर्खास्तगी के सम्बन्ध में बापू की बात से सहमत होने में थोड़ा-बहुत संकोच है तो केवल इसी कारण कि समझौते से पैदा होने वाली परिस्थितियों के सम्बन्ध में उन्हें भरोसा नहीं है। जहां तक बापू का सम्बन्ध है, मुझे तो अभी तक एक भी ऐसा आदमी नहीं मिला है, जिसे उनके सम्बन्ध में गलतफहमी हो। इस समय का वातावरण १९३५ के वातावरण से बिलकुल भिन्न है। ये लोग बापू के अविश्वास को समझते हैं, परन्तु साथ ही उनका कहना है कि "वह पद-ग्रहण करके स्वयं पता क्यों नहीं लगाते कि हम उनकी किस हद तक सहायता कर सकते हैं?" मैं तो उनके सामने बापू के विचारों को ठीक ढंग से पेश कर ही रहा हूं, और मैं यह देख रहा हूं कि उनकी दलीलों का उत्तर देना इन लोगों के लिए कठिन हो रहा है। इसलिए अच्छा यही है कि अपनी ओर से दर-वाजा उस समय तक खुला रखा जाय जबतक कि ये लोग स्वयं उसे बन्द न कर दें, और मेरा विश्वास है कि ये लोग ऐसा नहीं करेंगे।

तुम्हारा
घनश्यामदास

कुछ सप्ताह बाद मुझे यह खुशखबरी मिली कि कांग्रेस ने पद-ग्रहण कर लिया है। मैंने महादेवभाई को लिखा :

प्रिय महादेवभाई,

अभी-अभी रायटर ने टेलीफोन पर सूचना भेजी है कि बापू के कहने से कार्य-कारिणी ने छह प्रान्तों में पद-ग्रहण करना स्वीकार कर लिया है। इस समाचार से मुझे बेहद खुशी हुई। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि बापू ने ठीक ही निश्चय किया है और केवल बापू ही ऐसा निश्चय कर सकते थे। मेरी यह धारणा तो अवश्य है कि हमारी मांगें आंशिक रूप से पूरी हो गई हैं, परन्तु किसी साधारण कोटि के राजनेता को ऐसी परिस्थितियों में आगे क़दम बढ़ाने का साहस न होता। अस्तु, हमारी परीक्षा का समय आरम्भ होता है और मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि बापू की देखरेख में कांग्रेसी मंत्रिमंडल सबसे सफल मंत्रिमंडल सिद्ध होंगे और हम अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होंगे।

अब मैं कल लार्ड हेलीफैक्स और सर फिन्डलेटर स्टीवार्ट से और दो-एक दिन में फिर लार्ड जेटलैंड और लार्ड लोदियन से मिलूंगा। इस देश से विदा होने के पहले मैं दो-चार अन्य राजनेताओं से भी मिल लूं, ऐसा विचार है। मैं उनके दिमाग में यह बात बिठा देना चाहता हूं कि यदि कांग्रेस द्वारा पद-ग्रहण कराने में इतनी कठिनाई हुई तो उसे पद-ग्रहण किये रहने को राजी करने में और भी अधिक कठिनाई होगी और यदि उसके साथ विवेक से काम नहीं लिया गया तो वह पद-त्याग देगी। मैं उन्हें यह भी बताऊंगा कि नौकरशाही को सीमा के भीतर रखना कितना आवश्यक है।

वैसे राजाजी के पत्र से मेरी आशाओं पर तुषारपात हो गया था, तो भी मैं कांग्रेस द्वारा पद-ग्रहण किये जाने की सम्भावना की ओर से बिलकुल ही निराश नहीं हुआ था। पहली बात तो यह हुई कि तुमने जो एकदम खामोशी साध रखी थी उससे भी मुझे आशा बंधी हुई थी। तुम जानते ही हो कि मैं जबसे यहां आया हूं, तुमने मुझे एक भी चिट्ठी नहीं लिखी है। मैंने अपने मन में सोचा कि यह संयोग मात्र नहीं हो सकता है, ऐसा जानबूझ कर और बापू की ताकीद से किया जा रहा है। इसका एकमात्र अर्थ यही हो सकता था कि तुम इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना चाहते थे कि बापू क्या सोच रहे हैं। शायद बापू कार्यकारिणी की वर्धावली बैठक की समाप्ति तक रुकना चाहते थे।

बापू को यह भी बता देना कि मेरा स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक है। आरम्भ में काम उतना नहीं था, इसलिए मैंने पटेबाजी का कुछ अभ्यास किया था। काम बढ़ने पर वह छोड़ देना पड़ा। पर वैसे मैं काफी व्यायाम कर लेता हूं। मेरे लिए पटेबाजी नई चीज नहीं है, क्योंकि बचपन में मैं अच्छी-खासी लाठी चला और कुश्ती लड़ लेता था। यहां यह सब मैं पुराने अभ्यास को ताजा करने के लिए कर रहा था। पर यह सब कुछ बेकार-सा है। यह सब मैं तुम्हें इसलिए लिख रहा हूं

कि इससे तुम्हारा मनोरंजन होगा।

सस्नेह तुम्हारा ही
घनश्यामदास

ग्रासवेनर हाउस, पार्क लेन
८ जुलाई, १९३७

प्रिय महादेवभाई,

आज मैंने लार्ड हेलीफैक्स से बात की और उन्हें बताया कि गवर्नरों और नौकरशाही के लिए निष्कपट भाव से आचरण करना कितना आवश्यक है। मैंने उनसे कहा कि कांग्रेस केवल विधान को चलाने के लिए पद-ग्रहण नहीं कर रही है, बल्कि अपने लक्ष्यस्थल की ओर अग्रसर होने के लिए। मैंने बताया कि कांग्रेस-वादी अपने लक्ष्य की ओर वैधानिक मार्ग से भी बढ़ सकते हैं और प्रत्यक्ष कार्रवाई के द्वारा भी। फिलहाल उन्होंने प्रत्यक्ष कार्रवाई का मार्ग छोड़कर वैधानिक मार्ग अपनाया है। यदि गवर्नरों और नौकरशाही ने घपलेबाजी से काम नहीं लिया तो वैधानिकता का बोल-बाला होगा, अन्यथा कांग्रेस पुनः प्रत्यक्ष कार्रवाई करने को बाध्य होगी। राजनीतिमत्ता का तकाजा यही है कि गवर्नरों और नौकरशाही को पार्लमेंट के इस इरादे से अवगत कर दिया जाय कि घपलेबाजी से काम नहीं चलेगा।

उन्होंने मुझे आश्वासन दिया और कहा, "मैं आपसे पहले भी कह चुका हूं और अब फिर कहता हूं कि आपको इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की आशंका को जगह नहीं देनी चाहिए। अंग्रेजों का चरित्र ही कुछ इस प्रकार का है कि उन्हें अपने आपको नई परिस्थितियों के अनुरूप बनाने में देर नहीं लगती है। शायद भारतीय अफसरों को इस मामले में कुछ देर लगे, पर अंग्रेजों को देर नहीं लगेगी।"

तुम्हें शायद मालूम ही होगा कि मुझसे एक बार बापू ने तीथल में कहा था कि पद-ग्रहण के बाद वह स्वयं लार्ड लिनलिथगो से सीमाप्रान्त के आयोजित दौरे के सम्बन्ध में मुलाकात की दरख्वास्त करेंगे। जब मैंने हेलीफैक्स को यह बात बताई तो वह बड़े खुश हुए और बोले कि लार्ड लिनलिथगो भी बापू से मिलकर निस्संदेह प्रसन्न होंगे, और आशा है कि उनके प्रस्तावित दौरे के सम्बन्ध में कोई अड़चन पैदा नहीं होगी।

मैंने उन्हें चेतावनी दी कि कांग्रेस-राज निर्विघ्न रूप से चलता रहेगा, ऐसी बात नहीं है। यदा-कदा कठिनाइयां उत्पन्न होती रहेंगी और यदि लार्ड लिनलिथगो बापू को समझ लेंगे तो उनके परामर्श से सदा लाभान्वित होते रहेंगे। उन्हें स्वयं यह बात मालूम थी और उन्होंने कहा, "मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि

लिनलिथगो बापू के साथ पारस्परिक मैत्री का सम्पर्क स्थापित करने का अवसर नहीं गंवायंगे।" मैं समझता हूं कि बापू को अपनी योजनाएं अभी से स्थिर कर लेनी चाहिए।

मुझे लोदियन के नाम बापू का पत्र, जिसमें उन्होंने उन्हें भारत आने का निमन्त्रण दिया है, बड़ा रोचक लगा। मैंने स्वयं उनसे इस विषय पर कुछ दिन पहले बात की थी और वह इस बारे में विचार कर रहे हैं। मैंने इसकी चर्चा हेलीफैक्स से की। कहा कि लोदियन के अतिरिक्त और लोगों को भी भारत जाना चाहिए, जिससे अधिक सम्पर्क स्थापित किया जा सके। इस सिलसिले में मैंने लेन्सबरी और चर्चिल का नाम लिया। उन्हें सुझाव रुचा और वह बोले कि इससे वैयक्तिक मैत्री की भावना तो बढ़ेगी ही, वे ब्रिटिश हितों को भारत को, और भारतीय हितों को ब्रिटेन को समझाने में भी समर्थ होंगे।

आज तीसरे पहर मैं सर फिन्डलेटर स्टीवार्ट से फिर मिला। उनसे भी मैंने उन्हीं बातों की चर्चा की, जिनकी चर्चा लार्ड हेलीफैक्स से की थी और उनके उत्तर भी प्रायः हेलीफैक्स के उत्तरों जैसे ही थे। मैं जेटलैण्ड से भी मिलूंगा और जो बातें औरों से कहता आ रहा हूं उन्हीं को लेकर उनपर भी जोर डालूंगा। इधर तुम्हारे पास से कोई नया मसाला मिल गया तो मित्रों के सामने वह भी रख दूंगा।

कल रात मैं सर जार्ज और लेडी शुस्टर के साथ भोजन कर रहा था तो सर जार्ज के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में बड़ी मनोरंजक बातचीत हुई। मैंने उन्हें बताया कि हमें सामाजिक कार्य को आगे बढ़ाने में रुपये-पैसे की दिक्कत होगी और उनसे पूछा कि कोई सुझाव हो तो बताइये।

उन्होंने मुझे स्केण्डिनेवियन देशों की यात्रा करके वहां की अवस्था का अध्ययन करने की सलाह दी। उन्होंने मुझे डेनियल हैमिल्टन का स्थान भी देखने की सलाह दी और कहा कि वह भारत में अधिक कुछ न कर सकेगा, क्योंकि भारत में हरेक काम रुपये को लक्ष्य मानकर किया जाता है। उन्होंने कहा कि बैंकिंग जांच कमीशन पर भारत सरकार के २९ लाख रुपये खर्च हुए। हमें इंगलैण्ड में भी रुपये को लक्ष्य बनाकर काम करना पड़ता है, परन्तु भारत में, जहां रुपये को लक्ष्य बनाकर काम कराने का क्षेत्र, सम्भव है उतना विस्तीर्ण न हो, सेवा-भाव के क्षेत्र में विस्तार की गुंजायश है। जब उसका पूर्ण विकास हो जायगा तो रुपये का खेल खुद ही पिछड़ जायगा।

उन्होंने मुझे चेतावनी भी दी कि यदि मैं सैद्धान्तिक रूप से बात करना आरंभ करूंगा तो उससे भारत का अनुदार वर्ग सशंकित हो जायगा। पर उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि बापू की प्रेरणा से सेवा-भाव के क्षेत्र को विस्तीर्ण करना सम्भव है और बजट में वृद्धि किये बिना ही हमारे लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है।

दूसरे शब्दों में वह धन के मापदण्ड को पदच्युत करके उसके रिक्त स्थान पर परि-श्रम के मापदण्ड को आसीन देखना चाहते हैं।

इस पत्र के साथ 'टाइम्स' का जो लेख भेजा जा रहा है, उसमें तुम देखोगे कि सम्पादक ने किस प्रकार मुकाबला करने में और विध्वंस करने में भेद किया है। आखिर अब इन लोगों की समझ में भेद आ गया।

उस दिन मैं श्री बटलर के साथ दोपहर का भोजन कर रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें गवर्नर बनाकर भारत भेजा जायगा। यहां सब लोग पूर्ण रूप से सन्तुष्ट दिखाई पड़ते हैं और मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि कांग्रेस के प्रति सभी की सहानुभूति रहेगी और सभी सहायता करना चाहेंगे। कुछ दिनों बाद मैं चर्चिल से मिल रहा हूं। लार्ड डरबी ने मुझे दोपहर के भोजन के लिए दावत दी है और ओलीवर स्टेनले, जो एक मंत्री हैं और व्यापार-मंडल में भी हैं, मेरे साथ दोपहर का भोजन करने आ रहे हैं। बम्बई के गवर्नर सर रोजर लमले भी मेरे यहां भोजन करने आ रहे हैं।

इन पारस्परिक सम्पर्कों के दौरान मैं इन लोगों के दिमाग में यही बात बैठाने की चेष्टा कर रहा हूं कि कांग्रेस केवल शासन-विधान को सफल बनाने के लिए नहीं आई है, बल्कि आगे बढ़ना चाहती है। उसके मार्ग में रोड़े न अटकाकर उसकी सहायता करनी चाहिए। यदि रोड़े अटकाये गये तो कांग्रेस को बाध्य होकर पुनः प्रत्यक्ष कार्रवाई करनी पड़ेगी। परन्तु यहां मैंने यही पाया है कि सभी की सहानुभूति कांग्रेस के साथ है और सभी यह आश्वासन देते हैं कि ब्रिटिश जनता यही चाहेगी कि कांग्रेस अपने लक्ष्य की ओर बढ़े। लोग कांग्रेस का लक्ष्य औप-निवेशिक स्वराज्य ही मानते हैं। यदि स्वतन्त्रता का अभिप्राय साम्राज्य से नाता तोड़ना हो तो ये लोग इसके सर्वथा विरुद्ध हैं। औपनिवेशिक स्वराज्य में भी संबंध विच्छेद करने का अधिकार मौजूद है, और यही काफी है।

सस्नेह तुम्हारा ही
घनश्यामदास

ग्रासवेनर हाउस, पार्क लेन
लन्दन, १२ जुलाई, १९३७

प्रिय महादेवभाई,

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ माडरेट कहलाने वाले लोगों ने यहां अभी से इस ढंग की बातचीत शुरू कर दी है जिससे यहां संकेत मिलता है कि कांग्रेस अधिक दिनों तक पदारूढ़ नहीं रहेगी। बहुत सम्भव है कि यह सबकुछ 'इच्छा विचार की जननी' वाली बात हो। ये लोग कुछ-कुछ इस ढंग से बात करते हैं कि यदि जवाहरलाल ने राजद्रोह करने की सलाह देना आरम्भ किया तो क्या होगा?

क्या उन्हें गिरफ्तार कर लिया जायगा ? यदि नहीं तो गवर्नर दखल देने को बाध्य होगा ? इस तरह की दुनिया-भर की फजूल बातें यहां के राजनेताओं और राजनीति-विशारदों के पास पहुंचाई जा रही हैं, परन्तु इनका अधिक प्रभाव नहीं पड़ता है।

मैंने एक माडरेट को यह बताने की चुनौती दी कि जवाहरलाल द्वारा राजद्रोह फैलाये जाने से उनका क्या अभिप्राय है। उन्होंने उत्तर दिया कि सम्भव है, वह स्वतन्त्रता की आवाज बुलन्द करें। मैंने करारा उत्तर दिया कि स्वतन्त्रता की आवाज बुलन्द करने में क्या बुराई है, क्या उपनिवेशों को सम्बन्ध तोड़ने का अधिकार प्राप्त नहीं है ? दक्षिण अफ्रीका की यूनियन सरकार के सदस्य तो साम्राज्य से सम्बन्ध-विच्छेद करने की आवाज बुलन्द कर ही रहे हैं।

मैं यह सब सिर्फ यह बताने के लिए लिख रहा हूं कि माडरेटों को इस बात से हार्दिक प्रसन्नता नहीं हुई है कि कांग्रेस ने पद-ग्रहण कर लिया है, क्योंकि यदि कांग्रेस ने शासन की बागडोर हाथ में ले ली तो नरम दल वालों का इतिहास हमेशा के लिए खत्म हो जायगा। ये लोग अब भी शासन करने का स्वप्न देख रहे हैं।

सस्नेह,

तुम्हारा ही
घनश्यामदास

सर रोजर लमले (अब लार्ड स्कारबुरो) व्यक्तिगत सम्पर्क में विश्वास रखनेवाले प्रतीत होते थे। वह इस समय बम्बई के गवर्नर निर्दिष्ट हो गये थे। उनसे बातचीत करने के बाद मैंने महादेवभाई को लिखा :

"हमने करीब दो घंटे बातचीत की। उन्होंने मुझसे हमारे लोगों के बारे में अधिक जानकारी हासिल करने की कोशिश की। वह खास तौर पर बापू से मिलना चाहते हैं और बहुत उत्सुक हैं कि भारत पहुंचते ही उन्हें बापू से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिले। क्या बता सकते हो कि यह किस प्रकार सम्भव हो सकेगा ? यह ठीक है कि बापू बम्बई कभी-कभी ही जाते हैं, पर शायद गवर्नर से मिलने जा सकें।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात वह यह जानना चाहते हैं कि मंत्री लोगों को जब कभी निमंत्रित किया जायगा तो वे उनके साथ भोजन करने आयेंगे या नहीं। मैंने कहा कि इस सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं कह सकता। मैंने उनसे कहा कि बापू इस प्रकार के आतिथ्य-सत्कार के विरुद्ध हैं, पर निमन्त्रण मिलने पर मन्त्रियों को भोजन-समारोहों में जाने की छूट रहेगी या नहीं, इस बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता। इस बात के लिए तो बापू ही सबसे अधिक उपयुक्त हैं।

तुमने जो यह सुझाव दिया है कि मैं फ्रांस में लौरडेस जाऊं, सो उसके बारे में यह कहना चाहता हूं कि मुझे इस बात के सिवाय और किसी बात में दिलचस्पी नहीं है कि मैं जल्दी-से-जल्दी भारत पहुंच जाऊं। पर मुझे लगता है कि सितम्बर के मध्य तक हमको यहीं रुकना पड़ेगा।

हां, मैं तुम्हारे लिए बढ़िया औजारों के बक्स और विज्ञान के बक्स लेता आऊंगा। और किसी चीज की जरूरत हो तो लिख देना।"

मैंने श्री चर्चिल के साथ अपनी मुलाकात का यह विवरण बापू को भेजा :

२२ जुलाई, १९३७

"आज मैं चर्चिल के साथ उनके घर दोपहर का भोजन कर रहा था। फिर दो घंटे तक उनका साथ रहा। वह यथापूर्व बड़ी सहृदयता से पेश आये। बड़े मिलनसार हैं, परन्तु भारत के विषय में उनका अज्ञान वैसा ही बना हुआ है।

मुझे देखते ही उन्होंने कहा, "तो एक महान् प्रयोग का आरम्भ हो ही गया!" और जब मैंने उत्तर में कहा, "हां, सो तो है, परन्तु इसे सफल बनाने में आपकी सारी सहानुभूति सदाकांक्षा की दरकार होगी," तो उन्होंने मुझे इसका आश्वासन दिया। साथ ही उन्होंने कहा, "यह सबकुछ आप ही लोगों पर निर्भर है। आप जानते ही हैं कि जबसे सम्राट् ने विधान पर हस्ताक्षर किये हैं, मैंने उसके विरुद्ध जबान तक नहीं खोली है। यदि आप इस प्रयोग को सफल बना सकें तो अपने लक्ष्य पर स्वतः ही पहुंच जायंगे। आप देख ही रहे हैं कि दुनिया-भर में प्रजातन्त्र पर किस तरह हमला किया जा रहा है और यदि आप अपने कार्यों द्वारा यह दिखा सकें कि आप प्रजातन्त्र को सफल बना सकेंगे तो आपको आगे बढ़ने में कोई कठिनाई नहीं होगी। आप खेल के नियमों का पालन करिये, हम भी वैसा ही करेंगे।"

मैंने पूछा, "खेल के नियमों का पालन करने से आपका क्या अभिप्राय है?" उन्होंने उत्तर दिया, "प्रान्तों को सन्तुष्ट, शान्तिपूर्ण और समृद्ध बनाइये, हिंसा मत होने दीजिए और अंग्रेजों की हत्या मत करिए।" मैंने कहा, "आपने जो कुछ कहा उससे तो मैं हक्का-बक्का रह गया। क्या आप सचमुच यह विश्वास करते हैं कि हम अंग्रेजों की हत्या करेंगे?" वह मेरी आत्मतुष्टि से चकित तो हुए, परन्तु उन्होंने मेरे इस आश्वासन को स्वीकार कर लिया कि भारत हिंसा में विश्वास नहीं करता है। मैंने यह भी कहा कि "उग्र-से-उग्र कांग्रेसवादी भी अंग्रेज-विरोधी नहीं है।" वह स्वतन्त्रता तो चाहता है, परन्तु इसके लिए अंग्रेज-विरोधी होना जरूरी नहीं है।" उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या यही बात जवाहरलाल के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है? मैंने उत्तर दिया, "हां, यद्यपि मैं पूंजीवादी हूं और वह

समाजवादी हैं और सामाजिक कल्याण के सम्वन्ध में हम दोनों के दृष्टिकोण भिन्न हैं, तथापि उनके साथ न्याय किया जाय तो यह कहना पड़ेगा कि वह एक महान् व्यक्ति हैं, वहुत साफ तबीयत के आदमी हैं और अंग्रेज-विरोधी तो जरा भी नहीं हैं। सारी वातों का पता लगाने के लिए आपको स्वयं भारत जाना चाहिए। इससे हमें भी वड़ी सहायता मिलेगी।" उन्होंने उत्तर दिया, "मैं जाना तो चाहूंगा। लिनलिथगो ने तो मुझे दावत दे ही रखी है, और यदि गांधीजी की भी यही इच्छा हुई तो मैं जाऊंगा। अपने नेता से मेरा अभिवादन कहिये और उनसे कहिये कि मैं उनकी सफलता की कामना करता हूं। समाजवाद से मोर्चा लेने में कोताही मत करिये। धन-संग्रह अच्छी चीज है, क्योंकि इससे सूझ पैदा होती है। हां, पूंजीवादियों को स्वामी नहीं, सेवक होना चाहिए।"

यूरोप की राजनैतिक स्थिति के सम्वन्ध में उन्हें घोर संशय है। अगले साल-भर तक तो उन्हें युद्ध की आशंका नहीं है, परन्तु वह सुदूर भविष्य के सम्वन्ध में कुछ कहने में असमर्थ हैं। उन्होंने कहा, "तानाशाह लोग पागल होते जा रहे हैं और अपनी शक्ति को अक्षुण्ण वनाने के लिए कुछ भी कर सकते हैं। रूस उत्तरोत्तर कम साम्यवादी और जर्मनी अधिक समाजवादी होता जा रहा है। इस प्रकार दोनों में एक प्रकार का सामंजस्य स्थापित हो गया है। इंग्लैण्ड ही एक ऐसा देश है, जिसने प्रजातंत्र को वनाए रखा है। मैंने इंग्लैण्ड को पुन: सशस्त्र करने का आन्दोलन इसलिए आरम्भ किया कि मेरा विश्वास है कि राष्ट्रों का शासन या तो अधिकार के द्वारा होता है या वल के द्वारा। शासन करने का श्रेयस्कर मार्ग अधिकार है, परन्तु जवतक आपके पास वल न हो, आप अधिकार से वंचित रहेंगे, और अव हमारे पास वल है और उसकी सहायता से हम अपने अधिकार का प्रतिपादन कर सकते हैं। इटली तो एक साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहा है!"

वह इसी लहजे में देर तक वातें करते रहे। इस बार उन्होंने स्वयं अनुरोध किया कि मैं उन्हें भारत की स्थिति के सम्वन्ध में सूचित करता रहूं। मैंने वचन दे दिया है।

इसके साथ कुछ कतरनें भेजता हूं, जिनमें तुम्हारी दिलचस्पी होगी। 'मार्निंग पोस्ट' तो यहां की जनता के कानों में विष उंडेलता ही रहता है, परन्तु इससे क्या हुआ! हम ठीक रास्ते पर चलते रहें।"

युद्ध के वारे में श्री चर्चिल का अनुमान कितना ठीक निकला! एक साल तो और शान्ति रही, उसके बाद क्या होना था, यह कोई नहीं जानता था।

इस आड़े वक्त में लार्ड लोदियन भारत के अच्छे मित्र सिद्ध हुए हैं। मैंने महादेवभाई को (वापू के लिए) लिखा :

"कल शाम लार्ड लोदियन मिलने आये। उनके साथ भविष्य के सम्बन्ध में बहुत देर तक बातचीत होती रही। मैंने उन्हें बताया कि यद्यपि कांग्रेस ने पद-ग्रहण कर लिया है, तथापि ऐसा उसने इसलिए नहीं किया है कि उसका विधान-मात्र से सन्तोष करने का विचार है, बल्कि इसलिए कि उसका स्थान किसी तरह ऐसी वस्तु को दिया जाय, जो उसे पसंद हो, और अब जबकि उसने आपकी इच्छा के अनुरूप आचरण किया है, यह आप कहां तक सम्भव समझते हैं कि इस विधान को अमल में लाकर वह उसके स्थान पर अपनी पसन्द की चीज स्थापित कर देगी, उन्होंने उत्तर दिया, "आप लोगों को फिलहाल नौकरियों के और साम्प्रदायिक प्रश्न को नहीं छेड़ना चाहिए, परन्तु समाज-सुधार के अन्य पहलुओं पर आपको गवर्नरों के हस्तक्षेप को कदापि सहन नहीं करना चाहिए। ऐसे शनैः-शनैः एक प्रकार की परिपाटी स्थापित हो जायगी और प्रान्तीय स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से स्थापित हो जायगी। रही संघ शासन-व्यवस्था की बात, सो जब वह अस्तित्व में आयगी तो मुझे आशा है कि कांग्रेस अपना निजी मंत्रिमंडल बना लेगी।"

मैंने उन्हें बताया कि ३७५ सीटों में कांग्रेस को मुश्किल से १०० मिलेंगी और इस प्रकार वह बहुसंख्यक दल के रूप में नहीं जा सकेगी। इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि बहुसंख्यक न होते हुए भी वह एक सबसे अधिक संख्या वाले दल की हैसियत से बहुसंख्यक दल का गठन कर सकेगी। मैंने इसका खण्डन नहीं किया। इसके बाद उन्होंने सुझाव दिया कि हमें तुरन्त ही सैनिक बजटों को चुनौती देना आरम्भ कर देना चाहिए। इसके फलस्वरूप गवर्नर जनरल के साथ बात-चीत का मौका मिलेगा और फलतः सैनिक बजटों के मामले में अधिक कहने का अवसर मिलेगा। मैंने पूछा, "इससे हमें सैनिक अथवा वैदेशिक मामलों पर अधिकार करने का अवसर किस प्रकार मिल जायगा ? आपका दावा है कि शासन-विधान में स्वतः विकास के अणु विद्यमान हैं। अब आपको यह साबित करना होगा कि इसके द्वारा हमें वह मिल जायगा, जिसे हममें से कुछ लोग औपनिवेशिक स्वराज्य कहते हैं।"

उन्हें यह बात स्वीकार करनी पड़ी कि एक नये कानून के बगैर यह सम्भव नहीं होगा। तब मैंने उन्हें बताया कि मैं इस चीज की विभावना किस रूप में करता हूं। मैंने यह बात मान ली कि बुद्धि-विवेक और समझाने-बुझाने के मार्ग द्वारा ऐसी परिपाटी को जन्म दे सकेंगे, जिसके द्वारा दो-तीन वर्षों के भीतर ही हमें पूर्ण प्रान्तीय स्वतन्त्रता मिल जायगी। हमें यह देखना होगा कि कानून और व्यवस्था की रक्षा होती है और साम्प्रदायिक मामलों में निष्पक्षता से काम लिया जाता है या नहीं। नौकरियां वास्तव में सेवा करने के साधन बन जायंगी। यह सबकुछ तो ठीक है, परंतु जहां तक केन्द्र का सम्बन्ध है, मुझे इसमें पूरा संदेह

है कि यह अवस्था हस्तान्तरित विषयों तक के सम्बन्ध में उत्पन्न की जा सकेगी। इसलिए मैंने यह सुझाव रखा कि शासन-विधान को दो-तीन साल तक अमल में लाने के बाद हमें अपने सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का एक छोटा-सा दल इंग्लैण्ड भेजना चाहिए। यह दल यहां मंत्रिमंडल के सदस्यों से मिलकर उन्हें बतायगा कि हमने वैधानिक उपायों से आगे बढ़ने की भरसक चेष्टा की है, पर अब प्रगति सम्भव नहीं है और इसके लिए एक नया कानून बिलकुल आवश्यक हो गया है। इस दल को यहां की सरकार को इसके लिए राजी करने की चेष्टा करनी चाहिए कि अब हमें अपनी पसन्द की चीज मिल जानी चाहिए। दल को यहां वालों को स्पष्टरूप में बता देना चाहिए कि भारत अपनी वर्तमान अवस्था से सन्तुष्ट रहने वाला नहीं है और यदि स्थायी समझौता नहीं हुआ तो प्रत्यक्ष कार्रवाई की सम्भावना है।

इसके बाद मैंने लार्ड लोदियन से पूछा कि क्या यह कार्य-प्रणाली अपनाने से यहां की सरकार हमारे साथ औचित्यपूर्ण व्यवहार करने और हमारी बात सुनने को राजी हो जायगी। मैंने यह सुझाव भी पेश किया कि आगामी दो-तीन वर्षों में हमें शासन-विधान को हर प्रकार से सफल बनाने की चेष्टा करनी चाहिए और पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करना चाहिए, जिससे समय आने पर यहां के मंत्रि-मंडल के सदस्य और यहां की जनता हमारे साथ मैत्री का आचरण कर सके। इंग्लैण्ड के प्रमुख व्यक्ति भारत जावें और भारत के प्रमुख व्यक्ति इंग्लैण्ड आएं।

उन्होंने उत्तर दिया कि सुझाव अच्छा है। उन्होंने आशा प्रकट की कि समय आने पर इसका इंग्लैंड की जनता पर गहरा प्रभाव पड़ेगा और इस कार्य-प्रणाली के द्वारा, सम्भव है, हमें अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त हो सके। उन्होंने बताया कि उन्होंने बापू को चिट्ठी लिखी है और शायद नवम्बर के मध्य तक वह खुद भी भारत के लिए रवाना हो जायं। परन्तु उन्होंने कहा कि इस बात को गुप्त रखा जाय। मैंने पूछा कि क्या इस सम्बन्ध में उन्होंने कोई कार्यक्रम निर्धारित किया है ? उन्होंने कहा, "न। स्पीचें झाड़ने की मेरी बिलकुल इच्छा नहीं है।" मैंने उत्तर में कहा कि मैं यह तो नहीं चाहता कि आप स्पीचें दें, परन्तु मैं यह अवश्य जानना चाहता हूं कि आप भारत अंग्रेजों के अतिथि होकर जायंगे या भारत के ? उन्होंने कहा, "निश्चय ही भारत का। मैं गांधीजी से मिलूंगा।" परन्तु मैंने कहा, इतना ही काफी नहीं है। आपको अधिक-से-अधिक कांग्रेसवादियों से मिलना चाहिए। आपको गवर्नमेंट हाउसों में न ठहरकर भारतीयों के यहां ठहरना चाहिए।

मैंने उनसे पूछा कि क्या वह दिल्ली और कलकत्ते में मेरे पास ठहरना पसन्द करेंगे। उन्होंने उत्तर दिया, "मुझे एक दिन के लिए तो गवर्नमेंट हाउस में ठहरना ही होगा, परन्तु वैसे मुझे आपके साथ ठहरकर बड़ी खुशी होगी।" मैंने उन्हें बताया कि मैंने इसी तरह की बात चर्चिल के साथ की है, परन्तु वह शायद तभी

जायंगे जब बापू उन्हें बुलायंगे। उन्होंने इस सम्वाद में बडी रुचि दिखाई। वह मुझसे सहमत थे कि मुझे इसी प्रकार का अनुरोध बाल्डविन से भी करना चाहिए।

मैंने उन्हें बताया कि यदि दो-तीन साल बाद प्रगति नहीं हुई तो भारत प्रत्यक्ष कार्रवाई करने को बाध्य हो जायगा। परन्तु प्रत्यक्ष कार्रवाई का अर्थ लार्ड लोदियन ने रक्तपातपूर्ण क्रांति लगाया है। वह अहिंसात्मक सामूहिक सविनय अवज्ञा की कल्पना तक नहीं कर सकते हैं। उनका खयाल है कि जवाहरलाल बापू के सामने सिर केवल इसलिए झुका रहे हैं कि इसके सिवा और कोई चारा नहीं है। परन्तु ठीक समय पर वह उठ खड़े होंगे और चूंकि अहिंसात्मक सविनय अवज्ञा में उनका विश्वास नहीं है, इसलिए वह भारत को क्रान्ति की ओर ले जायंगे। युवा समाज उनके पीछे हो लेगा, इसका फल यह होगा कि पूंजीपति फासिस्ट ढंग पर अपना संगठन करेंगे और किसान लोग साम्यवादी ढंग पर।

मैंने उन्हें बार-बार बताने की कोशिश की कि वह यूरोपियन हैं, इसलिए उन्हें साम्यवाद और फासिज्म के अलावा और किसी चीज का पता नहीं है, जबकि भारत में एक तीसरी दिशा में कदम उठाया गया है, जिसमें कुछ सफलता भी मिली है, और वह है अहिंसात्मक क्रान्ति। मैंने उन्हें बताया कि जबतक कांग्रेस को यह यकीन न हो जायगा कि प्रत्यक्ष कार्रवाई करने पर भी उसकी अहिंसात्मक रूपरेखा वैसी ही बनी रहेगी तबतक वह वैसा नहीं करेगी। परन्तु उन्होंने कहा कि मानवी प्रकृति जैसी कुछ है, रहेगी। वह इस बात पर विश्वास ही न कर सके कि यह सबकुछ सम्भव है।

इसके बाद उन्होंने कहा, "गांधीजी का आदर इसलिए किया जाता है कि वह संत पुरुष हैं, परन्तु जब संघर्ष की नौबत आयगी तो वे लोग उनकी बात तक नहीं पूछेंगे। जवाहरलाल कभी गांधीवाद के आगे सिर नहीं झुकायेंगे।" लाख समझाने पर भी मैं उन्हें अपनी बात का विश्वास नहीं दिला सका। उन्होंने केवल इतना ही कहा कि वह मेरे कथन के मर्म को समझने के लिए भारत जायंगे।

मुझे इसी डाक से बापू का अपने हाथ से लिखा हुआ पत्र मिला है। तुम्हारा पत्र भी मिला है। मुझे बापू का पत्र इतना पसन्द आया कि मैंने उसकी नकलें लार्ड हेलीफैक्स, लोदियन और चर्चिल को भी भेजी हैं। मैंने मंत्रियों के वेतन पर बापू के अन्तिम लेख की नकल भी प्रमुख व्यक्तियों के पास भेज दी है।

मुझे सारी बातों की खबर देते रहना। वैसे मैं यूरोप के अन्य देशों के लिए रवाना हो रहा हूं, क्योंकि ये लोग अगस्त में काम-काज नहीं करते हैं, परन्तु हम लोग सितम्बर के पहले सप्ताह में फिर इकट्ठे होंगे। यह बात बड़ी खिझाने वाली है कि हमें उस समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, परन्तु इसके सिवा और चारा भी क्या है!

हमें यदाकदा 'टाइम्स' और 'डेली हेरल्ड' में भारत के सम्बन्ध में प्रेस-समाचार पढ़ने को मिलते रहते हैं। पर वैसे हम लोग एक प्रकार से अलग-थलग से हो गए हैं। इसलिए मैंने देवदास से 'हिन्दुस्तान टाइम्स' नियमित रूप से भेजने को कह दिया है।

ग्रासवेनर हाउस, पार्क लेन
लन्दन
४ सितम्बर, १९३७

प्रिय महादेवभाई,

तुम्हारे पत्रों को केवल रोचक कहना काफी नहीं होगा। मैं एक ऐसे आदमी की तरह हूं, जो सहारा के रेगिस्तान में हो और प्यास से तड़प रहा हो। मैंने देवदास को 'हिन्दुस्तान टाइम्स' भेजने को लिख दिया था, परन्तु उन्होंने अभी तक भेजना शुरू नहीं किया है। इसके परिणामस्वरूप भारत से मेरा सम्वन्ध कटा-सा हो गया। मेरा लड़का कुछ कटिंग भेजता रहता है और मैं 'हरिजन' से सम्पर्क बनाए हुए हूं। परन्तु इन सारी चीजों से मुझे वह सामग्री नहीं मिलती है, जो तुम्हारे द्वारा मिल सकती है। इसलिए मुझे जब तुम्हारे पत्र मिलते हैं तो मैं उनका अच्छी तरह पान करता हूं, और जब कभी बापू लिखते हैं तब तो मैं अपने-आपको सशरीर स्वर्ग में पाता हूं। मैं यदा-कदा तुम्हारे पत्रों के उद्धरण लार्ड हेलीफैक्स के पास भेज देता हूं, पर इधर कई दिनों से नहीं भेज रहा हूं, क्योंकि भारत का प्रश्न मेरे लिए बड़े महत्त्व का हो सकता है, उनके लिए शायद वह इस समय महत्त्व का न हो, जबकि शंघाई में गोली-वर्षा हो रही है और फ्रेन्को ब्रिटिश जहाजों को टारपीडो मारकर डुबो रहा है।

बापू ने अण्डमान के भूख-हड़तालियों की हड़ताल भंग कराने में कमाल का काम किया है। उनके इस कार्य की बड़ी सराहना हो रही है। मुझे इसमें संदेह नहीं है कि जब अधिकारियों ने बापू को उनके छुटकारे के लिए आते देखा होगा तो चैन की सांस ली होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि वाइसराय के साथ बापू की मित्रता घनिष्ठतर होती जा रही है, परन्तु सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि वह हमें सहयोग का मार्ग दिखा रहे हैं। वह कई बार कह चुके हैं कि वह सहयोग करने के लिए बेहद आतुर हैं और असहयोग भी सहयोग की दिशा में उठाया गया एक कदम है। अब वह आचरण द्वारा यह सिद्ध कर रहे हैं। निस्सन्देह यदि हम अपने भीतर सामर्थ्य उत्पन्न कर लें तो सहयोग से किसी प्रकार के अनिष्ट की संभावना नहीं है।

लक्ष्मीनिवास भारतीय समाचार-पत्रों की जो कतरनें भेजता रहता है उनसे पता चलता है कि उच्छृंखलता जोर पकड़ती जा रही है। बिहार में किसानों ने

व्यवस्थापिका सभा पर धावा बोला, भवन में प्रवेश करके सीटों पर अधिकार कर लिया और मुख्य मन्त्री के कहने पर भी वहीं जमे रहे। यह सब मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगा। इस पर तुर्रा यह कि मुख्य मंत्री ने भाषण द्वारा उन्हें मीठी-मीठी बातें तो बताईं, पर यह नहीं बताया कि उन्होंने व्यवस्थापिका सभा की सीटों पर अधिकार करके और वहां से जाने से इन्कार करके गलती की। राघवेन्द्रराव के विरुद्ध जो प्रदर्शन किया गया, बापू ने उसकी आलोचना करके ठीक ही किया, परन्तु मुझे आशंका है कि यदि कठोरता नहीं बरती गई तो उच्छृंखलता में उत्तरोत्तर वृद्धि होगी। मुझे आशा करनी चाहिए कि कांग्रेस के अधिकारी इस परिस्थिति की ओर से अचेत नहीं हैं और इस सम्बन्ध में सारी आवश्यक कार्रवाई करेंगे। आम लोगों में यह धारणा जड़ पकड़ती जा रही दीखती है कि स्वतन्त्रता और उच्छृंखलता एक ही चीज है।

अपने दफ्तर के बारे में तुमने जो कुछ कहा, उससे मुझे आश्चर्य हुआ। तुम कहते हो कि मुझे इन सारी चीजों में फेरफार करने में एक दिन तुम्हारी सहायता करनी चाहिए। मैंने इसके लिए इन्कार कब किया है? क्या तुमने मुझसे इस सम्बन्ध में कभी कुछ कहा? तुम्हारे दफ्तर के बारे में मुझे बापू से झगड़ा करते सात वर्ष हो गये, पर अभी तक कोई नतीजा नहीं निकला है। बापू को सारे पत्र अपने हाथ से, कभी इस हाथ से कभी उससे, लिखने पड़ते हैं। तुम्हारे टाइपिस्ट लोगों के लिए उपयुक्त स्थान तो अजायब-घर है। मैंने कार्यदक्षता के संबंध में बापू से बहस की है। वह मुझसे सिद्धान्तरूप में तो सहमत हैं, परन्तु जब उन्हें लंदन में एक स्टेनोग्राफर की जरूरत पड़ी और मैंने एक स्टेनोग्राफर देने की तत्परता दिखाई तो उन्होंने पोलक की बहन को काम के लिए बुला लिया! खैर, महादेवभाई, जहांतक मेरा संबंध है, मैं तैयार हूं।

मैंने एटलस के लिए अभी आर्डर नहीं दिया है। रही संदर्भ-रेफरेन्स की पुस्तकों की बात, सो 'स्टेट्समैन इयर बुक' के लिए आर्डर दे ही रहा हूं। तुम्हें और जिन-जिन पुस्तकों की दरकार हो, मुझे लिखो, मैं आर्डर दे दूंगा। मैं तुम्हारे लड़के के लिए बढ़ई के औजारों का बक्सा भी भेज रहा हूं।

सस्नेह तुम्हारा ही
घनश्यामदास

ग्रासवेनर हाउस, पार्क लेन
लन्दन
८ सितम्बर, १९३७

प्रिय महादेवभाई,

जहां तक बापू के स्वास्थ्य का संबंध है, तुम्हारे २६ तारीख के पत्र से चिंता

हुई। मैंने उनके संबंध में तुम्हारे पास तार और भेजा तुम्हारा उत्तर न मिलने से चिन्ता और भी बढ़ गई है। गनीमत यही है कि उनके स्वास्थ्य के संबंध में समाचार-पत्रों में कुछ नहीं निकला है। इससे मैंने यही समझा है कि अब वह पहले से अच्छे हैं। फिर भी उनके आराम लेने के प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। तुमने केवल अपने अन्तिम पत्र में लिखा है कि बापू ने अवस्था को समझ लिया है और अब वह अधिक विश्राम ले रहे हैं। इसलिए समझ में नहीं आता कि उनके स्वास्थ्य में गड़बड़ी क्यों हुई।

तुमने अपने पत्र में लिखा था कि मुझे शीघ्र चल पड़ना चाहिए। मैंने तुम्हें तार दिया है कि वैसे मेरा विचार ७ अक्तूबर को रवाना होने का था, परन्तु यदि मेरी दरकार इससे पहले हो तो मैं सबकुछ छोड़कर यहां से चल दूंगा।

फिलहाल मैं तुम्हारे पत्रों और लेखों का कोई उपयोग नहीं कर रहा हूं, क्योंकि इस समय इस देश में भूमध्यसागर और सुदूर पूर्व-संबंधी समस्या को लेकर बड़ी बेचैनी फैली हुई है। सब कोई कार्य में बेतरह व्यस्त दिखाई देते हैं और मुझे आशंका है कि शनैः-शनैः अवस्था गंभीर रूप धारण कर लेगी। ब्रिटेन १९३५ में सारे अपमान सहता गया, पर अब वह पहले से अधिक शक्तिशाली है और एक वर्ष बाद उसकी शक्ति में और भी अधिक वृद्धि हो जायगी। भूमध्यसागर और सुदूर-पूर्व में उसके साथ जिस प्रकार छेड़खानी की जा रही है, उसके कारण उसने पहले से अधिक कठोर रुख अख्तियार कर लिया है और एक वर्ष बाद जब वह खूब शक्तिशाली हो जायगा तो शायद यह छेड़छाड़ बर्दाश्त नहीं करेगा। उधर जापान भी लड़ाई पर उतारू दिखाई देता है और हिटलर अपने उपनिवेश वापस चाहता है, और इटली भी अपनी तलवार झनझना रहा है। हो सकता है, यदि इन्हें इस बात का पता लग जाय कि ब्रिटेन एक वर्ष बाद अबसे कहीं अधिक शक्तिशाली हो जायगा तो शायद ये एक वर्ष प्रतीक्षा करने के बजाय फौरन युद्ध छेड़ना चाहेंगे। उधर इटली और रूस में निश्चित रूप से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है और पता नहीं, बात कहां तक बढ़े। इस प्रकारतुम देखोगे कि इस समय राजनैतिक अवस्था बड़ी नाजुक है। साथ ही यह भी निश्चित है कि ब्रिटेन लड़ाई छेड़ने को उत्सुक नहीं है। यदि लड़ाई छिड़ भी गई तो वह जितने दिन तक सम्भव होगा, अलग रहना चाहेगा। पर एक ओर फासिस्ट देशों और बोल्शेविक रूस में और दूसरी ओर जापान और ब्रिटेन में मनमुटाव काफी बढ़ गया है।

सस्नेह तुम्हारा ही
घनश्यामदास

२०. उन्नीस सौ सैंतीस

मैंने सन् १९३७ में कुछ समय इंग्लैंड में विताया। पर वहां भी दो ज्वलंत प्रश्न मुझे बरावर सताते रहे। पहला प्रश्न यह था कि कांग्रेस को प्रान्तों में पद ग्रहण करना चाहिए या नहीं। दूसरा यह कि नजरबन्दों की रिहाई होनी चाहिए या नहीं। कांग्रेस ने पद-ग्रहण न करने का जो हठ पकड़ रखा था उससे मुझे बड़ा मानसिक क्लेश पहुंचा। मेरे मनोभाव राजाजी के नाम ३ जुलाई, १९३७ के पत्र में प्रकट हुए।

"आपके निर्णय से मुझे जो निराशा हुई है, मेरा विश्वास है कि आप उसे समझेंगे। मैं आपकी अपेक्षा इंग्लैंड के प्रतिनिधियों के अधिक निकट संपर्क में हूं और इसलिए जितना अविश्वास आपको है, उतना मुझे नहीं है। इसलिए मेरी यह धारणा स्वाभाविक ही है कि यदि मेरी तरह आप भी उनके निकट संपर्क में आवें तो आपका अविश्वास काफूर हो जायगा, और संपर्क स्थापित करने का उपाय है पद-ग्रहण। इतने स्पष्टीकरण के वाद कोई भी गवर्नर हस्तक्षेप करने का साहस करेगा, ऐसा मैं क्षण-भर के लिए भी मानने को तैयार नहीं हूं। मेरी सारी दलीलें इसी आधार पर अवस्थित हैं। मैं जानता हूं कि आप इस तर्क को स्वीकार नहीं करते, पर मैं इसके जवाव में इसके सिवा और कोई दलीलें पेश नहीं कर सकता कि आप खुद आजमाइश कर देखिये।

मुझे अवतक याद है कि किस प्रकार, जव बापू लार्ड अरविन के निवास-स्थान पर गये थे तो उनकी लगभग पक्की धारणा थी कि लार्ड अरविन सच्चे आदमी नहीं हैं और वहां वह यही अविश्वास की भावना लेकर गये थे, किन्तु जव वह लौटे (लौटने पर मैं ही उनसे सवसे पहले मिला था, क्योंकि वह मुझे लेने के लिए मेरे निवास-स्थान पर उतर पड़े थे) तो मेरा पहला सवाल यही था कि आदमी कैसा जंचा? उन्होंने उत्तर दिया था कि आदमी तो ईमानदार है। इस जवाव से मुझे बड़ी तसल्ली हुई। मैं आपसे आज भी यही कहूंगा कि अविश्वास का एकमात्र कारण व्यक्तिगत संपर्क का अभाव है और हमें अपने ही हित में व्यक्तिगत संपर्क स्थापित करना चाहिए। पर शायद बापू का निर्णय हममें से किसी भी व्यक्ति के निर्णय के मुकावले में अधिक युक्तिसंगत होगा, इसलिए हम सबको उसे ही मानना चाहिए। वैसे मेरे मन की बात तो यह है कि मेरा दिमाग ऐसा करने से इंकार करता है।

कभी-कभी हताश हो जाता हूं, पर साथ ही मुझे इस विचार से सांत्वना मिलती है कि मेरा यही पुरस्कार क्या कम है कि मैंने बापू के आगे अंग्रेजों का पक्ष

लिया और अंग्रेजों के आगे वापू का। यह काम भी वड़ा रोचक है। वैसे इस कार्य से मेरा जी ऊब जाता है, पर मैं जितनी ही अधिक वापू की चर्चा अंग्रेजों से और अंग्रेजों की चर्चा वापू से करता हूं, मुझे उतना ही अधिक प्रतीत होता जाता है कि दुनिया की इन दो वड़ी शक्तियों में मेल न होना कितने दुर्भाग्य की वात है। मेरा खयाल है कि जब इन दोनों शक्तियों में मेल हो जायगा तो संसार का वड़ा उपकार होगा। अपने इस विश्वास से मुझे प्रोत्साहन मिलता है।"

मंत्रियों के पद-ग्रहण करने की देर थी कि राजनैतिक नजरबन्दों की रिहाई की लोकप्रिय मांग सामने आ गई। बंगाल के लिए यह स्वभावतः ही मुख्य प्रश्न था। मैंने १७ सितम्बर को लन्दन से एक पत्र में श्री नलिनीरंजन सरकार को लिखा :

"आपको एक विशेष प्रश्न के ऊपर लिखना चाहता हूं। आप जानते हैं कि गांधीजी ने नजरबन्दों के वारे में क्या कुछ किया है। उन्होंने सभी को भारी परेशानी से वचा लिया है और मुझे तनिक भी सन्देह नहीं कि इसके लिए भारत सरकार और अन्य सब कोई उनके प्रति आभारी हैं। किन्तु अब नजरबन्दों की रिहाई का सवाल उठता है। आप जानते ही हैं कि गांधीजी नजरबन्दों को राहत पहुंचाने के लिए वचनबद्ध हो चुके हैं और 'राहत' का मतलब नजरबन्दों की रिहाई के अलावा और क्या हो सकता है ?

मैं आपकी कठिनाइयों को समझता हूं। सभी नजरबन्दों को तुरन्त रिहा करने में जो अड़चनें सामने आवेंगी, मैं उनसे वेखबर नहीं हूं। किन्तु एक बार रिहाई का सिलसिला बाकायदा शुरू हो जाने के वाद तमाम नजरबन्दों की रिहाई का प्रश्न केवल समय का ही प्रश्न रह जायगा। मैं तो नहीं समझता कि कोई वदला लेने की भावना से प्रेरित है। इन लोगों को कानून और व्यवस्था के हित में नजरबन्द किया गया था, और यदि उनकी रिहाई से कानून और व्यवस्था में बाधा न पड़ती हो तो उनकी रिहाई आवश्यक हो जाती है।

गांधीजी का स्वास्थ्य वहुत खराब है और इधर उन्होंने नजरबन्दों की रिहाई का बीड़ा उठा लिया है। जब मैंने देखा कि उनके हस्तक्षेप के कारण नजरबन्दों की भूख हड़ताल का अंत हो गया तो मुझे वड़ा हर्ष हुआ। पर मुझे उसके फलितार्थों पर चिन्ता-सी होने लगी है। इसलिए आपसे अनुरोध है कि आप कृपा करके इस बारे में गांधीजी की इच्छाओं को पूरा करने के लिए अपनी शक्ति भर अधिक-से-अधिक प्रयत्न करें।

मुझे मालूम हुआ है कि गांधीजी ने आपके मन्त्रिमंडल से अपील की थी और उसका उन्हें वहुत ही अभद्रतापूर्ण उत्तर मिला है। इसके विपरीत, वाइसराय ने उन्हें वड़ा ही मित्रतापूर्ण उत्तर भेजा। सोचिये तो सही, हमारे अपने ही आदमियों

ने उन्हें कैसा रूखा उत्तर दिया। एक मंत्री के नाते आपके सिर पर कितनी भारी जिम्मेदारियां हैं, सो आपको बताना न होगा। आप अन्य मंत्रियों पर कुछ-न-कुछ दबाव अवश्य डाल सकते हैं।

क्या आप मेरी ओर से गवर्नर महोदय से स्थिति का विश्लेषण करने का अनुरोध करेंगे? मेरा मुख्य उद्देश्य यही है कि गांधीजी को शान्तिपूर्ण वातावरण उत्पन्न करने के सारे अवसर दिये जायं। उन्होंने काकोरी के कैदियों के पक्ष में किये गए प्रदर्शन को किस प्रकार धिक्कारा, सो आप जानते ही हैं। अहिंसा की भावना को देश में स्थायी रूप देने के संबंध में वह आएदिन जो कुछ कहते रहते हैं, सो भी आपसे छिपा नहीं है, और आप भी जानते हैं और मैं भी जानता हूं कि गांधीजी कल्पना के राज्य में विचरण नहीं करते हैं। इस समय जो कुछ किया जायगा, वह हमारे लिए और हमारे हिस्सेदार अंग्रेजों के लिए अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होगा। सर जान एंडरसन निस्सन्देह ऐसे व्यक्ति हैं, जो दूर भविष्य की बात सोच सकते हैं। वाइसराय का रुख भी बहुत ही सहायतापूर्ण है। गांधीजी बूढ़े हो गए हैं। जब वह हमारे बीच नहीं रहेंगे तो हमें काफी मुसीबतों का सामना करना पड़ेगा। पर यदि हम उनके जीवन-काल में सहयोग और शान्ति की परम्पराएं स्थापित कर सकें तो इससे भारत बहुत-सी कठिनाइयों से, और इंग्लैंड काफी परेशानी से बच जायगा। जरूरी हो तो मेरा पत्र गवर्नर महोदय को सुना दीजिए, पर आप शक्ति-भर प्रयत्न अवश्य कीजिए। आपको यह न भूलना चाहिए कि आपके पद का जो भी स्वरूप हो, आप एक मंत्री हैं और आपकी जिम्मेदारियां हैं। विश्वास है, आप स्वयं इस तथ्य को समझते होंगे।"

बंगाल में राजबंदियों का जेल में रखा जाना लोगों में नाराजगी और अशान्ति का कारण बना हुआ था। इंग्लैंड में मैं और जितने दिन रहा, मेरे समय का काफी भाग ब्रिटिश सरकार को यही सुझाने में खर्च हुआ। स्वदेश लौटने पर मैंने एक योजना तैयार की, जिसे गांधीजी और नलिनी सरकार दोनों ने स्वीकार किया, नलिनी सरकार ने बंगाल-सरकार की ओर से। प्रस्ताव यह था कि जो लोग अपने घरों और गांवों में नजरबन्द हैं, उनमें से ११०० को तत्काल रिहा कर दिया जाय और जो जेलों में नजरबन्द हैं, उन्हें जत्थों में एक निश्चित समय के भीतर, जो चार महीनों से अधिक न हो, रिहा किया जाय। चार महीने के बाद कोई भी जेल में न रहे, सिवा इस अवस्था के कि किसी खास बंदी के बारे में गांधीजी यह कहें कि उससे उन्हें सन्तोषजनक आश्वासन नहीं मिला और इसलिए वह उसकी रिहाई की सिफारिश नहीं कर सकते। किन्तु सरकार को गांधीजी की तमाम सिफारिशों को स्वीकार कर लेना चाहिए। नलिनी सरकार स्वभाव से ही अपनी जिम्मेदारियों

को समझने वाले व्यक्ति और बंगाल के सच्चे सेवक थे।

दुर्भाग्यवश, गांधीजी उसी समय बहुत बीमार पड़ गये और उनका स्थान लेने वाला उतना ही विश्वस्त पंच कोई दूसरा उपलब्ध नहीं था। कुछ गैरकांग्रेसी नेताओं द्वारा हिंसा के प्रतिपादन ने रिहाई की समस्या को काफी जटिल बना दिया। उस समय दुर्भाग्यवश बंगाल की राजनीति ने विभिन्न दलों के बीच झगड़ों-टंटों का रूप धारण कर लिया और बंगाल की सरकार को, जो उस समय कई दलों की मिली-जुली सरकार थी, अरुचिकर वातावरण में काम करना पड़ा।

२१. कुछ भीतरी इतिहास

कांग्रेस ने प्रांतों में पदग्रहण किया और हमारे सामने उज्ज्वल भविष्य आ उपस्थित हुआ। दो वर्ष बाद यह उज्ज्वल भविष्य महायुद्ध के थपेड़ों में आकर अत्यन्त दुःखद रूप से खण्ड-खण्ड होने वाला था। इस वृत्तान्त को यहीं छोड़ने से पहले पदग्रहण के भीतरी इतिहास के कुछ अंशों पर दृष्टिपात करना अच्छा रहेगा। बापू ने मुझे स्वयं लिखा :

सेगांव
१६ जुलाई, १९३७

भाई घनश्यामदास,

मैं तुम्हारे सारे पत्र ध्यान से पढ़ता हूं। तुम्हें लिखने का न तो समय मिला, न इच्छा हुई। और लिखता भी क्या ? प्रति क्षण अवस्था बदल और सुधर रही थी। ऐसी अवस्था में तुम्हें कुछ लिखना अनुपयुक्त होता। दूसरों को लिखना जरूरी था, क्योंकि मैं भी उतना ही प्रभावित होना चाहता था, जितना वे लोग मुझे लिखते थे। परन्तु मैं इतना अवश्य कह सकता हूं कि मैं विदेशों से आये हुए पत्रों से उतना प्रभावित नहीं हुआ जितना कि भारत की घटनाओं से। यह कहो कि मेरी अवस्था उस स्त्री जैसी थी, जिसके शीघ्र ही बच्चा होने वाला हो। ऐसी स्त्री के शरीर के भीतर न जाने क्या-कुछ होता है, पर बेचारी उन सारी बातों का वर्णन नहीं कर सकती है। अब हम सब जानते ही हैं कि क्या हुआ। पर मैं इतना अवश्य कहूंगा कि कार्यकारिणी की बैठक में जवाहर ने जो कुछ किया और कहा, वह सचमुच विलक्षण था। वह पहले ही मेरी निगाह में ऊंचे थे, अब वह बहुत ऊंचे उठ गये हैं। तिस पर तुर्रा यह कि हम दोनों अब भी सहमत नहीं हैं।

अब हमारी कठिनाइयों का श्रीगणेश होता है। यह अच्छा ही है कि हमारा भविष्य हमारे सामर्थ्य, सत्यवादिता, साहस, संकल्प, सतर्कता और नियंत्रण पर निर्भर करता है। तुम जो काम कर रहे हो, ठीक ही है। अधिकारियों की समझ में यह बात आ जानी चाहिए कि कार्यकारिणी के प्रस्ताव में शब्दाडम्बर का आश्रय नहीं लिया गया है। प्रत्येक शब्द सार्थक है और जो कुछ कहा गया है, उस पर अमल किया जायगा। अन्त में यह भी कहूंगा कि जो कुछ किया गया है, ईश्वर के नाम पर और ईश्वर पर भरोसा रखकर। तुम साधु बनोगे और साधु ही रहोगे। आशीर्वाद।

बापू

बापू के विश्वस्त निजी मंत्री महादेव देसाई के पत्र से कुछ और भी अधिक भीतरी इतिहास के दर्शन हुए :

मगनवाड़ी, वर्धा
१८-७-३७

प्रिय घनश्यामदासजी,

मेरी खामोशी पर आपको जो आश्चर्य हुआ, उसे मैं समझता हूं। खामोशी अनिवार्य तो थी ही, वह जान-बूझकर साधी गई थी, क्योंकि लिखने लायक कोई बात थी ही नहीं। मैं यह तो देख ही रहा था कि बापू को देश के कोने-कोने से जो चिट्ठियां मिल रही थीं उनके कारण वह पद-ग्रहण करने के पक्ष में अधिकाधिक होते जा रहे थे, परन्तु साथ ही मैं यह भी कहूंगा कि इस ओर निश्चयात्मक रूप से उनका झुकाव लार्ड जेटलैंड की दूसरी स्पीच के बाद से हुआ। मेरा अभिप्राय उस स्पीच से है, जिसमें उन्होंने इस आलोचना का खण्डन किया था कि समझौते और मेल का दरवाजा बन्द कर दिया गया है। उस स्पीच का बापू पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। जब जवाहर कार्यकारिणी की बैठक से तीन दिन पहले वर्धा आये तबतक बापू इस सम्बन्ध में निश्चय कर भी चुके थे। मैं जवाहर के पक्ष में यह अवश्य कहूंगा कि उन्हें इस मामले में राजी करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। कार्यकारिणी की बैठक के दौरान उनका रुख भद्रतापूर्ण और उनकी साधुतापूर्ण आत्मप्रेरणा के अनुरूप ही रहा। यही कारण है कि बैठक का काम अबाध रूप से चलता रहा।

खैर, अब तो यह सबकुछ इतिहास की सामग्री बन गया है। अब मैं आपको यह बताऊं कि बापू ने इस समस्या के प्रति कैसा रवैया अपनाया है। श्री राज-गोपालाचार्य ने पदग्रहण करने के अवसर पर अपने और अपने सहयोगियों के लिए आशीर्वाद का तार भेजने की कामना की। बापू ने तार भेजा, परन्तु यह

स्पष्ट कर दिया कि उसे प्रकाशित न किया जाय। उन्होंने तार में कहा, "निजी। बैठक का पथप्रदर्शन करने में मुझे जिस स्रोत से स्फूर्ति प्राप्त हुई है, वह है मनोयोग-पूर्ण प्रार्थना। आप जानते ही हैं कि मेरा सारा भरोसा आप ही पर है। ईश्वर आपका प्रयत्न सफल करे। इसे प्रकाशित मत करिये। सदस्यों को सन्देश भेजने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। इसके लिए आपको जवाहरलाल से अनुरोध करना होगा। सस्नेह।"

लार्ड हेलीफैक्स-जैसे व्यक्तियों से अपनी बातचीत के दौरान आप इस तार का हवाला दे सकते हैं और तार भी दिखा सकते हैं, परन्तु व्यवस्थापिका सभा में किस भाव को लेकर जायं, इसका निदर्शन आपको बापू के उस लेख से और भी अधिक अच्छी तरह मिलेगा, जो उन्होंने हाल ही में 'हरिजन' में लिखा है और जिसकी एक प्रति इस पत्र के साथ भेजता हूं। मैं जानना चाहूंगा कि अंग्रेजों में इस लेख की क्या प्रतिक्रिया हुई। इसका निश्चय आप उन्हें यह लेख दिखाकर ही कर सकते हैं, क्योंकि वैसे वे लोग शायद इसे न पढ़ पावें। आप उसकी प्रतिलिपियां तैयार कराके मित्रों में वितरित कर सकते हैं। इस पत्र के साथ चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य की वह स्पीच भी भेजता हूं, जो उन्होंने गवर्नर द्वारा आमंत्रित किये जाने के दो दिन पहले दी थी।

सप्रेम आपका ही
महादेव

इन दिनों बापू ने 'हरिजन' में जो लेख लिखे, उनकी ओर काफी ध्यान आकर्षित हुआ। उनमें बापू ने सादगी और किफायतशारी पर जोर दिया था (इस हद तक कि हमारे मंत्रियों को उनकी अपेक्षा को पूरा करना असम्भव-सा प्रतीत हुआ—मोटरगाड़ी भी नहीं!) एक लेख में उन्होंने एक अंग्रेज धनपति के विचारों को विस्तार से उद्धृत किया था, जो भारत में अनेक उच्च पदों पर रह चुके थे। वह सर जार्ज शुस्टर थे और मैंने ही उनके विचारों को बापू के पास भेजा था। उन्होंने इस बात की आवश्यकता पर जोर दिया था कि रुपये की प्रेरणा के स्थान पर सेवा की प्रेरणा और सहकारिता को प्रतिष्ठित करना चाहिए।

जब बापू और वाइसराय पहली बार मिले तो भविष्य सचमुच अधिक उज्ज्वल प्रतीत हुआ।

वाइसराय शिविर, भारत
२३ जुलाई, १९३७

प्रिय श्री गांधी,

मैं शिमला लौट रहा हूं। आप नई दिल्ली में आकर मुझसे मिल सकें तो मुझे

बड़ी प्रसन्नता होगी। यदि आप इस सुझाव को पसन्द करें तो क्या ४ अगस्त, बुधवार को ११-३० वजे वाइसराय भवन में मुलाकात सुविधाजनक होगी ?

सार्वजनिक ढंग का कोई खास काम नहीं है, जिसे लेकर आपको कष्ट दूं। पर आपसे मिलकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता होगी, और मुझे पूरी आशा है कि आपके लिए आ सकना संभव होगा।

भवदीय
लिनलिथगो

सेगांव; वर्धा
२४-७-३७

प्रिय मित्र,

आपके कृपा-पत्र के लिए धन्यवाद।

कुछ समय से मैं यह सोच रहा था कि मैं आपसे मिलने की प्रार्थना करूं। मैं यह चर्चा करना चाहता था कि खान साहब अब्दुल गफ्फार खां के सीमाप्रांत-प्रवेश पर जो प्रतिबन्ध है, क्या उसे हटाया जा सकता है और क्या मैं भी सीमा-प्रान्त की यात्रा कर सकता हूं ? मेरे सीमाप्रान्त में जाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, पर अधिकारियों की स्वीकृति प्राप्त किये बिना वहां जाने का मेरा कोई इरादा नहीं है।

इसलिए आपका पत्र दुहरे स्वागत के योग्य है। मैं यह समझे लेता हूं कि अपनी मुलाकात के समय इन दोनों विषयों को उठाने पर कोई आपत्ति नहीं होगी। मुझे आगामी ४ अगस्त को ११-३० वजे वाइसराय भवन, नई दिल्ली, आने में प्रसन्नता होगी।

आपका
मो० क० गांधी

इन पत्रों की प्रतिलिपियां मुझे लन्दन में महादेवभाई के एक लम्बे पत्र के साथ मिलीं। मद्रास में राजाजी को और अन्य प्रान्तों में दूसरों को जो सफलता प्राप्त हुई उसका उल्लेख करने के बाद महादेवभाई ने लिखा :

"आपने लिखा है कि सर रोजर लमले बापू से मिलने को उत्सुक हैं और आपने पूछा है कि यह किस प्रकार संभव होगा। शायद उन्हें परिस्थितियों का आपसे ज्यादा अच्छा ज्ञान था, क्योंकि सम्पर्क का मार्ग बन गया है। यह पत्र आपके हाथों में पहुंचने के पहले ही समाचारपत्रों में मोटे अक्षरों में छप चुकेगा कि बापू वाइसराय से मिले हैं। चार दिन पहले सेगांव में इस स्थान के मजिस्ट्रेट को देख-

कर हर्षमिश्रित आश्चर्य हुआ। वह एक महत्त्वपूर्ण सरकारी कागज बापू के हाथ में सौंपने खासतौर से आये थे। वह कागज लार्ड लिनलिथगो का व्यक्तिगत पत्र था, जिसमें उन्होंने बापू को बुलाया था। मैं आपको बापू की तात्कालिक प्रतिक्रिया बताता हूं, क्योंकि इस छोटी-सी बात से पता चलता है कि बापू के रोम-रोम में किस प्रकार अहिंसा समाई हुई है। बापू ने कहा, "मुझे लगता है कि किसी ने वाइसराय से यह जरूर कहा होगा कि बुलाये बगैर मैं उनसे मिलने नहीं जाऊंगा और ज्योंही दुनिया को यह पता चलेगा कि मैंने मुलाकात की दरख्वास्त नहीं की है, बल्कि उन्होंने ही मुझे निमन्त्रण भेजा है, त्यों-ही बेचारे को गलत रोशनी में देखा जाने लगेगा।" बापू की प्रकृति में जो अहिंसा है उसने स्वभावतया ही वाइसराय की प्रतिष्ठा की सम्भावित हानि के विरुद्ध विद्रोह किया। तब उन्होंने अपने ही हाथ से उसका उत्तर लिखा। दोनों पत्रों की प्रतिलिपियां इसके साथ भेजता हूं। बापू अपने उत्तर में अपने भाव किसी-न-किसी रूप में व्यक्त कर ही देते, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। मुझसे बोले, "क्या वह (वाइसराय) अपना काम नहीं जानते? मैं उन्हें सलाह देने की जिम्मेदारी क्यों लूं...?" वाइसराय इस समय आसाम और बिहार का दौरा कर रहे हैं और मैं नहीं जानता कि बापू का पत्र उन्हें दिल्ली पहुंचने के पहले मिल भी पावेगा या नहीं। बापू ने सीमाप्रांत का सवाल उठाया है, पर हमारा विश्वास है कि उसके कारण कोई अड़चन उत्पन्न नहीं होगी। इस मुलाकात का उद्देश्य यदि पगडंडी तैयार करना भर है तो वाइसराय इससे अधिक और कहते भी क्या? पर यह जाहिर है कि यह सबकुछ गांधीजी से मिलकर प्रसन्न होने के लिए नहीं किया गया होगा। दोनों केवल एक-दूसरे की कुशल-मंगल पूछकर ही एक-दूसरे से विदा नहीं ले लेंगे। वैसे मुलाकात के एक घंटे से अधिक चलने की संभावना नहीं है। पर मुझे पहले से ही अटकल नहीं लगानी चाहिए। हां, तो आप सर रोजर लमले से कह सकते हैं कि उनके बापू को बुलावा-मात्र देने की देर है और बापू खुशी के साथ उपस्थित हो जायंगे।

आपने मंत्रियों द्वारा भोजों और पार्टियों के निमन्त्रण स्वीकार किये जाने के संबंध में सर रोजर से जो कुछ कहा, उससे पता चलता है कि आप बापू को कितने सहज भाव से समझते हैं। गत सप्ताह वल्लभभाई इस सम्बन्ध में तथा अन्य प्रश्नों के सम्बन्ध में चर्चा करने यहां आये थे। आपको यह जानकर खेद होगा कि सबने भोज आदि से बिलकुल अलग रहने का फैसला किया है। गवर्नर के निमन्त्रण को स्वीकार करने का यह अर्थ होता है कि मंत्रियों को भी वैसे ही शिष्टाचार का परिचय देने के लिए तैयार होना चाहिए। हमारे गरीब मन्त्रियों के लिए ऐसी सामाजिक कार्यशीलता क्योंकर संभव है? किन्तु प्रश्न केवल गरीबी का नहीं है। बापू का विश्वास है कि देश के सर्वोत्तम हितों को ध्यान में रखते हुए कुछ वर्षों तक तो नपा-तुला औपचारिक संबंध रखना ही समझदारी का काम होगा।

आपने चर्चिल के बारे में जो कुछ लिखा, मजेदार रहा। जब उन्होंने हिंसा और हिन्दुस्तानियों द्वारा अंग्रेजों की हत्या किये जाने वाली बात कही तो आपने उन्हें उनके उस लेख की याद क्यों नहीं दिलाई, जिसमें उन्होंने हमको धमकी दी थी कि यदि हमने पद-ग्रहण करने से इन्कार किया तो हमारे हक में बहुत ही बुरा होगा ? बापू के वक्तव्य के बारे में उन्होंने जिन निर्दयतापूर्ण शब्दों का प्रयोग किया था उनकी याद अब भी कांटे की तरह कसकती है। क्या आप जानते हैं वे शब्द क्या थे ? उन्होंने बापू के उन उद्‌गारों को 'कांटेदार तार की बाड़ से घिरी हुई फुसलाने वाली बातों' का नाम दिया था। पर यह सबकुछ चर्चिल के अनुरूप ही था। जब उन्होंने आयरिश नेता माइकल कॉलिन्स को अपने निवास-स्थान पर दावत दी तो मजाक में कहा कि ब्रिटिश सरकार ने तो उनके (अर्थात् कॉलिन्स के) सिर का मूल्य केवल १००० पौण्ड आंका था, जबकि बोअर लोगों ने उनके (अर्थात् चर्चिल के) शीश को १० पौण्ड के लायक समझा। मुझे पूरा यकीन है कि चर्चिल ने बापू का जो अभिनन्दन किया है, वह हार्दिक है। आप इसके लिए उन्हें बापू का धन्यवाद पहुंचा दें। सन् १९३१ में उन्होंने बापू से मिलने से इन्कार कर दिया था, पर यदि अब वह बापू के अनुरोध पर भारत आयें तो मैं समझता हूं कि खुद ही बापू से मिलने की प्रार्थना करेंगे।"

शीघ्र ही वाइसराय के साथ बापू की पहली मुलाकात का वृत्तान्त आ गया।

वाइसराय लॉज
४ अगस्त, ३७

प्रिय घनश्यामदासजी,

विचित्र जगह से पत्र लिख रहा हूं। क्यों, है न यही बात ? और आप देखेंगे कि मैं इस स्थान से परिचित तक नहीं हूं, क्योंकि दिल्ली वाला प्रासाद वाइसराय हाउस कहलाता है, वाइसराय लॉज शिमला वाले भवन का नाम है। अस्तु, उधर बापू वाइसराय के साथ मुलाकात कर रहे हैं, इधर मैं अपने-आपको उपयोगी बना रहा हूं, और बापू ने मार्ग में जो कई पत्र लिखने को कहा था, उन्हें लिख रहा हूं। आपका प्यारा-सा पुराना मोटर ड्राइवर, मेरा मतलब उस सुन्दर युवक ड्राइवर से है, जो मुझसे भी अधिक उज्ज्वल वस्त्र पहनता है, हमें यहां लाया और बापू हिज एक्सीलेंसी के साथ ११-३० से बन्द हैं। जैसा कि मैंने आपको लिखा था, मुलाकात का हेतु आपसी मनमुटाव को दूर करना है। किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए यह मुलाकात नहीं की गई है। बापू भी यह संकल्प करके भीतर गये हैं कि उत्तर-पश्चिमी सीमा की समस्या को छोड़कर और किसी बात की चर्चा नहीं उठायेंगे। और उत्तर-पश्चिम सीमा की चर्चा उन्होंने वाइसराय के नाम अपने

उत्तर में ही कर दी थी। परन्तु मैंने अपने सारे पत्र लिख डाले हैं, इधर एक बजने वाला है, जिसका अर्थ यह है कि महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा हो रही है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आपका एक पत्र वर्धा में मेरा इन्तजार कर रहा है, क्योंकि देवदास को कल उसकी नकल मिली थी। उसका मूल भी वर्धा में उसी समय पहुंच गया होगा। मैं समझता हूं, जिस समय लार्ड लो० आपसे बात कर रहे थे, उस समय उन्हें मालूम था कि यह मुलाकात होने वाली है।

सप्रेम,

आपका ही
महादेव

पुनश्च :—यह मुलाकात के बाद लिख रहा हूं। बातचीत सहृदयतापूर्ण, स्पष्ट और मिलनसारी से भरी हुई थी और कोई डेढ़ घण्टे तक जारी रही। जहां तक गांधीजी का सम्बन्ध है, सीमा-प्रान्त का द्वार उनके लिए खुला है, परन्तु जहां तक खान साहब का सम्बन्ध है, उन्हें इसके लिए गवर्नर से लिखा-पढ़ी करनी चाहिए। बापू ने हिज एक्सीलेंसी को बताया कि खान साहब कौन हैं और किस प्रकार उनके लिए लिखा-पढ़ी करना असम्भव है। परन्तु उन्हे आशा है कि रास्ता निकल आवेगा। अब सीमा-प्रान्त के मंत्रिमण्डल ने इस्तीफा दे ही दिया है, इसलिए हमें आशा करनी चाहिए कि सबकुछ ठीक हो जायगा।

हिज एक्सीलेंसी ने सीमा-सम्बन्धी समस्या की चर्चा करने के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं की और बापू के वहां जाने के सम्बन्ध में भी उन्होंने कोई कठिनाई खड़ी नहीं की।

जिन अन्य विषयों पर बातें हुईं वे हैं—ग्रामसुधार, गायें, हाथ का बना कागज, सरकंडे की कलम, इत्यादि।

महादेव

वर्धा
६ अगस्त, ३७

प्रिय घनश्यामदासजी,

इस पत्र के साथ मुलाकात का संक्षिप्त विवरण भेज रहा हूं। यह सिर्फ आपही के लिए है और आपके २७ और २८ तारीख के पत्रों के उत्तर में भेजा जा रहा है। यद्यपि पारस्परिक संपर्क पुनः स्थापित हो गया है, तथापि बापू इसे उतना ही महत्त्व देते हैं, जितना वह मैत्रीपूर्ण विचार-विनिमय को देते। पुराना साम्राज्यवाद अटूट बना हुआ है और उसे आत्मसमर्पण करने में अभी बहुत दिन लगेंगे। बापू इन पारस्परिक संपर्कों को विशेष महत्त्व देने के खिलाफ आपको चेतावनी देते हैं, और उन्होंने जो निमन्त्रण लार्ड लोदियन को दिया है वह चर्चिल

या लार्ड वाल्डविन या अन्य मित्रों को देने को विलकुल तैयार नहीं हैं। यदि वे अपनी खुशी से आवें तो अवश्य आ सकते हैं, पर वापू उनसे आने का अनुरोध नहीं करेंगे। इसके अलावा वह उन्हें निमन्त्रण देने के मामले में कांग्रेस के नेता का पद ग्रहण नहीं करना चाहते हैं। लार्ड लोदियन की बात दूसरी है। उन्होंने दोनों पक्षों के वीच पुल वांधने के मामले में महत्त्वपूर्ण काम किया है और इसके अलावा वह सीधे वापू को कई वार लिख भी चुके हैं। इसलिए उन्हें जो सुझाव कहिये या निमन्त्रण कहिये, दिया गया था सो स्वतः ही स्वाभाविक घटना-क्रम के दौरान आत्मप्रेरणा द्वारा दिया गया था। चर्चिल प्रभृति आये और उन्होंने यहां आकर साम्राज्यवादी अनर्गल प्रलाप किया तो उन्हें बुलाना इस प्रकार की वातें करने का अनुमति-पत्र देने के समान होगा। न, वापू इस पारस्परिक संपर्क वाले व्यापार से कोई सरोकार नहीं रखेंगे।

सीमाप्रान्त के संबंध में वाइसराय ने वचन दिया है कि गवर्नर से पत्र-व्यवहार के बाद वह वापू को लिखेंगे। संभव है, प्रतिवंध उठा लिया जाय।

आशा है, आपका स्वास्थ्य अच्छा होगा। आपको मेरे सारे पत्र मिल गये न? यह स्थान ही ऐसा निकम्मा है कि बहुधा ठीक समय पर डाले गये पत्र भी हवाई डाक के समय तक नहीं पहुंच पाते। मैंने एक भी हवाई डाक को हाथ से नहीं गंवाया है। सी० एफ० एन्ड्रयूज कल आ रहे हैं, किस सिलसिले में, सो अनुमान मैं अभीतक नहीं लगा सका हूं।

सप्रेम,

आपका ही
महादेव

२५ जनवरी ३८

प्रिय घनश्यामदासजी,

मुझे ५० हजार रुपया ग्राम-शिक्षा के लिए और उतने ही ग्रामोद्योग के लिए जरूरत है। फिर हरिजन सेवक संघ का भी वोझा है। इस संबंध में और अधिक बातचीत करने की जरूरत है। आशा है, बृजमोहन बहुत अच्छे होंगे और किशन भी।

बापू के आशीर्वाद

२२. नये मंत्रियों की कठिनाइयां

ज्यूरिच
१६ अगस्त, १९३७

प्रिय महादेवभाई,

तुम्हारे दो पत्र बगैर जवाब दिये पड़े हैं। रिप वान विन्कल होना तो एक ओर, तुम मुझे पूरी जानकारी करा रहे हो और इसके लिए मैं तुम्हारा बड़ा उपकृत हूं। मुझे 'हिन्दुस्तान टाइम्स' की प्रतियां नहीं मिल रही हैं और लन्दन छोड़ने के बाद से 'हरिजन' से भी संबंध टूट-सा गया है। इस प्रकार मुझे भारत के विषय में जो कुछ समाचार मिलते हैं वे या तो निजी पत्रों के द्वारा या फिर ब्रिटिश समाचार-पत्रों के द्वारा। अबतक 'टाइम्स' ने हमारे प्रति बड़ी दयालुता का परिचय दिया है और श्री इंगलिस हमेशा प्रशंसात्मक समाचार ही भेजते हैं। 'मार्निंग पोस्ट' शत्रुतापूर्ण ढंग से लिखा करता था, परन्तु जबसे मैंने इस बात की चर्चा चर्चिल और लार्ड हेलीफैक्स के साथ की है, उसके रुख में परिवर्तन हुआ है। संभव है, यह संयोग-मात्र हो।

मुझे इस समय जो समाचार मिल रहे हैं उनसे मुझे आश्चर्य नहीं हुआ है। किसी दिन मैं समाचार पढ़ता हूं कि यदि शिक्षा मंत्री अमुक काम नहीं करेंगे तो विद्यार्थी हड़ताल कर देंगे। दूसरे दिन पढ़ने में आता है कि यदि उद्योग मंत्री दियासलाई के कारखाने में काम करने वालों की मांगों का निबटारा संतोषजनक रीति से नहीं करेंगे तो वे हड़ताल कर देंगे। कानपुर की बड़ी हड़ताल का अंत में निपटारा तो हो गया, परन्तु मैंने पढ़ा है कि एक बार तो हड़तालियों ने पंतजी के निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया था। उधर अण्डमान की भूख-हड़ताल से लोगों के दिमाग परेशान हैं ही।

ऐसा प्रतीत होता है कि कांग्रेसी शासन में हर कोई मनमानी करना चाहता है। मुझे इसमें संदेह नहीं है कि नियंत्रण-संबंधी जनमत तैयार करने के मामले में बापू कुछ उठा नहीं रखेंगे, पर किसी दिन मुझे यह खबर सुनकर आश्चर्य नहीं होगा कि प्रदर्शनकारी दल बनाकर झंडों के साथ जयघोष करते हुए मंत्रियों के घरों में जा घुसे। अबतक जनता के उद्गारों को जिस प्रकार दबाया गया है उसकी प्रतिक्रिया अब दिखाई दे रही है। और यह अच्छा ही है कि दबी हुई गैस निकल जाय, परन्तु जनता के लिए यह जानना बिलकुल जरूरी है कि स्वराज्य में भी उन्हें कानून मानकर अनुशासन और बुद्धि-विवेक के साथ चलना होगा। यह मानी हुई बात है कि जनता धीरे-धीरे यह सबकुछ जान जायगी, परन्तु क्या तुम्हारी यह राय नहीं है कि जनता को इस ढंग की शिक्षा देने का काम अविलम्ब आरम्भ कर दिया जाय?

मेरी समझ में यह बात अच्छी तरह नहीं आई कि मेरे तुम्हें यह बात बताने पर कि बापू की कीमत बहुत ऊंची चली गई है, उन्हें अविश्वासपूर्ण ढंग से हंसी क्यों आई। मैं यह स्वीकार करता हूं कि रुपये के बाजार में भाव ऊंचे भी चढ़ जाते हैं और नीचे भी गिरते हैं, पर मैं एक व्यापारी की हैसियत से तुम्हें यह तो बता ही दूं कि भाव उतनी तेजी से नहीं घटते, जितना तुम समझते हो। यदि आंकड़े ठीक-ठीक ढंग से रखे गये तो एकरूपता काफी दिनों तक जारी रहती है। इसलिए मेरा यह कहना कठिन ही था कि हमारा शासन-प्रबंध काफी दिनों तक चल सकता है। हां, यदि हम भंग करना चाहें तो वह काफी दिनों तक नहीं चलेगा। परंतु चूंकि हमारी ऐसी इच्छा नहीं है, इसलिए मैं तो नहीं समझता कि किसी प्रकार की अड़चन उपस्थित होगी। यदि हमारे मंत्री लोग स्थायी रूप से चलते रहें तो न तो अंग्रेजों को ही देवता बनने की जरूरत पड़ेगी और न हमारे मंत्रियों को ही उनके आगे मस्तक नवाना पड़ेगा। संभवतः यही होगा कि दोनों पक्ष अपने रुखों में फेर-फार कर लेंगे और यह बात समझ लेंगे कि दोनों ओर अच्छाई प्रचुर मात्रा में मौजूद है, कसर इतनी ही थी कि उसे अभीतक समझा नहीं गया। अंग्रेज लोग बड़े चतुर होते हैं और दूर तक की सोचते हैं। मुझे तुमसे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि सभी प्रान्तों में गवर्नरों और मंत्रियों ने श्रीगणेश अच्छे ढंग से किया।

गवर्नरों के सामाजिक निमंत्रण मंत्री लोग स्वीकार करें या न करें, इस संबंध में बापू का निर्णय मेरी धारणा के अनुकूल ही निकला। मैंने सर रोजर के सामने उनका दृष्टिकोण ठीक ढंग से ही रखा। पर यदि मुख्य मंत्री सामाजिक सम्पर्क रख पाते तो अच्छा ही होता, क्योंकि इससे कोई गलतफहमी नहीं होती। अब वैसा होने की सम्भावना है। मुख्य मंत्रियों के सम्बन्ध में इस प्रकार की कड़ाई न बरती जाती तो अच्छा रहता।

चर्चिल के सम्बन्ध में तुमने जो कहा सो जाना। परन्तु तुमने मेरे इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया कि बापू चर्चिल का भारत आना पसन्द करेंगे या नहीं। चर्चिल जो कहते हैं उसकी ओर कान मत दीजिए। वह तो सोलह आने राजनीतिज्ञ हैं और उनकी एक नीति सार्वजनिक होती है, दूसरी निजी। पर मैं इतना तो कह ही दूं कि आदमी की हैसियत से उनमें सहृदयता भरी पड़ी है। वह मिथ्या गर्व से मुक्त हैं और उनमें बच्चों-जैसी सरलता है। उन्होंने मेरे सामने यह स्वीकार करने की ईमानदारी दिखाई कि जब उन्होंने राज्यच्युत राजा (एडवर्ड) के पक्ष का समर्थन किया तो उन्हें यह पता नहीं था कि जनमत उसके इतना विरुद्ध है। मैंने उनसे इंग्लैण्ड में राजतन्त्र की अवस्था की भी चर्चा की और इस सम्बन्ध में भी बातचीत की कि वह ब्रिटिश सरकार के मंत्रिमण्डल में क्यों नहीं हैं। मैंने अनुभव किया कि वह इंग्लैण्ड पर शासन करने वाले आधा दर्जन आदमियों में से एक हैं। उन्होंने मुझे साफ-साफ बता दिया कि वह भारत के पक्ष में लेख लिखेंगे। राज-

नीति क्या पदार्थ है, सो मुझे उन्हीं के द्वारा याद आया।

तुम्हारे दिल्ली वाले पत्र से मुझे कोई खास समाचार नहीं मिला। शायद तुम विवेकपूर्ण चुप्पी साधना चाहते थे। तुमने देवदास के पास अपने नाम भेजे पत्र की नकल का जिक्र किया है। मैं हमेशा एक प्रति देवदास को, एक राजाजी को और एक अपने भाई रामेश्वरजी को भेजता हूं, जिससे वह सरदार को दिखा सकें।

मुझे तुम्हारे पत्र से पहली वार मालूम हुआ कि सीमाप्रांत के मंत्रिमण्डल ने इस्तीफा दे दिया है। तो अब आप लोगों के सात मंत्रिमण्डल होंगे।

मैंने तुम्हारे पास बापू के स्वास्थ्य के संबंध में जो तार भेजा, उसका कारण यह था कि तुम्हारे पत्र के अलावा मैंने समाचार-पत्रों में भी पढ़ा था कि जब बापू दिल्ली में उतरे तो बड़े थके दिखाई पड़ते थे। आशा है, अब उनकी थकावट पूरी तरह दूर हो गई होगी। मैं इस संबंध में बापू को कुछ नहीं लिख रहा हूं, क्योंकि मैं जानता हूं कि उनके स्वास्थ्य की देखभाल स्वयं उनसे अधिक अच्छी तरह कोई नहीं कर सकता है। कसर की बात इतनी ही है कि वह कभी-कभी सामर्थ्य से अधिक काम करने लगते हैं। मैं वापसी पर इस संबंध में उनसे बात करूंगा।

मैं इस मामले में तुमसे पूरी तौर से सहमत हूं कि सरदार और राजेन्द्रबाबू ने अलग रहकर भारी भूल की। शायद एक वर्ष के अनवरत कार्य के बाद यह गलती दूर कर ली जाय।

मैं मधुमक्खी-पालन और केबिनेट सरकार पर पुस्तकें लेता आऊंगा। तुमने अपने पत्र के साथ जिस सूची के नत्थी करने की चर्चा की है, वह मुझे नहीं मिली है। परन्तु मैं इस विषय पर कुछ अच्छी पुस्तकें लेता आऊंगा।

तुम्हारा ही सस्नेह
घनश्यामदास

इसके बाद ही गांधीजी को सीमाप्रान्त के गवर्नर सर जार्ज कनिंघम का यह पत्र प्राप्त हुआ :

गवर्नर का शिविर
उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त
एबटाबाद
१७ अगस्त, १९३७

प्रिय श्री गांधी,

मुझे अभी-अभी वाइसराय महोदय का एक पत्र मिला है, जिसमें उन्होंने आपके साथ अपनी गत ४ अगस्त की बातचीत का सारांश दिया है। मैं समझता

हूं कि हिज एक्सीलेंसी ने आपको बताया है कि यदि आप उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त में आना चाहें तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। मैंने इस विषय की चर्चा अपने मंत्रियों से की है और उनकी सहमति सहित आपको सूचित करता हूं कि आपके इस प्रान्त में आने पर कोई आपत्ति नहीं है। मुझे मालूम हुआ कि हिज एक्सीलेंसी ने आपसे कह दिया था कि यह जरूरी है कि आप अपने दौरे में कवीलों के मामले से संबंध रखनेवाली वातों से विलकुल अलग रहें। मैं समझता हूं कि आपने इस संबंध में हिज ऐक्सीलेंसी के निश्चय को स्वीकार कर लिया था और मैं जानता हूं कि आप इस आश्वासन का अक्षरशः पालन करेंगे।

यदि हमारी भेंट का कोई अवसर उपस्थित हुआ तो मुझे उस पुरानी जान-पहचान को, जिसका जन्म उस समय हुआ था जब मैं लार्ड हेलीफैक्स के साथ था, ताजा करके प्रसन्नता होगी।

आपने हिज एक्सीलेंसी से खान अब्दुल गफ्फार खां वाले मामले का भी जिक्र किया था। यह मामला अभी मंत्रिमण्डल में विचाराधीन है। आशा है, दो-एक दिन में फैसला हो जायगा।

भवदीय
जी० कनिंघम

मंत्रियों को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उनके जन्मदाता गवर्नर लोग नहीं थे, खुद हमीं लोग थे। गवर्नरों ने तो अपने-आपको नई परिस्थितियों के सांचे में ढालने में काफी तत्परता का परिचय दिया। हिंसा के दर्शन हुए। साथ ही पदलोलुपों की भीड़ इकट्ठी होने लगी। महादेवभाई के लम्बे पत्र के ये कुछ उद्धरण हैं, जिनसे कठिनाई के प्रारंभ का पता चलता है :

प्रिय घनश्यामदास जी,

मंत्रिमण्डल ठीक ही चल रहे हैं। अफसरों की ओर से सहयोग का अभाव नहीं है। मुझे तो शक-सा होता है कि उन्हें ठीक-ठीक आचरण करने का लंदन से आदेश मिला है। अहमदाबाद का कमिश्नर गैरेट मंत्री मोरारजी को लेने स्टेशन जाता है और उनके साथ काफी दूर तक तीसरे दर्जे में सफर करता है। है न अनहोनी-सी वात ? आपको वारडोली और खेड़ा की नीलाम की हुई जमीनों के झगड़े की तो याद होगी ही। ऐसा प्रतीत होता है कि अब गैरेट जमीनें उनके मालिकों को दिलाने में कोई अड़चन नहीं डालेगा। जिस पुलिस दरोगा के खिलाफ अधिकार का घोर दुरुपयोग करने का आरोप था उसने मंत्री मोरारजी के बारडोली पहुंचते ही गोली मारकर आत्म-हत्या कर ली। पर इसका तो मैंने योंही जिक्र कर दिया। राजाजी को सिविलियनों का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो रहा है। बेचारे

उड़ीसा में शायद कुछ अड़चन पैदा हो तो हो, पर वह भी कुछ दिनों के लिए ही होगी।

मुझे भय है कि हमारी कठिनाइयां स्वयं हमारे ही द्वारा उत्पन्न की जायंगी। अभी हममें संगठन की बड़ी कमी है। हमारे मित्र लोग इस नवीन परिस्थिति से लाभ उठाकर चारों ओर हड़ताल कराना चाहेंगे और स्थिति पर काबू पाने में असमर्थ रहने के लिए मंत्रिमण्डलों की बदनामी देखकर खुश होंगे। राजाजी ने अपने प्रान्त के सभी राजनैतिक बंदियों को, जिनमें हिंसावादी और अहिंसावादी दोनों शामिल हैं, रिहा कर दिया है। अंतिम मोपला बन्दी को अभी उसी दिन रिहा किया गया है। परन्तु इसका परिणाम क्या हुआ ? मेहरअली को राजाजी के पदग्रहण करने से पहले छः मास का कारावास हुआ था। राजाजी ने उसे, उसकी अपील खारिज होते ही, रिहा कर दिया, यद्यपि उसकी रिहाई के मामले में उन्हें कुछ ही अड़चनों का सामना करना पड़ा था जैसाकि मैं अपने एक पत्र में कह ही चुका हूं। परन्तु रिहा होने के दो दिन के भीतर ही इस आदमी ने एक स्पीच में आग उगली और लोगों को हिंसा के लिए उभारा। बेचारे राजाजी क्या करें। बम्बई में इस ढंग के आधा दर्जन कैदी अभी जेल में हैं ही। मंत्रियों ने उनकी रिहाई का हठ पकड़ा, पर वे अपनी चेष्टा में सफल नहीं हुए। पर क्या हम इस प्रश्न को लेकर संबंध-विच्छेद कर सकते हैं ? यदि अहिंसा के प्रश्न पर हम लोग एकमत होते तो यह प्रश्न उतना कठिन नहीं होता, पर अभी तो अहिंसा के अर्थ को लेकर ही जवाहरलाल और बापू में गहरी खाई मौजूद है। इस समस्या के कारण कार्यकारिणी की हाल की बैठक खास तौर से कठिन प्रमाणित हुई, पर अंत में सबकुछ सकुशल समाप्त हो गया।

अन्य जटिल समस्याओं को लेकर भी अधिक कठिनाई नहीं रहेगी। सबकुछ कह चुकने के बाद स्थिति यही दिखाई पड़ती है कि जवाहरलाल के संबंध में जो कठिनाई है वह ऐसी नहीं है कि उस पर काबू पाया ही न जा सके। वह भड़कते हैं और गुस्से में लाल-पीले हो जाते हैं, परन्तु अंत में एक खिलाड़ी की भांति पुनः पहले जैसे हो जाते हैं, तुरन्त ही खेद प्रकट करते हैं और जबतक उन्हें यह निश्चय नहीं हो जाता कि कोई खिचाव बाकी नहीं रह गया है, दम नहीं लेते।

यह पत्र लम्बा होता जा रहा है, इसपर भी काम की बात अभी बाकी रही जाती है। आपको याद होगा कि गत फरवरी मास में आपने दो महिलाओं के लिए, जो यहां भारत के लिए काम कर रही हैं, अपने जहाजों में से एक में निःशुल्क समुद्र-यात्रा का प्रबन्ध किया था। अब ये लन्दन में आपके एजेन्टों के साथ बातचीत कर रही हैं कि भारत आने वाले आपके एक जहाज में निःशुल्क समुद्र-यात्रा का प्रबंध हो सकता है या नहीं। इसके अलावा एक तीसरी महिला हैं, जो हमारे साथ कार्य करनेवाले एक जर्मन मित्र की भावी पत्नी हैं। इन्हें

जर्मनी से उनके शान्तिवाद के लिए निकाल दिया गया है। हंसा लाइन के जहाज में इस महिला की उपस्थिति ठीक नहीं रहेगी। क्या हंसा लाइन के अलावा कोई कार्गो बोट है, जिसमें ये तीनों महिलाएं किसी अंग्रेजी बन्दरगाह से या किसी इटालियन बन्दरगाह से निःशुल्क यात्रा कर सकें ?

आपने अपने स्वास्थ्य के संबंध में कुछ नहीं कहा। आपने आपरेशन करा लिया या अवकाश के दिन ज्यूरिच में यों ही बिता रहे हैं ? बापू जानने को बहुत उत्सुक हैं। मैंने इस संबंध में रामेश्वरदासजी को भी लिखा है, क्योंकि संभव है, आपने उन्हें विस्तृत रूप से लिखा हो। आशा है, आपको बापू के संबंध में मेरा तार मिल गया होगा। उनके रक्तचाप में तो वृद्धि नहीं हुई थी, पर कार्याधिक्य के कारण वह थकान महसूस कर रहे थे। उन्होंने देखा कि यदि अभी सतर्कता से काम नहीं लिया गया तो आगे खतरा है। उन्होंने अपनी दिनचर्या में तुरन्त ही काट-छांट की और आराम लेना शुरू कर दिया। वह प्रतिदिन प्रार्थना के बाद स्वतः ही मौन धारण कर लेते हैं। इससे दूसरे दिन सुबह चार बजे तक उन्हें पूरा विश्राम मिल जाता है। घबराने की कोई बात नहीं है, खातिर-जमा रखिये।

आपका

महादेव

२६ अगस्त को महादेवभाई ने इसी विषय पर फिर लिखा :

जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं, त्रुटि अपने ही लोगों की है। आपको 'काकोरी डकैती काण्ड' के कैदियों की तो याद होगी ही। उन्हें कुछ वर्ष पहले घोर हिंसात्मक और अक्षम्य अपराधों के लिए दण्ड दिया गया था। पंतजी ने उन सबको रिहा कर दिया है। यह उनके लिए श्रेय की बात तो हुई ही, हेग के लिए भी कुछ कम श्रेय की बात नहीं हुई, क्योंकि वह यदि चाहते तो उनकी रिहाई के विरुद्ध आपत्ति खड़ी कर सकते थे। परन्तु उनके रिहा होते ही हमारी मूढ़ कांग्रेस कमेटी ने घोषणा की कि उनका जलूस निकाला जायगा। बेचारे पंतजी असमंजस में थे। उनसे दृढ़ता दिखाने को कहा गया और उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि इस मामले में हठ किया गया तो भविष्य में वह ऐसा करने में असमर्थ रहेंगे। जवाहरलाल ने भी इन जोश-खरोश वाले कांग्रेसियों को किसी प्रकार का बढ़ावा नहीं दिया। इस प्रकार बात वहीं-की-वहीं रह गई।

मद्रास में राजाजी ने परिस्थिति पर अत्यन्त दक्षतापूर्वक काबू कर रखा है। परन्तु उन्हें भी चिन्ता से मुक्त नहीं कहा जा सकता है। उन्हें अथक परिश्रम करना पड़ता है। एक मोपला एम० एल० ए० की बड़ी अभिलाषा थी कि मंत्रि-मण्डल में उसे भी स्थान मिले। उसे नहीं लिया जा सका। अब उसने राजाजी के

पास इस आशय के पत्रों का ढेर लगा दिया है कि मोपला विद्रोह अनिवार्य है। उन प्रदेशों में एक प्रकार की धारणा बद्धमूल है कि हर बीस साल बाद विस्फोट अवश्यम्भावी है। ईश्वर का आदेश यही है। आखिरी बार विस्फोट १९२१ में हुआ। अब नये विस्फोट के लिए उपयुक्त समय आ पहुंचा है, या आने ही वाला है। राजाजी ने तो जोरदार शब्दों में कह दिया है, "मैं इन लोगों की खामोशी नहीं खरीदूंगा।" सम्भव है, ये सब बन्दरघुड़कियां-मात्र हों, पर इनका सिलसिला जारी है।

पंतजी को कानपुर में जैसी कुछ विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ा, आपको मालूम ही है। अन्य प्रदेशों में भी स्थिति चिन्ता से मुक्त नहीं है। खेर ने गुलजारीलाल को अपना सेक्रेटरी नियुक्त करके अक्लमन्दी का काम किया है। वह यत्र, तत्र, सर्वत्र घूमते रहते हैं और अबतक तो हड़तालों का बड़े सन्तोषजनक ढंग से अन्त करने में सफल हुए हैं; परन्तु उनके सामर्थ्य की भी सीमा तो है ही।

सप्रेम,

आपका ही

महादेव

-

इन दिनों लार्ड लिनलिथगो के साथ मेरी जो बातचीत हुई, उसके दौरान उन्होंने यह प्रकट किया कि वह व्यक्तिगत रूप से संघ में विश्वास नहीं करते। भारतीय शासन-विधान मोटे तौर पर दो भागों में विभक्त था। एक भाग के द्वारा तुरन्त प्रान्तीय स्वायत्त शासन प्रदान किया गया था और मंत्रियों द्वारा शासन की व्यवस्था की गई थी। दूसरे भाग में सारे भारत के लिए एक संघ की कल्पना की गई थी, पर उसका अस्तित्व में आना तभी सम्भव था जब राजा लोग, जो मुख्य-रूप से बाधक सिद्ध हो रहे थे, उससे सहमत हो जाते। दुर्भाग्यवश संघ के प्रति लार्ड लिनलिथगो की व्यक्तिगत नापसंदगी ने, जिसका सम्भवतः उनकी कार्य-कारिणी परिषद् के कुछ सदस्य भी स्वागत करते थे, उन्हें ऐसा कोई कदम उठाने से विरत रखा, जिससे राजाओं को संघ का विचार स्वीकार करने में प्रोत्साहन मिलता। यदि उन्होंने ऐसा कदम उठाया होता तो उनके पास उसके पक्ष में जबर्दस्त दलील थी, क्योंकि उस समय क्षितिज पर युद्ध के बादल उमड़ रहे थे। पर उस समय ब्रिटेन के प्रधान मंत्री नेविल चेम्बरलेन थे और लार्ड लिनलिथगो और भारत के अधिकांश अंग्रेज व्यवसायी आंख मूंदकर चेम्बरलेन के पद-चिह्नों का अनुसरण कर रहे थे। चेम्बरलेन की भविष्यवाणी थी कि युद्ध नहीं होगा। इस कारण संघ के पक्ष में जो सबसे वजनदार दलील थी, उसकी उपेक्षा कर दी गई।

केवल आखिरी क्षणों में वाइसराय को अपने इस कर्तव्य का ध्यान आया कि उन्हें राजाओं से संघ के पक्ष में जोरदार ढंग से कहना चाहिए, पर इतने पर भी उन्होंने अपने कर्त्तव्य को अधूरे दिल से ही पूरा किया। उन्होंने रियासतों का दौरा

करने के लिए एक ऐसा प्रतिनिधि नियुक्त किया, जिसे संघ के लिए खुद लार्ड लिनलिथगो की अपेक्षा अधिक उत्साह नहीं था। शायद सर आर्थर लोदियन को अपना यह सही चित्रण स्वीकार होगा। जब युद्ध शुरू हुआ तो वाइसराय ने संघ की योजना को आगे बढ़ाने के बजाय सारी योजना को ही झटपट खत्म कर दिया। यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया होता तो भारत का सारा इतिहास ही दूसरा होता और हमें देश का विभाजन न देखना पड़ता।

वाइसराय के साथ मेरी जो मुलाकात हुई, उसका मैंने एक विवरण तैयार किया था और उसे बापू के लिए महादेवभाई के पास भेजा था। यह वह विवरण है :

४ दिसम्बर, १९३७

प्रिय महादेवभाई,

इसके बाद हमने संघ-व्यवस्था के सम्बन्ध में बात की। वाम और दक्षिण पंथियों, दोनों ही ने व्यवस्था के विरुद्ध आपत्तियां खड़ी की हैं। यदि स्थिति पर सतर्कता और सहानुभूति के साथ विचार नहीं किया गया तो दुबारा वार्त्ता भंग होने की सम्भावना है। उन्होंने कहा कि वह स्वयं संघ-व्यवस्था से संतुष्ट नहीं हैं। वह आलोचकों की आपत्तियों को समझते हैं। पर उनकी इच्छा रहते हुए भी कानून नहीं बदला जा सकता। हमारे आलोचना-कार्य के सम्बन्ध में उन्हें एक बात पसन्द नहीं आई। उनके सामने कोई रचनात्मक सुझाव नहीं रखा गया। मैंने उन्हें बताया कि ऐसा सुझाव बापू की ओर से आयगा, परन्तु स्वयं उन्हें (वाइसराय को) अभी से यह सोचने में लग जाना चाहिए कि वह समस्या का क्या हल पेश कर सकते हैं। स्वयं मेरे दृष्टिकोण से भी दो बातें आपत्तिजनक हैं। नरेशों के प्रतिनिधि बिना किसी चुनाव के आ धमकेंगे। इसके अलावा स्वयं विधान के रचयिताओं को यह प्रमाणित करना है कि विधान में स्वतः विकास के अणु विद्यमान हैं, जैसा कि अंग्रेज लोग आएदिन दावा करते रहते हैं। यदि लोकप्रिय मंत्रियों के हाथ में सेना और विदेश विभाग नहीं दिये जायेंगे तो हम औपनिवेशिक स्वराज्य के लक्ष्य तक कैसे पहुंचेंगे ? यह काम तो वाइसराय का है कि वह किसी-न-किसी तरह भारत की जनता को इस बात का विश्वास दिलायें कि विधान में जो कुछ कहा गया है वह कोरा जबानी जमाखर्च नहीं है। वाइसराय ने उत्तर में कहा कि विधान के सम्बन्ध में जो दावा किया गया है वह जबानी जमाखर्च-मात्र नहीं है। वह अपने मंत्रिमंडल की सेना और विदेश विभाग के मामले में उत्तरदायित्व-रहित मानने को तैयार नहीं हैं। यह माना कि कानूनी तौर से उनके मंत्रिमंडल का इन विषयों पर कोई अधिकार नहीं है, पर परिपाटी के द्वारा उनके हाथों में यह अधिकार सौंपा जा सकता है। परन्तु यह उनकी अपनी सम्मति थी।

उन्होंने मुझसे अनुरोध किया कि इस मामले को फिलहाल यहीं छोड़ दिया जाय, जिससे वह ठीक समय पर इस विषय में अपना दिमाग काम में ला सकें। मैंने बताया कि संघ की स्थापना के पहले उनका गांधीजी से बात करना कितना जरूरी है और साथ ही यह भी कहा कि यदि वह जवाहरलालजी के साथ जान-पहचान कर सकें तो इससे गांधीजी के कंधों का भार बहुत-कुछ हलका हो जायगा। उन्होंने मुझसे पूछा कि जवाहरलालजी कलकत्ता कब आ रहे हैं और जब मैंने बताया कि सम्भवतः वह ८ तारीख को पहुंच जायंगे तो उन्होंने कहा, "ओह, इतनी जल्दी !" तुम्हें शायद पता ही होगा कि वाइसराय १३ या १४ को कलकत्ता पहुंच रहे हैं।

तुम्हारा ही
घनश्यामदास

इस पत्र के द्वारा मंत्रियों की प्रारम्भिक कठिनाइयों पर प्रकाश पड़ता है :

३१ दिसम्बर, १९३७

प्रिय महादेवभाई,

कल मुझसे लेथवेट मिलने आये। उनसे दो घण्टे तक लम्बी-चौड़ी बातचीत होती रही। नजरबन्द और दण्डित कैदियों और संघ की चर्चा खास तौर से हुई। वह सारी बात वाइसराय को बतायेंगे। इसके बाद यदि जरूरत समझी गई तो मुझसे वाइसराय से मिलने को कहा जायगा। नजरबन्दों और दण्डित बन्दियों के सम्बन्ध में मैंने उन्हें वही बातें बताईं, जो एन्ड्रयूज ने और मैंने गवर्नर से कही थीं। बापू के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में मुझे तुम्हारा पत्र मिल ही गया था। मैंने वह पत्र लेथवेट को पढ़कर सुनाया और कहा कि बापू यहां आवें, इससे पहले ही कैदियों की रिहाई आरम्भ हो जानी चाहिए और जारी रहनी चाहिए। यदि इस नीति का अवलम्बन नहीं किया गया तो जनता और कैदियों में बेचैनी फैल जायगी और यदि कैदियों ने दुबारा भूख-हड़ताल की तो इससे सभी को परेशानी होगी और इसका बापू के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ेगा सो अलग, क्योंकि उनका स्वास्थ्य भी राजनैतिक महत्त्व रखता है। उन्होंने मेरी बात मानते हुए कहा कि बापू का स्वास्थ्य निश्चय ही राजनैतिक महत्त्व रखता है। उन्होंने पूछा कि क्या मैं यह चाहता हूं कि कैदियों को थोड़ी-थोड़ी संख्या में छोड़ना अभी से आरम्भ कर दिया जाय, जिससे जनता को भी आश्वासन हो कि समस्या की अवहेलना नहीं की जा रही है ? मैंने कहा, हां। इसपर वह बोले कि जहां तक अंडमान के कैदियों का सम्बन्ध है, उन्हें भारत वापस लाया जा रहा है। उन्होंने वाइसराय के नाम बापू के उस तार का जिक्र किया, जो उन्हें उस समय मिला जब कैदियों के भूख-हड़ताल

करने की खबर मिली थी। उन्होंने बताया कि बापू को कैदियों के भारत ले जाने की खबर कर दी गई थी। उन्होंने कहा कि यह कार्य ४ या ६ सप्ताह के भीतर समाप्त हो जायगा, फिर उनकी रिहाई के प्रश्न पर विचार किया जायगा। मैंने कहा कि नजरबन्दों को तुरन्त ही रिहा किया जा सकता है। उन्होंने इस सम्बन्ध में वाइसराय से बात करने का वचन दिया। मुझे आशा है कि वाइसराय सहायता करेंगे। वाइसराय से बात करने के बाद मैं गवर्नर से दुबारा मिलूंगा।

संघ-व्यवस्था के सम्बन्ध में मैंने उनसे कहा कि यह नितान्त आवश्यक है कि बापू के स्वास्थ्य-लाभ करने के तुरन्त बाद वाइसराय उनसे बातचीत आरम्भ कर दें। यदि संघ-व्यवस्था को मतगणना के अभाव में लादा गया तो उसका बड़ा बुरा परिणाम होगा। मैंने कहा कि मेरी समझ में तो विलम्ब करना ठीक नहीं होगा। इसके विपरीत मुझे आशा है कि बापू समस्या का हल सोच निकालेंगे। वाइसराय तक यह बात भी पहुंचा दी जायगी।

इसके बाद हम लोगों ने युक्तप्रान्त के सम्बन्ध में बातचीत की। मैंने बताया कि जब कांग्रेस कानून और व्यवस्था कायम रखने की भरपूर चेष्टा कर रही है तो गवर्नर का हस्तक्षेप उचित नहीं हुआ। लेथवेट का कहना था कि गवर्नरों ने और कहीं हस्तक्षेप नहीं किया, केवल इसी मामले में हस्तक्षेप हुआ, क्योंकि परमानन्द हिंसा का प्रचार कर रहे थे और देहरादून में सैनिकों पर उसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ रहा था। पंतजी से इसके लिए बारम्बार आग्रह किया गया, पर किसी-न-किसी कारण से पंतजी इस ओर से उदासीन रहे। क्या मंत्रियों को इस हद तक छूट देना अच्छा होगा कि अन्त में स्थिति इतनी शोचनीय हो जाय कि मिलिटरी की सहायता लेने के सिवा और कोई चारा ही न रहे? उन्हें किदवई की वह स्पीच भी अच्छी नहीं लगी, जिसमें उन्होंने कहा था कि यदि जनता अहिंसात्मक वातावरण नहीं बनाये रखेगी तो उन लोगों को इस्तीफा देना पड़ेगा। यदि मंत्रियों का रुख यही है तब तो गवर्नरों को मंत्रियों के अहिंसा बनाये रखने की क्षमता में सदैव सन्देह रहेगा। क्या यह गवर्नर के साथ न्याय होगा कि मंत्री लोग स्थिति को बिगाड़ कर इस्तीफा दें? क्या वैसी अवस्था में गवर्नरों का यह कर्त्तव्य नहीं होगा कि वे सदैव इस ओर से सतर्क रहें कि अवस्था अधिक न बिगड़े! मैंने किदवई की स्पीच का अपेक्षाकृत अधिक उत्तम अर्थ लगाया। मैंने कहा कि मंत्रियों को अधिकार उनके निर्वाचकों से प्राप्त हुए हैं और यदि समूची जनता विद्रोह पर उतारू हो जाय तो मंत्रियों के पास निर्वाचकों से यह कहने के अलावा और कोई चारा नहीं रह जाता है कि चूंकि अब हम लोगों पर आपका विश्वास नहीं रहा है, इसलिए हम इस्तीफा दे रहे हैं, कुछ इस कारण नहीं कि हमें गवर्नरों के खिलाफ कोई शिकायत है, बल्कि स्वयं आप लोगों की उच्छृंखलता के कारण। मेरी समझ में किदवई की स्पीच उनकी अवस्था को सही-सही बताने

वाली थी। उसका गलत अर्थ नहीं लगाना चाहिए था। उन्होंने मेरी बात को समझ तो लिया, पर साथ ही उन्होंने यह दलील पेश की कि यदि मंत्री लोग निर्वाचकों के भय से कानून और व्यवस्था कायम रखने के लिए आवश्यक कार्रवाई नहीं करेंगे तो किसी-न-किसी समय गवर्नर को हस्तक्षेप करना ही पड़ेगा। लेथवेट मेरी इस बात से तो सहमत नहीं हुए कि युक्तप्रान्त के गवर्नर सीमा से बाहर चले गए हैं, पर तो भी उन्होंने यह तो स्वीकार किया ही कि मंत्रियों को गलतियां करने के मामले में भी पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए। वह यह जानने को उत्सुक थे कि सारे प्रांतों में से युक्तप्रांत में ही हिंसा-प्रिय वर्ग के साथ ढिलाई क्यों दिखाई गई ? अन्य कांग्रेसी प्रांतों की उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की।

सस्नेह,

तुम्हारा ही
घनश्यामदास

भविष्य का चित्र काफी अच्छा प्रतीत हो रहा था। पर लार्ड लिनलिथगो ने विधान मंडल से परामर्श किए बिना ही भारत को युद्ध में घसीटने की भारी भूल कर डाली। मंत्रियों के लिए इस कड़वी खुराक को निगलना मुश्किल हो गया। उन्होंने समस्या का हल निकालने की कोशिश की भी, पर निष्फल रहे और युद्ध आरम्भ होने के कुछ ही सप्ताह बाद पद-त्याग कर दिया। यदि वाइसराय ने भारत से परामर्श करने की दूरदर्शिता दिखाई होती तो मुझे सन्देह नहीं कि भारत ब्रिटेन का ही समर्थन करता।

१९४१ के दिसम्बर मास में बापू ने मुझे हिटलर के नाम एक खुले पत्र की प्रति भेजी। कहने की आवश्यकता नहीं कि सरकारी सेंसर ने हस्तक्षेप किया और उसे प्रकाशित नहीं होने दिया। शायद यह पत्र हिटलर तक भी कभी नहीं पहुंचा। नीचे उस पत्र की नकल दी जाती है :

वर्धा, २४ दिसम्बर, १९४१

प्रिय मित्र,

मैं आपको एक मित्र के नाते लिख रहा हूं, सो कोरा शिष्टाचार-मात्र नहीं है। मैं किसी को अपना शत्रु नहीं मानता। पिछले ३३ वर्षों के बीच मेरा यह जीवन-कार्य रहा है कि जाति, रंग और धर्म का भेद किये बिना समूची मानव-जाति के साथ मित्रता का नाता जोड़ूं।

आशा है, आपके पास यह जानने के लिए समय होगा और इच्छा भी होगी कि मानव-जाति का एक बड़ा-सा भाग, जो विश्वव्यापी मैत्री के सिद्धान्त में विश्वास करता है, आपके कार्यों को किस दृष्टि से देखता है। आपकी वीरता और

पितृभूमि के प्रति आपकी निष्ठा के सम्बन्ध में हमें संदेह नहीं है और आपके विरोधियों ने आपको जो दानव बताया है, सो भी हम लोग मानने को तैयार नहीं हैं। पर आपकी और आपके मित्रों और प्रशंसकों की रचनाओं और घोषणाओं से इस विषय में सन्देह नहीं रह जाता है कि आपके बहुत सारे काम दानवतापूर्ण हैं और मानवी प्रतिष्ठा की कसौटी पर ठीक नहीं उतरते, विशेष रूप से मेरे जैसे विश्वव्यापी मित्रता के पुजारियों की दृष्टि में। चेकोस्लोवाकिया को लांछित किया गया, पोलैण्ड के साथ बलात्कार किया गया, डेन्मार्क को हड़प लिया गया—ये सब कार्य इसी कोटि में आते हैं। आपका जीवन-सम्बन्धी जैसा कुछ दृष्टिकोण है, उसके अनुसार ऐसे दस्युतापूर्ण कार्यों की गणना अच्छाइयों में है, सो मैं जानता हूं, पर हम लोगों को तो बचपन से ही ऐसे कृत्यों को मानवता को गिरानेवाला बताया गया है। अतएव हमारे लिए आपकी सशस्त्र विजय की कामना करना सम्भव नहीं है।

किन्तु हमारी स्थिति अपने ढंग की निराली है। हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद का नाजीवाद से कुछ कम प्रतिरोध नहीं करते हैं। यदि अन्तर है तो केवल परिमाण का। मानव-जाति के इस पंचमांश को अंग्रेजों ने अपने शिकंजे में जकड़ने के लिए जिन साधनों का अवलम्बन किया वे औचित्यपूर्ण कदापि नहीं थे। पर हम अंग्रेजी प्रभुत्व का प्रतिरोध करते हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अंग्रेज जाति का अमंगल चाहते हैं। हम उनको युद्धभूमि में हराना नहीं चाहते, उनका हृदय-परिवर्तन करना चाहते हैं। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हमारा विद्रोह शस्त्रविहीन विद्रोह है। हम उनका हृदय-परिवर्तन कर सकें या न कर सकें, हमने उनके शासन को अहिंसात्मक असहयोग द्वारा असंभव बनाने का संकल्प अवश्य कर लिया है। यह कुछ ऐसा तरीका है, कि इसमें पराजय के लिए कोई स्थान है ही नहीं। उसका आधार यह ज्ञान है कि विजेता को अपने शिकार के स्वेच्छापूर्वक या जबरदस्ती दिये गए सहयोग के बिना लक्ष्य सिद्धि नहीं हो सकती। हमारे शासक हमारी भूमि और हमारे शरीर पर अधिकार कर सकते हैं, हमारी आत्मा पर कदापि नहीं। भारतवासी मात्र—पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों—का विनाश करके ही वे हमारी जमीन और हमारे शरीर पर कब्जा कर सकते हैं।

यह ठीक है कि ऐसी वीरता का परिचय देना सबके लिए शायद संभव न हो, और संभव है, भय की अधिक मात्रा से विद्रोह की कमर टूट जाय। पर यह तर्क यहां असंगत है, क्योंकि यदि भारत में ऐसे स्त्री-पुरुष काफी संख्या में मिल सकें जो अपहर्ताओं के प्रति बिना किसी प्रकार की दुर्भावना रखे उनके आगे घुटने टेकने के बजाय अपने जीवन का बलिदान करने को तैयार हों तो वे हिंसा की बर्बरता से मुक्ति का मार्ग दिखाने में अवश्य समर्थ होंगे। मेरा अनुरोध है कि आप इस बात पर विश्वास करिये कि आपको इस देश में ऐसे स्त्री-पुरुष आशा से

अधिक संख्या में मिल जायंगे। पिछले बीस वर्षों से उन्हें इसी की दीक्षा दी जाती रही है।

हम पिछली आधी शताब्दी से ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने की कोशिश कर रहे हैं। स्वतन्त्रता का आंदोलन आज जितना प्रबल है उतना पहले कभी नहीं था। देश की सबसे अधिक शक्तिशाली राजनैतिक संस्था, अर्थात् कांग्रेस, इस लक्ष्य की प्राप्ति में प्रयत्नशील है। हमने अहिंसात्मक उपायों द्वारा पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। हमें दुनिया की सबसे अधिक संगठित हिंसा का, जिसका ब्रिटिश सत्ता प्रतिनिधित्व करती है, मुकाबला करने के लिए उपयुक्त साधन की तलाश थी। आपने उस सत्ता को चुनौती दी है। अब यही देखना है कि ब्रिटिश सत्ता और जर्मन सत्ता में कौन अधिक संगठित है। हमारे और दुनिया की अन्य गैर यूरोपीय जातियों के लिए ब्रिटिश प्रभुत्व का क्या अर्थ होता है। सो हम जानते हैं; किन्तु हम ब्रिटिश शासन का अंत जर्मनी की सहायता से कभी नहीं करना चाहेंगे। हमें अहिंसा के रूप में जो शक्ति प्राप्त हुई है यदि उसे संगठित रूप दिया जाय तो वह दुनिया की हिंसक-से-हिंसक शक्तियों के संयुक्त बल से मोर्चा ले सकती है। जैसा कि मैं कह चुका हूं, अहिंसा-प्रणाली में पराजय के लिए कोई स्थान नहीं है। उसका मंत्र तो 'करो या मरो' है, और वह दूसरों को मारने या चोट पहुंचाने में विश्वास नहीं रखती है। उसके उपयोग में न धन की दरकार है, न उस विनाशकारी विकास की जिसके विकास को आपने इतनी चरम सीमा तक पहुंचा दिया है। मुझे तो यही आश्चर्य है कि आप यह क्यों नहीं समझते कि आपकी प्रणाली पर किसी का इजारा नहीं है! यदि अंग्रेज न सही तो निश्चय ही कोई और शक्ति आपकी प्रणाली में सुधार करके आपके ही हथियार से आपको पराजित कर देगी। आप अपनी जाति के लिए कोई ऐसी विरासत नहीं छोड़ रहे हैं, जिस पर वह गर्व कर सके। निर्दयतापूर्ण कृत्यों का पाठ करने में उसे गर्व का बोध कदापि नहीं होगा, उसकी रचना में चाहे कितना ही बुद्धि-कौशल क्यों न खर्च किया गया हो। इसलिए मैं मानवता के नाम पर आपसे युद्ध बन्द कर देने की अपील करता हूं। आप उन समस्त विवादग्रस्त विषयों को, जो आपके और ब्रिटेन के बीच में हों, दोनों पक्षों की पसन्द के किसी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंप देंगे तो आपकी कोई क्षति नहीं होगी। यदि आपको युद्ध में सफलता मिल गई तो इससे यह सिद्ध नहीं होगा कि न्याय आपके पक्ष में था। इससे तो केवल यही सिद्ध होगा कि आपकी विनाशकारी शक्ति अपेक्षाकृत अधिक प्रबल थी। इसके विपरीत, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का फैसला, जहां तक मनुष्य के लिए संभव हो सकता है, यह प्रकट करेगा कि न्याय किस ओर था।

आप जानते ही हैं कि मैंने कुछ ही समय पहले अंग्रेज-जाति मात्र से अहिंसात्मक प्रतिरोध की प्रणाली अपनाने की अपील की थी। मैंने यह अपील इसलिए

की थी कि अंग्रेज जानते हैं कि मैं विद्रोही होते हुए भी उनका हितैषी हूं। आप और आपकी जाति के लोग मुझसे परिचित नहीं हैं। मैंने अंग्रेजों से जो अपील की थी, वही अपील आपसे करने का तो साहस मुझे नहीं होता है, पर वर्तमान सुझाव तो अधिक सरल है, क्योंकि वह अधिक व्यावहारिक भी है और सबका जानाबूझा भी है।

इस घड़ी यूरोप के लोगों के हृदय शान्ति के लिए छटपटा रहे हैं और हमने अपना शान्तिमय संघर्ष भी स्थगित कर दिया है। क्या मेरा आपसे इस घड़ी शान्ति-सम्बन्धी प्रयास करने की अपील करना अनधिकार चेष्टा समझा जायगा ? इस घड़ी का मूल्य स्वयं आपके निकट चाहे कुछ न हो, पर लाखों-करोड़ों यूरोप-वासियों के लिए वह बहुत मूल्यवान सिद्ध हो सकती है, जिनका शान्ति का चीत्कार मेरे उन कानों में आ रहा जिन्हें जन-साधारण की मूक वेदना को सुनने का अभ्यास है। मैंने आपके और सिन्योर मुसोलिनी के नाम, जिनसे इंग्लैण्ड की गोलमेज परिषद् में भाग लेकर वापस लौटते समय रोम में मिलने का मुझे सुअवसर मिला था, एक संयुक्त अपील भेजने का इरादा किया था। मैं आशा करता हूं कि वह इस अपील को आवश्यक परिवर्तन के बाद अपने को भी संबोधित मान लेंगे।

मैं हूं आपका सच्चा हितैषी
मो० क० गांधी

"मंत्रियों की कठिनाइयों से सम्बन्ध रखने वाला अध्याय समाप्त करने के पहले, मैं यह भी लिख दूं कि सन् १९३७ के प्रारम्भ में मैंने श्री चर्चिल को एक पत्र लिखने का दुस्साहस किया था। मैंने लिखा था कि भारत की राजनैतिक स्थिति के बारे में समाचार-पत्रों में उनके उद्‌गारों को देखकर मुझे निराशा हुई। मैंने उन्हें अपने इस कथन की याद दिलाई कि कांग्रेस और पुरानी सरकार के प्रतिनिधियों के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव है और पारस्परिक अविश्वास की भावना फैली हुई है। साथ ही मैंने उन्हें यह भी बताया कि कुछ प्रान्तों में चुनावों में ऊंचे-से-ऊंचे अफसरों ने खुले तौर पर कांग्रेस-विरोधी पक्ष लिया, यह भी कहा कि कांग्रेस ने ऐसे ही वातावरण में नये विधान का श्रीगणेश किया है। मैंने आगे लिखा :

"यकीन मानिये, गांधीजी और उनके जैसे विचार रखने वाले दूसरे लोग विधान को जनता के कल्याण के लिए ईमानदारी के साथ अमल में लाना चाहते हैं।

मैंने आपके वे उद्‌गार गांधीजी तक पहुंचा दिये थे : 'अपने देशवासियों को अधिक रोटी और मक्खन दीजिए, बस मैं बिल्कुल संतुष्ट हो जाऊंगा। मैं ब्रिटेन

के प्रति अधिक वफादारी नहीं, जनसाधारण के लिए अधिक रोटी-मक्खन चाहता हूं।' कांग्रेस ने जो निर्वाचन-सम्बन्धी घोषणा-पत्र तैयार किया था, सो जनता को अधिक रोटी-मक्खन देने के उद्देश्य से ही किया था। जब कांग्रेस ने आश्वासनों की मांग की तो, गलत या सही, उसका यही खयाल था कि गवर्नर लोग उसके कार्यक्रम को कार्यान्वित करने में हस्तक्षेप करेंगे। आप इस सन्देह की आलोचना कर सकते हैं, अथवा जैसा कि लार्ड लोदियन ने कहा, इसका कारण लोकतंत्रीय अनुभव का अभाव हो सकता है, फिर भी वह मौजूद तो है ही। साथ ही मेरा यह विश्वास है कि राजनीतिज्ञता और सम्पर्क से इस गलतफहमी को दूर किया जा सकता है।

क्या आपका यह ख्याल नहीं है कि आप जैसा असाधारण राजनेता इस समस्या को हल करने में बहुत अधिक सहायक सिद्ध हो सकता है ?"

मैंने यह उद्धरण अपनी स्मरणशक्ति के आधार पर दिया था, और हो सकता है कि उस समय मैंने श्री चर्चिल की बात को गलत समझा हो और उन्होंने 'ब्रिटेन के प्रति अधिक वफादारी नहीं' के स्थान पर 'ब्रिटेन के प्रति अधिक वफादारी भी' या 'साथही ब्रिटेन के प्रति अधिक वफादारी' भी कहा हो। जो हो, उन्होंने यह मानने से इन्कार कर दिया कि उन्होंने कहा था, कि उन्हें भारत से ब्रिटेन के प्रति अधिक वफादारी की आशा नहीं है। यह है उनका उत्तर जो उस समय 'व्यक्तिगत' शब्द से चिह्नित था, किन्तु जिसे अब उन्होंने प्रकाशित करने की अनुमति दे दी है :

११ मोरपेथ मेन्शस,
व्यक्तिगत वेस्टमिन्स्टर
३० अप्रैल, १९३७

प्रिय श्री बिड़ला,

आपके पत्र के लिए अनेक धन्यवाद। आपके वृत्तों में मेरी रुचि बराबर बनी रहेगी। पर आपने जिस वाक्य का उल्लेख किया है, उसमें आपने कथन को ठीक-ठीक उद्धृत नहीं किया है। मैंने उन शब्दों का प्रयोग हर्गिज नहीं किया था।

आपको दुनिया की वर्तमान अवस्था पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। यदि ब्रिटेन को किसी कारण से, चाहे वह कारण भारतीय हो या यूरोपीय, स्वेच्छापूर्वक या जबरदस्ती भारत पर से अपना संरक्षण हटा लेना पड़ा तो भारत फासिस्ट तानाशाह राष्ट्रों—इटली, जर्मनी अथवा जापान—का बराबर शिकार बनता रहेगा, और तब आधुनिक सुविधाओं को देखते हुए, शासन-व्यवस्था में ऐसी कठोरता आ जायगी कि उसकी मिसाल गुजरे हुए जमाने में भी मुश्किल से मिल सकेगी। भारतीय मतदाताओं और कांग्रेस का तो यही कर्त्तव्य है कि वे

उस महान् दायित्व को संभालें, जो उनके सामने पेश किया गया है, और यह दिखा दें कि वे भारत को एक सुखी देश बना सकते हैं। साथ ही उन्हें ब्रिटेन की साख प्राप्त करने की भरसक कोशिश करनी चाहिए और उसके प्रति अभारी और वफादार होना चाहिए, क्योंकि वही संसदीय शासन-व्यवस्था और भारतीय शान्ति का संरक्षक है।

आपका
विन्सटन चर्चिल

२३. युद्धकालीन घटनाएं

लार्ड लिनलिथगो ने विधान-मंडल अथवा भारतीय लोकमत से परामर्श की रस्म पूरी किये बिना ही भारत को युद्धरत राष्ट्र घोषित करने की जो गम्भीर भूल की, उसका परिमार्जन असम्भव हो गया। कांग्रेसी मन्त्रियों ने युद्ध के पहले पतझड़ में ही पद-त्याग कर दिया। यही नहीं, जहां एक ओर वीर भारतीय सेना, जिस पर आज हम ठीक ही इतना गर्व करते हैं, अपनी विशिष्टता स्थापित कर रही थी और ब्रिटिश सेना से भी अधिक तेजी के साथ विक्टोरिया क्रास और दूसरे सम्मान प्राप्त कर रही थी, वहां दूसरी ओर जनता को इन चीजों में किसी प्रकार के आनन्द का बोध नहीं हो रहा था, और यदि वह खुले रूप से विरोधी न थी तो उदासीन अवश्य थी। बहुतों के दिलों में तो नात्सियों के प्रति एक प्रकार की सहानुभूति तक पैदा हो गई थी। जापान के प्रति तो प्रायः सभी हलकों में सहानुभूति थी। इस पर विचित्र बात यह थी कि उसकी विजय की कामना किसी को नहीं थी।

पर वाइसराय ने फिलहाल गांधीजी के साथ सम्पर्क बनाये रखा और दोनों के बीच काफी पत्र-व्यवहार हुआ। दोनों में उस समय कैसे विचित्र ढंग का सम्बध था, सो मेरे नाम महादेवभाई के इस पत्र से प्रकट होगा :

सेवाग्राम
२५-६-४२

प्रिय घनश्यामदासजी,

गनीमत है कि स्वामीजी (आनंद स्वामी) आपके पास आ रहे हैं। अब मैं आपको सचमुच का पत्र लिख सकूंगा। आप स्वयं सोच सकते हैं कि आजकल

डाक से कोई चीज भेजना कितना असम्भव है।

फिशर की पुस्तक 'मेन एण्ड पॉलिटिक्स' आप पढ़ ही रहे हैं। वह यहां चार-पांच दिन के लिए आया था। यहां से रवाना होने से पहले फिशर ने मुझे अपनी डायरी का वह अंश देखने दिया, जिसमें बापू के सम्बन्ध में उसके और वाइसराय के वार्तालाप का निचोड़ दर्ज था। वार्तालाप रोचक भी था और विचित्र भी। वाइसराय ने फिर से कहा था, "गांधी का रुख इन कई वर्षों के दीर्घकाल में मेरे प्रति बड़ा अच्छा रहा है और यह कहना मामूली बात नहीं है, क्योंकि यदि वह यहां दक्षिण अफ्रीका की भांति सन्त बने रहते तो मानवता का बड़ा कल्याण होता, पर दुर्भाग्यवश वह यहां राजनैतिक पचड़े में पड़ गये, जिससे उनमें मिथ्या गर्व और आत्मश्लाघा उत्पन्न हो गई, परन्तु आप कहते हैं कि कुछ सिविलियनों ने आपको बताया है कि उनका प्रभाव समाप्त हो गया है और उनकी चिन्ता करना अनावश्यक है, सो यह वाहियात-सी बात है। उनका प्रभाव बेहद है और जनता से मनमानी कराने के मामले में वह अपना सानी नहीं रखते हैं। जवाहरलाल की बारी भी उनके बाद ही आती है। कांग्रेस में बाकी जो लोग हैं, उन्हें अपने-अपने काम का शुल्क मिलता है। कांग्रेस व्यापारियों की संस्था है, वे लोग उसका खर्च चलाते हैं और उसे चालू रखते हैं। गांधी इस समय ऐसी चाल चल रहे हैं, जो रहस्य से भरी हुई है। वह खतरनाक भी सिद्ध हो सकती है। मैं पूरे तौर से चौकन्ना हूं। वह युक्तप्रान्त और बंगाल के लोगों को भड़काने की योजना बना रहे हैं। वह किसानों से कहेंगे कि अपने घरों को छोड़कर मत जाओ। मैं जल्दबाजी से काम नहीं लूंगा, पर यदि उनके कार्य-कलाप ने युद्ध-चेष्टा में अड़चन डाली तो मुझे उन्हें नियन्त्रण में रखना ही होगा।" मेरी स्मरण-शक्ति के अनुरूप यह वस्तुस्थिति की अच्छी खासी रिपोर्ट है।

बापू ने जवाहर और मौलाना से विस्तृत रूप से बातचीत की। जवाहर का दिमाग चीन और अमरीका से भरा हुआ है। बापू ने फिशर वाली मुलाकात के दौरान अपने पुराने रवैये में जो परिवर्तन किया था, सो निस्सन्देह जवाहर को ध्यान में रखकर ही किया था और उन्होंने जो-कुछ कहा था वह जवाहर की अभिलाषा के सर्वथा अनुरूप था। जवाहर ने सुझाया कि बापू चांग काई शेक को एक पत्र लिखकर उसे अपनी स्थिति समझावें, उसे स्वतन्त्र भारत के सहाय्य का आश्वासन दें और कहें कि विदेशी सेनाओं के भारत से हटाये जाने का सुझाव एकमात्र चीन की सहायता करने की इच्छा से प्रेरित होकर ही दिया गया था। पता नहीं, चांग ने पत्र के 'हरिजन' में प्रकाशित न किये जाने का तार क्यों भेजा, पर वह पत्र चीन और अमरीका, दोनों को एक साथ ही तार द्वारा भेजा गया, और एक प्रकार से यह अच्छा ही हुआ कि चर्चिल की भेंट के समय तक वह रूजवेल्ट के हाथों में पहुंच गया।

राजाजी दो दिन के लिए यहां आये थे, पर उनके साथ दो दिनों तक अत्यन्त मित्रतापूर्वक बात करने के बाद बापू ने कहा, "देखता हूं, इनके और मेरे बीच जो मतभेद है वह उतना साधारण नहीं है, जितना कि मैं समझता था। उन्होंने राजाजी को जिन्ना से मिलने का बढ़ावा दिया, यद्यपि उन्हें ऐसे बढ़ावे की कोई खास जरूरत न थी। अब वह उनसे मिलेंगे। परन्तु जबकि वह आदमी 'टाइम्स आफ इण्डिया' को गर्हित ढंग की मुलाकात दे चुका है, तो अब वह बापू का डटकर विरोध करने को बाध्य होगा ही और मैं नहीं समझता कि राजाजी उसके साथ बातचीत में विशेष सफल होंगे। जो हो, वह उससे मिलेंगे अवश्य। इसके बाद वह वर्धा वापस आकर बतायंगे कि मुलाकात का क्या नतीजा निकला। पर मुझे कुछ आशंका-सी है कि उनके और जिन्ना के बीच जो कुछ बातचीत होगी, बापू को वह सब-की-सब नहीं बतायंगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह जान-बूझकर कोई बात छिपा लेंगे। असली बात यह है कि वह हरएक पदार्थ को अपनी प्रिय योजना की ऐनक से देखते हैं, इसलिए वह ऐसी कोई बात नहीं बतायंगे, जिसके द्वारा उनका हवाई किला ढहने की सम्भावना हो। अस्तु, यह अच्छा ही है कि वह जिन्ना से मिल रहे हैं।

मुझे विश्वास है कि मैंने बताने लायक सारी बातें बता दीं। बापू बुरी तरह थक गये हैं और दिन बीतने पर तो बिलकुल ही बेदम हो जाते हैं। हम लोग उनके कार्य की मात्रा में भरसक कमी करने की चेष्टा करते हैं, पर नई कार्य-योजना-सम्बन्धी माथापच्ची उन्हें बिलकुल थका डालती है। उनका वजन कम हो गया है, भोजन की मात्रा कम हो गई है, कम टहलते हैं और कामकाज से थक जाते हैं। यह बड़े परिताप की बात है, पर हम उनकी ठोस सहायता करने में असमर्थ हैं। मैं तो केवल इतना ही कर सकता हूं कि 'हरिजन' के लिए वह केवल दो कालम-भर मैटर दे दें और अवशिष्ट स्थान मैं भर दिया करूं। ऐसा मैं आसानी से कर भी सकता हूं, क्योंकि मैं उनके विचारों को सहज ही पेश कर सकता हूं। पर सोचना और कार्यविधि निर्धारित करना अकेले उन्हीं का काम है। इस काम में केवल भगवान् ही उनकी सहायता कर सकते हैं।

होरेस एलेक्जेंडर और सायमन्ड्स यहां आ गये हैं। अन्य सभी क्वेकरों की भांति वे भी भले आदमी हैं। होरेस लन्दन से रवाना होने से पहले एमरी से मिले थे। एमरी ने होरेस से गांधी और अन्य लोगों से मिलने को कहा था, पर इससे कुछ होने-जाने वाला नहीं है, क्योंकि वह क्रिप्स की हिमायत लेकर आये हैं। फिर भी दोनों हैं अच्छे आदमी। मैं उनसे आपके पास ठहरने को कह रहा हूं। आशा है, आपको कोई आपत्ति नहीं होगी। आप होरेस को कुछ दीक्षा भी दे सकते हैं, क्योंकि वह बहुत अनभिज्ञ व्यक्ति हैं। आपको भी उनसे कुछ-न-कुछ मिलेगा ही। वह वहां किसी को नहीं जानते, इसलिए मैंने सोचा कि दोनों के लिए यही ठीक

रहेगा कि वे आपके पास ठहरें। इससे आपकी योजनाओं में कुछ व्याघात तो अवश्य पड़ेगा, पर मुझे आशा है कि आप उस ओर ध्यान नहीं देंगे।

सप्रेम,

आपका ही
महादेव

इंग्लैंड में क्वेकरों ने और समझौता समिति के कार्लहीथ जैसे अन्य सदाशयी व्यक्तियों ने कोई रास्ता ढूंढ़ निकालने का व्यर्थ प्रयास किया। उन्होंने परिस्थिति का अध्ययन करने के लिए एक प्रतिनिधि-मंडल भेजा। महादेवभाई ने वर्धा से बापू की ओर से मुझे सबको ठहराने की व्यवस्था करने को लिखा। मैंने प्रसन्नतापूर्वक सारी व्यवस्था कर दी।

२७ जून, १६४२

प्रिय महादेवभाई,

तुम्हारी चिट्ठी ज्ञातव्य बातों से परिपूर्ण थी। मुझे यह दिमागी भोजन भेजा, इसके लिए धन्यवाद।

श्री होरेस और सायमन्ड्स यहां आ पहुंचे हैं। मैंने दोनों को एक ही कमरे में टिका दिया है। अच्छा होता कि दोनों को दो कमरे दे सकता, पर यह सम्भव नहीं था। फिर भी दोनों बड़े खुश हैं। मैं उनके आराम का खयाल रखूंगा। उनके दिल्ली-प्रवास के सम्बन्ध में कोई चिन्ता करने की जरूरत नहीं है।

बहुत-सी बातें करनी हैं, पर मैं भेंट होने तक रुकूंगा। मैं शायद अगस्त के आरम्भ तक वहां आ पहुंचूंगा।

शायद तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। स्वयं तुमने 'हरिजन' में यह बात स्वीकार की है। तो फिर दिल्ली क्यों नहीं आ जाते ? अगर आ जाओ तो मैं वादा करता हूं कि तुम्हारा साथ देने के लिए मैं अपना प्रोग्राम बदल डालूंगा। या मैं तुम्हें पिलानी ले जाऊंगा, जहां तुम्हारी शान्ति में विघ्न डालने वाली कोई बात नहीं होगी। कामकाज की खातिर भी तुम्हें मूर्च्छित होते रहने के बजाय पूरी तौर से आराम करना चाहिए। तुम्हें यह अवश्य ही बुरा लगा होगा कि बापू भयंकर गर्मी में पैदल चले और तुम ऐसा करने में असमर्थ रहे। मैं तो समझता हूं कि तुम्हें विश्राम की निश्चित रूप से आवश्यकता है। इसलिए तुम्हें विश्राम करना ही चाहिए। देवदास मुझसे सहमत हैं।

सस्नेह,

तुम्हारा ही
घनश्यामदास

युद्ध ने गांधीजी के लिए और वास्तव में सभी भारतीयों के लिए कठिनाइयां

और उलझनें पैदा कर दीं। पाकिस्तान के लिए जिन्ना की मांग अधिकाधिक तीखी होती जा रही थी, जिसके परिणामस्वरूप अतिरिक्त कठिनाइयां उत्पन्न हो रही थीं। सबके ऊपर आया बंगाल का भयंकर दुर्भिक्ष। चीन ने जापान के विरुद्ध जो रुख अपनाया, उसे लेकर चीन के प्रति श्री नेहरू की सहानुभूति जाग्रत हो उठी। इससे वह महान् सेनानी चांग काई शेक और उनकी उतनी ही प्रसिद्ध धर्मपत्नी के सम्पर्क में आये। उन्होंने भी भारतीय स्वाधीनता के लिए जवाहरलालजी की आकुलता के प्रति सहानुभूति दिखलाई। वह लार्ड लिनलिथगो से भारत की स्वतन्त्रता की वकालत करने भारत भी आये और उन्हीं के अतिथि हुए। बापू चांग-दम्पति से कलकत्ते में मेरे मकान पर मिले और सबकी एक साथ तसवीर ली गई। पर महादेव ने मेरे पास जो चिट्ठी भेजी, उसके द्वारा एक-दूसरे ही ढंग की तसवीर देखने को मिली :

सेवाग्राम
१६-७-४२

प्रिय घनश्यामदासजी,

मैं आपके पास एक पत्र मीराबहन के हाथों भेजना चाहता था, पर बहुत थक गया था और सुबह के वक्त सन्तोषजनक पत्र लिखने का समय नहीं था। इस बार की कार्यकारिणी की बैठक से आंखें खुल गईं। खान साहब को छोड़कर किसी मुसलमान का दिल कांग्रेस के या, यों कहिये कि बापू के प्रोग्राम में नहीं है। रहे जवाहरलाल, सो वह चीन और अमरीका के मामले में इतने पैठ चुके हैं कि उनके लिए कोई काम तुरन्त ही हाथ में ले लेना संभव नहीं है। मुझे आशंका है कि अवस्था इससे भी ज्यादा खराब है। रामेश्वरभाई मुझे 'लाइफ' नियमित रूप से भेजते रहते हैं। इस सप्ताह के अंक से वस्तुस्थिति के भयंकर रूप में दर्शन होते हैं। बापू महासेनानी चांग काई शेक से कलकत्ते में आपके घर मिले थे। इस सप्ताह के अंक में उस अवसर पर लिये गए सभी चित्र निकले हैं। चित्रों के नीचे जो विवरण दिया गया है वह या तो स्वयं मेडम चांग ने दिया है या उनके अमले के ही किसी आदमी ने, क्योंकि इस अवसर पर मेरे या उन लोगों के अलावा और कोई मौजूद नहीं था, जो ऐसा विवरण देता, और बापू-सम्बन्धी विवरण कितना शरारत से भरा हुआ है! कितना अपमानजनक और कितना कृतघ्नतापूर्ण! मैं तो समझे बैठा था कि कृतज्ञता चीनियों का एक सबसे बड़ा गुण है, पर यह दंपति इस गुण से भी सर्वथा शून्य हैं। यदि वे पूंजीपतियों से कोई सरोकार न रखने पर इतने उतारू थे तो उन्होंने बेचारे लक्ष्मीनिवास का आतिथ्य क्यों ग्रहण किया? इस सारे व्यापार से जी मिचलाने-सा लगा है। इन लोगों को यहां नहीं आना चाहिए था। पर यह अच्छा ही हुआ कि उस रहस्यपूर्ण आदमी के साथ (जैसा

कि बापू उसे हमेशा से कहते आये हैं) बापू का साक्षात्कार हो गया। महासेनानी चांग ने बापू के नाम अपने ताजा संदेश में उन्हें उतावली में कुछ न कर डालने की सलाह दी है, क्योंकि हेलीफैक्स ने ब्रिटेन के लिए रवाना होने से पहले उसके प्रतिनिधि को न्यूयार्क में बताया है कि वह इंग्लैंड-स्थित अधिकारियों पर भारत के साथ समझौता करने पर जोर डालेंगे। बापू ने उसे उत्तर में लिखा है कि वह उतावली में तो कोई काम नहीं करेंगे, पर साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि अगला कदम उठाने में अधिक विलम्ब नहीं किया जायगा, क्योंकि विलम्ब करने से वह कदम उठाने का उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस संदेश में कोई सार नहीं है। या तो हेलीफैक्स चांग को बुद्धू बना रहा है या चांग और हेलीफैक्स दोनों मिलकर हमें बुद्धू बना रहे हैं।

मूल्य नियंत्रण-सम्बन्धी आपके पत्र के बारे में बापू का कहना है कि इस दिशा में आप ही लोगों को, अर्थात् व्यापारियों को, कदम उठाना चाहिए। यदि नलिनी कोई कदम उठावें और उसमें आपको भी साथ में लें तो इससे अच्छी बात क्या हो सकती है। एक बार मीराबहन से भी बात करिये। उनमें स्फूर्ति कूट-कूटकर भरी है। काश, उनकी जानकारी के विषय में भी यह बात कही जा सकती! पर यदि वह तीन बड़ों से बात करेंगी तो कोई हानि नहीं होगी, बशर्ते कि उन्हें मुलाकात करने का अवसर मिले। इस पत्र की प्राप्ति के बाद मुझसे एक बार बात कर लीजिएगा।

आपका ही
महादेव

मैंने बापू और जिन्ना के बीच की खाई को पाटने की चेष्टा में स्व० लियाकत अली खां से कुछ बातचीत की थी। मैंने इस बातचीत से बापू को पूरी तरह से अनभिज्ञ रखा था और उनकी ओर से किसी तरह का कौल-करार नहीं किया था। इस बातचीत का कोई नतीजा नहीं निकला और जिस प्रकार दूध बिखर जाने पर रोना-धोना बेकार होता है, उसी प्रकार उस बातचीत की ऊहापोह करना व्यर्थ है।

लार्ड लिनलिथगो ने जिस स्थिति की कल्पना की थी और जिसके बारे में मुझे फिशर के हवाले से महादेवभाई ने लिखा था, वह सामने आ गई। गांधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन का श्रीगणेश किया। उसके बाद सन् ४२ का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन आया। वह स्वयं पूना के आगाखां महल में नजरबन्द कर दिये गए और एक के बाद एक कांग्रेस के नेता गिरफ्तार होते और जेल जाते रहे।

युद्ध मंथर गति से जारी रहा। हम भारतीयों को, जो स्वतन्त्रता की आशा लगाये बैठे थे, कभी-कभी ही कोई समाचार मिल पाता था। गांधीजी ने २१ दिन

का उपवास किया। इस समय उनको रिहा करने के लिए जो भी अनुरोध किये गए उन सबको सरकार ने ठुकरा दिया। गांधीजी ने अपना अनशन सफलतापूर्वक पूरा किया, पर उससे सारा देश हिल उठा।

२४. भारत और युद्ध

बापू ७ अगस्त, १९४२ को गिरफ्तार हुए थे। उनकी गिरफ्तारी के बाद हिंसा का विस्फोट हुआ, जिसके फलस्वरूप युद्ध-चेष्टा को धक्का लगा और लार्ड वेवल को युद्ध का मोर्चा जापान द्वारा अधिकृत बर्मा तक फैलाने के प्रयास में लज्जाजनक ढंग से विफल मनोरथ होना पड़ा। बापू की गिरफ्तारी और तज्जनित हिंसा के विस्फोट के जो कारण बताये गए हैं, उनके सम्बन्ध में कुछ ऐसी ज्ञातव्य बातें हैं, जिन्हें भावी इतिहासकार को अच्छी तरह ध्यान में रखना होगा।

यह तो निश्चित ही है कि युद्धकाल में लार्ड लिनलिथगो ने अपने सैनिक सलाहकारों से परामर्श किये बिना और प्रकटत: अपनी ही जिम्मेदारी पर इतना गम्भीर निर्णय कर डाला कि उसका युद्ध की गति पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। प्रधान सेनापति लार्ड वेवल उस समय भारत में नहीं थे। बाद में उन्होंने कहा कि वह इस बारे में कुछ नहीं जानते। ८ अगस्त रविवार को बड़े सवेरे गिरफ्तारियां हुईं। उसी दिन बम्बई में दंगे भड़क उठे। उसी दिन संध्या को रांची पूर्वी कमान के सेनापति ने 'स्टेट्समैन' के सम्पादक के साथ कलकत्ते में भोजन किया। उन्हें गिरफ्तारियों और दंगों का कुछ पता न था। कलकत्ते में प्रेसीडेंसी डिवीजन की कमान के जनरल भी इस अवसर पर मौजूद थे। उन्हें भी इन सारी घटनाओं का पता नहीं था। उनका परिस्थिति से गहरा सम्बन्ध था। सम्पादक आर्थर मूर ने सार्वजनिक रूप से इस बात का उल्लेख किया है कि जब इन सैनिक अधिकारियों को उनसे इन घटनाओं का पता चला तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ।

दूसरा निर्विवाद तथ्य यह है कि गांधीजी की गिरफ्तारी को यह आरोप लगाकर औचित्यपूर्ण सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वह अथवा कांग्रेस हिंसा का आश्रय लेने की योजना बना रहे थे। गांधीजी की नजरबन्दी के दिनों में उनसे जो प्रश्न किये गए उनके उत्तर इस प्रकार दर्ज हैं :

प्रश्न—अहिंसा में आपकी जो श्रद्धा है, उसका मेल आप उन आरोपों के साथ

कैसे बैठाते हैं, जो आपके और कांग्रेस के विरुद्ध लगाये जाते हैं कि ८ अगस्त के बाद जो भी तोड़-फोड़ और हिंसा के काम हुए, वे सब इसलिए हुए कि आपने या कांग्रेस ने कुछ गुप्त हिदायतें जारी की थीं ?

उत्तर—इन आरोपों में तनिक भी सचाई नहीं है। मैंने तोड़-फोड़ के लिए या किसी भी प्रकार की हिंसा के लिए कोई गुप्त या अप्रत्यक्ष हिदायत कभी नहीं दी। अगर कांग्रेस ने ऐसी कोई हिदायत दी होती तो मुझे उसका पता होता। न तो मैंने और न कांग्रेस ने ही ऐसी हिदायतें जारी कीं।

प्रश्न—तो फिर आप तोड़-फोड़ और हिंसा के इन कामों को नापसन्द करते हैं ?

उत्तर—बिलकुल नापसन्द करता हूं। मेरे अनशन-काल में मुझसे जो भी मित्र मिले हैं, उन सबसे मैंने यही बात कही है। जो लोग हिंसा में विश्वास करते हैं, मैं उनका निर्णायक नहीं बनना चाहता। पर मैं उनसे यह जरूर कहूंगा कि वे स्पष्ट रूप से इस बात की घोषणा कर दें कि वे इन हिंसात्मक कार्यों को अपनी ही ओर से कर रहे हैं और इसलिए कर रहे हैं कि उनका हिंसा में विश्वास है। कांग्रेस के प्रति न्याय करने के लिए इन हिंसा और तोड़-फोड़ करनेवालों को यह बात बिलकुल स्पष्ट कर देनी चाहिए। वे मेरी सुनें तो मैं तो उन्हें सलाह दूंगा कि उन्हें अपने को पुलिस के हवाले कर देना चाहिए। केवल इसी प्रकार वे लोग देश के हित-साधन में सहायक हो सकते हैं। पर यदि कोई व्यक्ति कांग्रेस के ध्येय और मेरे तरीके में विश्वास नहीं रखता है तो उसे सभी संबद्ध लोगों के निकट यह बात स्पष्ट कर देनी चाहिए।

प्रश्न—यह कहा गया है कि आपने यह आंदोलन इस खयाल से शुरू किया कि मित्र-राष्ट्र हारनेवाले हैं और आपने इस आंदोलन के लिए ऐसा समय चुना जब मित्र-राष्ट्र कठिनाई में पड़े हुए थे और आप उनकी स्थिति से अनुचित लाभ उठाना चाहते थे।

उत्तर—इसमें सत्य का लेश भी नहीं है। आप 'हरिजन' में मेरे लेख पढ़ सकते हैं और मैंने यह जरूरत से ज्यादा स्पष्ट कर दिया है कि मेरा ऐसा इरादा कभी नहीं था।

प्रश्न—हां, मैंने आपके लेख 'हरिजन' में पढ़े हैं। मैंने तो यही पाया कि आप जर्मनी या जापान के पक्षपाती तो क्या, उलटे नात्सी-विरोधी और फासिस्ट-विरोधी हैं। यही बात है न ?

उत्तर—बिलकुल। नात्सीवाद और फासिस्टवाद के खिलाफ मुझसे अधिक कठोर शब्दों का व्यवहार और किसी ने नहीं किया है। मैंने तो नात्सियों और फासिस्टों को इस दुनिया की गन्दगी कहा है। जब मई १९४२ में मीरा बहन उड़ीसा में थीं तो मैंने उन्हें एक पत्र लिखा था। मैं उस पत्र की प्रतिलिपि तो

आपको नहीं दे सकता, क्योंकि मैं जेल में हूं; पर मुझे मालूम हुआ है कि मीरा-बहन ने उस पत्र की नकल भारत सरकार को भेजी है। आप सरकार से उसकी प्रतिलिपि मांग सकते हैं और अपनी तसल्ली कर सकते हैं। मैंने उस पत्र में विस्तृत-रूप से हिदायतें दी हैं कि जापानी भारत पर आक्रमण करें तो उनका प्रतिरोध किस प्रकार किया जाय। उस पत्र को पढ़ लेने के बाद कोई भी व्यक्ति मुझ पर नात्सीवाद या फासिस्टवाद या जापान से सहानुभूति रखने का आरोप नहीं लगा सकता।

प्रश्न—क्या स्थिति यह नहीं है कि अगर भारत स्वतंत्र हो जाय और राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो जाय तो कांग्रेस मित्र-राष्ट्रों के ध्येय की पूर्ति में सैनिक सहायता देने के लिए वचनबद्ध है ?

उत्तर—आपने जो निष्कर्ष निकाला है, वह बिलकुल ठीक है। इसमें कोई शक नहीं कि यदि भारत को स्वतन्त्र कर दिया गया तो राष्ट्रीय सरकार अपने समस्त सैनिक साधनों के साथ मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में लड़ेगी और हर संभव तरीके से मित्र-राष्ट्रों को सहयोग देगी।

प्रश्न—हां, कांग्रेस की नीति यही है। परन्तु आप तो शांतिवादी हैं। क्या आप मित्र-राष्ट्रों को सैनिक सहायता देने की कांग्रेसी योजना में बाधा नहीं डालेंगे ?

उत्तर—कदापि नहीं। मैं शांतिवादी हूं। किन्तु यदि राष्ट्रीय सरकार बनी और उसने मित्र-राष्ट्रों को सैनिक सहायता देने के आधार पर सत्ता की बागडोर संभाली, तो जाहिर है कि मैं बाधा नहीं डाल सकता, और न डालूंगा ही। मेरे लिए हिंसा के किसी काम में प्रत्यक्ष भाग लेना संभव नहीं होगा। पर कांग्रेस मेरी ही तरह शांतिवादिनी नहीं है और मैं स्वभावतया ही कांग्रेस के इरादों की पूर्ति में बाधा डालने वाला कोई काम नहीं करूंगा।

बापू जब आगाखां महल, पूना में नजरबन्द थे तो उनके इस निश्चय से, कि यदि वाइसराय और सरकार उन्हें और कांग्रेस को उनकी गिरफ्तारी के बाद के विद्रोह और तोड़-फोड़ के कामों की जिम्मेदारी से मुक्त नहीं करेगी तो वह २१ दिन का अनशन करेंगे, उनके मित्र घबरा गये। अब वह काफी वृद्ध हो गए थे, इसलिए इस संभावना ने कि सरकार उन्हें रिहा नहीं करेगी और अनशन करने देगी, हम सबको भयभीत कर दिया। श्री कन्हैयालाल माणेकलाल मुनशी ने, जो इस समय उत्तर प्रदेश के गवर्नर हैं, और मैंने तुरन्त एक प्रतिनिधि सम्मेलन, जो यथासंभव अधिक-से-अधिक प्रतिनिधित्वपूर्ण हो, बुलाने का निश्चय किया, जिससे सरकार को बापू को रिहा करने के लिए प्रेरित किया जा सके। तदनुसार हमने श्री राजगोपालाचार्य और सर तेजबहादुर सप्रू को संयुक्त तार भेजकर इनसे सम्मेलन में उपस्थित होने और आगे बढ़ाने का अनुरोध किया। वे राजी हो गये।

मेरा दिल्लीवाला मकान इतने बड़े सम्मेलन के लिए नाकाफी होता, इसलिए हम लोगों ने उसका अधिवेशन भारतीय व्यापारी संघ के अहाते में एक शामियाने में किया। हिन्दू, मुसलमान, सिख—सभी जातियों के प्रतिनिधि काफी संख्या में मौजूद थे। हम सबने वैधानिक और राजनैतिक सवालों को छुआ तक नहीं और जो प्रस्ताव अपनाये उनमें अपील का आधार शुद्ध मानवता को ही बनाया। पर सरकार का दिल नहीं पसीजा। सिंहावलोकन करने पर आश्चर्य होता है कि सरकार ने अपने सिर पर कितनी बड़ी जोखिम ले ली थी। गांधीजी की मृत्यु हो गई होती तो सारे देश में आग लग जाती और सरकार युद्ध-चेष्टा में सहायक होने के बजाय स्वयं ही अपने-आपको तोड़-फोड़ की कार्रवाई का दोषी सिद्ध करती। सरकार के भाग्य अच्छे थे कि गांधीजी जीवित रहे और उनका अनशन निर्विघ्न पूरा हो गया। सरकार की स्थिति सचमुच कठिन थी। उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह कांग्रेस को निर्दोष घोषित कर देती, जबकि वह वास्तव में उसे जिम्मेदार समझती थी। पर वह 'सांप मरा न लाठी टूटी' की नीति तो अपना सकती थी। वह यह कह देती कि अन्य किसी प्रश्न के सही या गलत होने पर विचार न करते हुए उसने केवल मानवता के आधार पर गांधीजी को रिहा करने का फैसला किया है। हमारी अपील का आधार भी यही था। वह अच्छी तरह जानती थी कि बापू का अपने अपने अनुयायियों का काया-पलट करने का दावा भले ही अतिरंजित हो, स्वयं बापू को हिंसा से घोर अरुचि है। ऐसी दशा में सरकार बापू के सिर पर थोड़ी-सी अप्रत्यक्ष जिम्मेदारी थोप सकती थी, और बस। वह खुले तौर पर पहले ही स्वीकार कर चुकी थी कि गांधी-जी ने शांतिमय वातावरण बनाये रखने में भारी सेवा की है।

बापू के विश्वस्त निजी मंत्री महादेवभाई का नजरबन्दी काल में ही देहा-वसान हुआ। प्यारेलाल और उनकी बहन डा० सुशीला का गांधीजी के साथ दीर्घकाल से संबंध था। अब महादेवभाई का स्थान प्यारेलाल ने लिया।

जब बापू रिहा हुए और मेरे लिए उनके साथ पुन: पत्र-व्यवहार करना संभव हुआ तो मैंने प्यारेलाल के साथ पत्र-व्यवहार करना शुरू किया। इसका कारण यह था कि मैं बापू का समय नहीं लेना चाहता था, हालांकि मैं उनके स्वास्थ्य के बारे में चिन्तित था और उनका पथ-प्रदर्शन प्राप्त करने को उत्सुक था।

दिलकुशा, पंचगनी
३१-७-४४

प्रिय घनश्यामदासजी,

बापू ने कुछ विदेशी पत्र-पत्रिकाएं नियमित रूप से मंगवाने का प्रबन्ध करने

को कह दिया है। मैंने श्री शांतिकुमार के पास निम्नलिखित सूची भेजी थी :

१. न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन
२. टाइम (अमेरिकन)
३. रीडर्स डाइजेस्ट
४. साप्ताहिक मैन्चेस्टर गार्जियन
५. साप्ताहिक टाइम्स
६. यूनिटी, और ७. एशिया।

उन्होंने लिखा है कि उन्होंने चेष्टा की, पर असफल रहे। क्या आप इन्हें मंगवाने का भार लेंगे ?

आपका
प्यारेलाल

७-८-४४

प्रिय प्यारेलाल,

तुम्हारा ३१ तारीख का पत्र मिला। तुमने जिन पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखा है, उन्हें मंगाने में कोई कठिनाई नहीं होगी। तुम्हें वे सब सीधे ही मिल जाया करेंगे। मैं आज ही अपने लन्दन और न्यूयार्क के दफ्तरों को आवश्यक कार्रवाई करने के लिए तार भेज रहा हूं। जब मिलने लगें तो मुझे सूचित कर देना।

यदि कोई लिखने योग्य बात हो तो मुझे सूचित करते रहा करो, जैसाकि महादेवभाई किया करते थे। जरूरत पड़ने पर अपनी निजी विचारधारा दे सकते हो।

मैं अभी बम्बई नहीं जा रहा हूं, पर मेहरबानी करके बापू से कह देना कि उन्हें मेरी जब कभी जहां कहीं, सेवाग्राम में या और किसी जगह, दरकार हो मैं आ जाऊंगा। मैं उन्हें इसलिए नहीं लिख रहा हूं कि उनके पास वैसे ही बहुत कुछ करने को है। इसलिए मैं उनकी डाक का बोझ अनावश्यक रूप से नहीं बढ़ाना चाहता। आशा है, केंचुए अब बिलकुल नहीं रहे होंगे।

तुम्हारा
घनश्यामदास बिड़ला

आगाखां महल से रिहा होने के बाद बापू तनिक भी प्रसन्न न थे। उनके सहकर्मी और साथी अभी जेल में ही थे, तिस पर पहले तो महादेव और बाद में बा आगाखां महल में ही उनसे बिछुड़ गये थे। बापू अनुभव करते थे कि या तो उनके साथियों की रिहाई होनी चाहिए या फिर उन्हें ही वापस जेल चले जाना चाहिए। इसी अवसर पर कुछ मित्रों ने, जिन्होंने मेरे परिवार के साथ बापू के संपर्क को सदैव अपनी ईर्ष्या का विषय बनाया था, यह आपत्ति उठाने की कृपा की कि जब कभी बापू दिल्ली या बम्बई जाते हैं तो बिड़ला-भवन में ही क्यों ठहरते हैं। जब यह बात बापू के कानों में आई तो उन्होंने बिड़ला-भवन का परित्याग

करने से साफ इन्कार कर दिया। वह अनेक वर्षों से जबतब वहीं ठहरते आ रहे थे। तब इन मित्र कहानेवाले सज्जनों ने यही दलील देकर बापू को बिड़ला-भवन में ठहरने से विरत करना चाहा कि आप शायद फिर गिरफ्तार हो जायं, इसलिए आपके लिए बिड़ला-परिवार के साथ अधिक घनिष्ठ संपर्क रखना उचित नहीं होगा। आप पहले भी बिड़ला-भवन में ही गिरफ्तार हुए थे, इसलिए बिड़ला-परिवार की सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है।

जब बापू ने इस विषय की पूना में मुझसे चर्चा की तो मैं आश्चर्यचकित रह गया। मैंने बापू से साफ-साफ कह दिया कि खतरा चाहे जैसा हो, आपके साथ संपर्क बनाए रखने में कोई जोखिम उठाने का प्रश्न हो तो मैं उससे बचने के लिए अपनी जिम्मेदारी का परित्याग करने की एक क्षण के लिए भी कल्पना नहीं कर सकता। पर बापू ने आग्रह करके मेरे भाई रामेश्वरदास को बम्बई में निम्नलिखित पत्र भेजा। रामेश्वरदास ने भी अपने उत्तर में वही बात कही जो मैंने कही थी :

सेवाग्राम, वर्धा
१२-८-४४

भाई रामेश्वरदास,

बहुत दिनों से लिखने की इच्छा हो रही थी, लेकिन लिखने का समय ही नहीं मिला। अब तो लिखना ही चाहिए। जिन्ना साहेब का खत किसी भी वक्त आ सकता है। मैंने तो लिखा है कि ३-४ दिन की मुद्दत मिलनी चाहिए। मुझपर बहुत दबाव डाला जाता है कि मैं बिरला हाउस में तो हरगिज न रहूं। मैंने साफ-साफ कह दिया है कि मैं बिना कारण बिरला हाउस का त्याग नहीं कर सकता हूं। प्रश्न तो इसी कारण खड़ा होता है कि कोई भी संजोगवशात् मेरा वहां रहना अनुचित माना जाय तो बगैर संकोच के मुझे कह देना। यह प्रश्न पूना में ही उठा था और उस वखत तय हुआ था कि तुम्हारे तरफ से संकोच की कोई बात हो नहीं सकती। मुझे याद नहीं उस वखत तुम थे या नहीं। बात घनश्यामदास से हुई थी। लेकिन सावधानी के कारण आज तुमको हर प्रकार से सुरक्षित रखने के कारण जब मुझे मुम्बई जाने का समय नजदीक आ रहा है तो पूछ लेना धर्म हो गया है।

दूसरी बात अधिक अगत्य की है, लेकिन समय की दृष्टि से इतनी अगत्य की नहीं जितनी मुम्बई निवास की है। अगर मेरी गिरफ्तारी होने वाली ही है तो उसके पहले जो कार्य मुझे करने चाहिए उसे मैं कर सकूं तो एक प्रकार का संतोष मिलेगा। तालीमी संघ का कार्य बहुत अच्छा है, ऐसा मेरा विश्वास है। उसके लिए १/२ (आधा) लाख रुपये का प्रबन्ध कर लेना चाहता हूं।

मीराबहन के लिए रुपये दान में मिले थे वह वापस देना चाहता हूं। वह

उसे वापस देने का धर्म हो गया है। इसका बोझ यों तो सत्याग्रह आश्रम कोश पर पड़ना चाहिये। थोड़े पैसे हैं भी सही। लेकिन नारायणदास ने रचनात्मक कार्य में रोक लिये हैं। उसमें से निकल तो सकते हैं लेकिन उस कार्य को हानि पहुंचा करके ही निकाल सकता हूं। हो सके तो उस कार्य में हानि पहुंचाना नहीं चाहता हूं। इसमें शायद आधा लाख तक पहुंच जाता हूं। ठीक रकम कितनी देनी है वह मुझे पता नहीं चला है। वर्षों से जो रकम आती रही वह दानों में लिखी है, उसे निकालने में कुछ देर लगती ही है। आश्रम की सब किताबें इधर-उधर पड़ी हैं। अच्छी तरह रखे हुए चौपड़े में से भी ऐसी रकमों को चुन लेना घास में गिरी हुई सुई को ढूंढ़ लेना-सा हो जाता है। तब भी मैंने लिख दिया है कि वह सारा हिसाब निकाला जाय।

कुछ फुटकर खर्च पड़ा है। इसका कुछ करना आवश्यक है। इसमें कुछ १/२ (आधा) लाख चला जायगा। मैंने ठीक-ठीक हिसाब निकाला नहीं है।

क्या इतनी रकमें आराम से दे सकते हैं? इसका उत्तर नकार में भी बगैर संकोच दिया जा सकता है। मेरे सब कार्य ईश्वराधीन रहते हैं। ईश्वर अगर वह कार्य रोकना नहीं चाहता है तो किसी-न-किसी को अपना निमित्त बनाकर मुझको हुण्डी भेज देता है। तो न मिलने से मैं न ईश्वर से रूठूंगा न तुमसे। जिस वृक्ष के नीचे मैं बैठता हूं उसी वृक्ष का छेदन आजतक नहीं किया, ईश्वर की कृपा होगी तो भविष्य में भी नहीं होगा।

तुम सबका स्वास्थ्य अच्छा होगा। यह पत्र चि० जगदीश के मारफत भेजता हूं। वह यहां भाई मुनशी का खत लेकर आया है। डाक से क्या भेजा जाय, क्या न भेजा जाय, इसका निर्णय करना मुश्किल हो जाता है।

बापू के आशीर्वाद

जिन्ना अपनी जिद पर अड़े हुए थे। उनके साथ बापू की निष्फल मुलाकात के कुछ ही पहले मुझे एक पत्र मिला। जिन्ना के साथ होनेवाली मुलाकात के विरोध में जिस उग्रता के दर्शन हो रहे थे और स्वयं बापू के प्रति विरोध की जो भावना दिखाई दे रही थी, सो सब उनकी उस मृत्यु का पूर्वाभास-मात्र था, जिसका उन्हें अन्त में धर्मोन्मत्त हिन्दुओं के हाथों शिकार होना पड़ा था।

बम्बई

९ सितम्बर, १९४४

प्रिय घनश्यामदासजी,

मुझे आपका ३ सितम्बर का वह पत्र मिला जिसमें आपने 'स्पेक्टेटर' के कटिंग भेजे हैं। तदर्थ धन्यवाद। बापू ने तीनों कटिंग देख लिये हैं। मेरे पास होरेस

एलेक्जेण्डर की पुस्तक भी थी। मैं आवश्यक कार्रवाई करूंगा।

आपने समाचार-पत्रों में सेवाग्राम में धरना देने वालों के कारनामे पढ़े ही होंगे। वैसे उनके नेता ने पहले ही दिन साफ-साफ कह दिया था कि यह तो पहला कदम है और आगे जरूरत पड़ी तो बापू को कायदे आजम से मिलने जाने से रोकने के लिए बल का भी प्रयोग किया जायगा। पर जहांतक हमारा संबंध है हम इस सारे व्यापार को कौतुक-मात्र समझते आ रहे थे। कल उन्होंने सूचना दी कि वे गांधीजी को अपनी कुटिया छोड़ने से वलात् रोकेंगे। साथ ही उन्होंने कुटिया के तीनों द्वारों पर धरना बैठा दिया।

आज प्रातःकाल मुझे पुलिस के डिप्टी सुपरिन्टेन्डेंट का टेलीफोन मिला कि धरना देनेवाले उत्पात पर उतारू हैं, इसलिए पुलिस को कार्रवाई करने को बाध्य होना पड़ेगा। बापू का विचार था कि वह वर्धा की ओर पैदल चल पड़ेंगे और जबतक धरना देनेवाले ही उनसे गाड़ी में बैठने के लिए न कहेंगे, इसी प्रकार चलते रहेंगे। यात्रा का समय दोपहर के १२ बजे का था। इस समय के कुछ ही देर पहले डिप्टी सुपरिन्टेन्डेंट ने आकर बताया कि पुलिस ने धरना देनेवालों को चेतावनी देने के वाद, यह देखकर कि समझाने-बुझाने से कोई लाभ नहीं होगा, उन्हें गिरफ्तार कर लिया। आपको शायद यह तो पता होगा ही कि आजकल वर्धा जिले में किसी प्रकार के जुलूस निकालने या प्रदर्शन करने का निषेध है।

धरना देनेवालों का अगुआ उत्तेजित हो जाने वाला धर्मान्ध व्यक्ति दिखाई पड़ा और उससे कुछ चिन्ता उत्पन्न हो गई। जब गिरफ्तार करने के बाद तलाशी ली गई तो उसके पास से एक लम्बा-सा छुरा मिला।

जिस पुलिस अफसर ने गिरफ्तार किया था उसने व्यंग्यात्मक लहजे में कहा कि कम-से-कम तुम्हें तो शहीद बनने का सन्तोष रहेगा। फौरन उत्तर मिला कि न, यह तो तभी होगा जब कोई गांधीजी की हत्या करेगा। उक्त पुलिस अफसर ने प्रफुल्लतापूर्वक कहा कि यह मामला नेताओं के हाथों में क्यों नहीं छोड़ देते, वे ही आपस में निपट लेंगे। उदाहरण के लिए सावरकर यहां आकर बातचीत कर लें। उत्तर मिला कि गांधीजी इतने बड़े सम्मान के योग्य नहीं हैं। इस काम के लिए तो एक जमादार काफी होगा।

बापू आश्रमवासियों के साथ गंभीर विचार-विनिमय कर रहे हैं। उन्होंने सलाह दी है कि यदि आश्रमवासी परीक्षा के अवसर पर आजमाइश में पूरे उतरने लायक संगठन करने में असमर्थ हों तो आश्रम का अन्त कर देना चाहिए। बापू की राय है कि आश्रम की वर्तमान असफलता का कारण आश्रम में उनकी उपस्थिति है। इसलिए यदि आश्रम का पुनर्गठन करने के पक्ष में निश्चय किया गया तो वह या तो सेवाग्राम वाले बिड़ला हाउस में चले जायेंगे या वर्धा। उन्होंने अखिल भारतीय चरखा संघ में आमूल परिवर्तन करने के संबंध में जो सुझाव दिया

है सो आपने देखा ही होगा। मैंने उसे छपने भेज दिया है। उसे ध्यानपूर्वक पढ़िये। उसके बाद कुछ नई बातें हो गई हैं, इसलिए पहले से यह कहना कठिन है कि ऊंट किस करवट बैठेगा।

भवदीय
प्यारेलाल

इस पत्र से मैं इतना चिन्तित हुआ कि मैंने उत्तर में एक्सप्रेस तार भेजा :

मेरी सलाह है कि सेवाग्राम में पिकेटिंग करनेवालों के संबंध में समाचार-पत्रों को सही-सही खबर दी जाय। यह आवश्यक है कि जनता को जानकारी हो।

घनश्यामदास
१३-६-४४

किन्तु बापू ने ऐसा करने की इजाजत नहीं दी।

बिड़ला हाउस
माउण्ट प्लेजेण्ट रोड
बम्बई
१६ सितम्बर, १६४४

प्रिय घनश्यामदासजी,

आपका तार मिल गया था। बापू का कहना है कि इस कांड से गहरा संबंध रखने वाली बातें अभी प्रकाशित नहीं की जा सकती हैं, क्योंकि अभी मामला कायदे-कानून की दृष्टि से विचाराधीन है।

मैं कायदे-कानून की बात जान-बूझकर कह रहा हूं, क्योंकि पुलिस के डिप्टी सुपरिंटेन्डेंट का, जो मुझसे मिला था, विचार है कि धरना देनेवालों को बापू की सेवाग्राम वापसी तक रोक रखा जाय, जिससे उनकी वापसी पर उपद्रव को नये सिरे से शांत न करना पड़े।

बातचीत सहजरूप से चल रही है। शुरू-शुरू में दिन में दो बार मुलाकात होती थी, अब केवल एक बार सन्ध्या को होती है, क्योंकि प्रातःकाल का समय डा० दिनशा के लिए निकाल दिया गया है, जो कायदे आजम का उपचार करते हैं।

आपके दोनों तार मिल गये। मैंने रामेश्वरजी को सारी बातें समझा दी हैं।

वह फोन पर बात कर लेंगे।

भवदीय
प्यारेलाल

पुनश्चः—बापू ने भी आपके दोनों तार देख लिये हैं। उनका उत्तर तार द्वारा आपके पास भेजा जा रहा है, जो इस प्रकार है :

"मेरी एकान्त इच्छा है कि तुम मसूरी जाओ। मुझे तुम्हारी दरकार होगी तो वहां प्रवास की अवधि कम कर देना।"

प्यारेलाल ने ६ दिसम्बर, १९४४ को भविष्यवक्ता के-से लहजे में लिखा :

"बापू इस महीने के अन्त में यथापूर्व कामकाज शुरू कर देने की आशा करते हैं। हमको भी ऐसी ही आशा रखनी चाहिए, पर मेरी राय है कि भविष्य में उनके काम के क्षेत्र और स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन होना चाहिए। उन्हें अब इंजन-चालक के बजाय केवल झंडी दिखाने वाले का ही काम करना चाहिए। वह विचार दें और नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रभाव से मार्ग आलोकित करें। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि उनके पथप्रदर्शन की किसी भावी अवसर पर इतनी अधिक दरकार होगी कि हम आज उसकी कल्पना तक नहीं कर सकते। उनके हाथों अभी और भी महान कार्य होने वाले हैं। अपनी और दुनिया की खातिर उन्हें अपनी शक्ति को अच्छे-से-अच्छे ढंग से संचित करके रखना चाहिए।

राजाजी आज जा रहे हैं। मैं चाहता हूं कि उनके जैसा कोई आदमी बापू के पास रह सके। बापू अपनी तमाम अनासक्ति के बावजूद अत्यधिक मानव हैं और पुराने नेताओं में से किसी एक की निकट उपस्थिति का महत्त्व कम नहीं आंका जा सकता। बापू को जिस प्रकार के आध्यात्मिक एकान्त में रहना पड़ रहा है, वह भयकारक है। यह ठीक है कि उनके इस एकान्त को उनकी विशालता से अलग नहीं किया जा सकता। पर उसकी कठोरता को कम करने के लिए तो कुछ-न-कुछ किया ही जा सकता है।"

२५. भारत के मित्र

यह पुस्तक भारत के आधुनिक इतिहास-निर्माण-कार्य में एक तुच्छ-सा योगदान मात्र है। इसके रचना-कार्य के दौरान उन कतिपय विदेशियों का उल्लेख करना, जो भारत की स्वतन्त्रता के लिए सचेष्ट रहे और उसमें योगदान करते रहे, उचित ही होगा। वैसे अमरीका में और अन्य देशों में भी सहानुभूति रखनेवालों की कमी नहीं थी, पर उनकी चेष्टाएं उतनी फलदायिनी सिद्ध नहीं हुईं। ब्रिटेन अधिक ठोस काम कर सका, जो कि स्वाभाविक ही था। यदि विश्वलोकमत विशाल रूप धारण कर सके तो उसकी प्रभावोत्पादकता असंदिग्ध है। किन्तु हस्तक्षेप के प्रयत्नों से ब्रिटिश प्रतिरोध की मात्रा में वृद्धि ही हुई। इसका एक उदाहरण हमारे पक्ष में अमरीकी राजदूत फिलिप्स का सदाशयतापूर्ण हस्तक्षेप है। प्रेसिडेंट रूजवेल्ट और श्री चर्चिल के बीच घनिष्ठता थी, पर इस हस्तक्षेप का एकमात्र परिणाम यही हुआ कि श्री चर्चिल का रुख और भी कड़ा होता दिखाई दिया।

हमारे अंग्रेज मित्र दो श्रेणियों में बंटे हुए थे, एक श्रेणी ब्रिटेन में थी और दूसरी भारत में। ब्रिटेन-स्थित मित्रों की भी श्रेणियां थीं। कुछ लोग मुख्यतः कर्त्तव्य की सम्मानास्पद भावना से प्रेरित थे और समझते थे कि उन्हें समय के साथ चलना चाहिए। कट्टर विचार वाले व्यक्तियों की बात दूसरी है, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि मैकाले के जमाने से ही ब्रिटिश पार्लमेंट की यह घोषित नीति रही है, और कुल मिलाकर ब्रिटिश जनता का भी यही एकमात्र राष्ट्रीय कार्यक्रम बना रहा है कि भारतीयों को उत्तरोत्तर अपना शासन-कार्य स्वयं चलाने की कला सीखनी चाहिए, और सो भी जल्दी-से-जल्दी। लार्ड हेलीफैक्स ने एक बार कहा था कि ब्रिटिश जनता का लक्ष्य इसके अलावा और कोई हो ही नहीं सकता। सर सेम्युअल होर और उनके अधिकांश अनुदार दलीय साथी इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित थे। उन्होंने श्री एटली और विपक्षी दल की मदद से और अपने ही दल के अनेक सदस्यों की इच्छा के विरुद्ध, भारतीय शासन-विधान पार्लमेंट में पास कराया।

किन्तु शासकवर्ग में ऐसे भी व्यक्ति थे, जो केवल अपने सम्मान और कर्त्तव्य की भावना से ही नहीं, बल्कि धार्मिक विश्वासों और मानवजाति के प्रति प्रेम की भावना से भी प्रेरित थे। उनकी इन भावनाओं ने उनके मन में भारत के प्रति गहरी सहानुभूति जाग्रत कर दी थी और वे हर्षपूर्वक हमारी भावी स्वतन्त्रता की बाट जोह रहे थे। इनमें लार्ड हेलीफैक्स का प्रमुख स्थान था। वह अनुदार दलीय वाइसराय थे और बाद में ब्रिटेन के मंत्री रह चुके थे। दूसरे लार्ड लोदियन थे, जो नरम दल के सदस्य थे और मिली-जुली सरकारों में भारत के उपसचिव और

ब्रिटेन के मंत्री रह चुके थे। बापू और इन दोनों के बीच सच्ची मित्रता हो गई थी। वैसे वापू व्यक्तिगत सम्पर्क के लिए उत्सुक रहते थे, पर जब मैंने उन्हें चर्चिल के साथ अपनी मुलाकात का हाल लिखकर भेजा, जिसमें मेरी प्रेरणा पर चर्चिल की भारत-यात्रा सम्बन्धी तत्परता की चर्चा थी, तो बापू को विशेष उत्साह नहीं हुआ। वापू ने मुझे साफ बता दिया कि जहां तक उनका संबंध है, वह श्री चर्चिल को कोई निमन्त्रण या प्रोत्साहन नहीं देंगे। उन्होंने कहा कि लार्ड लोदियन की बात दूसरी है, वह उनके भारत-आगमन की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करेंगे। लार्ड लोदियन का भारत-आगमन बहुत सफल रहा और उससे हम सबको बड़ी खुशी हुई। वह दिल्ली में और अन्यत्र मेरे अतिथि रहे। जब वह वर्धा गये तो उन्होंने बापू के अतिथि के रूप में सेवाग्राम आश्रम के सादे जीवन को अंगीकार किया।

कुछ अन्य मित्र थे, खास तौर पर क्वेकर लोग, जो अपनी धार्मिक भावनाओं के कारण बापू के अहिंसा-व्रत के प्रति सहानुभूति रखते थे। भारत में उनकी श्रेणी में मिशनरियों को रखा जा सकता था। इन मिशनरियों में से अधिकांश ने, चाहे वे अंग्रेज रहे हों चाहे अमरीकी, हमारे साथ सहानुभूति दिखाई। केथोलिक मिशनरियों को शायद अपवादस्वरूप मानना होगा। वे लोग अधिकतर लैटिन देशों के थे। उनके निजी विचार चाहे जो रहे हों, उन्होंने अपना कोई राजनैतिक मत प्रदर्शित नहीं किया। मजदूर-दल के प्रायः सभी संसदीय सदस्यों ने, और सभी श्रमजीवी संस्थाओं ने, सहानुभूति प्रदर्शित की। जब युद्ध समाप्त हो गया तो बहु-आलोचित साइमन-कमीशन के भूतपूर्व सदस्य श्री एटली को ब्रिटेन के वादों को पूरा करने का गौरव प्राप्त हुआ। सर्वसाधारण लोगों में पादरी सोरेनसन और श्री फेनर ब्राकवे के नाम उल्लेख योग्य हैं। उन्होंने कभी-कभी जानकारी के अभाव का परिचय अवश्य दिया, पर उसकी पूर्ति उन्होंने अपनी लगन से की। विरोध उन्हीं लोगों की ओर से होता था, जिनका अंग्रेजी प्रभुत्व में निहित स्वार्थ था। यह स्वाभाविक भी था। इंगलैंड में बड़ी-बड़ी व्यापारिक संस्थाएं थीं, जिन्होंने औपनिवेशिक व्यापार के द्वारा खूब धन कमाया था। भारत सुई से लगाकर जहाजों तक हर किस्म के तैयार माल के लिए एक विस्तृत बाजार बना हुआ था और कभी-कभी तो इन पदार्थों के लिए कच्चा माल मुख्यतः भारत से ही जाता था। उदाहरण के लिए, रुई ब्रिटिश जहाजों में लदकर लंकाशायर जाती थी और उसका ही कपड़ा बनकर भारत आता था, जिसकी खपत का यहां कोई अंत न था। फिर, ब्रिटेन के उच्च और मध्यम वर्ग के ऐसे असंख्य परिवार थे, जिनके मुखियों ने भारत में सेना, सिविल सर्विस या और किसी हैसियत से नौकरी की थी। उन्होंने मौज की जिन्दगी गुजारी थी, कुछ रुपया भी बचाया था और अच्छी पेंशन लेकर चेल्टनहम, केम्बरले और बेडफोर्ड में जाकर डेरा जमाया था। ये लोग भारत को अपनी सन्तान के लिए एक मौरूसी जायदाद समझने लगे थे।

भारत में भी उनकी प्रतिमूर्त्तियां मौजूद थीं। वैसे भारतीय सिविल सर्विस इंग्लैंड से आये हुए आदेशों का वफादारी के साथ पालन करती थी और भारत में संसदीय संस्थाओं के विकास का प्रयत्न ईमानदारी के साथ करती थी, पर उसमें ऐसे लोगों का अभाव नहीं था, जो उन आदेशों के प्रति अपनी खालिस नापसंदगी को छिपाते नहीं थे। वे अपने को हमारे लिए आवश्यक फौलादी सांचा मानते थे और उन्हें हमारी शासन करने की योग्यता पर विश्वास न था। इसका कारण यह था कि उन्हें हम पर हुकूमत करना अच्छा लगता था। भारतीय सेना और जल-सेना को इसका सम्मानास्पद अपवाद कहा जा सकता है। ये अपने को राजनीति से अलग रखे हुए थीं। इन सेनाओं में अफसरों और सैनिकों के बीच सच्चा भाई-चारा था, क्योंकि युद्ध में दोनों को समान रूप से जीवन की बाजी लगानी पड़ती थी और वे सभी एक-दूसरे पर निर्भर करते थे।

व्यापारी हलकों में निहित स्वार्थ भी उसी प्रणाली का अनुसरण करते थे। बैंक, बीमा और जहाजरानी के व्यवसायों पर अंग्रेजों का अधिकार समझा जाता था। स्काटलैण्ड के कुछ खास परिवारों ने पटसन के व्यापार पर एकान्त अधिकार कर रखा था। बंगाल के खेतों और हुगली मिल से लगाकार डंडी पहुंचने तक सारे व्यापार और धंधे पर उन्हीं का इजारा था। उन्होंने बेशुमार धन कमाया था और वे यह आशा करते थे कि उनके बच्चे भी उन्हीं के पद-चिह्नों का अनुसरण करेंगे। बड़े शहरों में बड़ी-बड़ी मैनेजिंग एजेन्सी फर्मों का विकास हुआ और उनका जाल सारे भारत में छा गया। इस वर्ग के प्रायः सभी लोग शक्तिशाली विरोधी थे। वे ब्रिटिश प्रभुत्व के पक्के हिमायती प्रतीत होते थे। हां, इतना अवश्य है कि जब ब्रिटिश सरकार ने लार्ड माउन्टबैटन को अपना अन्तिम वाइसराय बनाकर भारत भेजा और अपने भावी इरादों को साफ तौर से जाहिर कर दिया तो उन्होंने अपने विरोध का अन्त यथासम्भव मृदुलता के साथ कर दिया। उन्होंने जल्दी ही दिखा दिया कि वे अपने को नये सांचे में ढाल लेने की क्षमता रखते हैं।

पर इन सुविधा-भोगी क्षेत्रों में भी सदा उल्लेखनीय अपवाद मौजूद रहे हैं। उदाहरण के लिए, इंग्लैंड में लार्ड डरबी को मैंने न्यायप्रिय, पक्षपातशून्य और बिलकुल दम्भरहित व्यक्ति पाया, हालांकि प्रादेशिक आधार पर लंकाशायर उनसे अधिक पक्षपात की आशा कर सकता था। हम भारतवासियों को याद है कि कांग्रेस की स्थापना अंग्रेजों ने की थी, जिनमें कलकत्ते के स्काट व्यापारी एण्ड्र्यू यूल का स्थान प्रमुख था। भारतीय सिविल सर्विस के सर हैनरी काटन उन पुराने दिनों के मित्रों में से थे। पत्रकार जगत् में राबर्ट नाइट का नाम आता है, जिन्होंने १९वीं शताब्दी में 'टाइम्स आफ इंडिया' की और बाद में 'स्टेट्समैन' की स्थापना की। ये भी भारत के पक्के हिमायती थे। इसमें सन्देह नहीं कि और भी अनेक ज्ञात और अज्ञात सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति मौजूद थे। जब बापू ने हमें उठाकर

खड़ा किया, हमारे स्वाभिमान में वृद्धि की और हमें अपने पांवों पर खड़े होना सिखाया तो इन मित्रों की संख्या में खूब वृद्धि हुई। लायड जार्ज ने 'नरम हिन्दू' के विशेषण को जन्म दिया और इस नरमी ने कहावत का रूप धारण कर लिया। किन्तु जब अंग्रेजों ने देखा कि नरमी की भी एक सीमा होती है तो वे लोग हमारा अपेक्षाकृत अधिक सम्मान करने लगे।

२६. गतिरोध

गतिरोध का प्रारम्भ युद्ध के पहले हेमन्त में कांग्रेसी मंत्रियों के त्यागपत्र से हुआ, पर इससे वाइसराय और राष्ट्र-नेता के सम्बन्ध तुरन्त ही नहीं टूट गये। दोनों में सद्भावनापूर्ण पत्रव्यवहार का सिलसिला जारी रहा, दोनों हृदय से ही कोई-न-कोई समझौता ढूंढ़ निकालने के लिए सचेष्ट रहे और बीच-बीच में मिलते भी रहे। पर दोनों और संदेह की जड़ मजबूत होती गई। संदेह से संदेह पैदा होता है और किस पक्ष ने संदेह का प्रारम्भ किया, इसका निर्णय करना आसान काम नहीं है। उस संदेह का जन्म ब्रिटिश पार्लमेंट में अथवा भारत के बाहर के अंग्रेजों में नहीं, स्वयं भारत में ही रहने वाले अंग्रेजों में हुआ और इसका इतिहास पुराना है। वे लोग अपनी सुविधा-भोगी स्थिति की रक्षा करने के लिए हमेशा चौकन्ने रहते थे। वे व्यापारी होने के नाते राजनीति से अपने को अलग रखने का दिखावा करते थे और व्यवस्थापिका सभाओं तक में महत्त्वपूर्ण विवादग्रस्त विषयों पर कोई खास पक्ष लेने से बचते थे, पर हमारी संख्या का भूत उन्हें बराबर सताता रहता था। उनकी कल्पना थी कि वे मुट्ठी-भर होते हुए भी जो इस अभागे जन-समुदाय के बीच चैन की बंसी बजा रहे हैं, सो किसी मोहिनीमंत्र के चमत्कार से ही। पर निर्धन जनता की जनसंख्या जिस तेजी से बढ़ रही थी, उससे यह साफ जाहिर था कि इन लाखों-करोड़ों का समूह अन्त में अरबों का समूह बन जायेगा। इसमें संदेह नहीं कि इस जन-समुदाय के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने की समस्या को अंग्रेजों ने जन्म नहीं दिया था। अलबत्ता उन्होंने शांति को अवश्य जन्म दिया और न यह समस्या अंग्रेजों के चले जाने से ही हल हो जाती। अवस्था विषम थी। जो गैर-सरकारी अंग्रेज आबादी साधारणतया इतनी मस्त दिखाई देती थी (भारतवासी इस मस्ती में हद दर्जे के छिछोरेपन के दर्शन करते थे, क्योंकि अभी भारतीय सामाजिक क्षेत्र में स्त्रियों ने पदार्पण नहीं किया था), उसी में १८५७ के बाद से अचानक त्रास की लहर दौड़ जाती थी। जहां कोई अफवाह उड़ी कि

बड़े दिन पर अथवा अमुक दिन गदर होने वाला है कि सबके रोंगटे खड़े हुए और उन्होंने इस काल्पनिक भय से सशंकित होना शुरू किया कि सबको सोते-सोते मौत के घाट उतार दिया जायगा। वे अपने-आपसे प्रश्न करते कि मोहिनी का चमत्कार कबतक बना रहेगा ?

दूसरी ओर हम भारतवासी, जिनमें बापू भी शामिल थे, आवश्यकता से अधिक शंकाशील हो गये थे। अधिकांश भारतवासी अंग्रेजों को उन्हीं लोगों द्वारा जानते थे, जिनके सम्पर्क में आने का या जिनके साथ व्यवहार करने का उन्हें भारत में अवसर मिलता था। ये लोग अपने देशवासियों के अच्छे-खासे और औसत दर्जे के नमूने होते थे और कुछ तो औसत से भी काफी ऊंची कोटि के होते थे, पर होते थे आवश्यकता से अधिक सुविधा-भोगी। फलतः उन्हें अपने बचाव की ही चिन्ता रहती थी। दुर्भाग्यवश अंग्रेजों के आने के पहले हमारे देश में पारस्परिक संदेहों और षड्यंत्रों का अभाव था, और देश निरंकुश राजाओं द्वारा शासित अनेक टुकड़ियों में बंटा हुआ था। ऐसी अवस्था में हममें से अधिकांश के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे अपने नये अंग्रेज प्रभुओं को संदेह की दृष्टि से देखते और उनके इरादों को बुरा समझते। आम जनता उन्हें निरंकुश समझती थी। उसने लोकतंत्रीय संस्थाओं का नाम तक नहीं सुना था।

बापू स्वयं मूलतः इस नियम के आश्चर्यजनक अपवाद थे। बचपन से ही, और युवावस्था में भी, उन्हें शक्कीपन छू तक नहीं गया था। वस्तुतः वह जन्म-जात सत्यवादी थे। बचपन के उस लुकाव-छिपाव की जड़ में भी, जिसका उन्होंने अपने आत्म-चरित में इतनी सचाई के साथ उल्लेख किया है, उनका यह सरल विश्वास काम कर रहा था, कि जो साथी धूम्रपान और मद्यपान करने या नियम तोड़ने की सलाह देते हैं, सच ही कहते होंगे कि इसमें कोई हानि नहीं है। इन प्रभावों से उनकी रक्षा स्वयं उन्हीं की स्नेहशील प्रकृति ने की। वह मातृ-भक्त थे और उन्होंने महसूस किया कि वह बुरे संसर्ग में रहेंगे तो उनकी मां का दिल टूट जायगा।

यह युवक कानून का अध्ययन करने इंगलैंड गया, भारत वकालत करने लौटा और वकील की हैसियत से ही दक्षिण अफ्रीका गया पर बराबर असाधारणतया स्पष्टवादी, निर्दोष और शंकारहित बना रहा। वास्तव में गांधीजी उस समय अंग्रेज-भक्त थे। उन्होंने अंग्रेजों को उन्हीं के देश में अच्छी निगाह से देखना सीखा था और उनका विश्वास था कि उनके सम्पर्क से अन्त में भारत में भी वैसी ही लोकतन्त्रीय संस्थाओं का विस्तार हो सकेगा। इसलिए जब वह बोअर युद्ध के समय दक्षिण अफ्रीका में थे तो उनकी सहानुभूति किस पक्ष के साथ है, इस बारे में कभी कोई शक पैदा नहीं हुआ और हम यह मानकर चल सकते हैं कि उस दूरवर्तीकाल में भी उनकी अन्तरात्मा ने उन्हें बता दिया होगा कि दक्षिण अफ्रीका

में उनके मुख्य विरोधी अंग्रेज नहीं, बल्कि 'अफ्रीकान्डर' कहलाने वाले डच प्रवासी सिद्ध होंगे, ठीक जिस प्रकार बाद में ब्रिटेन में उनका सबसे कड़ा विरोध उपनिवेश प्रवासी अंग्रेजों ने किया। किन्तु समय पर आशा पूरी न होने से दिल टूट जाता है। प्रत्येक अवसर पर अंग्रेज-प्रवासियों ने (कुछ सम्मानास्पद अपवाद तो हमेशा ही रहे) स्वशासन की दिशा में भारत की प्रगति का विरोध किया और वे सुधार की गति को मंद बनाने में इतने सफल हुए कि अन्त में बापू को पूरा संदेह होने लगा। उन्होंने प्रथम विश्व-युद्ध में ब्रिटेन का समर्थन करना जारी रखा, पर फिर एक ऐसा मोड़ आया कि उसके बाद से संशयशीलता ने एक टेव का रूप धारण कर लिया। इस कायापलट का श्रेय रौलट कानून को है। यह कायापलट जिस चीज को लेकर हुआ उसे ध्यान में रखा जाय तो ऐसा प्रतीत होगा मानो बापू ने भारतीय राष्ट्रीयता की दीर्घकालीन वकालत के दौरान में अंग्रेजों की उन विशेषताओं को भुला दिया था, जिनसे वह काफी परिचित हो चुके थे। सरकार ने रौलट कानून के द्वारा सम्भावित संकटकालीन अवस्था का सामना करने के लिए ही विशेषाधिकार अपने हाथ में लिये थे। उनका एक बार भी उपयोग नहीं किया गया और आज स्वतन्त्र भारत की सरकार उन सब अधिकारों को अपने हाथों में रखना आवश्यक समझती है और उसे साम्यवादियों के खिलाफ उनका उपयोग भी करना पड़ा है।

इस समय वाइसराय के साथ अपनी बातचीत के दौरान बापू ने औपनिवेशिक स्वराज्य शब्द पर घोर आपत्ति की। आगे के वर्णन में उनके विचारों पर प्रकाश पड़ेगा। १२ जनवरी, १६४० को मैंने महादेवभाई को लिखा :

"मैं नहीं जानता कि हम औपनिवेशिक दर्जे (डोमिनियम स्टेट्स) और स्वतन्त्रता में अनावश्यक भेद क्यों पैदा करना चाहते हैं। हम ब्रिटेन से सम्बन्ध तोड़ना भी चाहेंगे तो वेस्टमिन्स्टर विधान के नमूने का औपनिवेशिक दर्जा प्राप्त करने के बाद भी ऐसा कर सकते हैं। हम ब्रिटेन से क्यों कहें कि वह हमसे नाता तोड़ दे? अगर हम नाता तोड़ना चाहेंगे तो, जब हमें ऐसा करने की आजादी मिल जायगी उस समय, उसकी जिम्मेदारी हम खुद अपने ऊपर ले सकते हैं। यदि हम वैसी अवस्था में सम्बन्ध तोड़ेंगे तो मतदाताओं की पूर्ण सहमति के साथ ही ऐसा करेंगे। राष्ट्रमंडल से हमें अलग करने के लिए ब्रिटेन से कहने का यह अर्थ होता है कि हम ब्रिटेन से कुछ ऐसा काम करने को कहते हैं जिसे करने का अधिकार हमारे मतदाताओं को होना चाहिए। वास्तव में ब्रिटेन ठीक ही यह कह सकता है, "हम जिम्मेदारी क्यों लें? जब आपको औपनिवेशिक दर्जा मिल जाय तो आप चाहें तो सम्बन्ध तोड़ सकते हैं।" और मेरी समझ में उनका ऐसा करना बिलकुल तर्कसंगत होगा।"

और १४ तारीख को बापू ने वाइसराय को लिखा :

"मैंने आपका बम्बई का भाषण एक से अधिक बार पढ़ा। पर यह पत्र मैं आपके सामने अपनी कठिनाइयां रखने के लिए लिख रहा हूं। वेस्टमिन्स्टर विधान के अर्थ में औपनिवेशिक दर्जे और स्वतन्त्रता का पर्यायवाची माना जाता है। यदि यही बात है तो आप ऐसे वाक्य का प्रयोग क्यों न करें, जो भारत की स्थिति के अनुरूप हो ?"

१५ तारीख को महादेवभाई ने मुझे लिखा :

"आपने इंग्लैंड के लिए भारत की स्वतन्त्रता की घोषणा करना सम्भव न होने की जो बात कही है एवं और जो कुछ कहा है, उसे मैं तो समझ गया, पर बापू का विचार भिन्न है। परन्तु यदि सबकुछ ठीक-ठीक रहे और केवल इसी बात पर मामला अटकता हो तो बापू पुनर्विचार करेंगे, हालांकि उनका यह दृढ़ विश्वास है कि वाइसराय उनके दृष्टिकोण को और किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह समझते हैं। वास्तव में बापू का कहना तो यह है कि यदि वह (अर्थात् बापू) इंग्लैंड में हों तो वह इंग्लैंड को औपनिवेशिक दर्जे के बजाय स्वतन्त्रता शब्द का प्रयोग करने को आसानी से राजी कर सकेंगे।"

कभी-कभी बापू के बदलते हुए मानस से महादेवभाई के धीरज की कड़ी परीक्षा हो जाती थी। यदाकदा वह अपना धैर्य खो बैठते थे, जैसा कि उनकी इस उक्ति से पता चलता है कि सेवाग्राम तो एक 'पागलखाना' बन गया है।

सेगांव, मध्य प्रदेश
२७-१-४०

प्रिय घनश्यामदासजी,

बापू भी विचित्र हैं। उनका विश्वास है कि दिल्ली उन्हें एक या दो दिन से ज्यादा नहीं ठहरना पड़ेगा—यह हुआ निराशावाद। परन्तु साथ ही वह यह भी कहते हैं कि यदि औरों को भी बुलाया गया तो ज्यादा दिन भी ठहरना हो सकता है, और यह आशावाद है। फिर वह कहते हैं कि यदि १० ता० तक ठहरना पड़ा तो १० ता० को हरिजन सेवक संघ की बैठक बुलाई जा सकती है। ज्यादा अच्छा होता कि बैठक के लिए ७ या ८ ता० की घोषणा कर दी जाती। बापू का मन तो यहां अस्पताल में रमा हुआ है। गुजराती 'हरिजनबन्धु' में बापू का एक लेख छपा है 'गुजरातियों से।' उसे अवश्य पढ़ियेगा। सेगांव का नाम बदल कर सेवा-

ग्राम रखा जारहा है। सरकारी कागजों में यह नाम दर्ज कराने के लिए अर्जी दे दी गई है। नाम तो बदल ही जायगा, पर अच्छा होता कि उसका नाम 'पागलखाना' रख दिया जाता।

आपका
महादेव

बापू ने उसी दिन मुझे एक तार भेजा, जिससे उनकी अस्थिरता प्रकट होती थी। मैं भी आश्चर्य करता रह गया कि मुझे यहां रहना है, वहां जाना है, या क्या करना है :

"पूर्व घोषणा के अनुसार हरिजन सेवक संघ की बैठक यहां होगी या ६ ता० से वहां होगी। विशिष्ट कार्य पूरा होने के बाद मेरे वहां ठहरने की आशा मत करना। या फिर मलिकन्दा के बाद वर्धा के लिए कोई तारीख निश्चित कर लेना।
बापू"

उन दिनों शांति कराने वालों का मार्ग कांटों से ढका हुआ था। महादेवभाई के एक और पत्र से पता चलता है कि बापू को अपने कुछ मित्रों का लिहाज न होता तो वह समझौते की दिशा में ज्यादा आगे बढ़ पाते :

"आपको यह जानकर दिलचस्पी होगी कि जिस समय आपने फोन पर मुझे जफरुल्ला के साथ हुई अपनी बातचीत का हाल सुनाया था, उसी समय मैंने जिन्ना पर एक लेख पूरा करके बापू के सामने रखा था। मैंने इस लेख का आपसे जिक्र नहीं किया, क्योंकि मुझे यह भरोसा नहीं था कि बापू उसे छापने की स्वीकृति दे देंगे। पर बापू की स्वीकृति मिल गई और वह इस सप्ताह के 'हरिजन' में छपने भी चला गया। एक और लेख है, जिसे आप पसन्द करेंगे। हां, उसका सर्वोत्कृष्ट भाग बापू ने काट दिया कि कहीं जवाहर को बुरा न लगे। मैंने लेख में आयरलैंड के इतिहास का एक पन्ना दिया था, और वैधानिक प्रश्न-सम्बन्धी तथ्यों का सार देने के बाद ग्रिफिथ का यह उद्धरण दिया था :

'हमने आयरिश प्रजातन्त्र की स्थापना की शपथ ली है, पर जैसा कि प्रसिडेन्ट डि वेलेरा ने कहा है, इस शपथ का मतलब यह है कि हमने आयरलैंड का यथाशक्ति अधिक-से-अधिक हित करने का बन्धन स्वीकार किया है। हम भी उस शपथ से यही समझते हैं। हमने आयरलैंड का अपनी शक्ति-भर अधिक-से-अधिक हित किया है। यदि आयरलैंड के लोग कहें कि हमें और तो सबकुछ मिल गया, केवल प्रजातन्त्र का नाम नहीं मिला और हम उसके लिए लड़ेंगे, तो मैं उनसे

कहूंगा कि तुम मूर्ख हो।'

"मैंने इस वाक्य को इस टीका के साथ उद्धृत किया था :

'ये शब्द हमारे कुछ अति उत्साही व्यक्तियों के लिए भी थोड़ी चेतावनी देने वाले हैं।' बापू ने इसको काट दिया। मैंने बापू से पूछा, 'क्या आप ग्रिफिथ से सहमत नहीं हैं?' उन्होंने कहा, 'हां, किन्तु यह कहना उचित नहीं होगा।"

इस दफा वाइसराय के साथ बापू की बातचीत का कोई नतीजा नहीं निकला। सर जगदीशप्रसाद ने मुझे बताया कि लार्ड लिनलिथगो ने बापू को अनुकूल नहीं पाया।"

८ फरवरी, १९४०

प्रिय महादेवभाई,

बापू के रवाना होने के बाद मुझे एक विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ कि बापू वाइसराय के मन पर मित्रतापूर्ण असर नहीं छोड़ गये। धारणा थी कि बापू बहुत कड़े समझौते के लिए अनिच्छुक और प्रतिकूल रहे। यह आशा की गई थी कि बापू एक-एक करके ठोस बातों को लेकर समझौते की कोशिश करेंगे। वाइसराय ने सेना और नरेशों की चर्चा चलाने की कोशिश की। वह चाहते थे कि बापू इन लोगों से मिलें और वाइसराय की मदद से समस्याओं को हल करें। वाइसराय ने अनुकूल प्रतिक्रिया की आशा की थी, और उन्हें यह देखकर निराशा हुई कि बापू ने, जो खाई नजर आती है उसे पाटने की कोशिश नहीं की।

इससे यही स्वाभाविक निष्कर्ष निकाला गया कि बापू वामपंथियों से प्रभावित हैं और 'लड़ाई' के लिए उतारू हैं। वाइसराय ने यह भी आशा की थी कि यदि बापू से अनुरोध किया जायगा तो वह और अधिक मुलाकातों के लिए ठहर जायंगे और बातचीत को खत्म करने के मामले में जल्दबाजी से काम नहीं लेंगे। चूंकि उन्होंने बेहद जल्दी की, इसलिए सरकारी पक्ष की धारणा है कि बापू शिकायत लेकर लौटे हैं और इसका नतीजा सविनय अवज्ञा आन्दोलन ही होगा।

बापू की यह धारणा ठीक नहीं थी कि वाइसराय उनकी स्थिति को समझते हैं और दोनों के बीच कोई गलतफहमी नहीं है। वाइसराय को बापू के रवैये से सचमुच निराशा हुई है। देवदास और मैं, दोनों वाइसराय की भावना से सहमत हैं क्योंकि हमारी भी वही धारणा है कि बापू का रुख अनुकूल और सहायतापूर्ण नहीं था।

परन्तु जब मैंने सर जगदीश से यह बात सुनी तो उनसे कहा कि वह वाइस-

राय और लेथवेट के दिल से यह खयाल दूर करने की कोशिश करें कि बापू कोई शिकायत या निराशा लेकर लौटे हैं और सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू होने वाला है। सर जगदीश ने लेथवेट को सूचित किया और लेथवेट ने मुझसे मिलने की इच्छा प्रकट की। मैं लेथवेट से आज सुबह मिला और अब स्थिति स्पष्ट हो गई है।

मैंने लेथवेट को आमतौर पर बताया कि बापू के साथ मेरी क्या बात हुई है और कहा कि बापू का लक्ष्य कोई राजनैतिक समझौते का नहीं है। वह तो नैतिक परिवर्तन चाहते हैं। कोरे राजनैतिक समझौते की वही दुर्गत हो सकती है, जो राजकोट-निर्णय की हुई।

मेरी बातचीत के बाद लेथवेट की प्रसन्नता लौट आई और उन्होंने कहा कि जो पृष्ठभूमि मैंने उन्हें बताई, उससे वह सारी स्थिति को समझ गये हैं और उनके दिल में निराशा का भाव बाकी नहीं रह गया है। उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या मेरे पास कोई रचनात्मक सुझाव है। मुझे स्वीकार करना पड़ा कि नहीं है। शायद तुम मुझे बता सको कि क्या कोई सुझाव दिया जा सकता है। सामान्य विचार तो ठीक हैं, पर तुम्हें उन्हें व्यावहारिक रूप देना है, और मेरी राय में समय आ गया है, या रामगढ़ कांग्रेस के बाद आ जायगा, जब हमें अपने विचारों को ठोस रूप देने की चेष्टा करनी होगी। यदि हम सचमुच निकट भविष्य में समझौता चाहते हैं तो हमें प्रश्न के दोनों पहलुओं पर विचार करना होगा। नैतिक परिवर्तन भी तभी संभव होगा, जब हम विपक्षी की कठिनाइयों को समझेंगे और उसका हाथ बंटाने की चेष्टा करेंगे।

सस्नेह,

तुम्हारा ही
घनश्यामदास

पर बापू की कलम से लिखे गए एक लेख ने मेरी शंकाओं का समाधान कर दिया और मैंने जो कुछ लिखा था, उसे अगले दिन वापस ले लिया :

प्रिय महादेवभाई,

मुझे 'हरिजन सेवक' का वह लेख पहले ही मिल गया, जो तुमने मुझे सीधे भेजा था। बापू एक नाजुक स्थिति को जिस खूबी के साथ सम्भाल लेते हैं, देखकर चकित रह जाना पड़ता है। लेख सचमुच अद्भुत है। मैंने अपने कल के पत्र में बापू की आलोचना करके गलती की कि उन्होंने विपक्षी की कठिनाई को ध्यान में नहीं रखा। लेख से जाहिर है कि उन्होंने विपक्षी की कठिनाई का लिहाज किया है। लोग कभी-कभी यह भूल जाते हैं कि बापू किस नैतिक स्तर पर रहते हुए

काम करते हैं। स्वतन्त्रता की लगन और अपनी कमजोरियों के ज्ञान ने हमारी दृष्टि को साधनों की अपेक्षा साध्य पर अधिक केन्द्रित कर रखा है, पर बापू के लिए साधन और साध्य दोनों एक समान हैं। मैं यह बात हृदयंगम करने की चेष्टा करूंगा कि यदि हम साधनों की चिन्ता रखेंगे तो साध्य अपने-आप सिद्ध हो जायगा। मुझे तो व्यावहारिक दृष्टि से भी इस बात में संशय की गुंजाइश नहीं दिखाई देती है कि ब्रिटेन का वास्तविक हृदय परिवर्तन हुए बिना औपनिवेशिक दर्जे वाला नुस्खा ग्वायर-निर्णय जैसा ही सिद्ध हो सकता है। मेरा खयाल है कि परिवर्तन के लिए हृदय प्रस्तुत हो चुका है। परमात्मा करे, भारत और इंग्लैंड सहृदयता और मित्रता के निर्माण-कार्य में एक-दूसरे से होड़ लेने लगें। इसलिए धीरज से काम लेने और प्रतीक्षा करने में ही भलाई है।

सस्नेह,

तुम्हारा ही
घनश्यामदास

७ मार्च को मैंने कलकत्ते से एक पत्र लिखा, जिसमें अपने मन की बात कह डाली :

प्रिय महादेवभाई,

तुमने बापू के लेख की जो अग्रिम प्रति बजरंग को भेजी थी, उसे मैंने पढ़ लिया है। बापू ने इस लेख में अपने विचारों को आवश्यकता से भी अधिक स्पष्टता के साथ खोलकर रख दिया है, अतः उनके मन की गति-विधि को कोई भी बड़े आकार में देख सकता है। मैं इस लेख को इसलिए भी पसन्द करता हूं कि वह सविनय अवज्ञा की संभावना को सर्वथा समाप्त कर देता है। तुम जानते ही हो कि मुझे सविनय अवज्ञा से अरुचि है। उसने अहिंसा के नाम पर हिंसा को प्रोत्साहन दिया है और निर्माण के नाम पर अनेक पदार्थ नष्ट कर डाले हैं। हां, उसके द्वारा देश में आश्चर्यजनक जागृति अवश्य हुई है, पर यदि यह मनोवृत्ति बनी रही तो किसी भी सरकार का, हमारी अपनी सरकार का भी, चलना असंभव हो जायगा। सत्याग्रही रंगरूटों की कमी नहीं है। वे हमारी ही सरकार के खिलाफ उठ खड़े होंगे और आतंकवाद और भ्रष्टाचार के द्वारा सुव्यवस्थित शासन-कार्य असम्भव बना देंगे। मैं मानता हूं कि अवज्ञा आन्दोलन का डंक उसी समय टूट जाता है जब अहिंसा को उसका आधार मान लिया जाता है। पर क्या वास्तव में वह अहिंसात्मक रह पाता है ? बापू मन, वचन और कर्म से अहिंसा पर जोर देते हैं। पर मुझे खेद के साथ लिखना पड़ता है कि बापू के निकटतम साथी भी इस भावना को नहीं अपना सके हैं, और कार्य विचार का प्रतिबिम्ब-मात्र है ही। इसीलिए

सविनय अवज्ञा की चर्चा चलते ही मेरा माथा ठनकने लगता है। अंशतः इन्हीं विचारों के कारण मैंने इस लेख को पसन्द किया। साथ ही, मुझे बापू के लेख का अन्तिम पैरा भाया। मैं मानता हूं कि कांग्रेस के साथ बापू की पटरी नहीं बैठ सकती। उनका अनुचित लाभ उठाया जा रहा है, क्योंकि लोग जानते हैं कि वही देशव्यापी सविनय अवज्ञा आन्दोलन का सफल नेतृत्व कर सकते हैं। पर एक ओर लोग बापू की मदद चाहते हैं और दूसरी ओर उनके कार्यक्रम को कभी पूरा नहीं करते। उनमें ऐसा करने की इच्छा तक का अभाव प्रतीत होता है। शायद सच्ची बात तो यह है कि अहिंसा में किसी की आस्था नहीं है। राजनैतिक हलकों में हर कोई अहिंसात्मक संघर्ष नहीं, उथल-पुथल चाहता है। मैं अपने बारे में कह सकता हूं कि अहिंसा में मेरी बौद्धिक आस्था है। पर इससे तो कुछ अधिक सहायता नहीं मिली। बापू एक मध्यस्थ की हैसियत से अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। अपने-आपको कांग्रेस के साथ मिलाकर उन्होंने अपने और वामपंथियों के बीच का अन्तर मिटा दिया है। अहिंसा और हिंसा एक प्रकार से पर्यायवाची बन गये हैं। मेरे खयाल से यह अत्यन्त विषम स्थिति है और कभी-कभी तो मुझे इस पर बड़ी ऊब पैदा होती है।

चाहो तो मेरा यह पत्र बापू को दिखा सकते हो। यदि बापू अकेले ही रहें तो उनकी अहिंसा की सफलता की संभावना अधिक रहेगी। कैसे मजे की बात है कि कांग्रेस अधिकारी न होते हुए भी अहिंसा व्रत का प्रतिनिधित्व करने की चेष्टा करती है !

सस्नेह,

तुम्हारा ही
घनश्यामदास

उत्तर में महादेवभाई ने लिखा :

सेगांव, वर्धा
मध्य प्रदेश
११-३-४०

प्रिय घनश्यामदासजी,

आपका लम्बा पत्र मिला। आपने जो कुछ लिखा है, उसको मैं समझता हूं। मैंने आपका पत्र बापू के सामने रखा था। उन्होंने पढ़ा, पर मैं उनकी प्रतिक्रिया नहीं जान सका, क्योंकि उनका मौन था। आप सविनय अवज्ञा आन्दोलन के बारे में जो कुछ कहते हैं, उसे यदि सच मान लिया जाय—और इस बारे में आपके विचार आर्थर मूर के विचारों से बहुत-कुछ मिलते हैं—तो क्या आप यह कहना चाहते हैं

कि सविनय अवज्ञा से, चाहे वह कितनी ही अपर्याप्त क्यों न हो, हिंसा ज्यादा अच्छी रहेगी ? मेरा विचार भिन्न है। मानव प्रकृति की सारी कमजोरियों के बावजूद, उसके पास कोई ऐसा माध्यम तो होना ही चाहिए, जिसके द्वारा वह अपना विरोध प्रकट कर सके, और यदि आप पद-दलित मानवता को सविनय अवज्ञा के अस्त्र से भी वंचित कर देते हैं तो आप उसका सर्वस्व छीन लेते हैं और उसे खालिस कायरता की शरण में भेज देते हैं। मैं काफी कठोर भाषा का व्यवहार कर रहा हूं, पर यही मेरा आन्तरिक विश्वास है। मेरा तो विश्वास है कि हम नेकनीयती के साथ की गई भूल से सत्य की ओर, एवं सत्य से सत्य की ओर अग्रसर होंगे। मैंने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के कांग्रेस अंक के लिए कल एक लम्बा लेख लिखा है। देवदास या आप उसे पसन्द करेंगे या नहीं, सो तो मैं नहीं जानता, पर यदि देवदास उसे प्रकाशित करें तो मैं चाहता हूं कि आप उसे पढ़ें अवश्य।

बापू आपके पत्र के सम्बन्ध में कुछ कहेंगे तो मैं आपको लिख दूंगा। क्या आप बजरंगलालजी को यह बताने की कृपा करेंगे कि एन्ड्रयूज के बारे में उन्होंने जो विस्तृत पत्र भेजा है, उसके लिए मैं उनका बड़ा आभारी हूं ? मैंने वह पत्र बापू को दिखाया था और इस बारे में बापू के विचार आपको कल लिखूंगा।

सप्रेम,

आपका ही
महादेव

कलकत्ता, १५ मार्च, १९४०

प्रिय महादेवभाई,

तुमने मेरे पत्र का यह अर्थ क्यों लगाया कि उसमें सविनय अवज्ञा से, चाहे वह कितनी ही अपर्याप्त क्यों न हो, हिंसा को अच्छा बताया गया है ? मैं तुमसे इस बारे में सहमत हूं कि मानव प्रकृति के पास अपना विरोध प्रकट करने के लिए कोई माध्यम होना चाहिए और इसके लिए सविनय अवज्ञा, चाहे वह थोड़ी अविनयपूर्ण ही हो, तो भी हिंसा से अच्छी है। अपने विशुद्धरूप में सत्याग्रह निस्संदेह ही सम्मानपूर्ण समझौते के मार्गों की पूरी तरह खोज किये बिना हमारे विरोध की इच्छा को व्यक्त करता है। कभी-कभी मैं अनुभव करता हूं कि हम लोग अपने कार्यक्रम के संघर्ष वाले अंश पर जरूरत से ज्यादा जोर देते हैं और समझा-बुझाकर समझौते पर पहुंचने के मार्ग की उपेक्षा करते हैं। हमने अपनी मांगों को इतना बढ़ा-चढ़ा लिया है कि अंग्रेजों के लिए किसी सम्मानपूर्ण समझौते पर पहुंच सकना असंभव हो गया है। बस, मेरी शिकायत यही है। कांग्रेस कार्य-समिति में भी ऐसे लोग हैं, जो मेरी ही तरह अनुभव करते हैं, बापू की उपस्थिति में मैं, और शायद और भी कई लोग, एक प्रकार के आशावादी आत्म-

विश्वास की अनुभूति करते हैं। लेकिन मैं अपने सम्बन्ध में कह सकता हूं कि जब मैं उनके सामने नहीं होता हूं और स्थिति पर ठंडे दिल से विचार करने लगता हूं तो मेरा वह आत्मविश्वास गायब हो जाता है। मैं सोचता हूं कि यह तो हृदय के वशीभूत होना और मस्तिष्क की उपेक्षा करना हुआ, पर यह ईश्वर ही जानता होगा कि दोनों में से कौन अधिक मूर्ख है : हृदय या मस्तिष्क। पर हमारी वर्तमान नीति के औचित्य के बारे में शंकाएं मेरा पीछा नहीं छोड़तीं। हम एक नाजुक समय में से गुजर रहे हैं, इसीलिए मैंने सोचा कि मुझे अपनी शंकाएं बापू के सामने रख देनी चाहिए। अतएव मैंने अपने विचारों को लिख डाला और एक प्रति तुम्हारे पास भेज दी—अब उसका जो भी मूल्य हो। जब मैं अपने हृदय से परामर्श करता हूं तो अनुभूति होती है कि अन्त में बापू की ही जीत होगी, क्योंकि बापू गलतियां करेंगे तो भी उतनी नहीं, जितनी और लोग। भगवान उनका पथ-प्रदर्शन करे। पर यह तो हुई श्रद्धा की बात। जब मैं अपने मस्तिष्क से परामर्श करता हूं और थोड़ा 'बुद्धि-संगत' विचार करता हूं तो मैं इसके अलावा और किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचता कि हमने ताश के पत्ते ठीक तरह से नहीं चले।

किन्तु तुम मुझे लेकर अपना समय व्यर्थ क्यों खोते हो। और यदि ऐसा करना ही हो तो केवल मुझे शिक्षा देने के लिए करो। पर मैं अच्छा-बुरा जो भी लिखूं, उसे कम-से-कम बापू को अवश्य दिखा दिया करो। बापू ने मुझसे अनेक बार कहा है, "अपना प्रभाव डालते रहा करो, प्रकट में सफलता मिलती दिखाई न दे तो भी सम्भव है, अचेतनरूप में प्रभाव पड़ जाय।" इसीलिए मैं अपने विचारों को तुम्हारे पास भेजता रहता हूं। इससे मुझे कुछ मानसिक शान्ति मिलती है।

सस्नेह,

तुम्हारा ही
घनश्यामदास

प्रिय घनश्यामदास,

मैंने तुम्हारा पत्र और नोट दोनों पढ़ लिये। मैं भी तुम्हारी वेदना का भागीदार हूं। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यही वह समय है जब हम तिल-मात्र से भी कम पर सन्तुष्ट नहीं हो सकते। मुझे तो अपनी योजना में कोई दोष दिखाई नहीं देता है। इसके विपरीत इसमें उनका भी भला है। वे हमारी मांग को स्वीकार नहीं करते, इससे यही जाहिर होता है कि वे हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता नहीं चाहते। राजाओं का रुख तो एकदम असहनीय रहा है। तुमसे किसने कहा कि मैं उनसे नहीं मिलना चाहता? उनके संकेत भर की देर है, मैं उनसे अवश्य मिलूंगा। असली बात तो यह है कि वे खुद ही मुझसे मिलना नहीं चाहते।

बापू के आशीर्वाद

पुनश्च:—तुम चाहो तो मैं सेवा सदन के लिए कलकत्ता आने को तैयार हूं।

सेगांव, वर्धा
१७-३-४०

प्रिय घनश्यामदासजी,

मैंने आपके सारे पत्र बापू को पढ़वा दिये। मैंने यह कभी नहीं समझा कि आप केवल विचार-विनिमय की खातिर ही लम्बे पत्र लिखते हैं। मैंने तो हमेशा यही माना है कि मुझे पत्र लिखकर आप अप्रत्यक्ष रूप से कुछ बातें बापू तक पहुंचा सकते हैं। यही कारण है कि मैं आपके सब पत्र बापू के सामने रख देता हूं।

मैंने यह कभी नहीं समझा कि आप अधूरे असहयोग से हिंसा को अच्छा समझते हैं। मैंने तो यह लिखा था कि आपकी स्थिति मूर के दृष्टिकोण से बहुत कुछ मेल खाती है और जहां तक मूर का सम्बन्ध है, वह हिंसा को पसन्द करते हैं। असल में पीड़ित मानवता को एक आदर्श माध्यम की आवश्यकता है। बापू ने इस माध्यम को पसन्द किया है, और वह उसे सहज अवस्थाओं के द्वारा पूर्ण बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। या तो वह इस प्रयास में समाप्त हो जायेंगे या यह माध्यम पूर्ण वनकर ही रहेगा।

बापू ने अपने जीवन में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कदम उठाने का निश्चय किया है। यह पत्र मिलने के पहले ही शायद आपको उसका पता चल जायगा। आप बापू को कलकत्ता नहीं बुला रहे हों तो मैं आपको विस्तृत विवरण देने एक दिन के लिए कलकत्ता आ सकता हूं।

आपका
महादेव

२७. राजकोट-प्रकरण

राजकोट वाला प्रकरण भारत के लिए इतना सुपरिचित है कि उसका वर्णन करने की चेष्टा करना अनावश्यक होगा। बापू का इतिहास-प्रसिद्ध अनशन, लार्ड लिनलिथगो का सहानुभूति पूर्ण रुख, उनके द्वारा इस मामले का निर्णय भारत के प्रधान न्यायाधीश सर मारिस ग्वायर के सुपुर्द किया जाना, और प्रधान न्यायाधीश के द्वारा बापू के पक्ष में निर्णय किया जाना—ये सब बातें भूली नहीं हैं। न ऐसी कहानी सुनने में आनन्द ही आयगा, जिसमें सरदार पटेल, बापू,

वास्तव में हम सभी राजकोट के ठाकुर साहब-जैसे कमजोर और अज्ञानी नरेश और उनके वीरावाला जैसे कौशलप्रिय, षड्यंत्री दीवान का पक्ष लेने और ठाकुर की मंत्रणा परिषद् के प्रधान सर पैट्रिक-जैसे निर्दोष व्यक्ति को तथा वहां के पोलिटिकल एजेन्ट श्री गिब्सन को शरारत के पुतले समझने के चकमे में आ गए थे। यह भूल साधारण नहीं थी। इसका पता सरदार पटेल को तब लगा जब वीरावाला को दुरंगी चाल चलते पकड़ा गया। बापू ने इसकी चर्चा 'हरिजन' में भी की थी। इस भूल का बापू के परिवार के इतिहास के साथ बिलकुल सम्बन्ध ही न हो, शायद ऐसी बात न थी। उनके पुरखे पीढ़ियों से काठियावाड़ (अब सौराष्ट्र) की रियासतों के दीवान होते आए थे और उनके प्रति उन्हें ममता-सी थी। वास्तव में बापू तो साधारणतया वहां के नरेशों के प्रति बड़ा आदर-भाव दिखाते थे।

किन्तु एक आनन्ददायक पहलू भी था और मैं उसी का जिक्र करना चाहता हूं। जब बापू और गिब्सन के बीच संपर्क स्थापित हुआ तो बापू को यह देखकर शायद आश्चर्य हुआ होगा कि पोलिटिकल एजेन्ट कोई सींग, खुर और पूंछवाला जीव न होकर एक मौजी भावना वाला साधारण मनुष्य है।

एक समय वातावरण में कितनी उष्णता आ गई थी, यह मेरे मकान पर वाइसराय के सेक्रेटरी श्री लेथवेट के साथ हुई मुलाकात के महादेवभाई द्वारा प्रस्तुत विवरण से प्रकट होगा :

५ फरवरी, १९३९

श्री लेथवेट ५ बजे शाम चाय पर आए। करीब दो घंटे ठहरे। चर्चा चाय, फूलों, गायों और पशु-प्रदर्शनियों से आरम्भ हुई (बीच में हमारे वाइसराय भवन जाने का भी जिक्रआया और श्री लेथवेट ने बापू के खिल-खिलाकर हंसने का खास तौर से जिक्र किया) और बा की गिरफ्तारी के प्रसंग पर आ गई।

'वे सब तो बड़े आराम से होंगी ?" श्री लेथवेट ने कहा। "हां", मैंने कहा, "पर उन्हें यह सोचकर बड़ी परेशानी हो रही होगी कि उन दूसरों की क्या अवस्था होगी, जिनके साथ दूसरे ढंग का व्यवहार किया जा रहा है ?" और मैंने एक परेशान करने वाली खबर सुनाई, जो मुझे आज सुबह ही मिली थी। आठ स्वयंसेवकों को राज्य के भीतरी भाग में ले जाया गया, मारा-पीटा गया और उनसे माफीनामे पर हस्ताक्षर करने को कहा गया। जब उन्होंने ऐसा करने से इन्कार किया तो उन पर और मार पड़ी और उनमें से एक को कमरे में बंद कर दिया गया, जहां उसे थोड़ी-थोड़ी देर के बाद बिजली छुआकर कई घंटों तक सताया गया। मैंने कहा, "मैं मानता हूं कि सारी बात पर विश्वास करना कठिन है, इसमें कुछ अतिरंजन भी हो सकता है, पर सारा-का-सारा किस्सा ही कैसे गढ़ा

जा सकता है ?" मैंने बात नाप-तोलकर कही, सो श्री लेथवेट ने सराहा। उन्होंने मारपीट के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। मैंने यह भी कहा कि पिछला आन्दोलन तीन महीने चला, पर उसके दौरान में ऐसी बातें सुनने में नहीं आईं। इस पर तारीफ की बात यह है कि जहां एक ओर ये सब काण्ड हो रहे हैं, वहां दूसरी ओर जनता पूर्ण अहिंसा का आचरण कर रही है, उसकी ओर से अंगुली तक नहीं उठाई गई है।

इस पर श्री लेथवेट ने विस्तार के साथ बताया कि किस प्रकार अलग-अलग रियासतों की परिस्थितियां अलग-अलग हैं, किस प्रकार उनमें युगों से व्यक्तिगत शासन की परम्पराएं चली आ रही हैं और किस प्रकार वहां लोकतंत्रीय शासन-प्रणली का विकास होने में देर लगना अनिवार्य है। मैंने बटलर कमेटी की रिपोर्ट का उल्लेख किया, जिसमें कहा गया था कि जहां उत्तरदायी शासन की मांग व्यापक हो, वहां सार्वभौम सत्ता को उस मांग को संतुष्ट करने के लिए सुझाव पेश करने में मदद देनी होगी, बशर्ते कि उस मांग में राजा को हटाने की बात का समावेश न हो। "यह तो दस वर्ष पुरानी बात है", श्री लेथवेट ने कहा, "और मुझे यकीन है कि यदि वह रिपोर्ट आज लिखी जाती तो कमेटी को अपनी भाषा बदलनी पड़ती और उसे उत्तरदायी शासन की भी व्याख्या करनी पड़ती।" "यह परिवर्तन तो हमारे ही हित में होता," मैंने कहा और हम सब हंस पड़े।

इस अवसर पर घनश्यामदासजी ने राजकोट का प्रश्न छेड़ा और कहा कि क्या इस दुःखद काण्ड का तुरन्त अन्त नहीं किया जा सकता है ? श्री लेथवेट ने राजकोट पर 'हरिजन' के लेख और बापू की अति उग्र भाषा का जिक्र किया। मैं बोला, "इस बारे में दो-तीन बातों को ध्यान में रखना होगा। आपको यह याद रखना चाहिए कि उनके पास नित्य ही राजकोट की घटनाओं के समाचार पहुंचते रहते हैं। ये समाचार कैसे होते हैं, इसका एक उदाहरण मैं दे ही चुका हूं। बापू इन समाचारों को कुछ घटाकर ही ग्रहण करते हैं, पर वह यह नहीं मान सकते कि जो कुछ कहा जा रहा है, उसका कोई आधार ही नहीं है। और यदि इन कहानियों में सचाई का पुट काफी हो तो मैं नहीं जानता कि और कैसी भाषा का व्यवहार किया जा सकता था। फिर, यह भी नहीं भुलाया जाना चाहिए कि इन लेखों में भी, चाहे उनकी भाषा कितनी ही कड़ी क्यों न रही हो, अन्त में वाइसराय के नाम अपील ही रहती है। गांधीजी दो वर्ष पहले ऐसा करने के अभ्यस्त नहीं थे।"

घनश्यामदासजी ने लेख के उस वाक्य का खासतौर से हवाला दिया, जिसमें कांग्रेस को ब्रिटिश सरकार का मित्र बताया गया था और जिसके द्वारा बापू की ब्रिटिश सरकार का सहयोग प्राप्त करने की उत्सुकता प्रकट होती थी। "किन्तु बापू को इसका उलटा ही मिल रहा है और इससे उनका खीझना स्वभाविक ही है।"

मैंने एक तीसरी बात बताई। मैंने कहा, "वह लेख एक सप्ताह पहले लिखा

गया था। इस बीच आपकी ओर से यह विज्ञप्ति प्रकाशित हुई, जिसमें सरकार और ठाकुरसाहब की स्थिति का स्पष्टीकरण करने की चेष्टा की गई है। उसके उत्तर में गांधीजी ऐसा वक्तव्य देते हैं जिसे मैं शान्ति का संकेत कह सकता हूं। उसमें उन्होंने यह निश्चित रूप से कहा है कि यदि प्रश्न केवल व्यक्तियों का हो तो वह सरदार को ठाकुरसाहब के साथ मिल बैठने को राजी कर सकते हैं।"

पर श्री लेथवेट ने कहा, "जनता के सामने तो घटनाओं का यह टाइम टेबल है नहीं। जनता शनिवार को गांधीजी का वक्तव्य पढ़ती है और रविवार को उनका लेख। 'स्टेट्समैन' का लेख देखिए न, उसके कथन में बहुत-कुछ तथ्य है और वाइसराय को इस पर सचमुच आश्चर्य होता है कि एक ओर तो गांधीजी के पत्रों की भाषा अत्यन्त मैत्रीपूर्ण होती है और दूसरी ओर उनके लेख ऐसी भाषा में लिखे गए होते हैं जिसका लहजा सर्वथा विपरीत होता है।"

मैंने कहा, "इसका कारण यह है कि पत्र वाइसराय के नाम लिखे जाते हैं और लेख जनता को संबोधित करके लिखे जाते हैं। यदि वाइसराय ही कोई आन्दोलन चलाते होते तो उनके निजी पत्र-व्यवहार की भाषा उनके लेखों की भाषा से सर्वथा भिन्न होती।"

श्री लेथवेट बोले, "पर आपको यह तो मानना ही होगा, और मैं जानता ही हूं कि श्री बिड़ला भी मानते हैं, कि इससे वाइसराय की स्थिति बड़ी कठिन हो जाती है। ये लेख भारत तक ही सीमित नहीं रहते हैं, रायटर द्वारा इंग्लैंड को तार से भेज दिए जाते हैं। और आपको जातीय विद्वेष के बारे में 'स्टेट्समैन की टीका याद ही होगी। आप सोच सकते हैं कि ब्रिटिश जनता पर इसका क्या असर पड़ेगा। मैं तो कहूंगा कि गांधीजी वाइसराय को भले ही इच्छानुसार कड़े-से-कड़ा पत्र लिखते, समाचार-पत्रों के लिए लिखते समय उन्हें यथासाध्य नरम-से-नरम भाषा का प्रयोग करना चाहिए था।" मैं बोला, "यह 'स्टेट्समैन' वाली बात वाहियात-सी है। इसका जातीय प्रश्न के साथ क्या सम्बन्ध है? और 'स्टेट्समैन' को गांधीजी के लेख में जातीय विद्वेष कहां दिखाई दिया?"

"ब्रिटिश रेजिडेन्ट को जिस प्रकार आएदिन शरारत का पुतला कहा जाता है और गुंडेपन के कामों के लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है सो आप देख ही रहे हैं। आप एक बार श्री गिब्सन से मिलकर देखें। तब आपको पता चलेगा कि यह सब कुछ उनके द्वारा सम्भव नहीं है। वह इतने नरम आदमी हैं कि उनके बारे में कोई यह खयाल तक नहीं कर सकता कि नृशंसता के ऐसे काम उनके द्वारा संभव हैं।"

"गुंडेपन के इन कामों के लिए श्री गिब्सन व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार हैं, ऐसा आरोप न गांधीजी ने लगाया है, न किसी और ने ही। कम-से-कम गांधीजी ने नहीं लगाया। वह यह नहीं कह सकते कि गिब्सन इन मारपीटों को खुद देखते हैं। पर साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिए कि इस एजेन्सी पुलिस और इन

मातहतों का यह विश्वास है कि वे जो कुछ कर रहे हैं, ठीक ही कर रहे हैं।"

श्री लेथवेट ने पूछा, "क्या आपको पता है कि राजकोट में एजेंसी पुलिस की संख्या कितनी है ?" मैंने कहा, "सो तो मैं नहीं जानता, पर राजकोट रियासत की पुलिस की संख्या अधिक नहीं होगी; अधिकांश में एजेन्सी पुलिस होनी चाहिए। पर मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता। हां, पता लगा सकता हूं। क्या श्री गिब्सन के साथ आपका व्यक्तिगत सम्पर्क है ?"

"नहीं, इस समय नहीं। मैं आखिरी बार उनसे नवम्बर में मिला था। पर मैं इतना तो कह ही दूं कि गांधीजी के लेखों का हम तीनों पर, और वाइसराय पर भी, जो प्रभाव पड़ा, साधारण पाठक पर उससे भिन्न प्रभाव पड़ा होगा। औसत दर्जे का पाठक यह सोचे विना नहीं रह सकता कि यदि ये बातें सच्ची हैं तो उनके लिए श्री गिब्सन को व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार ठहराया जा रहा है। और यदि जातीय विद्वेष अभीष्ट नहीं है तो क्या गांधीजी को यह स्पष्ट नहीं कर देना चाहिए ?"

मैंने कहा, "निश्चय ही। गांधीजी ऐसा सबसे पहले करेंगे, क्योंकि उनके दिमाग में इस चीज का लेश तक नहीं है। ऐसा उनके स्वभाव में ही नहीं है। उग्र सविनय अवज्ञा आन्दोलन के जमाने में भी यह अभियोग गम्भीरतापूर्वक नहीं लगाया गया। गांधीजी यह भी कह देंगे कि श्री गिब्सन इस नृशंसता के लिए व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार नहीं हैं। पर वह श्री गिब्सन को इस आरोप से मुक्त नहीं करेंगे कि उन्होंने ही यह वचन भंग कराया है, क्योंकि उनके पास आरोप की पुष्टि में वजनदार प्रमाण मौजूद हैं। आप उन प्रमाणों का मूल्य कम भले ही आंकें, पर जो कागजात उन्हें विश्वस्त सूत्रों से मिले हैं, उनकी प्रामाणिकता में वह संदेह नहीं कर सकते।"

बातचीत में गर्मी आने लगी थी। घनश्यामदासजी बीच ही में बोल उठे, "सार की बात यही है कि संधि-चर्चा फिर शुरू करने के लिए उचित वातावरण की आवश्यकता है। है न यही बात ?"

"हां, वातावरण बहुत खराब है। गांधीजी का लेख प्रकाशित होने के बाद से वह काफी बिगड़ गया है। वाइसराय के नाम आप जो पत्र लाये, उसे पाकर उन्हें खुशी हुई। पर आज उन्होंने 'हरिजन' का लेख देखा तो कहने लगे, "इस मित्रतापूर्ण पत्र का क्या उपयोग है ?"

मैंने कहा, "यदि आपका अभिप्राय उन दो आरोपों से है, जो 'स्टेट्समैन' ने लगाये हैं तो गांधीजी से वातावरण की सफाई कराने में बिलकुल कठिनाई नहीं होगी।"

"पर, जब श्री गिब्सन को अनैतिक वचन-भंग के लिए जिम्मेदार ठहराया जा रहा है और उनकी खिल्ली उड़ाई जा रही है तो उनसे आप कोई काम कैसे

करा सकते हैं ?"

मैंने कहा, "मेरे पास कुछ कागजात हैं और मैं यह दिखा सकता हूं कि हम लोग उन्हें दोषी कैसे मानते हैं। सर पैट्रिक कैडेल यहां होते तो बड़ी बात होती।"

"आप यह कहना चाहते हैं कि उन्हें इस समझौते की सारी बातों का पता है ? आप यह भी कहना चाहते हैं कि उन्होंने श्री गिब्सन को बता दिया था ?"

"सर पैट्रिक ने समझौते को खुद देखा, इसकी शपथ लेने को मैं तैयार नहीं हूं। पर जब ठाकुरसाहब ने यह पत्र लिखा था तो वह महल में मौजूद थे। मुझे नहीं मालूम कि सर पैट्रिक ने श्री गिब्सन से उसके बारे में कहा या नहीं, पर बात जो भी हो, दुनिया में कौन विश्वास करेगा कि सरदार एक ऐसे समझौते को स्वीकार करने को तैयार हो गए, जिसकी व्याख्या ठाकुरसाहब इस ढंग से कर रहे हैं, जैसा कि आपने बताया ? उस दशा में समझौते पर ठाकुरसाहब को नहीं, सरदार को हस्ताक्षर करने चाहिए थे।"

"मैंने यह अनोखा तर्क 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के लेख में पढ़ा है। पर उस पत्र को प्रकाशित क्यों नहीं किया गया और उसे समझौते का अंग क्यों नहीं बनाया गया ?"

"आप समझे नहीं। सरदार को ठाकुरसाहब का लिहाज था। पर मैं आपको बता दूं कि यदि सरदार उसी समय नाम देने को तैयार हो जाते तो उस पत्र में नामों का भी समावेश हो गया होता। बात यह थी कि सरदार को अपने सह-कर्मियों में परामर्श करना था।"

"पर क्या आपका यह खयाल नहीं है कि श्री माणेकलाल के नाम सरदार पटेल के पत्र से यह जाहिर होता है कि व्यक्तियों की नामावली आपस में तय होनी थी और सरदार को नामों का प्रस्ताव मात्र करना था।"

"नहीं, आपने बात को समझा नहीं। ठाकुरसाहब की सहमति केवल इस बात तक सीमित थी कि जिन व्यक्तियों के नाम सुझाए गए हैं, वे बाहर के नहीं, बल्कि रियासत के ही रहनेवाले हैं। मैं आपके आगे यह साबित कर सकता हूं कि संधि-चर्चा में विवाद का विषय केवल यही था कि सदस्य रियासत के प्रजाजन हों या रियासत के बाहर के भी हो सकते हैं।" यहां मैंने श्री लेथवेट को वह मसविदा दिखाया, जिसे लेकर श्री पट्टनी सर पैट्रिक से मिले थे। उसमें की जिन चार बातों के बारे में सर पैट्रिक ने स्पष्टीकरण चाहा था उनमें से एक यह थी कि सदस्य राज्य के प्रजाजन ही होंगे। मैंने उनका ध्यान मसविदे की उन पंक्तियों की ओर दिलाया, जिनमें कहा गया था कि सरदार सात नाम पसन्द करेंगे और नियुक्ति ठाकुरसाहब द्वारा होगी। सर पैट्रिक ने मसविदे की भाषा पर कोई आपत्ति नहीं की थी।

मैंने कहा, "पर सर पैट्रिक अपने वचन से फिर गये, क्योंकि एक दिन पहले वह श्री गिब्सन से मिल चुके थे और श्री गिब्सन ने उस सारे व्यापार को ही नापसन्द किया था।"

घनश्यामदासजी ने कहा, "मैं गलती नहीं करता हूं तो सर पैट्रिक ने खुद सरदार या पट्टनी से कहा था कि श्री गिब्सन ने उसे नापसन्द किया है।"

मैंने कहा, "और आप वचन-भंग के अन्य गंभीर अंश को क्यों भूलते हैं ? समझौता टूटने के बाद की विज्ञप्ति उस विज्ञप्ति से बिलकुल भिन्न है, जो समझौते की घोषणा करते समय प्रकाशित की गई थी।"

"हां, श्री बिड़ला ने इसकी चर्चा की है, पर मैं जानना चाहता हूं कि अन्तर कहां है।"

मैंने वह अंश पढ़कर सुनाया, जिसमें 'व्यापकतम अधिकारों' की बात कही गई थी, और नई विज्ञप्ति का वह अंश भी सुनाया, जिसमें 'शासन-कार्य में जनता के हाथ बंटाने' का जिक्र था। मैंने इस बात का भी जिक्र किया कि किस प्रकार आपसी बातचीत के दौरान श्री गिब्सन ने व्यापकतम अधिकारों की बात पर आपत्ति की थी और किस प्रकार वह उसे निकलवाने में सफल हुए थे। मैंने यह भी कहा कि ठाकुरसाहब ने अपनी विज्ञप्ति में ऐसे शब्दों का व्यवहार किया है, जिनका उन्होंने समझौते के समय कभी उपयोग नहीं किया होता। वे शब्द ये थे कि उन लोगों को बाहर वालों के उकसाने पर ऐसी वस्तु प्राप्त करने की कल्पना नहीं करनी चाहिए, जिसे वे पचा न सकें। इस सबमें श्री गिब्सन का हाथ है, यह सोचे बिना हम नहीं रह सकते।"

घनश्यामदासजी ने पुनः समझौते की चर्चा शुरू करने का सवाल उठाया और श्रीलेथवेट ने बातचीत के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करने का राग अलापा। घनश्यामदासजी ने पूछा, "आपका वातावरण सुधारने की बात से ठीक-ठीक अभिप्राय क्या है ? कृपया मुझे निश्चितरूप से बता दीजिए कि वातावरण को सुधारने के लिए आप गांधीजी से क्या कराना चाहते हैं ?"

लेथवेट ने उत्तर दिया, "बात यह है कि व्यक्तिगत आक्रमण किये गए हैं, जिनसे जातीय विद्वेष की गंध आती है। मेरी राय में यह सबकुछ बिलकुल बन्द हो जाना चाहिए। आप लोग वाइसराय की कठिनाइयों को नहीं समझते हैं। वह कितनी ही सहानुभूति क्यों न रखते हों, जबतक वातावरण नहीं सुधरता है, तबतक वह मदद नहीं कर सकते।"

"मैं स्वीकार करता हूं कि व्यक्तिगत कटुता नहीं रहनी चाहिए, क्योंकि मेरा अपना विश्वास है कि यदि समझौते की बात शुरू हुई तो श्री गिब्सन से बेहद सहायता मिल सकती है। इसलिए उन्हें व्यर्थ ही खिझाना ठीक नहीं है।"

"इतने आक्रमणों के बाद गिब्सन कहांतक सहायक सिद्ध होंगे, यही देखना

है। मेरा विश्वास है कि वह इन आक्रमणों के पात्र नहीं थे।"

"मैं तो नहीं समझता कि गिब्सन के रुख के बारे में निराश होना ठीक रहेगा। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब लार्ड अरविन ने बापू से इमर्सन का परिचय कराया तो उसके बाद से उनका (इमर्सन का) रुख खासतौर से सहायतापूर्ण हो गया था। फिर तो जो कुछ हुआ सबमें उनकी सहायता मिली। किसी मंजिल पर पहुंचकर सरदार और गिब्सन में समझौते के लिए बातचीत फिर शुरू न हो, इसका मैं तो कोई कारण नहीं देखता। गिब्सन ठाकुरसाहब पर कोई दबाव डालें, सो मैं नहीं चाहता। पर वह मित्रतापूर्ण सलाह तो दे ही सकते हैं, और सार्वभौम सत्ता के प्रतिनिधि की मित्रतापूर्ण सलाह का क्या महत्त्व है, सो मैं जानता हूं। मैं तो इतना ही चाहता हूं कि यदि वातावरण में सुधार हो जाय और बातचीत शुरू हो जाय तो वाइसराय निजी तौर पर गिब्सन को निर्देश दे सकते हैं कि उन्हें पूर्व समझौते का पुनरुद्धार करने के लिए सभी तरह की मित्रतापूर्ण सहायता देनी चाहिए।"

"हां, मैं सहमत हूं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि वाइसराय क्या करेंगे, पर मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि यदि वातावरण में सुधार हुआ तो उससे सन्तोषजनक हल ढूंढ़ने में अवश्य सहायता मिलेगी।"

यहां मैंने सुझाया कि घनश्यामदासजी वर्धा जा सकते हैं। लेथवेट ने कोई टिप्पणी नहीं की, चुपचाप सुनते रहे।

मैंने कहा, "वातावरण को स्वच्छ किया जा सकता है, पर श्री लेथवेट को यह समझ लेना चाहिए कि मेरे खयाल से नृशंसतापूर्ण कार्यों के लिए व्यक्तिगत-रूप से जिम्मेदार होने के आरोप की अपेक्षा वचन-भंग की जिम्मेदारी का आरोप अधिक गंभीर है। एक आरोप वापस लिया जा सकता है, क्योंकि वास्तव में वह कभी लगाया ही नहीं गया था, पर दूसरा आरोप मौजूद है और रहेगा। किन्तु बापू को इस आरोप की सफाई पर बार-बार जोर देने की जरूरत नहीं है। उसे सब जानते हैं। अब दूसरे आरोप की सफाई हो जाय।" घनश्यामदासजी ने कहा, "तुम बापू के पास जाओ और यह करा डालो। मुझे यकीन है कि सरदार बापू के इस वक्तव्य को दोहराकर बातचीत शुरू कर सकते हैं कि इस सवाल पर कि कौन-कौन से व्यक्ति लिये जायं। वह ठाकुरसाहब का लिहाज करने को तैयार हैं अर्थात् एक मुसलमान और एक भायात को भी शामिल किया जा सकता है, बशर्ते कि उन्हें दो नाम अपनी ओर से और जोड़ने की स्वतंत्रता रहे।"

"क्या समझौते में यह बात भी शामिल थी कि कमेटी में सरदार का पांच का बहुमत रहना चाहिए?"

मैं बोला, "संख्या ७ और २ के उल्लेख का तो यही अर्थ निकलता है। किंतु हम यहां संधि की चर्चा करने नहीं बैठे हैं। इसका निर्णय तो सरदार और ठाकुर-

साहब ही करें, पर समझौते की मूल शर्तों को तो पुनर्जीवन देना ही होगा।"

श्री लेथवेट ने कहा, "आपके बताए ढंग का वक्तव्य सरदार दे देंगे तो उससे सहायता मिलेगी।"

महादेवभाई का विवरण सरदार के पास गया और अपने उत्तर में सरदार ने श्री गिब्सन के बारे में बहुत ही निराशाजनक विचार प्रकट किया :

८ फरवरी, १९३९

प्रिय महादेव,

मुझे तुम्हारा पत्र और उसके साथ श्री लेथवेट के साथ हुई तुम्हारी वातचीत का विवरण मिला। मुझे भय है कि उनके रवैये के बारे में तुम्हारे अन्दाज से मैं सहमत नहीं हो सकता। वह रवैया कूटनीतिक है, पर मुझे डर है कि वह ईमानदारी से भरा हुआ नहीं है। 'स्टेट्समैन' ने पिछला लेख ज्यादा सफाई के साथ लिखा है, पर यदि हम किसी गिब्सन या ब्यूचैम्प के बारे में लिखते हैं तो वे हमारी नीयत पर संदेह करने लगते हैं। इसमें कोई जातीय प्रश्न शामिल नहीं है। यह तो उनके सुरक्षित किले पर रक्षात्मक आक्रमण है और इसपर वे क्रुद्ध हो उठे हैं। अपने अपराध का पूरा पता होने पर भी वे अपनी अनभिज्ञता जाहिर करते हैं। जो हो, मुझे तो आगे कड़ा संघर्ष नजर आता है। मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि श्री गिब्सन ने तमाम काठियावाड़ की रियासतों में गुंडेपन की शक्तियों को संगठित किया है। लीमडी में उनकी नीति पहली बार खुलकर खेली। कैसे, सो जानकर तुम्हें अफसोस होगा। तीन बड़े डाके पड़े हैं, जिनमें गांवों के अनेक आदमियों को लूटा और घायल किया गया है। सशस्त्र डाकुओं को देहातों की निर्दोष जनता पर आक्रमण करने के लिए पूरी छूट दे दी गई है, ताकि जो लोग रियासत के अत्याचार का विरोध कर रहे हैं, उन्हें भयभीत किया जा सके। गत दो-तीन दिनों से लोग महल के इर्द-गिर्द बैठे हैं और जांच की मांग कर रहे हैं, पर रियासत कोई सुनवाई नहीं कर रही है। बा (कस्तूर बा) भी परेशान हैं। यह सब केवल गिब्सन की मिली भगत से हां नहीं हो रहा है, वल्कि इसमें प्रेरणा भी उसी से मिली होगी।

तुम्हारा
वल्लभभाई

इसके बाद ठाकुरसाहब के प्रति गांधीजी की निराशा, उनका उपवास, वाइसराय का सहानुभूतिपूर्ण रुख और मोरिस ग्वायर का गांधीजी के हक में फैसला, सारी घटनाएं एक के वाद एक घटित हुईं। तनाव अप्रैल के मध्य तक कम

नहीं हुआ था। महादेव ने मुझे लिखा :

"सुशीला राजकोट से आज ही पहुंची। वह गुजरात के कुंजा नामक स्थान को जा रही है, जहां उसके भाई का विवाह है। उसने बताया कि एक दिन बापू और वल्लभभाई में झड़प हो गई। बापू ने तीन पत्र लिखे थे, जिनमें उन्होंने मुसलमानों और भायातों को सबकुछ समर्पण कर दिया था। वल्लभभाई बिगड़ गये। बापू ने कहा, "मै जानता हूं, मेरी मूर्खताओं का फल तुम्हें भोगना पड़ता है।" इसपर वल्लभभाई ने कहा, "अभीतक तो मूर्खता का कोई काम नहीं हुआ है, पर ये तीन पत्र, जिन्हें आप भेजने का विचार कर रहे हैं, मूर्खतापूर्ण अवश्य हैं।" बापू हंस पड़े, पर बाद को गंभीरतापूर्वक बोले, "इसलिए मुझे क्रियात्मक नेतृत्व से हटकर भगवान् के भजन में दिन बिताने चाहिए।" पता नहीं, इसके बाद बातचीत का क्या रुख रहा, पर परिणाम यह हुआ कि पत्र फाड़ डाले गये। सुशीला ने यह भी बताया कि बापू ने देख लिया है कि मनुष्य की कुत्सित प्रवृत्तियों का वल्लभभाई को उनकी अपेक्षा अधिक ज्ञान है—ज्ञान क्या आत्मप्रेरणा-सी है। बापू ने एक बार कहा भी, "यह कदम आत्महत्या के समान है।" उनका मतलब यदि मुसलमान अपने वचन का पालन न करें तो अनशन करने के विचार से था। इस प्रकार उस दिन प्रातःकाल के समय हमारा लम्बा तार भेजना बिलकुल ठीक सिद्ध हुआ।

पर इस सारे व्यापार ने मुझे विचार-निमग्न कर दिया। आपको याद ही होगा, उस दिन हमने अहिंसा की भावनाओं और गूढ़ तत्त्वों के संबंध में बहुत देर तक बातचीत की थी, और मुझे सुशीला से जो कुछ मालूम हुआ, उससे मैं इसी विचार में पड़ गया कि अहिंसा इहलौकिक अधिकारों के प्रतिपादन के लिए उपयुक्त अस्त्र है या नहीं। श्री आर्थर मूर ने भी इस प्रसिद्ध वाद-विवाद के दौरान इसी तरह की बात कही थी। अब जब हम बापू से मिलें और उन्हें कुछ खाली पावें तो अहिंसा के इस पहलू पर खूब अच्छी तरह बातें करें। इस समय तो मैं नहीं कह सकता कि भविष्य में हमारे भाग्य में क्या बदा है। हम एक रहस्यमयी और वर्णनातीत होनी की ओर बलात् खिंचे चले जा रहे हैं।"

मैं महादेवभाई की शंकाओं के साथ अपनी सहमति प्रकट किये बिना नहीं रह सका :

"सच्ची बात तो यह है कि मैं तुम्हारे इस कथन से तो सहमत हूं ही कि इहलौकिक लक्ष्यों की सिद्धि में अहिंसा के उपयोग का औचित्य संदिग्ध है, साथ ही मुझे इसमें भी सन्देह है कि राजकोट में आरम्भ से अबतक जो-कुछ हुआ है उसे

अहिंसा कहा जा सकता है या नहीं। मैंने तो तुमसे उस दिन कहा भी था कि मैं अभीतक इस बात में विश्वास नहीं करता हूं कि अनशन दूसरे की इच्छा के विरुद्ध कार्य कराने का एक ढंग-मात्र नहीं है। मेरी तो समझ में नहीं आता कि अपने विपक्षी का हृदय चुनौतियों से कैसे बदला जा सकता है। सरदार की स्थिति को समझा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने कभी कोई गूढ़ दार्शनिक तत्त्व का निदर्शन करने का दावा नहीं किया। राजकोट में उनका संघर्ष एक प्रकार का निःशस्त्र विद्रोह था और वह पूर्णतया अहिंसात्मक ही रहा हो, ऐसी बात भी नहीं थी। इसलिए यदि वीरावाला और ठाकुर ने हमारे ही ढंग से उसका मुकाबला किया तो इसमें शिकायत का मौका ही क्या है? गिब्सन भी हमारी मदद क्यों करता, क्योंकि हमने भी गिब्सन को कभी नहीं बख्शा। वाइसराय का उत्तरदायित्व तो है ही, पर उनकी भी अपनी कठिनाइयां होंगी। उतावली से काम नहीं चलेगा। यदि वस्तुस्थिति को बापू के दार्शनिक दृष्टिकोण की कसौटी पर कसा जाय तो कहा जा सकता है कि हम बिलकुल दूध के धोये हों, ऐसी बात नहीं है। मेरी तो दृढ़ धारणा है कि अब उपवास का प्रसंग समाप्त कर देना चाहिए। जब हम कलकत्ते में बापू से मिलेंगे, तो आशा है, बापू हमारी बात मान लेंगे। यदि निर्विघ्न वार्तालाप किया जाय तो उसमें बापू के, तुम्हारे, और मेरे सिवा और कोई न रहे। सरदार मौजूद रहेंगे तो मुझे बात करने का साहस नहीं होगा।

बापू और सरदार की बातचीत के संबंध में तुमने जो-कुछ लिखा, उसे पढ़ाने में बड़ा आनन्द आया। सरदार बहुत कम बोलते हैं और जब बोलते हैं तो ऐसा लगता है मानो उन्होंने धैर्य खो दिया हो, पर उनकी आत्मप्रेरणा गलत नहीं होती। पर इतने पर भी वह वीरावाला से पार नहीं पा सके।"

किन्तु अबकी बार चित्र एकदम बदल रहा था। महादेवभाई और गिब्सन की मुलाकात हुई। १९ मई को महादेवभाई ने लिखा :

"पता नहीं, आप बापू के ताजा वक्तव्य के संबंध में क्या कहेंगे। हमारे दुर्भाग्य से पहले तो बापू अपनी कारंवाई पर हमारी प्रतिक्रिया से रुष्ट होते हैं, पर बाद को वह भी उसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, जिनपर हम पहुंचे थे, और उसे इतनी ओजस्विता से प्रकट करते हैं कि हम संकोच में पड़ जाते हैं। बहुधा हम उनकी उतावली का उनसे जिक्र करते हैं तो वह कहते हैं कि यह उतावली नहीं है, और यदि है, तो भी क्या! अब वह कहते हैं कि उनकी उतावली हिंसा का लक्षण थी, और उन्होंने सर्वोपरि सत्ता से जो अपील की, ठाकुर को निकम्मा और वीरावाला को चालबाज और रियासत के लिए अभिशाप बताया, सो उतावली का कार्य था, इसलिए वह हिंसा थी। वक्तव्य के ऊपर उनसे मेरी काफी बहस रही। मैंने कहा, "क्या आपका यह विचार नहीं है कि आपका ठाकुरसाहब तक सीमित

रहने के बजाय सर्वोपरि सत्ता से अपील करना, और उसके प्रधान न्यायाधीश द्वारा निर्णय किये जाने के सुझाव को स्वीकार करना, नैतिक और व्यावहारिक दृष्टि से अच्छा नहीं रहा, क्योंकि एक दास के विरुद्ध सत्याग्रह करना (और रियासती नरेश दास ही हैं) न्यायोचित नहीं है।" इसके उत्तर में उन्होंने कहा, "तुम केवल परिणाम देखकर ही यह बात कह रहे हो, और तुम्हारा यह कहना कि ठाकुर सर्वोपरि सत्ता का दास-मात्र है, केवल अर्द्ध-सत्य है, और यदि वह दास हो तो भी यदि मेरा सत्याग्रह परमोत्कृष्ट प्रकार का हुआ तो वह उसे अपनी दासता का अन्त करने में सहायता देगा। जो हो, मैंने जो निर्णय को त्यागने का निश्चय किया है सो आत्म-निरीक्षण का फल है। मैं हरदम इसी व्यथा से व्यथित रहता था और मुझे एकमात्र यही चिन्ता थी कि इस यन्त्रणा से कैसे त्राण पाया जाय।"

गिब्सन से कोई डेढ़ घण्टे तक बातें होती रहीं। वह बड़ी शिष्टता, सरलता और आदर-भाव से पेश आया। वह पुरानी चोटें भूला नहीं है। उसे गुण्डेपन का दोषी ठहराया गया था और वार्त्तालाप का उसकी समझ से असत्य विवरण छापा गया था, आदि। पर मैं इतना अवश्य कहूंगा कि वह मुझे अच्छा लगा, और मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि मैं उससे मिला।

मैं इन लोगों से जितना मिलता हूं उतना ही विश्वास होता जाता है कि हमारा सारा आंदोलन उतावली का व्यक्त रूप मात्र था। थोड़े धैर्य से बहुत कुछ काम बन जाता। खैर, शिक्षा देर से मिली, मिली तो। देर आयद दुरुस्त आयद।"

मैंने अपने उत्तर में श्री गिब्सन के बारे में महादेवभाई के विचारों की पुष्टि की :

"मेरी ग्वालियर-मिल के मैनेजर और सेक्रेटरी ने श्री गिब्सन की मानव की हैसियत से सदा तारीफ की है। कहा जाता है कि वह सबके साथ, विशेषकर बच्चों के साथ, बहुत खुला और उत्तम व्यवहार करते थे। वह मिल में आ जाते थे और बच्चों के साथ खेला करते। आपसी व्यवहार में कुशल, बहुत भले, और राजनैतिक व्यवहार में बहुत बुरे, वह एक साथ ही दोनों नहीं हो सकते थे, और बापू की ओर से उन्हें काफी खरी-खोटी सुननी पड़ी है। क्या बापू को उनके बारे में अपनी राय नहीं बदलनी चाहिए ? मैं अलबत्ता यह मानता तो हूं कि श्री गिब्सन वचन-भंग के लिए अंशत: जिम्मेदार हैं, पर वह जितने के पात्र थे उन्हें उससे अधिक सुननी पड़ी। मेरे आदमी यह स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि श्री गिब्सन के लिए गुंडों-जैसा आचरण करना सम्भव है।"

लोदियन ने इस प्रकार लिखा :

ऐसा प्रतीत होता है, मानो महात्माजी धीरे-धीरे कांग्रेस को वही नीति अपनाने को प्रेरित कर रहे हैं, जिसका उन्होंने मेरे सामने रेखाचित्र खींचा था। तब मैं सेगांव में उनके पास ठहरा हुआ था। पर मेरा खयाल है कि रियासतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन के विकास की रफ्तार को सीमित करना होगा। लोगों को अभी प्रतिनिधि संस्थाओं का अनुभव नहीं है, और यदि कांग्रेस उन्हें बहुत दूर धकेलेगी तो वह मुसलमानों को तो, सम्भव है, हिन्दुस्तान से बिलकुल ही बाहर-धकेल दे। मेरा यह विश्वास पहले से भी दृढ़ हो गया है कि संघ के बुनियादी सिद्धान्तों पर ही हिन्दुस्तान आगे बढ़ सकता है और संकट से भी बच सकता है। आप महात्मा जी से मिलें तो कृपया उन्हें मेरा हार्दिक अभिनन्दन पहुंचा दीजिए।

क्या आप मेरा यह पत्र बापू के सामने रखने का कष्ट करेंगे ?"

बापू ने अब मेल की दिशा में पहल की और गिब्सन ने उन्हें यह पत्र लिखा :

रेजिडेंसी, राजकोट
वालाचड़ी
२७-५-३९

प्रिय श्री गांधी,

आपने जो लिखा सो लिखकर बड़ा सुन्दर काम किया। अनेक धन्यवाद। आप जिन दिनों की बात कहते हैं उन दिनों बड़ा काम था, पर यदि करने योग्य काम हो तो मुझे कार्यभार की चिन्ता कोई नहीं रहती। आजकल जो काम करना पड़ता है, उसका काफी बड़ा हिस्सा वैसा काम नहीं है। उस समय जिन लोगों को सचमुच अत्यधिक काम करना पड़ा वे थे तार और टेलीफोन आपरेटर।

मैं राजकोट ३१ मई की रात को पहुंचने की आशा करता हूं। मैंने महादेव देसाई को लिखा है और बातचीत के लिए दूसरे दिन सुबह का समय सुझाया है और आपके विदा होने से पहले मैं आपसे भी एक बार फिर बातचीत करना चाहूंगा, पर उस दिन सुबह को शायद आप बड़े व्यस्त होंगे, इसलिए मैं प्रस्ताव नहीं कर रहा हूं। पर यदि आप कुछ समय निकाल सकें तो जो समय सुविधाजनक हो उसी समय आ जाइए।

आपका
ई० सी० गिब्सन

महादेवभाई के एक और पत्र का अंश :

"श्री गिब्सन कल आ रहे हैं। बापू और मैं दोनों उनसे मिलेंगे। आपको शायद

मालूम नहीं है कि जब मैं उनसे एक सप्ताह पहले मिला था तो मुलाकात का श्रीगणेश किस प्रकार हुआ था। मैंने उन्हें बताया था कि मुझे उनके सम्बन्ध में जो कुछ जानकारी हासिल हुई है ग्वालियर मिल के मैनेजर द्वारा, जिसने मुझे बताया कि श्री गिब्सन बालकों को कितना प्यार करते थे, और किस प्रकार उनके साथ खेलने के लिए आने को तैयार रहते थे। बस, इतना कहना था कि उनका दिल पसीज गया। इसके बाद, जैसा कि मैं लिख ही चुका हूं, ९० मिनट तक दिल खोलकर बातचीत होती रही।

मैं यह लिखना भूल गया कि गिब्सन की प्रवृत्ति आनन्ददायी, पर शुष्क-विनोद की है। इस पत्र के साथ मैं उनका बापू के उस पत्र का उत्तर भेजता हूं जिसमें उन्होंने उपवास के दिनों में उसे इतना परेशान करने के लिए दुःख प्रकट किया था, यद्यपि वह उपवास अकारथ गया।

२८. कुछ पहेलियां और उनके हल

उन दिनों बापू के विचारों और वक्तव्यों में जो विरोधाभास दिखाई देता था उससे हम सब उलझन में पड़ जाते थे। उस समय का सिंहावलोकन करने पर प्रतीत होता है कि उन्होंने हमारे राष्ट्रनायक के रूप में जो कुछ किया, उसमें वह मूलतः सही रास्ते पर थे। हम यह भी देख सकते हैं कि उनके बिना हम शायद अभी तक स्वतंत्र न हुए होते। पर यह स्पष्ट है कि उन दिनों भी उन्हें इसमें शक होने लगा था कि आम जनता में उनके अहिंसा के सिद्धान्त को पचाने या अहिंसा-व्रत का पालन करते रहने की सामर्थ्य भी है या नहीं। विभाजन के दुःखांत नाटक का और तत्सम्बन्धी और बाद की दुर्घटनाओं का उन्हें पूर्वाभास-सा होने लगा था। उन्होंने यह बात बड़े दुःख के साथ स्वीकार की कि जिस चीज को वह खालिस अहिंसा समझे बैठे थे, वह निष्क्रिय प्रतिरोध के रूप में उसकी घटिया नकल-मात्र निकली। पर हम सब तो साधारण कोटि के मनुष्य हैं। हमारे लिए तो इतना समझना ही काफी है कि यदि कोई जाति या राष्ट्र निष्क्रिय प्रतिरोध का आश्रय ले तो वह बड़ा ही प्रभावोत्पादक सिद्ध हो सकता है और जिनके पास बन्दूकें या संगीनें न हों वे कभी-कभी उनके बगैर ही सफल मनोरथ हो सकते हैं।

२ अप्रैल, १९४० को लार्ड लिनलिथगो के साथ मेरी मुलाकात हुई थी। उसका जो विवरण मैंने बापू के लिए तैयार किया, उसमें मैंने लिखा :

"उन्होंने (वाइसराय ने) इस बात की शिकायत की कि जब कभी गांधीजी उनके साथ बात करते हैं तो हमेशा यह कह देते हैं कि वह कांग्रेस के विचारों का प्रतिनिधित्व नहीं करते। इससे उन्हें (वाइसराय को) बड़ी असुविधा की स्थिति में पड़ जाना पड़ता है। वह गांधीजी के पीछे चलने की कोशिश करते हैं तो उन्हें पता चलता है कि उन्हें त्रिशंकु की भांति बीच में ही छोड़ दिया गया है। अगली बार जब वाइसराय गांधीजी से मिलेंगे तो उनसे कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से मिलेंगे। मुझे लगा कि वाइसराय बहुत थक गये हैं और बहुत निराश हैं। उन्हें गांधीजी के विरुद्ध यह वास्तविक शिकायत है कि उन्होंने सहायक सिद्ध होने की अपनी ओर से शक्ति-भर कोशिश की, पर दूसरी ओर से उन्हें अनुकूल प्रत्युत्तर नहीं मिला। उनकी यह मांग नहीं है कि मुसलमानों के साथ पूरा समझौता हो जाय। वह तो सिर्फ यही चाहते हैं कि गांधीजी को संतोष हो जाय कि जो भी योजना रखी जायगी, उसपर अमल किया जा सकेगा।"

इसी समय के आसपास, ४ अप्रैल को, बापू ने वाइसराय को इस प्रकार लिखा :

"अगर मैंने आपके दिमाग पर यह असर छोड़ा हो कि कांग्रेस वेस्टमिन्स्टर के ढंग का औपनिवेशिक दरजा स्वीकार कर लेगी तो मुझे यह जानकर सचमुच ही बड़ा अफसोस होगा। जब मैं आपको यह पत्र लिख ही रहा हूं तो अपने मन की एक बात और बता दूं। मैं आपको बता ही चुका हूं कि मेरा पुत्र देवदास आपका जोशीला समर्थक है। वह मुझे लम्बी-लम्बी चिट्ठियां लिखकर यह समझाने की कोशिश कर रहा है कि मैंने आपके साथ अपनी पिछली बातचीत को हठात् खत्म करके आपके प्रति बड़ा अन्याय किया है। वह मेरे इस आश्वासन को नहीं मानता है कि बातचीत इसलिए समाप्त हुई कि आप और मैं दोनों इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि हमारे बीच की खाई इतनी चौड़ी है कि उसे अभी बातचीत को जारी रखकर ही नहीं पाटा जा सकता। वास्तव में यह तो आप ही का उद्गार था कि हम लोगों के लिए यह ज्यादा मर्दानगी का काम होगा कि हम अपनी बातचीत को शुरू के दिन ही समाप्त कर दें और जनता को वस्तुस्थिति से अवगत कर दें। आपके कथन की यथार्थता को मैंने तुरन्त स्वीकार कर लिया। देवदास का कहना है कि आपके कथन के पीछे ब्रिटिश अभिमान नहीं, शिष्टाचार-मात्र था। वह कहता है कि वास्तव में आप वार्तालाप जारी रखना चाहते थे। इसलिए देवदास बहुत दुःखी है और उसका खयाल है कि मैंने आपके रुख को गलत समझा। अब आप ही इस कौटुम्बिक विवाद का निपटारा करने में मेरी सहायता कर सकते हैं।"

"महादेव भी दु:खी थे। १२ तारीख को उन्होंने मुझे लिखा :

"बापू के साथ देवदास का मतभेद बना हुआ है। देवदास का कहना है : यदि आपने वाइसराय से कहा होता, 'खुद हमें किसी तरह का औपनिवेशिक दर्जा नहीं चाहिए, पर यह तो आप ही बतायेंगे कि आप हमें किस ढंग का दर्जा देना चाहते हैं' तो वाइसराय ने जवाब दिया होता, 'अच्छा हो कि हम इस प्रश्न की चर्चा किसी अगली तारीख के लिए स्थगित कर दें, उसके बारे में अभी बातचीत करने से कोई लाभ नहीं होगा।' देवदास की तर्कधारा काफी ठोस है, किन्तु हम कर ही क्या सकते हैं ? कभी-कभी बापू ऐसी गलतफहमियां पैदा कर देते हैं कि वह स्वयं उनका निराकरण नहीं कर पाते। ऐसा वह जान-बूझकर नहीं करते, पर उनके मन में इतनी बातें रहती हैं कि विरोधी पक्ष एक बात समझता है, और बापू के मन में दूसरी ही बात होती है।

जब मैंने बापू को आपके प्रश्न की याद दिलाई तो उन्होंने कहा, 'उसके बारे में वाइसराय से क्या पूछना है ? पीछे देखा जायगा।' यही कारण है कि उन्होंने अपने उत्तर में उसका कोई उल्लेख नहीं किया है।"

एक और पहेली ने मुझे १७ तारीख को महादेवभाई को यह पत्र लिखने को बाध्य किया :

"तुमने बापू का ध्यान लियाकतअली खां के प्रत्युत्तर की ओर दिलाया होगा। मुझे भय है कि लियाकतअली की आलोचना में कुछ तथ्य है। बापू के लेखों को शब्दश: लिया जाय तो उनमें विरोधाभास की झलक मिलती है। हमें मालूम है कि बापू को उनकी ठीक व्याख्या करने में कोई कठिनाई नहीं होगी, पर वस्तु-स्थिति यह है कि बहुत बार बापू के विरोधी उन्हें गलत समझ लेते हैं और कभी-कभी तो उनके निकट के आदमियों के लिए भी उनके मन की बात का ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन हो जाता है।

जब मैं वर्धा में था तो राजाजी विभाजन का प्रतिपादन कर रहे थे और बापू उनके तर्क के विरोध में बोल रहे थे। अब बापू कहते हैं कि वह विभाजन का मुकाबला करने में अपनी पूरी शक्ति लगा देंगे। हां, प्रतिरोध अहिंसापूर्ण होगा। इस प्रकार की गलतफहमी केवल वाइसराय और लियाकतअली को ही नहीं, बल्कि और कइयों को भी हुई है। मैंने परसों मूर के मकान पर दोपहर का खाना खाया था। वह भी हैरान थे। उनका कहना है कि 'हरिजन' में वह इतनी परस्पर-विरोधी सामग्री पढ़ते हैं कि चक्कर में पड़ जाते हैं। कभी-कभी उनकी इच्छा होती है कि बापू का समर्थन करें, पर उनको खुद पता नहीं चलता कि बापू निश्चित रूप

से किस दिशा में जा रहे हैं। उनका खयाल है कि बापू के दिमाग में उलझन है। हम सब जानते हैं कि उनका यह खयाल ठीक नहीं है कि बापू के लेखों में उलझन होती है, पर साथ ही हमें इस बात की भी खबर रखनी चाहिए कि बापू के लेखों के बारे में लोग क्या अनुभव करते हैं और क्या सोचते हैं।"

हिटलर ने यूरोप पर जो दबदबा बैठा रखा था, उसका बापू पर कोई असर नहीं पड़ा। १६ मई को महादेव ने मुझे लिखा :

"देवदास का टेलीफोन आया था। हॉलैंड ने आत्म-समर्पण कर दिया है। बेल्जियम का भी यही हाल होना है। अब बापू को ब्रिटिश मंत्रिमंडल के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करना चाहिए और वाइसराय की मार्फत मंत्रिमंडल को एक लम्बा तार भेजना चाहिए। उसका कुछ नतीजा निकल सकता है। बापू ने कहा कि खबरों में कुछ नहीं रखा है। बापू की निगाह में हिटलर ऊंचा चढ़ता जा रहा है। मैंने कहा, 'जबतक आप सार्वजनिक रूप से इस बारे में कुछ नहीं कहते, तभी तक खैर है।"

२१ तारीख को बापू ने मुझे स्वयं लिखा :

"यूरोप इस समय ऐसे लोगों का संगम-स्थल बना हुआ है, जो यादवों की भांति एक-दूसरे का विनाश करने पर तुले हुए हैं। जो हो, मेरा दिल कठोर हो गया है।

बापू के आशीर्वाद"

दुर्भाग्यवश बापू यह मान बैठे थे कि युद्ध में ब्रिटेन की हार हुई है और उन्होंने लार्ड लिनलिथगो को एक पत्र में अपना यह विचार लिख भी डाला। महादेवभाई को शायद यह बात पसन्द नहीं आई और उन्होंने मुझे ६ जून को लिखा :

"उस पत्र का उत्तर आ गया है। बापू ने अपने पत्र में लिखा था :

'यह नर-संहार बन्द होना चाहिए। आप हार रहे हैं। आप युद्ध जारी रखेंगे तो उसका एकमात्र परिणाम और अधिक रक्तपात होगा। हिटलर बुरा आदमी नहीं है। आप आज लड़ाई बंद कर दें तो वह भी ऐसा ही करेगा। आप मुझे जर्मनी या और कहीं भेजना चाहें तो मैं हाजिर हूं। आप इसकी सूचना ब्रिटिश मंत्रिमंडल को भी दे सकते हैं।" मेरा यह दृढ़ विचार था कि वे इसे धृष्टता समझेंगे।

जो उत्तर आया है, वह बढ़िया है : 'हम संघर्ष में जुटे हुए हैं, जबतक हम अपना लक्ष्य हासिल नहीं कर लेंगे, अपनी जगह से नहीं हटेंगे। मैं जानता हूं कि आप हमारे लिए चिन्तित हैं, पर सबकुछ ठीक ही होगा। आपने हमारे दो पुत्रों के लिए जो चिन्ता व्यक्त की है, उसका हमारे दिलों पर बड़ा असर पड़ा है।' बस, इतना ही।"

इस बीच बापू उपवास की धमकी दे रहे थे, किसी बड़े राष्ट्रीय प्रश्न को लेकर नहीं, बल्कि इसलिए कि आश्रम में कोई मामूली-सी चोरी हो गई थी। इसपर सेवाग्राम में बड़ी खलबली मची हुई थी। महादेवभाई ने ३ जून को लिखा :

"यहां तो हमेशा इस या उस तरह की कोई-न-कोई उत्तेजना बनी ही रहती है। एक लड़की ने बापू को एक पत्र लिखा था। पत्र के पास ही एक कलम पड़ी थी। किसीने दोनों को चु रा लिया। बाद में कलम वहां मिल गई, जहां उसे किसी ने फेंक दिया था। पत्र के फटे हुए टुकड़े भी मिले। इससे बापू को इतना आघात पहुंचा कि उन्होंने घोषणा कर दी, 'यह काम नौकरों का नहीं हो सकता। अपराधी हमारे भीतर छिपा है। यदि शुक्रवार तक अपना अपराध स्वीकार करने के लिए कोई आगे नहीं आता है तो शनिवार से मैं उपवास शुरू कर दूंगा।' हम अपनी शक्ति-भर अपराधी का पता लगाने की कोशिश कर रहे हैं और हरेक को समझा-बुझा रहे हैं, किन्तु अभी तक कोई सफलता नहीं मिली है। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक कार्यों में हमारा बहुत-सा समय चला जाता है।"

६ तारीख को महादेवभाई ने पुनः लिखा :

"चोरी के प्रकरण ने भद्दा रूप धारण कर लिया है। कल बापू ने अकस्मात् 'अ' से कहा, 'मेरा सन्देह तुम्हारे ऊपर है। अपराध स्वीकार क्यों नहीं कर लेती हो ?' मैं भी स्तंभित रह गया। 'अ' ने जवाब दिया, 'मैंने नहीं लिया। मैं बेकसूर हूं। अल्लाह मेरा गवाह है।' उसने आज से अनशन शुरू कर दिया है। मैंने बापू से कहा, "आपने उसपर इस तरह आरोप लगाकर उतनी ही जल्दबाजी से काम लिया है, जितनी आपने उपवास की घोषणा करने में दिखाई थी।' बापू को जब यह महसूस होगा कि उन्होंने लड़की के प्रति अन्याय किया है तो वह उसके प्रति सौ बार न्याय करके इसका परिमार्जन करने की चेष्टा करेंगे और यह भी एक अन्याय का काम होगा। और भी कई मामलों में बापू ने ऐसा ही किया है। मैंने बापू से यह सब कहा, पर उनपर कोई असर नहीं हुआ। अभी तक तो उनका उपवास करने

का निश्चय कायम है। आप कल फोन करेंगे तो अधिक जानकारी हो सकेगी।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि मैंने महादेवभाई के सुझाव के अनुसार फोन किया और बापू से उपवास न करने का अनुरोध भी किया। महादेवभाई ने उत्तर में लिखा :

प्रिय घनश्यामदासजी,

टेलीफोन पर आपका संदेश मिला। मैं बापू के साथ काफी दलील कर चुका हूं। मैंने कहा, "आपको यह पता हो कि किसने अपराध किया है तब तो आपका प्रायश्चित्तस्वरूप उपवास करना समझ में आ भी सकता है, पर अपराधी का पता लगाने के लिए उपवास करना कुछ ठीक नहीं रहेगा। यदि हम सब कुछ जानने का दावा करें या जानने की कोशिश करें तो यह ईश्वर के गुणों को धारण करने जैसा होगा और हमारे अभिमान का परिचायक होगा। इसलिए आप उपवास करने का विचार छोड़ दीजिए। इसमें अनेक अनिश्चित तथ्य हैं।"

बापू ने लिखा :

"तुम्हारा दृष्टिकोण मेरे सामने है ही।"

इससे मुझे आशा होती है कि अन्त में शायद बापू उपवास शुरू न भी करें। मैं यह मानने को तैयार नहीं हूं कि यहां के किसी आदमी ने पत्र या कलम चुराया है। हम सब अति लघु हो सकते हैं, पर मैं इस बात की तो कल्पना भी नहीं कर सकता कि एक साधारण चोरी का अपराध स्वीकार करने के पूर्व हम बापू के उपवास करने की नौबत आने देंगे।

१० तारीख को महादेव भाई ने अच्छी सुनाई :

"बापू ने उपवास का विचार स्थगित कर दिया और इसका मुख्य श्रेय मेरी बड़ी कोशिशों और मेरे कड़े विरोध को है। मैंने इससे पहले बापू के किसी भी काम का इससे अधिक कड़ा विरोध नहीं किया। बापू ने उपवास शुरू कर दिया, उसके बाद भी मैंने बापू को एक लम्बा पत्र लिखा जिसमें मैंने कहा, 'आपका यह उपवास धार्मिक उपवास नहीं है और जबतक उसका अन्त नहीं कर दिया जायगा मैं बराबर विरोध करता रहूंगा।' दो घंटे बाद बापू ने उपवास त्यागने का निश्चय कर लिया।"

पर इधर राजाजी, मैं और अन्य लोग, ब्रिटेन के साथ किसी-न-किसी प्रकार

के समझौते के लिए प्रयत्नशील थे। कांग्रेस ने अपेक्षाकृत बड़े प्रश्नों की उपेक्षा नहीं की। कांग्रेस ने ऐसी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करने के लिए एक तर्कसंगत प्रस्ताव किया, जो युद्ध को उसके सफल अन्त तक चलाने में मदद देती रहती। किन्तु तबतक उन अंग्रेजों का अविश्वास बहुत गहरा हो गया था, जो किसी समय हिटलर को संतुष्ट करने और प्रोत्साहन देने में सबसे आगे थे। कांग्रेस के प्रस्तावों को ठुकरा दिया गया। यहां यह कहना उचित होगा कि कांग्रेस को ब्रिटेन के कतिपय अंग्रेजों का और भारत में रहने वाले कुछ अंग्रेजों का समर्थन अवश्य मिला।

४८, बजलुल्ला रोड
त्यागरायनगर, मद्रास
१६ अगस्त, १६४०

प्रिय घनश्यामदासजी,

स्थानीय समाचार-पत्रों ने श्री आर्थर मूर के लेख का मुख्य अंश प्रकाशित किया है, जिसमें उन्होंने श्री एमरी के वक्तव्य की आलोचना की है और अस्थायी राष्ट्रीय सरकार कायम करने की कांग्रेस की मांग का समर्थन किया है। कृपया मेरा यह विचार उनतक पहुंचा दीजिए कि उन्होंने मामले को जिस लाजवाब तरीके से पेश किया है, मैं उसकी सराहना करता हूं। मैं आशा करता हूं कि उनका यह लेख पूरा-का-पूरा इंग्लैंड गया है।

आपका
चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

२९. एक व्यक्तिगत स्पष्टीकरण

यह अध्याय 'व्यक्तिगत स्पष्टीकरण के लिए है', जैसाकि पुरानी व्यवस्थापिका के सदस्य कहा करते थे।

१६४० के अन्त में लार्ड लिनलिथगो के साथ मेरा खासा झगड़ा हो गया। मैं इस प्रसंग का केवल इसीलिए जिक्र कर रहा हूं कि उस समय के मेरे अपने कार्यकलाप के बारे में प्रचलित धारणा से उसका घनिष्ठ संबंध है। सीधी-सादी भाषा में लोगों की धारणा थी कि मैं अपने-आपको कांग्रेसवादी तो नहीं कहता

हूं, पर उसे गुप्तरूप से खूब पैसे दे देता हूं, और इस प्रकार दो किश्तियों पर सवार हूं।

कह नहीं सकता कि कुछ लोग मुझे शंका का लाभ देते थे या नहीं और यह मानते थे या नहीं कि मैं कांग्रेस का समर्थन देशभक्ति की भावना से प्रेरित होकर ही करता हूं। जब मैं सर गिलबर्ट लेथवेट के साथ अपनी अन्तिम मुलाकात का अपना विवरण फिर से पढ़ता हूं तो यह सोचने को मन कहता है कि वह और वाइसराय दोनों ही मेरे इस कार्य को देशभक्ति से प्रेरित मानते थे और उनमें कोई बुराई नहीं देखते थे। उनका केवल यही कहना था कि कांग्रेस इस समय युद्ध-चेष्टा में सहायता नहीं दे रही है, बल्कि बाधा डाल रही है और चूंकि उनका विश्वास था कि मैं कांग्रेस की आर्थिक सहायता कर रहा हूं, इसलिए वाइसराय सार्वजनिक रूप से मेरे साथ घनिष्ठ संबंध रखने में कठिनाई का अनुभव करते थे, क्योंकि उधर वह कांग्रेसवादियों को जेल भेज रहे थे। इसका यह लाजमी मतलब नहीं कि उन्हें मेरा या उन लोगों का, जिन्हें वह जेल भेजने को बाध्य होते थे और जिनके साथ संघर्ष समाप्त हो जाने के बाद सामान्य मधुर संबंध कायम करने को वह तैयार हो जाते, कम लिहाज था। पर मैं भड़क उठा और मुझे बड़ा ही क्रोध आया, क्योंकि मुझे लगा कि कम-से-कम उन्हें यह तो पता होना चाहिए था कि मैं कांग्रेस के सविनय अवज्ञा-आंदोलन को आर्थिक सहायता नहीं दे रहा हूं। मेरी भक्ति बापू के प्रति थी और मैं उन्हें किसी भी चीज के लिए इंकार नहीं कर सकता था। वह अपनी सभी योजनाओं में मुझसे सहायता मांगा करते थे, पर बापू यह अच्छी तरह जानते थे कि मैं कांग्रेसवादी नहीं हूं, और उन्होंने मुझे सविनय अवज्ञा-आंदोलन के लिए रुपया देने को कभी कहा भी नहीं। उन्हें मुझसे जो रुपया मिला उसे उन्होंने किसी ऐसे काम में लगाया भी नहीं। उन्होंने खुद कांग्रेस के लिए रुपया नहीं जुटाया और न वह साधारणतया कांग्रेस के लिए रुपये की अपील ही किया करते थे। जनता पर उनका इतना भारी प्रभाव था कि वह बहुत बड़े धन-संग्राहक बन गये थे, पर उनकी अपीलें हरिजनों, गृह-उद्योगों, बुनियादी तालीम और विविध रचनात्मक कामों के लिए ही होती थीं।

मैंने महादेवभाई को जो पत्र लिखा था, वह यह है :

२९ दिसम्बर, १९४०

मैंने यहां आने के तुरन्त बाद लेथवेट को लिखा कि मेरी वाइसराय के साथ मुलाकात तय करा दें और यह भी लिखा कि वाइसराय से मिल लेने के बाद मैं उनसे भी मिलना चाहूंगा। लेथवेट का जवाब मिला कि उन्हें भय है कि वाइसराय से तो मिलना नहीं हो सकेगा, पर वह स्वयं मुझसे मिलकर प्रसन्न होंगे। मुझे शक हुआ कि पुरानी नीति में परिवर्तन हुआ है, पर लेथवेट से मिलने के

पहले मैंने कोई खयाल बनाने से इन्कार कर दिया।

अगले दिन एस० सी० मित्रा वाइसराय से मिलने जा रहे थे। वाइसराय ने एक सप्ताह पहले ही उनसे कहा था कि वह मेरे द्वारा गांधीजी के साथ संपर्क बनाये हुए हैं। उन्होंने मेरे लिए 'मेरे मित्र श्री बिड़ला' शब्दों का प्रयोग किया था। स्वभावतया ही मित्रा ने यह जानना चाहा कि क्या वह वाइसराय के सामने कोई प्रस्ताव रख सकते हैं। मैंने उन्हें बताया कि तुमने लेथवेट को जो सुझाव दिया है, मित्रा को वाइसराय से मिलते समय उसी पर जोर देना चाहिए। मित्रा वाइसराय से मिलते समय उस प्रस्ताव के बारे में कुछ भी याद नहीं रख पाये। किन्तु जब मित्रा ने वाइसराय से कहा कि सम्भव है, मेरे साथ उस सुझाव के बारे में फिर चर्चा हो, तो वाइसराय ने कहा, "श्री बिड़ला मेरे मित्र हैं, पर इन दिनों वह आंदोलन को पैसा दे रहे हैं। उन्हें ऐसा करने का पूरा अधिकार है, क्योंकि उनका पैसा है। पर चूंकि वह आंदोलन को आर्थिक सहायता दे रहे हैं, इसलिए अभी मैं उनसे मिलने में रुकावट महसूस करता हूं।" जब मैंने यह सुना तो मेरे सन्देह की पुष्टि हो गई। नीति में परिवर्तन हो गया था। फिर भी लेथवेट से मिलने गया।

लेथवेट से मिलने पर मैंने उनसे कहा, वैसे तो मैं वर्तमान गतिरोध के बारे में कुछ रचनात्मक चर्चा करने आया हूं, पर मैं समझता हूं कि पहले यह बता देना अच्छा रहेगा कि वाइसराय ने मेरे बारे में मित्रा से जो कुछ कहा, उसे सुनकर मुझे बड़ा धक्का लगा है। लेथवेट ने जवाब दिया, "पर क्या यही बात सबकी जबान पर नहीं है ?" मैंने कहा, "सबकी जबान पर क्या बात है इससे तो मुझे कोई सरोकार नहीं है। प्रश्न तो यह है कि क्या आपका भी यही विश्वास है ?"

उन्होंने कहा, "नहीं।"

मैंने कहा, "नहीं, है।" और मैंने यह भी कहा कि चूंकि मुझे यह पता चल गया है कि वाइसराय को मुझपर भरोसा नहीं है, इसलिए मैं इस बात को आगे नहीं बढ़ाना चाहता। लेथवेट ने कहा, "पर क्या आप कांग्रेसवादी नहीं हैं ?" मैंने उत्तर दिया, "मैं कांग्रेसवादी नहीं हूं। हां, गांधीवादी अवश्य हूं। गांधीजी मेरे लिए पिता के समान हैं। मैं उनके सारे लोकोपकारी और रचनात्मक कार्यों में गहरी दिलचस्पी रखता हूं। गांधीजी ने मुझसे राजनैतिक लड़ाई में भाग लेने को कभी नहीं कहा। वाइसराय को अबतक यह जान लेना चाहिए था कि समूचे भारत में उनकी सहायता करने की जितनी चेष्टा मैंने की और उनका साथ देने के मामले में जितनी वफादारी मैंने दिखाई उतनी और किसी ने नहीं दिखाई होगी, और वाइसराय ने मुझे यह पुरस्कार दिया है ! यदि वाइसराय की धारणा यह है कि एक ओर तो मैं उनके पास एक मित्र की हैसियत से आता हूं और दूसरी ओर गुप्तरूप से उनके खिलाफ काम कर रहा हूं, तो फिर उनका समय और अधिक बर्बाद करने की मेरी इच्छा नहीं है। वाइसराय ने मेरी

ईमानदारी पर शक करके मेरे प्रति अन्याय किया है, और मैं और अधिक लांछित होना नहीं चाहता।"

लेथवेट कुछ कट-से गये। "पर अपनी पसन्द के राजनैतिक संपर्क रखने में क्या बुराई है ?" मैंने कहा, "कोई बुराई नहीं है, पर बुराई इसमें है कि आदमी हो कुछ और बने कुछ। मैंने वाइसराय को और आपको (अर्थात् लेथवेट को) अपने बारे में जानकारी कराने की पूरी-पूरी कोशिश की है। पर पांच साल के बाद भी मेरे साथ मानवी सम्वन्ध कायम नहीं हो सका। अब मेरी ईमानदारी पर ही शक किया जा रहा है। इसलिए इस ढंग का नाता बनाए रखने की मेरी इच्छा नहीं है।"

लेथवेट ने मुझे शांत करने की चेष्टा की और जानना चाहा कि वह रचनात्मक सुझाव क्या है, जो मैं उन्हें देना चाहता था। पर मैंने कहा, "किसी रचनात्मक प्रस्ताव पर चर्चा करने योग्य आत्मविश्वास अब मुझमें नहीं रहा है।" उन्होंने कहा, "इससे क्या फर्क पड़ता है कि आप एक मित्र की हैसियत से आते हैं या विपक्षी की हैसियत से ?" मैंने कहा, "फर्क जरूर पड़ता है। मैं विपक्षी की हैसियत से आऊंगा तो मेरी बात का आप पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ेगा। मैं मित्र की हैसियत से ही तो कुछ असर डाल सकता हूं। और अब चूंकि मुझे मित्र नहीं समझा जा रहा है, इसलिए आगे बात चलाने की मेरी इच्छा नहीं है।" जब उन्होंने ज्यादा दबाव डाला तो मैंने उन्हें अन्यमनस्क भाव से बताया कि मैं उनसे किस विषय पर बात करना चाहता था। उन्होंने मुझे फिर ठंडा करने की कोशिश की।

वह मुझे विदा करने के लिए अपने दफ्तर के बाहरी अहाते तक आये। हर तरह का शिष्टाचार दिखाया, पर मैं शान्त होने की वृत्ति में न था। बस, मामला यहीं खत्म हो गया। उन्होंने कहा, "हम चाहे जब मिल सकते हैं और बातचीत कर सकते हैं।" पर मैंने कह दिया कि वाइसराय की ओर से यह प्रसाद पाने के बाद वाइसराय भवन में फिर पांव रखने की मेरी इच्छा नहीं है और उनके साथ मेरी बातचीत का यह बिलकुल अन्तिम अध्याय है।

मैंने बापू के आगे वाइसराय की कितनी कुछ वकालत की है और ऐसा व्यवहार किया है मानो मैं वाइसराय का ही प्रतिनिधि होऊं, सो तुम्हें बताना न होगा। और इस सबका वाइसराय ने यह बदला दिया है। यह बौड़मपन नहीं तो और क्या है ? पर बापू को वाइसराय को गलत नहीं समझना चाहिए। कौन जाने, वह स्वयं परिस्थितियों के शिकार न बन गए हों।

जो हो, इसके साथ वाइसराय के साथ मेरे सम्बन्धों का अन्त होता है। कितने जड़ मानसवाले हैं ये लोग !

३०. बापू पत्र-लेखक के रूप में

पाठकों ने देखा होगा कि मैंने बापू के पत्रों की अपेक्षा उनके निजी मंत्रियों के पत्रों से अधिक खुलकर उद्धरण दिए हैं। मैं उनके मंत्रियों को अधिक लिखा करता था, इसका कारण यह था कि मैं बापू पर उत्तर देने का बोझ नहीं डालना चाहता था। बापू स्वभाव से इतने मृदुल थे कि वह मेरे पत्रों का उत्तर निश्चय ही देते। मैं यह तो जानता ही था कि मैं बापू के मंत्रियों को जो पत्र लिखता हूं वे बापू के सामने रख दिये जाते हैं। दुर्भाग्यवश बापू के सैकड़ों सदाशयी प्रशंसक, जिनमें से अधिकांश उनसे व्यक्तिगत रूप से परिचित नहीं होते थे, बराबर सीधे बापू को ही लिखा करते थे और उन्हें बापू खुद ही जवाब देते थे। इससे उनके समय और स्वास्थ्य दोनों पर बोझ पड़ता था, और चूंकि बापू के पत्र-लेखक बापू के पत्रों पर गर्व का अनुभव करते थे और उन्हें प्रायः बहुमूल्य वस्तुओं के रूप में अपने पास रखते थे, इसलिए बहुत कम ऐसे सार्वजनिक व्यक्ति हुए हैं, जो इतना पत्र-व्यवहार अपने पीछे छोड़ गये हों, जितना बापू छोड़ गये हैं।

तो भी बापू समय-समय पर मुझे पत्र लिखते रहते थे। मजे की बात यह है कि जहां एक ओर मुझे उनके स्वास्थ्य के बारे में गहरी दिलचस्पी रहती थी और जब वह दिल्ली में नहीं होते थे तो मैं बराबर यह जानने के लिए आश्रम तार भेजता रहता था कि उनका रक्तचाप बढ़ा तो नहीं या वजन कम तो नहीं हो गया, वहां दूसरी ओर बापू भी अपने पत्रों में बहुधा बिलकुल अनावश्यक रूप से मुख्यतः मेरे स्वास्थ्य के बारे में ही लिखा करते थे। मैं यह पहले ही लिख चुका हूं कि कई वर्षों पहले जब मैं युवक था और पहली बार इंग्लैण्ड गया था तो बापू ने किस प्रकार मुझे बड़ी सावधानी के साथ हिदायतें लिख भेजी थीं। उनकी यह रुचि बराबर बनी रही और उनके कुछ पत्र विस्तार के कारण और कुछ डाक्टरी सलाह लिये हुए होने के कारण प्रकाशन-योग्य शायद ही सिद्ध हों। फिर भी उदाहरण के तौर पर कुछ ऐसे पत्र दे रहा हूं जो उन्होंने मुझे अपने जीवनकाल के अन्तिम चरण में लिखे थे।

सेगांव
२०-३-४५

चि० घनश्यामदास,

तुमको तार एक्सप्रेस भेजा है। नकल साथ भी है। क्या, कितना कब खाते हैं? भाजी में क्या? कच्ची कि उबाली हुई? पानी फेंका तो नहीं जाता? टोस्ट से बेहतर खाकरा नहीं होगा? आटा के साथ चोकर है? दूध लेते हैं तो कितना?

कुछ भी हो आधा आउन्स मक्खन टोस्ट खाकरा पर लगाकर सेलाड के साथ लेना। बदहजमी हो तो दूसरा खाना कम करो लेकिन मक्खन रखो। गहरा श्वास अत्यावश्यक है। एक नाक बन्द करके दूसरे नाक से स्वास खींचो। आस्ते-आस्ते बढ़ाकर आध घंटे तक जा सकते हैं। प्रत्येक श्वास के साथ राम-नाम मिलाओ। श्वास लेने के समय चोमेर से हवा होनी चाहिये। खुले में हो तो अच्छा ही है। प्रातःकाल में लेना ही है, बाकी खाना हजम होने के बाद। कम-से-कम चार बार लेना। श्वास लेना है, निकालना है। यह क्रिया आराम से करनी चाहिये। पाखाना बराबर आता है? नींद आती है? यह सब समझपूर्वक होगा तो खांसी शीघ्र ही चली जायगी।

बापू के आशीर्वाद

९-४-४५

चि० घनश्यामदास,

मेरे अक्षर पढ़ सकते हैं क्या? मुश्किल लगे तो मैं लिखवाकर भविष्य में पहुंचा भेजूं।

दिन तो चले जाते हैं। समय पेटभर बातें करने का रहता नहीं इसलिये मुझे कहना है सो तो लिखूं क्योंकि मेरी बात तो मैं लिखकर खतम कर सकूंगा। उत्तर तो दो-चार शब्दों में दे सकते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि मैंने कहा है सो खींच लेता हूं। मैं तुमको वक्त न दूं तबतक यहां से नहीं हटूंगा। मेरी बात के लिये ठहरना नहीं चाहता।

१. मेरा काम बढ़ गया है। अब तो कोशिश कर रहा हूं कि मेरे पास पैसे की कोई आशा न करे और मैंने बनाई हैं वे सब संस्था स्वाश्रयी बन जायं। ऐसा होने में कुछ समय तो जायगा और दरम्यान मुझे पैसा निकालना होगा। संस्थायें तो (१) चर्खा संघ (२) ग्राम उद्योग संघ (३) नई तालिम (४) हिन्दुस्तानी प्रचार और (५) आश्रम हैं। २, ३, ४, ५ की हाजत आज है। पांचवीं संस्था आश्रम तो कभी स्वाश्रयी नहीं बनेगी। कोशिश तो करता हूं। आश्रम में अस्पताल आता है। अस्पताल का खर्च अलग रहता है। उसके पैसे इधर-उधर से आया करें, ऐसी चेष्टा चल रही है तो भी आश्रम का खर्च प्रतिवर्ष एक लाख के नज़दीक जाता है। मैं स्मरण से लिख रहा हूं। आश्रम को आज हाजत नहीं। रामेश्वरदास पैसे भेजते हैं। रहे २, ३, ४, उनके लिए पैसे चाहिये। रामेश्वरदास ने कुछ भेज दिये हैं ऐसा ख्याल है। हिं० प्रचार और नयी तालिम के लिए चाहिये। शायद मुझको दो लाख की आवश्यकता रहे। यह खर्च उठाओगे क्या? सफरर्स फंड का रामेश्वरदास के खत में है ही। मेरा ख़याल भी मैंने बताया है।

२. अब रही बात साथियों के साथ के संबंध की और मेरे प्रयोग की। प्रयोग

तो अब साथियों के खातिर बन्द है। मुझको उसमें कुछ अनुचित नहीं लगता है। मैं वही ब्रह्मचारी हूं जो १९०६ की साल में प्रतिज्ञा से रहा और १९०१ से ब्रह्मचारी की स्थिति में रहा। आज मैं १९०१ से वहतर ब्रह्मचारी हूं। मेरे प्रयोग ने अगर कुछ किया है तो यह कि मैं था इससे ज्यादा पक्का हुआ। प्रयोग पूर्ण ब्रह्मचारी वनने के लिये था और यदि ईश्वरेच्छा होगी तो संपूर्ण बनने के कारण होगा। अब इस बारे में तुम बातें करना और प्रश्न पूछना चाहते थे। दोनों चीज कर सकते हैं। संकोच की कोई बात है नहीं। जिसके साथ इतना घनिष्ट संबंध है और जिसके धन का मैं इतना उपयोग करता हूं उसके मन में कुछ संकोच रहे सो मेरे असह्य होगा। अच्छा है कि दोनों भाई मौजूद हैं। यह पत्र दोनों के लिये तो है ही, लेकिन सब भाइयों के लिये और परिवार के लिये ऐसा समझो।

पत्र छोटा लिखना था लेकिन कुछ लम्बा तो हुआ ही। बात तो तीन हैं।

बापू के आशीर्वाद

एक बात रह गई। आश्रम की जमीन वि० गौशाला को दी गई इसके तुमने ५०,०००) दिये हैं। अब बात ऐसी है कि जब चिमनलाल ने फेरिस्त भेजी तो उसमें आश्रम का खेत और जिसमें कुंआ है उसका कुछ जिकर है। अगर है तो सब मकान भी गये। ऐसे तो हो नहीं सकता। यह तो कुछ चूक ही थी। लेकिन खत तो जानकीदेवी आदि ने लिखे। कुछ निकाल नहीं आया। अब प्रश्न यह है कि अगर तुमने ऐसा माना है कि सब जमीन और कुंआ गोशाला को दे दिया था तो तुम्हारे ५०,०००) में से कुछ काटना होगा। तुम्हारे जैसा करना है ऐसा किया जाय।

—बापू

किन्तु इसके बाद के दिनों में बापू मुझे और जल्दी-जल्दी पत्र लिखने लगे थे।

यह बात उल्लेखयोग्य है कि जो काल राजनैतिक उत्तेजना से परिपूर्ण था और जिस समय बापू के सिर पर भारी जिम्मेदारियां थीं, उसमें भी वह अपने को धूम-धड़ाके से अलग कर लेते थे और अपनी लोकहितकारी योजनाओं की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातों के बारे में लिख सकते थे। उन्होंने १६ अक्तूबर को मुझे एक लंबा-सा पत्र लिखा, जिसका पहला भाग नासिक की स्कूल की इमारतों और सेनेटोरियम के बारे में था। उन्होंने आगे लिखा था :

"सरदार का अभिप्राय मैं लिख दूं। वे मानते हैं कि इस काम में मुझे यहां तक रस नहीं लेना चाहिये। आर्थिक मदद देना है तो वह दिलवाकर शांत रहना चाहिये। सरदार मनुष्य स्वभाव को जाननेवाले हैं और मेरे प्रति उनका अतिशय

भाव रहा है इसलिये उनकी वृत्ति को भी तुम्हारे सामने रखना मुझे अच्छा लगता है जिससे तुम तटस्थ भाव से इस चीज का निर्णय कर सको।"

इसके वाद नासिक और प्राकृतिक चिकित्सा के संबंध में कुछ और बातें हैं। फिर निम्नलिखित रोचक पैरा आता है :

"इस काम में मेरा बहुत रस होते हुये भी तटस्थ रूप से ही कार्य देख रहा हूं और कर रहा हूं ऐसा समझो। अगर मुझे १२५ वर्ष तक जिन्दा रहना है तो उसकी यह भी शर्त है कि मेरी तटस्थता यानी अनासक्ति की मात्रा दिन प्रतिदिन बढ़नी चाहिए और मनुष्य के लिए शक्य है वहां तक संपूर्णता को पहुंचनी चाहिए। यह कैसे हो सकता है, होगा या नहीं यह नहीं जानता हूं। जानने की इच्छा भी क्यों करूं ? उस आदर्श को दृष्टि में रखते हुए मैं जिसे कर्त्तव्य समझूं वही करना है। मैं इतना समझता हूं कि इस आदर्श को पहुंचना कठिन है, लेकिन कठिन कार्य करते हुये ही जीवन गुजरा है।

बापू के आशीर्वाद"

बापू अपने विविध लोकोपकारी कार्यों की खातिर एक बहुत ही कुशल व्यापारी भी थे, इसका पता इस पत्र से चलता है :

पूना
ता० १२-७-४६

भाई घनश्यामदास,

यह तो आपको पता है कि आप लोगों की मन्जूरी से कस्तूरबा ट्रस्ट का करीब १०, १२ लाख रुपया सेन्ट्रल और यूनाइटेड कमर्शियल बैंकों में फिक्स डिपाजिट के रूप में लगा हुआ है। सेन्ट्रल बैंक १२ महीने की मियाद पर १॥। सैकड़ा ब्याज देता है और यूनाइटेड कमर्शियल बैंक २। सैकड़ा। ट्रस्ट चूंकि पर-मार्थिक कार्य के लिये है इसलिये मेरी तो यह इच्छा है कि बैंकों को जो कुछ ब्याज सरकारी लोन से या अन्य साधनों से मिलता है वह ट्रस्ट को दे। इसका अर्थ यह है कि ट्रस्ट को ३ सैकड़ा टका ब्याज तो मिलना ही चाहिये। मैं सेन्ट्रल बैंक से ब्याज के सम्बन्ध में सर होमी मोदी को लिख रहा हूं और यूनाइटेड कमर्शियल बैंक के सम्बन्ध में आपको लिख रहा हूं। आप उसके अध्यक्ष की हैसियत से ३ तीन सैकड़ा ब्याज दें तो अच्छा होगा।

मैं कल पंचगनी जा रहा हूं। उत्तर वहीं भेजना।

बापू के आशीर्वाद

बापू ने मुझे पंचगनी बुलाया और मैं वहां गया। उनके पास प्राकृतिक चिकित्सा की बहुत बड़ी योजनाएं थीं, जिनके बारे में उन्होंने चर्चा की, किन्तु बाद में उन्हें छोड़ दिया।

३१. स्वतंत्रता का आगमन

यह बात सभी जानते हैं कि युद्ध का अंत होने पर १९४५ के पूर्वार्द्ध में हमें अशांत समय में से होकर गुजरना पड़ा था, किन्तु अगस्त में जब इंग्लैंड में मजदूर दलीय सरकार सत्तारूढ़ हुई तो दृश्य इतना बदल गया कि उन दिनों के घटना-चक्र—वेवल-योजना, शिमला-सम्मेलन और अन्य उत्तेजनाओं का जिक्र करना बेसूद-सा होगा। श्री जिन्ना के बारे में बहुत-से लोगों ने यह समझने की भूल की कि वह झांसा-पट्टी देनेवाले व्यक्ति हैं। पर वह अखिल भारतीय एकता के मार्ग में एक दुर्लंघ्य दीवार और निष्ठुर इरादों को पूरा करने के मामले में अडिग व्यक्ति सिद्ध हुए। ब्रिटेन में सरकार का जो परिवर्तन हुआ उससे भी यह रुकावट दूर नहीं हुई और शुरू-शुरू में ब्रिटेन में हुए परिवर्तन के महत्त्व को भारत में पूरी तरह से नहीं समझा गया। सन्देह की जड़ का उखाड़ना कितना कठिन कार्य है :

सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने मुझे लिखा :

"आशा करता हूं कि आपके कांग्रेसी मित्र सर्वथा नकारात्मक दृष्टिकोण न अपनाकर हमारी कुछ सहायता करेंगे।

कांग्रेस की ओर से जो वक्तव्य दिये जा रहे हैं वे उन लोगों के लिए अधिक सहायक सिद्ध नहीं हो रहे हैं, जो इस मामले का निपटारा करने की चेष्टा में लगे हुए हैं। इन वक्तव्यों से तो विरोधियों की दलीलें ही वजनदार होती जा रही हैं।

आपने मार्ग को निष्कंटक बनाने के लिए जो कुछ किया है, और जो कुछ कर रहे हैं, उसके लिए मैं आपका अत्यन्त आभारी हूं। ब्रिटिश सरकार का निश्चय ही इस मामले में आगे बढ़ने का इरादा है, पर भारत की मदद के बिना हम सफल नहीं हो सकते।"

उत्तर में मैंने लिखा :

"चुनाव के समय आपको कुछ असंयत भाषण सुनने को मिलेंगे, पर उन्हें महत्त्व नहीं देना चाहिए। आखिर चुनाव तो चुनाव ही है। ब्रिटिश चुनाव हमारे चुनाव से कुछ कम कटुतापूर्ण नहीं था। इसके अलावा अतीत की पृष्ठभूमि मौजूद है ही। साथ ही इंग्लैंड के अंग्रेजों की मनोदशा और यहां के अंग्रेजों की मनोदशा के अंतर की बात भी नहीं भूलनी चाहिए। इसके ऊपर इधर इण्डोनेशिया के उपद्रव को लेकर जनता का मन काफी उद्वेलित हो रहा है, सो भी दुर्भाग्य की ही बात है। मैं आशा करता हूं कि ब्रिटिश सरकार इस प्रश्न को हल करने में भी सहायक कदम उठाएगी। लोकतंत्र और स्वशासन इंडोनेशिया के लोगों के लिए अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा कम जरूरी नहीं हैं। मैं यह कहने का साहस करता हूं कि इस आकांक्षा के प्रति आपकी पूरी सहानुभूति है। इन सम्बन्धित प्रश्नों के हल का तमाम एशियाई राष्ट्रों पर गहरा प्रभाव पड़ेगा।

मुझे भविष्य निश्चित रूप से उज्ज्वल और मित्रतापूर्ण नजर आता है। बहुत कुछ इसपर निर्भर करेगा कि दोनों पक्ष कैसा आचरण करते हैं, और यह भी सही दृष्टिकोण और व्यक्तिगत सम्पर्क पर ही निर्भर है।

इस समय व्यक्तिगत सम्पर्कों में वृद्धि हो तो बड़ी बात हो, क्योंकि आगामी छह महीने दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्धों के लिए बड़े ही महत्त्व के महीने सिद्ध होंगे। मैं यहां अपने कुछ मित्रों को यह सुझाव दे चुका हूं। पर वे सब इस समय चुनावों में बेतरह व्यस्त दिखाई देते हैं। यदि आपके पक्ष के कुछ लोग व्यक्तिगत हैसियत से भारत की यात्रा करें तो कितनी अच्छी बात हो।

जो हो, स्थिति को सरल बनाने की दोनों ओर से भरसक कोशिश होनी चाहिए। यदि ऐसा हुआ तो मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि भगवान् के आशीर्वाद से दोनों देशों के बीच स्थायी मित्रता के सम्बन्ध स्थापित हो सकेंगे। इससे सारी दुनिया का भी मंगल होगा।"

इस समय श्री आर्थर हेण्डर्सन के साथ मेरा काफी पत्र-व्यवहार हुआ। यथा-समय मंत्रिमंडल मिशन, जिसमें लार्ड पैथिक लारेंस, सर स्टेफर्ड क्रिप्स और श्री एलेक्जेंडर थे, यहां आ पहुंचा। सर स्टेफर्ड क्रिप्स और पैथिक लारेंस भारत के जाने-बूझे मित्र थे और औसत दर्जे के समझदार आदमी ने यह जरूर समझ लिया होगा कि ब्रिटिश सरकार ने युद्धकाल में लड़ाई बन्द होते ही और शांति-संधि पर हस्ताक्षर होने की प्रतीक्षा किए बिना ही भारत को स्वतंत्रता प्रदान करने का जो वादा किया था उसे पूरा करने का उसका पूरा-पूरा इरादा है। पर विधि का विधान किसी तरह की दया-ममता दिखाए बिना हमें विभाजन की ओर खींचे लिए जा रहा था। कांग्रेस यह मानने के लिए तैयार न थी कि मंत्रिमंडल मिशन की योजना का एकमात्र उद्देश्य देश को विभाजन से बचाना है। उसने तो इस

योजना को फूट डालकर शासन करने की नीति का सबसे ताजा प्रदर्शन समझा। उसका लालन-पालन ही इस धारणा के वातावरण में हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि कभी भारत-स्थित अंग्रेजों ने इस नीति का अनुसरण किया था, पर यह नीति वेस्टमिन्स्टर को कभी नहीं रुची। जो हो, मंत्रिमंडल मिशन की योजना को रद्द कर दिया गया। कांग्रेस का कहना यह था कि वह इस योजना को उसी दशा में स्वीकार कर सकती है, जब उसे उसकी अपनी ही व्याख्या करने की छूट रहे। यह व्याख्या ऐसी थी कि ब्रिटिश प्रधान मंत्री श्री एटली ने साफ-साफ कह दिया था कि वह सही नहीं है, क्योंकि योजना के प्रस्तावकों की व्याख्या वैसी नहीं है और उसके बारे में वही ज्यादा जान सकते हैं। राजाजी ने सदा की भांति इस अवसर पर भी अपने दिमाग को ठण्डा रखा। उन्होंने मुझे लिखा:

२०-५-४६

"प्रिय घनश्यामदासजी,

मैंने कार्य-समिति का प्रस्ताव आज प्रातःकाल पत्रों में पढ़ा। मुझे जिसकी आशंका थी वही हुआ। यह रुपये में सोलह आने की मांग है और पुरानी कहानी की पुनरावृत्ति-मात्र है।

आप कोई खुशखबरी दे सकें तो बात दूसरी है।"

पर मेरी यह बद्धमूल धारणा थी कि विभाजन होकर रहेगा। साथ ही मैं यह भी समझता था कि हमारी कठिनाइयों से निस्तार पाने का यह एक अच्छा-खासा तरीका है।

मैं सर स्टेफर्ड के स्वास्थ्य के बारे में खासतौर पर चिन्तित था, क्योंकि ये दिन बेहद गर्मियों के थे और उन्हें ऐसी आबहवा में रहने का अभ्यास नहीं था। वह इतने श्रान्त दिखाई देते थे कि जब मैंने इसका जिक्र गांधीजी से किया तो वह बोले, "सर स्टेफर्ड से कहो कि मैं बिना फीस उनकी डाक्टरी कर सकता हूं।" बापू को दूसरों की चिकित्सा करने में बड़ा आनन्द आता था और उन्होंने अपने लिए भी खान-पान के सम्बन्ध में कड़े नियम बना रखे थे। अतएव मैंने सर स्टेफर्ड को खाने-पीने की सूचनाओं से भरा एक पत्र भेजा और साथ ही कुछ फल और सब्जियां भी। मेरे पत्र के उत्तर में सर स्टेफर्ड ने लिखा:

६ अप्रैल, १९४६

"गांधीजी ने मेरी चिकित्सा का भार लेने की जो बात कही उसका मेरे दिल पर खासतौर से असर हुआ। मैं उनके प्रस्ताव को गम्भीर भाव से ग्रहण करता हूं, क्योंकि मैं जानता हूं कि उनके विचार उस महिला (बीट्रिस ब्रेट) के विचारों-

जैसे हैं जो इंग्लैंड में मेरे स्वास्थ्य की देखभाल करती हैं। यदि मुझे किसी चिकित्सक की दरकार हुई तो उनसे अवश्य अनुरोध करूंगा।

आपने प्रोटीनों की जो चर्चा की है सो आपके कहने के बाद से ही मैंने छाछ की व्यवस्था कर ली है। मैंने पहले इस ओर ध्यान नहीं दिया था, पर मुझे इस रूप में दूध सचमुच अच्छा लगता है, और यह मेरे स्वास्थ्य के लिए भी हितकर है। इस प्रकार आपकी सलाह मेरे लिए बड़ी ही लाभदायक सिद्ध हुई है।"

मंत्रिमंडल मिशन इंग्लैंड लौट गया। उसे अधिक सफलता नहीं मिली। जिसे दीर्घकालीन योजना कहा जाता है उसे कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया था, इसलिए उसे सरकार बनाने को कहा गया। इसपर श्री जिन्ना बिगड़ गए। ऐसा लगने लगा कि उन्होंने अपनी पार्टी की ओर से योजना के दोनों अंगों को—अर्थात् अल्पकालीन और दीर्घकालीन अंगों को—अंगीकार करके कांग्रेस को मात दे दी है। उन्होंने लार्ड वेवल को धिक्कारा और उनपर विश्वासघात का आरोप लगाया। प्रारम्भ में तो वह अन्तरिम सरकार की रचना में किसी प्रकार का सहयोग देने से बराबर इन्कार करते रहे, पर अन्त में उन्होंने स्वयं अलग रहते हुए अपनी पार्टी के प्रतिनिधियों को उसमें भाग लेने की अनुमति दे दी। यह जाहिर था कि उन्होंने अंतरिम सरकार में अपने प्रतिनिधियों को मेल-जोल की भावना से नहीं, बल्कि इस उद्देश्य से भेजा था कि वे चौकसी रखें और यह देखें कि उनके दावे अनसुने खारिज न हो जायं। इस कारण आरम्भ से ही अंतरिम मंत्रिमंडल एक सुखी परिवार सिद्ध नहीं हुआ। वह तो दो झगड़ने वाले तत्त्वों का अखाड़ा बन गया। तेल और पानी की तरह उनके भी मिलने की संभावना नहीं थी। इसके बाद कलकत्ते में जो भयंकर नर-संहार हुआ, वह अन्यत्र की निष्ठुरता का प्रतिबिम्ब मात्र था। राजनीतिज्ञों की योजनाओं में हजारों निर्दोष नर-नारियों के जीवन का मानो कोई मूल्य ही न हो। मैंने अक्तूबर में सर स्टेफर्ड क्रिप्स को लिखा:

"लीग अन्तरिम सरकार में विरोधी मानस के साथ शामिल हो रही है। जिन्ना ने जवाहरलालजी की शर्तों को तो अस्वीकार कर दिया, पर जब वही शर्तें उनके सामने वाइसराय ने रखीं तो उन्हें झट स्वीकार कर लिया। यह भावी मेल-मिलाप के लिए शुभ चिह्न नहीं है।

पर हमारी सरकार को तो राजनीति की अपेक्षा जनता की गरीबी की ओर अधिक गंभीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिए। किन्तु सरकार आर्थिक मामलों को हाथ में नहीं ले पा रही है। वह तो राजनीति में व्यस्त है और आज की राजनीति का एकमात्र अर्थ है जिन्ना।"

उन आड़े दिनों में बापू और श्री नेहरू ने बंगाल और बिहार में बड़े शौर्य का परिचय दिया। वहां दोनों जातियां एक-दूसरे से बदला लेने में लगी हुई थीं। सर स्टेफर्ड ने १८ नवम्बर, १९४६ को मुझे लिखा :

"मेरे खयाल में शांति-स्थापन के कार्य में गांधीजी का योग बहुत ही उल्लेख-योग्य रहा है और उन्होंने जो कुछ किया है उसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं।"

मेरे नाम बापू का यह लम्बा पत्र अपनी कहानी स्वयं कहेगा :

२६-११-४६

चि० घनश्यामदास,

तुम्हें पता है कि मैं श्रीरामपुर में एकाकी रहता हूं। साथ में प्रो० निर्मल चंद और परसराम हैं। यहां के घरवाले सज्जन हैं। एक ही हिन्दू कुटम्ब इस देहात में है, बाकी सब मुसलमान हैं। सब दूर-दूर रहते हैं। यहां सैकड़ों देहात ऐसे हैं जो पानी सूखने के बाद एक-दूसरे से वाहन सम्बन्ध कम रखते हैं। नतीजा यह है कि पैदल काम हो सकता है इसलिए यों भी बदमाश लोग या शरीर से सशक्त साधु लोग ही एक दूसरों के साथ व्यवहार कर सकते हैं। ऐसी एक देहात में मैं पड़ा हूं और यहां से जो ऐसी देहात में दिन व्यतीत करूंगा। जबतक यहां के हिन्दू-मुसलमान हार्दिक मैत्री से नहीं रहते तबतक तो यहीं रहने का इरादा है। भगवान ही मन स्थिर रख सकता है। आज तो दिल्ली छूटा, सेवाग्राम छूटा, उरूली, पंचगनी छूटा। इच्छा यहां मरना या करना है। इसमें मेरी अहिंसा की परीक्षा है। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए आया हूं। मुझे मिलना चाहिए तो यहां आ सकते हैं तो आना होगा। मैं आवश्यकता महसूस नहीं करता हूं। किसी को पूछने के लिए भेजना है या हाथ से डाक भेजना है तो भेजो।

कन्स्टीट्यूयेंट असेम्बली में मैं नहीं जाऊंगा। आवश्यकता भी कम है। जवाहरलाल, सरदार, राजेन्द्रबाबू, राजाजी, मौलाना सब जा सकते हैं, या पांचों या कृपलानी। उन सबको पैगाम भेजो। यदि मिलिटरी की मदद से ही क० असेम्बली बैठ सकती है तो नहीं बैठाना अच्छा होगा। शान्ति से बैठ सके तो जितने सूबे शरीक होवें उनके ही लिए कानून बन सकते हैं। मिलिटरी पुलिस का भविष्य में क्या होगा सो देखना होगा। मुसलिम सूबे क्या करेंगे ? जिन सूबों में मुसलिम संख्या कम है वहां क्या करना सो भी देखना होगा। अंग्रेजी सरकार क्या करेगी, राजा लोग क्या करेंगे यह सब देखना होगा। मेरा ख्याल है कि तब १६ अप्रैल का स्टेट पेपर बदलना होगा। काम मेरी निगाह में पेचीदा है अगर हम सब काम

स्वतन्त्र रूप से करना चाहें तो। मैंने तो मेरे ख्यालों का दिग्दर्शन करवाया है।

यह भी मित्रवर्ग समझ लें कि यहां जो मैं कर रहा हूं वह, कांग्रेस के नाम से मन में भी नहीं है, निजी अहिंसा दृष्टि से है। मेरे कार्य का विरोध हर कोई आदमी जाहिर में भी कर सकता है। उनका अधिकार है। धर्म भी हो सकता है। इसलिए जो कुछ किसी को कहना करना है निडर रूप से कहा जाय, किया जाय। मुझे किसी बात में सावधान करना है तो किया जाय।

इसकी नकल सरदार को भेजो और उपरोक्त और अन्य मित्रों को बतावे या इतनी करवा कर उन उन मित्रों को भेजो।

तुम्हारे कहना है सो कहो।

मुझको लिखना पड़े सो सीधा लिखो। प्या०, सुशीला, व०, सब अलग देहातों में हैं। प्या० कल से बीमार है। कुशल होंगे।

बापू के आशीर्वाद

इस दुःखद काल में मैंने एक बहुत लम्बा पत्र सर स्टेफर्ड क्रिप्स को लिखा— इतना लम्बा कि उसे पूरा उद्धृत करना सम्भव नहीं है। मैंने स्थिति का बहुत ही विषादपूर्ण चित्र खींचा :

"कांग्रेस के अन्तरिम सरकार में जाने के बाद, वाइसराय ने, जिनके सलाहकार श्री एबेल हैं, लीग के साथ किसी समझौते पर पहुंचने के लिए हमको एक क्षण का भी अवकाश नहीं दिया। अपनी चालों से वह मुस्लिम लीग की जिद का पोषण करते रहे। जिन्ना एक सिरे से सबको गालियां देते रहे। 'डान' अखबार उग्र लेख लिखता रहा और वाइसराय जिन्ना के आगे सिर झुकाते रहे।

इसके बाद लीग अन्तरिम सरकार में शामिल हुई। हमने संतोष की सांस ली और समझा कि अब संविधान सभा में लीग का सहयोग मिल जायेगा। हमें बताया गया कि जिन्ना से ऐसा आश्वासन ले लिया गया है। पर वास्तव में ऐसा कुछ नहीं किया गया था। ठीक मौके पर लीग ने अपना पंजा दिखाया और संविधान सभा में आने से इन्कार कर दिया। वाइसराय ने इस स्थिति को चुपचाप स्वीकार कर लिया।

लीग के सरकार में शामिल होने के तुरन्त बाद स्थिति कुछ जमती हुई नजर आई। दंगों ने शायद सभी को यह सबक सिखाया कि हिंसा से कुछ मिलने वाला नहीं। जैसा कि आपको मालूम ही है, दंगों की शुरुआत कलकत्ते में हुई। मुसलमानों ने 'प्रत्यक्ष कार्रवाई' के दिन आक्रमण किया और हिन्दुओं ने जवाब दिया। मुसलमानों को हिन्दुओं से अधिक क्षति उठानी पड़ी। वे तड़प गये और उन्होंने

कलकत्ते का बदला निकालने की योजना बनाई। अब नोआखाली-काण्ड हुआ। लोगों को भारी संख्या में धर्मच्युत किया गया। स्त्रियां भगाई गईं और उन्हें निकाह करने को मजबूर किया गया। हिन्दू भड़क उठे। इस तरह बिहार और बिहार के बाद मेरठ के उपद्रव हुए।

जिन्ना ने आबादी की अदला-बदली का सुझाव रखा, जो कि मूर्खतापूर्ण सुझाव था। एक भी प्रमुख मुसलमान ने उनका समर्थन नहीं किया। पर उत्तर-प्रदेश बिहार और अन्य स्थानों के लोगों को, जो लीग के सबसे बड़े स्तम्भ थे, यह दिखाई देने लगा कि पाकिस्तान कायम हो जाने के बाद भी हिन्दू क्षेत्रों में रहने वाले मुसलमानों को वहीं-के वहीं रहना होगा और पाकिस्तान की स्थापना से उन्हें कोई मदद नहीं मिलेगी। उत्तर प्रदेश के लीगी समझौता करना चाहते थे और वहां मिला-जुला मंत्रिमंडल बनाने के इशारे भी किये गए। यदि सफल होते तो अन्य स्थानों में भी समझौते हो गये होते।

परन्तु ठीक इसी मनोवैज्ञानिक अवसर पर मानो सारी योजना को उलट देने के लिए ही वाइसराय ने लंदन-यात्रा की यह योजना बनाई। जवाहरलालजी और प्रधान मंत्री के बीच तारों का जो आदान-प्रदान हुआ उससे हमारी धारणा हुई थी कि १६ मई के दस्तावेज पर पुनर्विचार का कोई सवाल नहीं उठता है, पर अब मेरी राय में, अप्रत्यक्ष रूप से सारी बात पर पुनर्विचार होगा। बहुत सारी बातों को अस्पष्ट छोड़ दिया गया है। मैंने ऊपर जो सवाल उठाये हैं उनके बारे में जिन्ना और ब्रिटिश सरकार की वास्तविक स्थिति क्या है, सो हमें आज तक मालूम नहीं हुआ है।

मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूं कि कांग्रेस अधिक-से-अधिक सदिच्छा से काम कर रही है। श्रीमती क्रिप्स की भांति आप भी सरदार पटेल के भाषणों की आलोचना कर सकते हैं, पर यदि वह चुप रह जाते तो स्थिति को बहुत गलत समझा जाता और मैं आपसे सच कहता हूं कि उन भाषणों का मुसलमानों पर बुरा असर नहीं पड़ा। उन्होंने विरोध अवश्य किया है, पर स्थिति को समझ लिया है।

पर यदि हर मौके पर, जब कभी हम ठोस काम में जुटेंगे और वाइसराय अमले के प्रतिगामी तत्त्वों की सलाह पर, और ब्रिटिश सरकार वाइसराय की सलाह पर, सावधान सभी की प्रगति की राह में रोड़े अटकाने लगेगी तो लोग हताश हो जायंगे और सारा ढांचा गिर पड़ेगा और इतने परिश्रम के साथ स्थापित किया गया विश्वास नष्ट हो जायगा। तब तो स्थिति पहले से भी अधिक गम्भीर हो जायगी।

श्रीमती क्रिप्स ने मुझसे पूछा कि स्थिति को सुधारने के लिए आखिर क्या किया जाय ? मैंने उन्हें बताया कि निम्नलिखित बातें नितान्त आवश्यक हैं :

१. अन्तरिम सरकार एक टोली के रूप में काम करे। मुस्लिम लीग या तो

संविधान सभा में भाग ले या अन्तरिम सरकार से अलग हो जाय। उससे यह बात साफ-साफ और दृढ़तापूर्वक कह देनी चाहिए।

२. यद्यपि मैं आत्म-निर्णय के सिद्धान्त पर आपत्ति नहीं करता और यह स्वीकार करता हूं कि देश के किसी अनिच्छुक भाग पर कोई संविधान न लादा जाय, तथापि यह स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए, जैसा कि आपने १६ मई को राजकीय दस्तावेज में किया है, कि यदि मुसलमान शरीक नहीं होते हैं तो अन्तिम उपाय यही है कि वे उन्हीं स्थानों में अपनी पसन्द का संविधान लागू कर सकेंगे जिनमें उनका बहुमत होगा—अर्थात् सारे पंजाब और सारे बंगाल में नहीं। हमारी प्रभुत्व करने की कोई इच्छा नहीं है, पर साथ ही हम यह भी हर्गिज मंजूर नहीं करेंगे कि हमारे ऊपर उनका प्रभुत्व लादा जाय।

३. वाइसराय और अमले को अपना काम ठीक तरह से करना चाहिए। लार्ड वेवल राजनीतिज्ञ नहीं हैं और उनके सलाहकार लीग का पक्षपात करते हैं और भारत को स्वतन्त्र नहीं देखना चाहते। इस विषय में मुझे तनिक भी संदेह नहीं है।

४. हर हालत में अमुक तारीख को सत्ता भारतीय हाथों में सौंप दी जायगी, इसकी घोषणा होना बहुत जरूरी है। जबतक यह अनिश्चय की स्थिति बनी रहेगी, कोई समझौता सम्भव नहीं होगा।

मैं ब्रिटिश सरकार की कठिनाइयां समझता हूं। मुझे इस विषय में कोई संदेह नहीं है कि आप भरसक प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु आपको हमारी कठिनाइयों को भी तो समझना चाहिए। सदिच्छाओं के बावजूद अबतक जो कुछ होता रहा है उससे खाई पटी नहीं है, उलटे और चौड़ी हो गई है।"

मेरा यह सोचना दुस्साहस होगा कि स्वतन्त्रता की निश्चित तारीख या अवधि नियत करने के सम्बन्ध में मेरे सुझाव से प्रेरित होकर ही मजदूर सरकार ने वैसा करने का फैसला किया तथा लार्ड वेवल को वापस बुलाकर उनकी जगह लार्ड माउन्टबेटन को भेजा; पर मेरी धारणा है कि मेरे सुझाव का भी कुछ-न-कुछ असर पड़ा ही होगा :

तीन दिन बाद मैंने सर स्टेफर्ड क्रिप्स को फिर लिखा :

१५ दिसम्बर, १९४६

"प्रिय सर स्टेफर्ड,

१२ तारीख को आपको पत्र लिखने के बाद, आपका पूरा भाषण भारत में प्रकाशित हुआ। उसमें घटनाओं का ठीक-ठीक निचोड़ दिया गया है। कुल मिलाकर ब्रिटिश लोक सभा की बहस को सन्तोषजनक कहा जा सकता है। जब मैं

देखता हूं कि चर्चिल और जिन्ना तो आपको कोसते ही हैं, इधर हम भी आपकी आलोचना करते हैं तो आपके साथ मुझे बड़ी सहानुभूति होती है।

देखता हूं कि मैंने अपने पिछले पत्र में जो मुद्दे उठाये थे, उनमें से एक का आपने अपने भाषण में उत्तर दिया है। ६ दिसम्बर के वक्तव्य के अन्तिम वाक्य का जिक्र करते हुए आपने कहा है कि मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्रों में कोई संविधान नहीं लादा जायगा! इस बारे में मेरा कोई झगड़ा नहीं है। यह कोई नहीं चाहता कि मुसलमानों के सहयोग के बिना निर्मित संविधान पूर्वी बंगाल या पश्चिमी पंजाब या अन्य मुस्लिम क्षेत्रों पर लादा जाय। पर क्या सचमुच आपका यह विश्वास है कि जिन्ना सहयोग करेंगे ?

मुझे तो पूरा संदेह है कि जिन्ना अन्त में संविधान सभा में भाग लेने आ जायंगे और वह ऐसा करेंगे भी तो सिर्फ पाकिस्तान की लड़ाई लड़ने के लिए। इसलिए मुझे तो उनके और हमारे बीच कोई समान आधार दिखाई नहीं देता है। साथ ही मेरा यह भी विश्वास है कि कांग्रेस युक्तिसंगत रुख अख्तियार करेगी और उनके सहयोग का स्वागत करेगी।

मेरा अपना विचार तो यह है कि लीग के अन्य सदस्य उतनी कठिनाई पैदा नहीं करते हैं। बात उन्हीं तक सीमित हो तो वे युक्तिसंगत रुख अपना सकते हैं; पर जिन्ना कभी सहयोग करेंगे, ऐसी मेरी धारणा नहीं है। यथार्थवादियों को इस स्थिति का सामना करना ही होगा।"

इधर बापू और सब समस्याओं को एक ओर रखकर हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए साहसपूर्वक सचेष्ट थे, पर उन्हें सफलता यदा-कदा ही मिल जाती थी। वह तब भी पूर्वी बंगाल के दलदल में फंसे पड़े थे। सरदार पटेल समेत उनके सभी मित्र पूर्वी बंगाल में उनके लम्बे समय तक फंसे रहने की बुद्धिमत्ता को भारी सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। बापू के इस प्रवास के फलस्वरूप उनके एकनिष्ठ सहकारियों पर भी असाधारण बोझ पड़ रहा था। उन्हें बड़ी तकलीफ में दिन गुजारने पड़ते थे। बापू के एक साथी ने उन स्थानों की तुलना चूहों के बिलों से की थी।

इन दिनों बापू और उनकी कुछ महिला सहकारियों के पारस्परिक सम्पर्क को लेकर कुछ विवाद-सा उठ खड़ा हुआ। वैसे इसमें कोई बुराई की बात नहीं थी, पर दोष निकालने वालों का भी अभाव न था। ये लोग तो बापू पर हर तरह का लांछन लगाते ही रहते थे। बापू ने एक सार्वजनिक वक्तव्य देना चाहा, पर सरदार ने वैसा करना उचित नहीं समझा। सरदार का और दूसरों का विचार था कि ऐसी बातों के संबंध में जनता को अपना दृष्टिकोण बताने के बजाय पूर्णतया निर्दोष होते हुए भी बापू को दुनिया की इच्छा के अनुरूप आचरण करना

चाहिए। बापू को यह बात पसन्द नहीं आई। उनकी वेदना मेरे नाम लिखे एक लम्बे पत्र में प्रकट हुई :

रामपुर
१४-२-४७

चि० घनश्यामदास,

तुमको एक खत लिखकर सुशील के मार्फत भेज दिया। लेकिन सरदार के खत से मैं कुछ अस्वस्थ हुआ हूं। देवदास का खत तो मेरे कानों में गूंज रहा है। तुमको जो मैंने लिखा है वो याद तो नहीं है उसकी नकल नहीं रखी। आज तो इतना ही लिखना चाहता हूं कि तुम्हारी तटस्थता छोड़नी चाहिये। सरदार के मन में स्पष्ट है कि अधर्म को मैं धर्म मानकर बैठा हूं। देवदास तो ऐसा लिखता है ही। सरदार की बुद्धि पर मुझे बहुत विश्वास है। देवदास की बुद्धि पर भी है लेकिन मेरे नजदीक देवदास बड़ा होते हुये भी बालक है। सरदार के लिये ऐसा नहीं कहा जाता। किशोरीलाल और नरहरि भी बालक नहीं हैं, लेकिन उनका विरोध समझने में मुझको दिक्कत नहीं है। मेरा जीवन शुद्ध है, पवित्र है, धर्म पालने के लिये ही चलता है, ऐसी मान्यता ही तुम्हारे और मेरे बीच में गांठ है। अगर ये नहीं है तो कुछ नहीं है, इसलिये चाहता हूं कि इस काम में पूरा हिस्सा लो भले अदृश्य रूप से ही क्योंकि तुम्हारे व्यापार में खलल पहुंचे ऐसा मैं नहीं चाहता। लेकिन मैं अधर्म का आचरण करता हूं तो मेरा सख्त विरोध करने का सब मित्रों का धर्म हो जाता है। सत्याग्रही अन्त में दुराग्रही भी बन सकता है। भेद तो इतना ही रहता है कि असत्य को सच मानकर बैठ जाय तो दुराग्रही बन गया। मैं ऐसा नहीं हूं, ऐसे मानता हूं, लेकिन उससे क्या हुआ। परमेश्वर तो हूं नहीं। गलती कर सकता हूं। गलतियां की हैं। अन्तिम समय पर बड़ी भारी गलती हो सकती है। अगर हुई है तो जितने हितेच्छु हैं वे मेरा विरोध करके मेरी आंखें खोल सकते हैं। न करें तो मुझको ऐसे ही जाना तो है तो मैं चला जाऊंगा। जो कुछ भी मैं यहां करता हूं वह सब मेरे यज्ञ का हिस्सा है। जान-बूझकर ऐसा कुछ नहीं करता हूं कि जो इस यज्ञ में समाविष्ट न हो सके। आराम लेता हूं वो भी यज्ञ के ही लिये।

आंख और पेट पर मिट्टी है और इसे लिखवाता हूं। थोड़े समय में शाम की प्रार्थना में जाना है। म० प्रकरण मेरा काफी समय लेता है। उसमें मुझको आपत्ति नहीं है क्योंकि उसको भी यज्ञ के कारण रखा है। इसकी परीक्षा भी यज्ञ का हिस्सा है। यह सब मैं समझा न सकूं वह दूसरी बात है। मित्रों को समझाना तो इतना ही है कि मैं म० को मेरी गोद में लेता हूं तो एक पवित्र पिता की हैसियत से कि धर्मभ्रष्ट पिता की हैसियत से। जो मैं करता हूं वह मेरे लिये नई बात नहीं

है। विचार सृष्टि में शायद ५० साल से, आचार में भी बरसों थोड़ा या बहुत किया ही है। मेरे साथ का सब सम्बन्ध तोड़ोगे तो भी मुझको दुःख नहीं होगा। जैसे मैं अपने धर्म पर कायम रहना चाहता हूं ठीक इसी तरह से तुम्हारे को रहना है।

अभी दूसरे विषय पर आता हूं। यहां के हिन्दू जुलाहा हैं उनको तांती कहते हैं। वे लोग बेकार हो गये हैं। उनके घर के चरखा काफी जलाये गये हैं। मकान भी जलाये गये हैं। सूत न मिले तो बेकार बैठना है। या तो कुदारी लेकर मजदूरी करना है। तो यहां के आफीसर ने मुझको कहा सूत गवर्नमेंट को मिल नहीं सकता। सेन्ट्रल गवर्नमेंट दे तो हो सकता है। तो मैंने कहा अगर आप दाम दें तो मैं शायद सूत पैदा कर लूंगा। तो वह राजी हुआ। क्या आप लोग सूत दे सकते हैं? अगर दे सकते हैं तो कितना? और क्या दाम से? और कब दे सकेंगे? क्या वह सूत देने में मध्यवर्ती गवर्नमेंट की इजाजत लेनी पड़ती है? यह सब लिखो।

बापू के आशीर्वाद

यह कहने की जरूरत नहीं कि बापू के कथन की सराहना करते हुए भी मैंने उनकी दलीलों का प्रबल विरोध किया और अन्त में उन्होंने हम लोगों की सलाह मान ली, यद्यपि उनको उसका औचित्य जंचा नहीं। उनके शत्रु उस समय इसको कुचर्चा का रूप देने की चेष्टा कर रहे थे। हमने सोचा कि बापू का सार्वजनिक वक्तव्य सही और सीधा कदम होते हुए भी समयानुकूल नहीं होगा। हम सब दुनियादारों की तरह आचरण करते हैं। हम चाहते थे कि वह भी ऐसा ही करें। सौभाग्यवश वह हमारे दृष्टिकोण से सहमत हो गये और हमारी एक भारी चिन्ता दूर हुई।

बापू का उपर्युक्त पत्र अन्तिम महत्त्वपूर्ण पत्र था, जो मुझे प्राप्त हुआ; क्योंकि वह कुछ महीने बाद दिल्ली लौट आये थे और लगातार पांच महीने से कुछ अधिक मेरे मकान में मेरे साथ रहे थे और वहीं उनकी इहलीला समाप्त हुई थी।

उनके जीवन की अन्तिम घड़ियों से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन करने के बजाय मैं अपने रेडियो के एक भाषण का एक अंश उद्धृत करता हूं जो मैंने उनकी मृत्यु के कुछ ही बाद दिया था :

"इस बार गांधीजी ने दिल्ली में करीब पांच महीने मेरे साथ रहने का मुझे सौभाग्य प्रदान किया और उनके साथ काफी बड़ी संख्या में स्त्री-पुरुष मेरे अतिथि हुए। साफ कहूं तो, उनके कुछ अतिथियों को मैं पसन्द नहीं करता था और न बापू के साथी ही उन्हें पसन्द करते थे, पर मेरा मकान उन सबके लिए खुला था

जो गांधीजी के पास आते थे। सवेरे से लगातार बहुत रात तक मिलने आने वालों का अटूट तांता बंधा रहता था और गांधीजी इस बात की परवा किये बिना कि उन पर कितना बोझ पड़ रहा है, हरएक से कुछ-न-कुछ कहते-सुनते रहते थे, चाहे वह उनके दर्शन के लिए आया हो या उनकी सलाह लेने।

बिड़ला भवन की बम-विस्फोट की घटना के बाद गांधीजी के निकटतम साथियों ने उनसे भीड़ को दूर रखने का अनुरोध किया। सरदार वल्लभभाई पटेल ने प्रार्थना-सभा की देखभाल और रक्षा के लिए करीब ३० फौजी और करीब २० पुलिस अधिकारी तैनात किये। उनके जिम्मे चौकसी करने और प्रार्थना-सभा पर निगाह रखने का काम था। पुलिस के अधिकारी प्रार्थना-सभा में आने वालों की तलाशी भी लेना चाहते थे, पर गांधीजी ने इसकी इजाजत नहीं दी। मुझे आभास-सा हो रहा था कि ईश्वर की दूसरी ही इच्छा है तो सुरक्षा-सम्बन्धी उपायों से विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। जब कभी उनकी रक्षा के बारे में चिन्ता प्रकट की जाती तो उनका एकमात्र उत्तर यही होता : 'मेरा रक्षक तो बस एक राम है।'

इधर कुछ दिनों से राम-नाम की अचूक औषध में उन्हें बहुत अधिक आस्था हो गई थी। वह तो अपने शुभैषी चिकित्सकों की सलाह की ओर भी कान नहीं देते थे। पिछले उपवास के बाद उनका हाजमा बिगड़ गया था। मैंने उन्हें एक सीधी-सादी घरेलू दवा सुझाई। काफी समझाने-बुझाने के बाद उन्होंने उसे लेना स्वीकार किया। शोक, उनके महान् चिकित्सक राम ने उन्हें शीघ्र ही अपने पास बुला लिया।

अन्तिम उपवास के कारण उनके प्रिय शिष्यों को गहरी चिन्ता हुई। इस उपवास की उपयोगिता अथवा औचित्य के विरुद्ध मैंने भी उनके साथ तर्क करने की चेष्टा की, पर गांधीजी अचल रहे। यह बात नहीं कि गांधीजी हठी थे। वह सदा विचार-परिवर्तन के लिए तैयार रहते थे। जो लोग उनके साथ विचार-विमर्श करने आते थे, उनके विचारों को उद्दीप्त और जिज्ञासा को जाग्रत करने का उनका तरीका था। वह रचनात्मक आलोचना को कितने धैर्य के साथ सुनते थे। उनके उपवास के दिनों में ही मुझे जरूरी काम से बम्बई जाना था, पर उन्हें उपवास करते छोड़कर मैं कैसे जाता ?

मैं उनकी अनुमति लेने गया। मैंने पूछा, "क्या आप मुझसे सहमत नहीं हैं कि यह उपवास जल्दी ही समाप्त होना चाहिए ? मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि देश ने आपकी अभिलाषा का बड़ा ही अनुकूल उत्तर दिया है।" गांधीजी मुस्कराये, बोले, "तुम अपना काम देखो। मेरी अनुमति क्या लेते हो ?" मैंने उनसे फिर पूछा, "आपके इस उपवास के जल्दी ही समाप्त होने के बारे में आपकी क्या धारणा है ?" बापू मुस्कराते रहे। वह मेरे जाल में फंसने वाले नहीं थे। मैंने उन्हें

नचिकेता और यम की कथा सुनाई और कहा, "जब नचिकेता ने यम के द्वार पर उपवास किया था तो यम भी घबरा गये थे। मैं चिन्ता और प्रताड़ना की अनुभूति कैसे न करूं जब एक महात्मा मेरे घर में उपवास कर रहा है।" मेरे सारे प्रश्नों का उनके पास एक ही उत्तर था, "मेरा जीवन राम के हाथ में है।"

विधि द्वारा नियत शुक्रवार की उस संध्या को करीब सवा पांच बजे गांधीजी पर गोली दागी गई और शीघ्र ही उन्होंने प्राण त्याग दिये। उस समय मैं पिलानी में था। करीब छः बजे शाम को कालेज के लड़के मेरे पास दौड़े आये और मुझे रेडियो पर सुनी वह दुःखदायी खबर सुनाई। जी में आया कि मोटर से दिल्ली दौड़ पड़ूं, पर मेरे मित्रों ने सलाह दी कि दूसरे दिन तड़के ही वायुयान से जाना ठीक रहेगा। मैंने वह रात पिलानी में कितनी बेचैनी से बिताई! मैं सोया या नहीं, और सोया तो कब सोया, अथवा मैं स्वप्नावस्था में था या मेरी आत्मा उड़कर गांधीजी के पास पहुंच गई थी, सो मुझे कुछ मालूम नहीं हुआ। मानो मैं मूर्च्छित अवस्था में होऊं और अचानक गांधीजी के पास पहुंच गया होऊं।

मैंने देखा कि उनका शरीर ठीक वहीं पड़ा है जहां वह सोया करते थे। मैंने प्यारेलाल और सुशीला को उनके पास बैठे देखा। मुझे देखते ही गांधीजी उठ बैठे, मानो नींद से जागे हों और प्यार से मुझे थपथपाते हुए बोले, "तुम आ गये, अच्छा हुआ। मेरे लिए चिन्ता मत करो, मैं षड्यंत्र का शिकार हुआ हूं, तो क्या हुआ ? मैं तो खुशी के मारे नाचूंगा, क्योंकि मेरा मिशन अब पूरा हो गया है।" तब उन्होंने अपनी घड़ी निकाली और कहा, "अब तो ११ बज रहे हैं, और तुमको मुझे जमना-घाट ले जाना है। इसलिए अब मुझे लेट जाना चाहिए।"

अचानक मैं जग पड़ा और आश्चर्य करने लगा कि यह स्वप्न था अथवा पारलौकिक यथार्थता।

अगले दिन मैंने प्यारे बापू को चिर निद्रा में निद्रित पाया मानो उन्हें कुछ हुआ ही नहीं है। उनका मुख-मण्डल उसी सरल आकर्षण, प्रेम और पावनता की ज्योति से आलोकित हो रहा है। मुझे उनकी मुद्रा में करुणा और क्षमा की भी एक क्षीण-सी रेखा के दर्शन हुए। शोक, हमें मानवता और दयार्द्रता से दिपदिपाता हुआ वह चेहरा अब देखने को नहीं मिलेगा।

वास्तव में एक महान् ज्योति विलीन हो गई, एक महारथी खेत रहा, एक महान् आत्मा मौन हो गई।

इस प्रकार बापू के साथ मेरे ३२ वर्ष के अटूट सम्बन्ध का अन्त हुआ।

३२. स्वतंत्रता के बाद

जब स्वतन्त्रता का आगमन हुआ तो दो बातों का सबसे अधिक महत्त्व दिखाई दिया। उनमें से एक थी उत्पादन-कार्य में वेगशील वृद्धि। वर्षा के मनमौजीपन के फलस्वरूप फसलों के नष्ट हो जाने से और कुछ अन्य कारणों से भी, हमारे लिए भूखों मरने का खतरा पैदा हो गया था और बंगाल के दुर्भिक्ष की बड़े पैमाने पर पुनरावृत्ति होने की सम्भावना दिखाई देने लगी थी। हम विदेशों से बड़ी मात्रा में खाद्यान्न का आयात कर रहे थे, पर उसका मूल्य चुकाने के लिए न तो हम निर्यात की सामग्री ही पर्याप्त मात्रा में तैयार कर रहे थे और न हमें ऐसे बाजार ही सुलभ थे, जिनमें हम अपने देश में तैयार की गई निर्यात की सामग्री को बेच पाते। फलस्वरूप हमें अपने आयात की कीमत चुकाने के लिए पौंड-पावने की अपनी संचित निधि को बड़ी तेजी के साथ खर्च करना पड़ रहा था।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि हमको पूंजी की आवश्यकता थी। देश में पर्याप्त पूंजी होने के साधन उपलब्ध नहीं थे और यह स्पष्ट ही था कि पूंजी बाहर से मंगानी होगी। मंत्रियों ने शुरू-शुरू के उत्साह में आकर अदूरदर्शितापूर्ण भाषण दिये, जिससे देशी और विदेशी पूंजी, दोनों ही सशंकित हो गईं। मंत्रीगण अनेक दिशाओं में ब्रिटेन की मजदूर सरकार का अनुकरण करना चाहते थे। पर बाद में जो स्थिति सामने आई, उससे पता चला कि उन्होंने उस सरकार की आर्थिक सफलताओं का मूल्य बहुत अधिक आंका था और जो कीमत उसे चुकानी पड़ी उसे बहुत कम करके माना था। इस अवस्था में सुधार करने के उद्देश्य से मैंने उत्पादन बढ़ाने के साधन तलाश करने के लिए और भारत की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए भी, जिसे उस समय काफी गलत समझा जा रहा था, ब्रिटेन और अमरीका की यात्रा की। यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि ब्रिटेन में हमारी स्थिति को ज्यादा गलत समझा जा रहा था। अमरीका में न तो हमारी स्थिति को ठीक-ठीक समझा जा रहा था, न गलत ही। कुछ इने-गिने राजनेताओं को छोड़कर बाकी अमरीकियों को हमारी स्थिति की ओर से उदासीनता-मात्र थी। इन राजनेताओं को हमारी स्थिति से भौगोलिक और नैतिक दृष्टि से केवल इतना ही अनुराग था कि हम साम्यवाद से मोर्चा लें।

सौभाग्य से इंग्लैंड में मुझे श्री चर्चिल के साथ लम्बी बातचीत करने का अवसर मिला, पर मैंने देखा कि उन्हें भारत के बारे में जितनी गलत जानकारी पहले थी, उतनी ही अब भी है। मैंने अपनी इस मुलाकात का विवरण सरदार पटेल को लिख भेजा था। मेरे पत्र-व्यवहार में बापू का जो स्थान था, वह अब सरदार पटेल

ने ले लिया था। उस पत्र का एक उद्धरण यहां देता हूं :

"वह (चर्चिल) अकस्मात् उबल पड़े—"आप लोगों ने हैदराबाद में जो कुछ किया सो मुझे पसन्द नहीं आया। आपको जनमत-संग्रह करना चाहिए था।" मैंने उन्हें बताया कि अब भारत में शांति विराज रही है और जो अंग्रेज हाल में वहां गये हैं, उनका कहना है कि दुनिया का कोई भी मुल्क आज भारत जितना शान्त नहीं है। पंडित नेहरू और सरदार बहुत अच्छी तरह काम चला रहे हैं। हम साम्यवाद की बाढ़ को रोक रहे हैं, पर हमें लोगों की हालत को सुधारना है। हमें दो चीजों की दरकार है : पहली सशक्त रक्षा-व्यवस्था और दूसरी वेगशील औद्योगीकरण। ये दोनों बातें तुरन्त होनी चाहिए। हमारे नेता अब काफी बूढ़े हो चले हैं। आज तो उनका शब्द ही कानून है। पर यदि वे अगले दस वर्षों में भारत का निर्माण न कर सके तो उसके बाद क्या होगा, सो मैं नहीं जानता।"

उन्होंने कहा, "मुझे दस वर्ष आगे की बात नहीं सोचनी चाहिए। सोचने के लिए एक साल बहुत काफी है।"

तब मैंने उन्हें मित्रता के उस संदेश की याद दिलाई, जो सन् १९३५ में उन्होंने मेरे द्वारा गांधीजी को भेजा था। "हम अब स्वतंत्र हो चुके हैं। हम मित्र हैं और आगे भी मित्र रहना चाहेंगे। फिर आप इतनी गैरियत के साथ क्यों बातें करते हैं ?" उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया, "मैं गैरियत नहीं बरत रहा हूं। आप इंग्लैंड के साथ अच्छा वर्ताव करेंगे तो मैं निश्चित रूप से अनुकूल प्रत्युत्तर दूंगा। शायद हम सरकार में लौट आयंगे। समाजवादी जनता में अप्रिय होते जा रहे हैं, इसलिए मैं कोई ऐसा काम नहीं करना चाहता, जिसे भारत में अमैत्रीपूर्ण समझा जाय। पिछली बातों को सोचना मेरी आदत में दाखिल नहीं है। मुझे आगे की ओर देखना सिखाया गया है। भूतकाल भुला दिया है। अब यदि आप सहयोग करेंगे तो मैं भी सहयोग करने को तैयार हूं।" मैंने उन्हें बताया कि पंडित नेहरू ने किस प्रकार अपनी तमाम पिछली कटुता के बावजूद राष्ट्रमंडल में रहने का फैसला किया है। उन्होंने हृदय के पूरे योग के साथ उत्तर दिया, "मैं उनकी उदारता की बहुत सराहना करता हूं।" तब अकस्मात् उन्होंने प्रश्न किया, "क्या आपके यहां अपना राष्ट्रीय गान है ? क्या उसकी ध्वनि अच्छी है ?" मैंने कहा, "बहुत अच्छी तो नहीं है।" "आप अपने राष्ट्रीय गान के साथ 'ईश्वर राजा की रक्षा करें' क्यों नहीं बजाते ? ये छोटी-छोटी बातें काफी सहायक होती हैं। कनाडा का अपना गान है, पर उसके साथ वे लोग हमारे गान की ध्वनि भी बजाते हैं। इससे मित्रता की भावना पैदा होती है।" मैंने कठिनाई बताई, पर साथ ही कहा, "यह तो इंग्लैंड पर ही निर्भर है। आप मित्र रहेंगे तो शायद इसकी भी नौबत आ जाय।" उन्होंने

कहा, "मेरी धारणा है कि समय आने पर ऐसा भी होगा।" मैंने उनसे कहा कि हमारी सबसे बड़ी कमजोरी हमारी दरिद्रता है, जिसे हम थोड़े समय में दूर करना चाहते हैं और यदि हम अपने लोगों का स्तर ऊंचा न उठा पाये तो साम्यवाद की वाढ़ किसी के रोके न रुकेगी। इंग्लैंड को इस काम में हमारे साथ सहयोग करना चाहिए। उन्होंने कहा, "बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ आपकी गरीवी एक कठिन समस्या अवश्य है।"

मैंने उनसे पूछा कि श्री ईडन भारत के क्या संस्मरण लाये हैं ? उन्होंने कहा, "उन्हें बड़ी खुशी हुई। उन्होंने आपके साथ हुई वातचीत का मुझसे जिक्र किया था।" तव उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या नेहरू राष्ट्रमंडल के विचार को मनवा सकेंगे ? मैंने कहा, "मुझे इसमें कोई शक नहीं है। समाजवादी वहुत शक्तिशाली नहीं हैं। साम्यवादी छिपे हुए हैं।" मैंने उनसे कहा कि ब्रिटेन को और किसी देश की अपेक्षा हमारी सहायता अधिक करनी चाहिए। उन्होंने स्वीकार किया, पुनः अपनी मैत्री की आकांक्षा की पुष्टि की, पर साथ ही कहा कि पाकिस्तान के पास जल और खाद्य के साधन प्रचुर मात्रा में हैं।

यहां हर कोई यह सोचता प्रतीत होता है कि समाजवादियों का प्रभाव कम होता जा रहा है। अतएव यदि अगले चुनाव में मजदूर दल के बहुमत में काफी कमी हो जाय तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा।

कल मैं श्री एलेक्जेन्डर से मिल रहा हूं।

६ मई, १९४९

कल मैं श्री ऐंथनी ईडन से आधे घंटे के लिए मिला। उन्होंने मुझे वताया कि जब दिल्ली में वह चाय पर आपके यहां थे तो आपने उनसे कहा था कि अपने संविधान की वर्तमान स्थिति को कायम रखते हुए आप राष्ट्रमंडल में वने रहने को तैयार होंगे। यह बात श्री ईडन ने एटली और चर्चिल से भी कह दी है और चर्चिल से सहायता की जोरदार सिफारिश की है। उन्हें परिणाम से भारी संतोष है।

मैंने उनसे इस विषय की भी चर्चा की कि भारत को सैनिक और औद्योगिक दृष्टि से मजबूत वनाने की जरूरत है और कहा कि ब्रिटेन को इस दिशा में हमें सहयोग देना चाहिए। उन्होंने कहा कि वह सैनिक सामग्री के बारे में लार्ड एलेक्जेन्डर से वात करेंगे और उद्योग के बारे में ब्रिटिश पूंजीपतियों से। उन्होंने कहा कि अब भारत राष्ट्रमंडल में है तो वे सभी तरह का सहयोग देंगे। वह अच्छे और सहृदय प्रतीत हुए।"

अमरीका से लन्दन वापस लौटने पर, मैंने जुलाई में सरदार को लिखा :

११ जुलाई, १९४९

"अबतक मैं यहां प्रधानमंत्री, श्री एलेक्जेन्डर, श्री बेविन, श्री नोएल बेकर, सर जान एण्डर्सन और श्री चर्चिल से मिल चुका हूं। इनमें से कुछ से दुबारा और दूसरों से आगामी सप्ताह में मिलने की आशा है। क्रिप्स से एक-दो दिन में मिलने वाला हूं।

मूडी के त्यागपत्र और लियाकत की संभावित मास्को-यात्रा को यहां विशेष महत्त्व नहीं दिया जा रहा है। उन्हें यह सबकुछ पसन्द नहीं है, पर वे इसे ब्रिटेन से रिआयतें ऐंठने के लिए एक झांसा-मात्र समझते हैं। पाकिस्तान को ध्यान में रखा जाय तो इन तौर-तरीकों का असर यहां कुल मिलाकर बुरा नहीं रहा। पाकिस्तान को अब भी निम्नकोटि का ही समझा जाता है। हम लोग भले, विवेकशील और आदरणीय व्यक्ति समझे जाते हैं, साथ ही हमें सदा यही परामर्श दिया जाता है कि हमें पाकिस्तानियों को बहलाते रहना चाहिए। 'वे गिर पड़ें तो यह आपके ही हित में बुरा होगा', हमें ऐसी सलाह दी जाती है।

कश्मीर को लेकर ये सब बहुत चिन्तित हैं। यहां के लोग जम्मू और बौद्धों के क्षेत्र की स्थिति को तो समझते हैं, पर इनकी समझ में यह बात नहीं आती कि हम मुस्लिम-बहुल कश्मीर घाटी को भारत में शामिल करने का आग्रह क्यों कर रहे हैं।

यहां हैदराबाद को लेकर किसी को परेशानी नहीं है। उसे तो भुला ही दिया गया है। मुख्य प्रश्न कश्मीर का है और प्रायः हर कोई किसी-न-किसी प्रकार के विभाजन का पक्ष लेता दिखाई देता है।

यहां की आर्थिक अवस्था बहुत खराब है, पर जो बात सबसे अधिक उल्लेख-योग्य है वह यह है कि ये लोग इस अवस्था का मुकाबला लौह संकल्प के साथ और अत्यन्त वैज्ञानिक तरीकों से कर रहे हैं। संभव है, लोग वर्तमान जीवन-स्तर कायम न रख सकें, पर उसे कायम रखने के लिए कड़ा संघर्ष किये बिना ये उसे गिरने नहीं देंगे।

इंग्लैंड की पूंजी भारत में लगने के बारे में अमरीका की अपेक्षा यहां की स्थिति अधिक अनुकूल है। मैंने यहां कुछ व्यवसायियों से बात की है और उनका रुख निराशाजनक नहीं था। कुछ कठिनाइयां हैं, जिन्हें हल करना ही होगा, किन्तु इस बारे में भी मेरा खयाल है कि मेरे लिए कुछ कर सकना संभव होगा।

१४ जुलाई, १९४९

आपको पिछला पत्र लिखने के बाद मैं लार्ड हेलीफैक्स और लन्दन के 'इकोनामिस्ट' के संपादक श्री क्रोथर से मिला। आज मैंने लेडी माउन्टबेटन के साथ दोपहर का भोजन किया। लेडी क्रिप्स और कुमारी पामेला माउन्टबेटन भी

उपस्थित थीं। दोपहर को मैं लार्ड केमरोज और उनके सम्पादक अर्थात् 'डेली टेलीग्राफ' के सम्पादक से मिला।

लेडी माउन्टबेटन हमारे सामान्य शासन-कार्य से पूरे तौर से सन्तुष्ट नहीं थीं। उनका खयाल था कि हम आवश्यकता से अधिक केन्द्रीकरण कर रहे हैं और मंत्रियों पर काम का बोझ ज्यादा है। उनकी वार्ता में आलोचना का पुट था, पर वह आलोचना मैत्री की भावना से ओतप्रोत थी। उन्होंने मुझसे कहा, "आप मेरा सप्रेम अभिवादन सरदार को पहुंचा दीजिए।" रक्षा मंत्री श्री एलेक्जेन्डर और लेडी क्रिप्स ने भी ऐसा ही कहा है।

भोजन के करीब दस मिनट तक लेडी माउन्टबेटन, उनकी पुत्री और लेडी क्रिप्स मणिबहन की तारीफ करने में एक-दूसरे की प्रतिस्पर्धा करती रहीं। अगर मणिबहन मौजूद होतीं तो सकुचा जातीं और घबरा उठतीं।

'डेली टेलीग्राफ' का और कभी-कभी 'डेली एक्सप्रेस' का भी रुख हमारे खिलाफ ही रहता है। कल भारत से प्राप्त एक शरारत-भरा संवाद प्रकाशित हुआ, जिसमें अंग्रेजों और पाकिस्तानियों के बिगड़ते जा रहे सम्बन्धों की चर्चा थी और इसका दोष संवाददाता ने भारत के मत्थे मढ़ा था। इस बारे में केमरोज और उनके सम्पादक के साथ लम्बी बातचीत हुई।

नोएल बेकर कश्मीर को लेकर चिन्तित थे। वह जनमत-संग्रह में विश्वास रखते हैं, किन्तु मेरा ख्याल है कि उनका विश्वास क्षेत्रीय जनमत-संग्रह में है, सारी रियासत के लिए एक जनमत-संग्रह में नहीं।

बस, मेरी कहानी पूरी हुई।

परिशिष्ट

'भारतीय वाणिज्य उद्योग संघ' का प्रस्ताव[1]

१. संघ की यह दृढ़ सम्मति है कि सरकार की वर्तमान दमन-नीति से देश की वर्तमान दुःखद स्थिति नहीं सुधर सकती है और वह सरकार से उसके बजाय समझौते की नीति अपनाने का अनुरोध करता है, ताकि ऐसा संविधान बनाने और उस संविधान पर अमल करने के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा हो सके, जो जनता को स्वीकार हो।

---

१. चौथे अध्याय में जिस प्रस्ताव का उल्लेख है, वह यह था।

२. संघ की कार्य-समिति के २२ जनवरी, १९३२ के प्रस्ताव का जो अर्थ निकाला गया है, उस पर संघ खेद प्रकट करता है, क्योंकि प्रस्ताव के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट मन्तव्य मौजूद है कि संघ की कार्य-समिति भारत के लिए उपयुक्त संविधान की रचना में भाग लेना अपना कर्त्तव्य समझती है।

३. संघ की धारणा है कि दमन-नीति को और गोलमेज परिषद् के गत अधिवेशन में अपने प्रतिनिधि मंडल के अनुभव को, ध्यान में रखते हुए परामर्श-दायिनी समिति के काम में उसके प्रतिनिधियों के भाग लेने से उस समय तक कोई लाभ नहीं होगा, जबतक कि

(क) सरकार सच्चे दिल से उस नीति में परिवर्तन करने और वित्तीय स्वशासन संरक्षण और व्यापारिक अधिकार-सम्बन्धी प्रश्नों की चर्चा करने और उनके बारे में देश के प्रगतिशील लोकमत के साथ समझौता करने को तैयार न हो,

(ख) इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, परामर्शदायिनी समिति को यह अधिकार न रहे कि वह वित्त-सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नों के बारे में खुली और पूरी चर्चा कर सकेगी तथा व्यापारिक अधिकारों, वित्तीय संरक्षणों आदि से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों को ऐसी समिति के सुपुर्द न किया जाय, जिसमें अंग्रेज और भारतीय विशेषज्ञों की संख्या एकसमान हो और भारतीय विशेषज्ञ ऐसे हों, जिन्हें संघ का विश्वास प्राप्त हो।

पैरा ३ जैसा कि वह उपर्युक्त प्रस्ताव के प्रारम्भिक रूप में था।

३. इस समिति ने गोलमेज परिषद् के अपने प्रतिनिधि की रिपोर्ट सुनी और उसे यह जानकर खेद हुआ कि आरक्षणों, वित्तीय संरक्षणों और व्यापारिक अधिकारों से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों की जांच-पड़ताल करने और उनपर पूरी चर्चा करने के लिए पर्याप्त अवसर नहीं दिया गया। इस समिति का निश्चय है कि उसकी राय में वित्तीय संरक्षणों और व्यापारिक अधिकारों से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों की पड़ताल व्यवसायियों की ऐसी समिति द्वारा की जाय, जिसके भारतीय सदस्यों की संख्या आधी से कम न हो और वे सदस्य ऐसे हों जिन्हें संघ का समर्थन प्राप्त हो, ताकि इन समस्याओं का सर्वसम्मत हल खोजा जा सके।
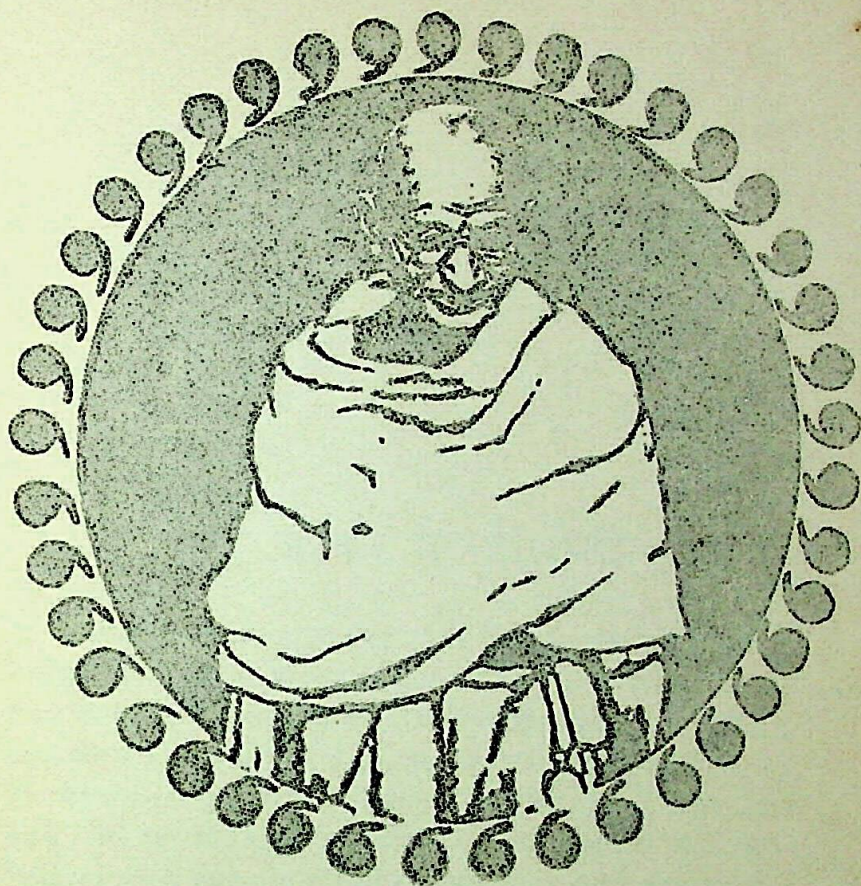
मेरे जीवन में गांधीजी

मेरे जीवन में गांधीजी

गांधीजी के साथ मेरा पहला संपर्क १९१५ में हुआ, जबकि दक्षिण अफ्रीका से लौटने के थोड़े ही दिनों बाद वह कलकत्ता आये थे। पूरे ३२ वर्ष, अर्थात् दिल्ली-स्थित मेरे मकान में उनके स्वर्गवास तक, यह संपर्क बना रहा। मैं उनके संपर्क में आया कैसे ? भाग्य के अदृश्य हाथ बड़े रहस्यमय ढंग से सूत्र-संचालन किया करते हैं। मेरे जीवन के इस सौभाग्यशाली मोड़ का सारा श्रेय भी इन्हीं अदृश्य हाथों को है। मेरे पीछे कोई राजनैतिक पृष्ठभूमि नहीं थी। इसलिए किसी विश्व-विख्यात व्यक्तित्व का कृपाभाजन बनने की योग्यता मुझमें नहीं के ही बराबर थी। मेरा जन्म सन् १८९४ में एक ऐसे गांव में हुआ था, जिसकी आबादी मुश्किल से तीन हजार थी। गांव भी ऐसा, जहां बाकी दुनिया से संपर्क के लिए कोई भी आधुनिक यातायात का साधन नहीं था। न रेल, न पक्की सड़क, न डाकघर—दुनिया की राजनैतिक हलचलों से एकदम असम्बद्ध। आवागमन के साधन या तो ऊंट अथवा घोड़े थे, या रथ-बहली, जो खासकर अमीर लोग ही रखते थे और जिनका इस्तेमाल ज्यादातर औरतों या अशक्त लोगों के लिए होता था। घोड़े, इक्के-दुक्के ही थे और ज्यादातर जागीरदारों की सवारी के ही काम आते थे। ऊंट ही यहां यात्रा के लिए सबसे ज्यादा उपयोगी पशु रहा है। हमारे परिवार में दो बहुत बढ़िया ऊंट थे और बाद में हम लोगों के यहां एक रथ भी था। किन्तु लोग दूर का सफर ऊंट पर करना ही पसन्द करते थे। मुझे तो उसकी सहनशीलता, धीरज और मूढ़ता ने हमेशा अपनी ओर आकर्षित किया है। उन दिनों की याद मुझे आज भी झकझोर जाती है, जब एक बार लगातार छः दिन तक ऊंट पर सफर करना पड़ा था।

चार साल की उम्र में मुझे पढ़ाने के लिए अध्यापक रखे गए, जो पढ़ने-लिखने

की अपेक्षा गणित ज्यादा जानते थे। इस तरह मेरी शिक्षा का श्रीगणेश अंक-ज्ञान, जोड़-बाकी, गुणा-भाग से हुआ। नौ वर्ष की उम्र में मैंने अंग्रेजी की थोड़ी-सी जानकारी के साथ कुछ पढ़ना-लिखना सीख लिया और फिर सिर्फ ग्यारह साल की उम्र में प्यारेचरण सरकार की 'फर्स्ट बुक ऑव रीडिंग' के साथ मेरी शिक्षा समाप्त भी हो गई।

मेरे प्रपितामह एक व्यापारी पेढ़ी पर सिर्फ सात रुपये माहवार पर 'मैनेजर' थे। उनके देहान्त के बाद मेरे पितामह ने अठारह साल की अवस्था में अपना स्वतन्त्र व्यवसाय शुरू करने का निश्चय किया और वह समृद्धि की खोज में बंबई पहुंचे। बाद में मेरे पिताजी ने व्यापार को बढ़ाया और मेरे जन्म के समय तक हमारी गणना काफी सम्पन्न परिवारों में होने लगी थी। करीब पैंतीस वर्ष से हमारा व्यापार उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ चलता आ रहा था। अतः जब मेरी उपर्युक्त शिक्षा समाप्त हुई तो मुझे भी अपने वंशगत व्यापार में जोत दिया गया। लेकिन मुझे पढ़ने का शौक था। स्कूल छोड़ने के बाद भी अपने ही ढंग से मैंने पढ़ना चालू रखा। अध्यापक से पढ़ना मुझे पसन्द नहीं था। इसलिए स्कूल छोड़ने पर किताबें, अखबार और शब्द-कोश ही मेरे मुख्य शिक्षक रहे।

इस भांति मैंने अंग्रेजी, संस्कृत तथा एक या दो अन्य भारतीय भाषाएं, इतिहास और अर्थशास्त्र पढ़े। मैंने काफी संख्या में जीवन-चरित तथा यात्रा-विवरण भी पढ़े, जिनका मुझे अभी भी शौक है।

हो न हो, मेरे अध्ययन ने ही मुझे देश की राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील बनने तथा तत्कालीन राजनैतिक नेताओं के साथ संपर्क कायम करने की प्रेरणा दी थी। रूस और जापान के युद्ध ने एशियाई राष्ट्रों में उत्साह की लहरें पैदा कर दी थीं और भारत भी अपने को इससे अलग नहीं रख सका। मेरे बाल-हृदय की सहानुभूति निश्चय ही जापान के साथ थी और भारत को फिर से स्वाधीन देखने की आकांक्षा मेरे भीतर हिलोरें मारने लगी। लेकिन जिस परिवार, गांव या जाति में मेरा जन्म हुआ था, उसको राजनीति के प्रति मेरी दिलचस्पी उतनी भली नहीं लगती थी।

मेरे ये मनोभाव गांधीजी के प्रति मुझे आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं थे। मेरी यही धारणा है कि भाग्य की दया ने ही मुझे उनके पास तक पहुंचाया।

जब मैं सोलह वर्ष का हुआ, मैंने दलाली का अपना स्वतन्त्र व्यवसाय शुरू किया। यहीं से अंग्रेजों के साथ मेरे संपर्क का प्रारम्भ हुआ। उनमें मेरे साहूकार और ग्राहक दोनों थे। इसी प्रसंग में मुझे उनकी समुन्नत व्यापारी-प्रणालियां, संगठन-शक्ति और अन्य अनेक विशेषताएं देखने का अवसर मिला। साथ ही, इनका जातिगत अभिमान भी मुझसे छिपा नहीं रह सका। मैं इनके यहां जाने के लिए न तो उनके लिफ्ट का ही व्यवहार कर सकता था और न इनसे मिलने की

प्रतीक्षा करते समय इनकी वेंचों पर ही बैठ सकता था। इस प्रकार के अपमान-जनक व्यवहार से मैं तिलमिलाकर रह जाता था। इसी ठेस ने मेरे भीतर राज-नैतिक दिलचस्पी पैदा की, जिसे मैं सन् १६१२ से. आजतक निभाता चला आ रहा हूं। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक तथा श्रीगोखले को छोड़कर और कोई राज-नैतिक नेता नहीं, जिसके संपर्क में मैं नहीं आया। देश का कोई ऐसा राजनैतिक आंदोलन नहीं रहा, जिसमें मैंने दिलचस्पी न रखी हो अथवा अपने ढंग से उसे मदद न दी हो।

इन दिनों एक बार आतंकवादियों से सम्बद्ध हो जाने के कारण मुझे काफी परेशानी उठानी पड़ी और लगभग तीन महीने गुप्तवास में रहना पड़ा। कुछ सहृदय मित्रों के हस्तक्षेप से ही मैं जेल जाने से बच सका। वास्तव में, आतंकवाद के प्रति मेरा विशेष अनुराग कभी नहीं रहा और गांधीजी के संपर्क में आने के बाद तो उसका रहा-सहा अस्तित्व भी खत्म हो गया।

इस पृष्ठभूमि के साथ यह स्वाभाविक ही था कि मैं गांधीजी की ओर आकृष्ट होने का तकाजा महसूस करता। एक आलोचक के रूप में मैं उनके निकट आया और अन्त में उनका अनन्य भक्त बन गया। फिर भी यह कहना बिलकुल असत्य होगा कि गांधीजी के साथ सब विषयों पर मेरा मेल खाता था। वस्तुतः अधिकांश समस्याओं पर मेरा अपना निजी मत था। रहन-सहन के बारे में हम दोनों में कोई साम्य नहीं था। गांधीजी एक सन्त पुरुष थे, जिन्होंने जीवन के सारे सुख-भोगों का त्याग कर दिया था। धर्म ही उनका मुख्य विषय था, जिसने मुझे इतने आग्रह के साथ उनकी ओर खींचा। अर्थशास्त्र के बारे में भी उनका दृष्टिकोण मुझसे भिन्न था। वे छोटे पैमानेवाले उद्योग-धन्धों—चर्खे, करघे, घानी आदि—में विश्वास रखते थे। इसके विपरीत, मैं काफी सुख-सुविधा की जिन्दगी बिताता और बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों के माध्यम से देश के औद्योगीकरण में विश्वास करता था। इतने पर भी हम दोनों के बीच इतना घनिष्ठ संबंध कैसे बना रहा? मैं क्यों उनके विश्वास और स्नेह को प्राप्त करता रहा? इसके लिए मैं तो मुख्यतः उनकी महानता और उदारता का ही आभार मानता हूं। मुझे ऐसे लोग कम ही मिले हैं, जिनमें गांधीजी का-सा आकर्षण हो और जो अपने मित्रों के लिए इतना स्नेह और अनुराग रखते हों। संसार के लिए सन्त उत्पन्न करना बहुत कठिन नहीं है, राजनैतिक नेता भी दुनिया में काफी पैदा होते रहते हैं, मगर सच्चे मानव इस दुनिया में कम ही मिलते हैं। गांधीजी मानवों में एक महामानव थे। ऐसी विरल विभूतियां धरती प्रत्येक सदी में पैदा नहीं करती और अभीतक लोगों ने गांधीजी के मानव-रूप के बारे में जाना ही कितना थोड़ा है!

मैंने कहा, बहुत-सी समस्याओं पर गांधीजी के साथ मेरा मेल नहीं खाता था, फिर भी उनका कोई आदेश मानने से मैंने कभी इन्कार नहीं किया। दूसरी

ओर, उन्होंने भी मेरे विचार स्वातंत्र्य को सहन-भर ही नहीं किया, बल्कि इसके लिए वह मुझे उतना ही ज्यादा प्यार भी करते रहे, जितना कोई पिता अपने बच्चे को करता है। इसीलिए हमारा संबंध एक तरह से पिता-पुत्र के पारिवारिक लगाव जैसा हो गया था, जो उनके जीवन-काल तक बराबर अक्षुण्ण बना रहा।

अन्तिम बार उनके जो दर्शन मैंने किये, वे उनके भौतिक अवशेष-मात्र के थे। यह भाग्य की क्रूरता थी कि जब उन्होंने अन्तिम सांस ली तो मैं उनके पास नहीं था। उनके निधन के केवल दस घण्टे पूर्व ही मैं उनसे अलग हुआ था। मुझे अपने गांव, जो दिल्ली से १२० मील दूर है, जाना पड़ा था। वहां मैं एक प्रमुख मंत्री को अपनी शिक्षा-संस्थाओं का निरीक्षण कराने के लिए ले गया था। मैंने सात बजे सुबह अपना घर छोड़ा था। प्रस्थान से पूर्व मैं गांधीजी के कमरे में उनसे विदा लेने गया था। लेकिन वह विश्राम की गहरी नींद में सो रहे थे, इसीलिए मैंने उन्हें जगाया नहीं। इसके दस घण्टे बाद पिलानी में मेरा पुत्र मेरे पास दौड़ा हुआ आया और उसने मुझे बताया कि रेडियो ने घोषित किया है—"हत्यारे ने गांधीजी को गोली मार दी।" मैं विश्वास न कर सका, लेकिन कबतक अविश्वास करता!

तत्काल दिल्ली लौट जाना संभव नहीं था। हमारा गांव न तो रेल से संबद्ध था, न सड़क से। मुझे रात वहीं बितानी पड़ी। नींद बीच-बीच में उचट जाती थी। मैंने सपना देखा कि मैं दिल्ली के अपने घर में वापस चला गया हूं, जहां गांधीजी रहते थे और जहां उनका देहान्त हुआ था। मैं उस कमरे में गया, जहां उनका शव रखा हुआ था। मेरे कमरे में प्रवेश करते ही वे उठ बैठे और बोले, 'मुझे खुशी है कि तुम वापस आ गए। यह गोली-कांड कोई निरुद्देश्य घटना नहीं थी, वरन् एक गहरा षड्यन्त्र था। लेकिन मैं खुश हूं कि उन्होंने मेरा अन्त कर दिया। मैं अपना काम कर चुका हूं और इस प्रस्थान का मुझे जरा भी दुःख नहीं है।' कुछ देर तक हम लोग बातें करते रहे। उसके बाद उन्होंने अपनी घड़ी निकाली और कहा, 'अब शव-यात्रा का समय हो गया है। लोग मुझे ले जाने आयेंगे, इसलिए मैं लेट जाता हूं।' वे पुनः लेट गए और निःस्पन्द हो गए। कैसा अद्भुत स्वप्न! शायद यह मेरे अपने हृदय की ही प्रतिध्वनि थी।

दूसरे सुबह मैं दिल्ली लौटा और उस कमरे में गया, जिसमें उनका मृत शरीर रखा हुआ था। लाखों की जन-मेदिनी से बिड़ला-भवन घिरा था। गांधीजी का शरीर पड़ा था शांत, अविचल। ऐसा नहीं प्रतीत होता था कि वे मर गए हैं। यही था उनका अन्तिम दर्शन, जो मैंने किया। १६ जून, १९४० के एक पत्र में महादेव भाई ने मुझे लिखा था—"लार्ड लिनलिथगो के प्राइवेट सेक्रेटरी का एक पत्र आया है, जिसमें उन्होंने लिखा है—'जर्मन वायरलैस ने यह खबर प्रचारित की है कि ब्रिटेन के गुप्त एजेंट गांधीजी की हत्या करने की योजना बना रहे हैं।' इच्छा

विचार की जननी है और इसीलिए आशंका है, कदाचित् जर्मनी के एजेंट ब्रिटेन के विरुद्ध प्रचार करने के उद्देश्य से इस तरह की कुछ योजना बनायें। पहले से ही सतर्क रहना हममें से प्रत्येक के लिए हितकर होगा। अतः गांधीजी स्वीकार करें और उनके काम में विघ्न पड़े तो रक्षा के लिए पुलिस की पूरी व्यवस्था करने में हिज़ एक्सेलेंसी को बड़ी खुशी होगी।"

महादेवभाई ने इसका उत्तर दिया था—"गांधीजी ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं चाहते। जीवन-भर की हत्या की धमकी से घिरे रहकर, अनुभव के आधार पर उन्होंने यह धारणा दृढ़ बना ली है कि ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता तक हिल नहीं सकता। न कोई हत्यारा किसी के जीवन की अवधि कम कर सकता है और न कोई मित्र ही किसी को मृत्यु से बचा सकता है।" मुझे लिखे पत्र में महादेवभाई ने लिखा था कि वह उत्तर बापू की ही भाषा में लिखा गया था।

उनके अन्त के आठ साल पहले से ही घटनाएं कितनी खूबी से अपनी छाया फैला रही थीं, लेकिन इस नियति का निमित्त न तो कोई जर्मन बना और न कोई अंग्रेज ही। वह हत्यारा तो था एक भारतीय, एक कट्टर हिन्दू!

गांधीजी को बम द्वारा मारने के निष्फल प्रयत्न के बाद सरकार द्वारा उनकी सुरक्षा की बड़ी सुदृढ़ व्यवस्था की गई थी, यहां तक कि मेरे घर के कोने-कोने में सन्तरी तथा सादी पोशाकवाली हथियारबंद पुलिस चक्कर काटती दीख पड़ती थी। इतनी ज्यादा सतर्कता मुझे अच्छी नहीं लगी।

सन् १९१३ में तत्कालीन वाइसराय लार्ड हार्डिंज बनारस हिन्दू-विश्वविद्यालय का शिलान्यास करने गये हुए थे। इसके पूर्व जब वे नई राजधानी में समारोहपूर्वक प्रवेश कर रहे थे, तो उन पर एक बम फेंका गया था। इसलिए बनारस में उनकी हिफाजत के लिए काफी बड़ी व्यवस्था की गई थी। तालाबों तक में बन्दूकों और रिवाल्वरों से लैस पुलिस तैनात की गई थी। गांधीजी को यह सब आडम्बर नापसंद आया और उन्होंने सरेआम इसकी आलोचना करते हुए कहा था कि इस तरह तो वाइसराय लार्ड हार्डिंज जिन्दगी में ही मौत के दिन बिता रहे हैं।

मैंने गांधीजी के सामने इस अभिमत को दुहराया और कहा, "क्या यह अनुचित नहीं लगता कि हम प्रार्थना भी बंदूकों की छाया में करें? आपका जीवन अत्यंत मूल्यवान् है, लेकिन उससे भी ज्यादा मूल्यवान् है आपकी कीर्ति। अतः क्यों आप इस भांति पुलिस का अतिशय प्रबंध पसंद करते हैं, जबकि आपने आजीवन इससे घृणा की है?"

गांधीजी ने मेरे साथ सहमत होते हुए कहा; "इस संबंध में वल्लभभाई से बातें करो, जो इस सारे प्रबंध का जिम्मेदार है। मैं इस प्रकार के प्रबंधों से नफरत करता हूं। लेकिन मुझे यह सब अपनी रक्षा के लिए नहीं, बल्कि सरकार की

कीर्ति-रक्षा के लिए सहन करना पड़ता है।" मैंने सरदार से भी बाद में इस प्रसंग में बातें कीं और जैसी कि उनकी आदत थी, उन्होंने थोड़े में ही जवाब दिया, "तुम इसके लिए क्यों चिंता कर रहे हो ? यह तुम्हारा काम नहीं है, यह जिम्मेदारी मेरी है। अगर मेरा बस चलता तो बिड़ला-भवन में प्रवेश करनेवाले हर आदमी की मैं तलाशी लेता। लेकिन बापू मुझे ऐसा नहीं करने देते।" आखिर दुर्भाग्य की क्रूर इच्छा पूर्ण हुई। जैसा कि गांधीजी की ही भाषा में महादेव ने लिखा था, कोई मित्र उन्हें नहीं बचा सका। मैं स्वयं अपनी बैल्ट में पिस्तौल छिपाये हुए प्रार्थना में शामिल होता था और उनकी ओर आनेवाले हर आदमी पर नजर रखता था। लेकिन यह सब हमारा वृथाभिमान था। एक पत्ता भी ईश्वर की इच्छा के बिना नहीं हिलता।

इस घटना के लगभग दो बरस बाद ही दूसरे महान् पुरुष चल बसे, जिनके साथ भी मेरा ऐसा ही प्रगाढ़ सम्बन्ध था। यह थे सरदार पटेल। सरदार हर प्रसंग में महात्मा गाँधी के दृढ़तम अनुयायी थे। आत्म-संयम के विषय में तो और भी अधिक। वह लौह-पुरुष कहलाते थे, लेकिन उनकी इस ऊपर से ओढ़ी हुई कठोरता के नीचे कोमलता और उदारता की अपरिमित राशि छिपी रहती थी। वे भी स्वतंत्र विचार के व्यक्ति थे, तो भी हर मामले में, चाहे वह राजनैतिक हो या सामाजिक, वह अपने गुरु के चरण चिह्नों पर ही चलते थे। व्यक्तिगत तौर पर, अकेले में, वह उनसे झगड़ लेते थे, किंतु बाहर सदैव उनका अनुकरण ही करते थे। यह कितने अचरज की बात है कि भारत में बहुत-से बड़े-बड़े लोग गांधीजी के विचारों से असहमत होते हुए भी सदैव उनके अविचल अनुयायी बने रहे ! निःसंदेह, मित्रों के प्रति उनके प्रगाढ़ अनुराग और आत्मीय भाव ने ही इस विरोधाभासी चमत्कार को संभव कर दिखाया था। इसीलिए सरदार यद्यपि कुछ प्रसंगों पर उनसे सहमत नहीं होते थे, फिर भी बिना आना-कानी के प्रत्येक अवसर पर वह गांधीजी की इच्छानुसार ही चलते थे। गांधीजी की मृत्यु के बाद सरदार हृदय-रोग से पीड़ित हो गए। गाँधीजी की मृत्यु से उनके हृदय को बड़ा तीव्र आघात लगा था। कोई साधारण मनुष्य होता तो शोक के इस आवेग को रोकर हलका कर लेता, किन्तु सरदार ने शोक को प्रकट नहीं होने दिया। फलतः, यह उनके हृदय मे समाकर रह गया। मैं उनके संपर्क में उनकी मृत्यु के लगभग अट्ठाईस वर्ष पूर्व आया था। तबसे अंत तक हम दोनों का स्नेह-संपर्क अक्षुण्ण बना रहा।

सरदार भी मेरे ही घर में मरे और भाग्य का यह दूसरा व्यंग्य था कि उनके अंतिम क्षणों में भी मैं उनके साथ नहीं था। अपनी मृत्यु के चार दिन पूर्व वह दिल्ली से बंबई चले आये थे। मंत्रिगण तथा बहुत बड़ी संख्या में उनके मित्र हवाई अड्डे पर उनको विदा देने आये थे। हवाई जहाज के दरवाजे पर एक कुर्सी

पर बैठे हुए उदासी-भरी मुस्कान से उन्होंने प्रत्येक का अभिवादन किया। वह जानते थे कि उनका प्रयाण-काल सन्निकट है। मैं भी जानता था कि वह शीघ्र ही अनंत यात्रा को प्रस्थान करने वाले हैं, लेकिन मैंने अपने को बरबस यह विश्वास दिलाया कि नहीं, अंत अभी इतना निकट नहीं है। इसके चार रोज बाद तो उन्होंने हमेशा के लिए ही विदा ले ली। अंत में सरदार का भी मृत शरीर ही मुझे देखने को मिला।

महादेव देसाई का सन् १९४२ में आगाखां-महल में देहान्त हो चुका था। यह महल उस समय कारागार में परिवर्तित कर दिया गया था। वह मेरे अभिन्न मित्र थे। अपने प्राण उन्होंने अपने गुरु की गोद में छोड़े। उस समय उनका कोई मित्र उनके निकट नहीं था। सहृदयता की तो मानो वह मूर्ति थे। महादेव का निर्माण महात्माजी के द्वारा हुआ था, किंतु यह कहना भी गलत नहीं होगा कि कुछ अंशों तक महादेव ने भी महात्माजी को अपने सांचे में ढाला था। महादेव देसाई का व्यक्तित्व भी बड़ा आकर्षक और स्नेहशील था। वह बड़े विद्वान् एवं हृदय-ग्राही थे। जब कभी बापू किसी बात की जिद पकड़ लेते तो सिर्फ सरदार और महादेव ही उन्हें अपने पथ से विचलित कर सकते थे। कभी बापू क्रोधावेश में झुकते और कभी मुक्त कहकहे के बाद।

कल्पना कीजिए, यदि ये तीनों आज कुछ वर्षों का और आयुर्बल लेकर पूर्ण स्वस्थ जीवित रहते तो कैसा होता भारत का इतिहास! किंतु यह तो निरुद्देश्य कल्पना है। मेरा विश्वास है कि कोई भी मनुष्य अपना काम पूरा करके ही इहलोक से प्रस्थान करता है। इसलिए इन मृतात्माओं के प्रति शोक करना निष्प्रयोजन है। अब तो उत्तरदायित्व का भार आज की और भविष्य की पीढ़ी पर है।

१८ जुलाई, सन् १९३५ को मैं श्री बाल्डविन से लंदन में मिला था। वार्तालाप के सिलसिले में उन्होंने निम्नलिखित अभिमत प्रकट किया था—"लोकतंत्र की अपनी खास खामियां होती हैं। लेकिन अबतक की शासन-पद्धतियों में यह सर्वोत्तम सिद्ध हुई है। ईश्वर को धन्यवाद है कि इस देश में अधिनायक-तंत्र (तानाशाही) नहीं है। श्रेयोन्मुख अधिनायक-तन्त्र अपने तरीके पर अच्छी चीज है, लेकिन तब तो ऐसे अधिनायक-तंत्र में आपको निष्क्रिय बैठे रहने के सिवा और कुछ नहीं करना रहता। आज यह नहीं हो सकता। लोकतंत्र में आप सबको काम करना पड़ता है, और यही है लोकतंत्र की सबसे अच्छी खूबी। यदि हर व्यक्ति काम करेगा तो भारत में यह प्रयोग अवश्य कृतकार्य होगा। यदि प्रत्येक आदमी काम नहीं करेगा तो लोकतंत्र का यह प्रयोग कभी सफल नहीं हो सकेगा। लोकतंत्र

में एक वर्ग ही दूषित हो सकता है। इंग्लैंड या भारत में ऐसे वर्ग मौजूद हैं, जो दूषित होंगे ही; किंतु हमें इन वर्गों के आधार पर सारी जनता का मूल्यांकन नहीं करना चाहिए, और कांग्रेस का जहां तक सवाल है, उसे तो यह बात महसूस कर ही लेनी चाहिए कि देशहित का अभी बहुत बड़ा क्षेत्र उसके सामने पड़ा है।"

लोकतंत्रात्मक सरकार की स्थापना का दायित्व ग्रहण करने के बाद बापू ने १८ जुलाई, १९३७ को मुझे लिखा था: "हमारी वास्तविक कठिनाई तो अब शुरू होती है। हमारा भविष्य हमारी दृढ़ता, सत्य-निष्ठा, साहस, संकल्प, उद्यम और अनुशासन पर निर्भर करता है। जो तुम करते आ रहे हो, वह अच्छा है।··· आखिर जो कुछ किया गया है, वह ईश्वर के नाम पर और ईश्वर में आस्था के साथ किया है। तुम श्रेष्ठ बने रहो। आशीर्वाद !"

श्री बाल्डविन ने कहा था : "लोकतंत्र में सबको काम करना पड़ता है।" बापू ने जोर दिया कि हमारा भविष्य हमारी दृढ़ता, सत्य-निष्ठा, साहस, संकल्प, उद्यम और अनुशासन पर निर्भर करेगा। दोनों ने एक ही बात दो ढंग से कही। ये दोनों उपदेश हमारे पथ के दीपस्तम्भ बनें।

४. गांधीजी के साथ १५ दिन

जंगल की ओर से एक बैलगाड़ी को तेजी से दौड़ाते हुए तीन वृद्ध किसान आ रहे थे। गांधीजी को देखकर सहसा उन्होंने गाड़ी रोकी। बड़ी फुर्ती के साथ अटपटे-से एक के बाद एक ने उतरकर गांधीजी के चरणों में अपना सिर टेका और चुपचाप जैसे आये, वैसे ही गाड़ी में बैठकर आगे चल दिये। न कुशल पूछी, न क्षेम। न अपना दुखड़ा रोया, न आंसू बहाये। वे खूब जानते हैं कि गांधीजी की हरएक सांस तो गरीब के लिए ही निकलती है, इसलिए उन्हें कहें तो क्या, और पूछें तो क्या ? उनके लिए तो मौन होकर सिर झुकाना ही काफी था। कोई पढ़ा-लिखा होता तो बीसियों बातें पूछता, उलहना देता, आलोचना करता; किंतु गरीब में इतनी कृतघ्नता कहां है ! वह तो दूर से ही दर्शन करके सन्तुष्ट होता है। यह तो अनेक घटनाओं में से छोटी-सी एक साधारण घटना है; किंतु गरीबों के हृदयों में गांधीजी का क्या स्थान है, कैसा सिक्का है, यह जानना हो तो ऐसे ही उदाहरण उपयुक्त हैं। बछड़े की मृत्यु के बाद किसी ने कहा था, "आज से महात्मा नहीं, मिस्टर गांधी कहो। अब तो गांधी का कोई दाम भी नहीं पूछेगा।" किंतु गरीब इस झमेले में क्यों पड़ें ? अहिंसा किसे कहते हैं और हिंसा किसे कहना चाहिए,

यह तात्त्विक विवाद तो उन्हीं को शोभा दे सकता है, जिन्हें बहस में अधिक रस है और काम में कम। फुरसती आदमियों के लिए वेदान्त का यह तात्त्विक विवेचन जी बहलाने का एक अच्छा साधन साबित हो सकता है। किन्तु ऊँट को पापड़ से क्या काम ? आए-साल अकाल और महामारी; न खाने को पूरा अन्न, न शरीर ढकने को पूरा वस्त्र, जमींदार की ज्यादती, साहूकार की ज्यादती और ऊपर से उपदेशकों की हिमाकत। उन्हें क्या पता कि गरीब को रोग रोटी का है, न कि धर्म का। सुदामा की तरह गरीब को ज्ञान नहीं चाहिए, रोटी चाहिए। गांधी गरीबों को उपदेश देने नहीं जाता, गांधी उनके हृदय में प्रवेश करके उनके दुःख से दुःखी होता है—गरीब बनकर रहता है और गरीबों के लिए जीता है। यही कारण है कि गरीबों के हृदय पर गांधी का एकछत्र अधिकार है। भारत के किसी छोटे-से-छोटे गांव में जाइए और पूछिए, गांधी कौन है ? तुरंत उत्तर मिलेगा कि गरीबों का भला चाहनेवाला। गांधी क्या पढ़े हैं, क्या लिखे हैं, क्या कहते हैं, यह उनके लिए व्यर्थ की चिंता है। गांधी बाबा अनाथों के, गरीबों के हितचिंतक हैं, इसीमें उनके लिए गांधीजी की सारी जीवनी आ जाती है। चाहे यह जीवनी सूत्ररूप से हो, किंतु संसार का अच्छे-से-अच्छा ग्रन्थकार इससे अधिक संक्षेप में और क्या कह सकता है ! थोड़े-से लोग चाहे गांधीजी को 'गो-हत्यारा' कहकर सन्तोष कर लें, किंतु 'गांधीजी की जय' आज भी आकाश को कंपा देती है।

आजकल गांधीजी वर्धा आए हुये हैं। वर्धा में जमनालालजी की प्रेरणा से श्रीविनोबा ने एक सत्याग्रह-आश्रम खोल रखा है और गांधीजी वहीं ठहरे हुए हैं। गांधीजी क्या आये, मानों घर में कोई बड़े-बूढ़े दादा आ गए हों। आश्रमवासी तो गांधीजी को 'बापू' के नाम से पुकारते हैं, किन्तु बापू होने पर भी बच्चों के साथ गांधीजी बच्चों ही की तरह रहते हैं। खाना-पीना, काम-काज भी आश्रम के नियमों के मुताबिक। आश्रमवासी शुद्ध घृत के अभाव में आजकल अलसी का तेल व्यवहार करते हैं। गांधीजी ने भी बकरी के दूध की जगह अलसी का तेल खाना शुरू कर दिया है। जमनालालजी को इस फेरफार की खबर मिलते ही चिन्ता शुरू हो गई। गांधीजी इस तरह के प्रयोग कर-करके कहीं अपना स्वास्थ्य न खो बैठें, इस आशंका से जमनालालजी ने गांधीजी को समझाना शुरू किया। बहस हुई, झगड़ा हुआ, अन्त में जमनालालजी ने बल-प्रयोग किया—"बापू, आप यहां मेरी देख-रेख में हैं। जैसा मैं कहूं, वैसा कीजिए। इन प्रयोगों के कारण आप यहां से बीमार होकर जायं, यह मैं नहीं बर्दाश्त करने का।" "तो दे डालो नोटिस मुझे, यहां से चला जाऊंगा।" गांधीजी ने खिलखिलाकर कहा। जमनालालजी अब क्या कहते! चुप रहे। गांधीजी का हठ कायम रहा।

अग्रवाल-पंचायत ने जमनालालजी को जाति-बहिष्कृत कर रखा है। उनका सबसे बड़ा गुनाह यह बताया गया कि उन्होंने अस्पृश्यों के हाथ का खाया।

जमनालालजी के कारण वर्धा में भी अग्रवालों मेंदो दल हैं। एक दल तो कट्टर पुराने विचार के लोगों का है, दूसरा दल भी यद्यपि पुराने विचारों का ही अनुयायी है, तो भी जमनालालजी को छोड़ना नहीं चाहता। जमनालालजी ने उन्हें समझाया कि मुझे निबाहना कठिन काम है, इसलिए आप सामाजिक मामले में मुझसे मोह तोड़ लें। किन्तु जिनका प्रेम है, वे जमनालालजी को कैसे त्याग दें? एक दिन कुछ वृद्ध सज्जनों को अगुआ करके दूसरे दल की मंडली जमनालालजी के पास पहुंची। "जमनालालजी विधवा-विवाह में शरीक हों, अस्पृश्यों से छुआछूत न मानें, उनके लिए मन्दिर खोलें, इसमें तो हम शामिल हैं, किन्तु अस्पृश्यों के हाथ का खान-पान हमें नहीं रुचता। चाहे हमारे सन्तोष के लिए ही सही, क्या जमनालालजी हमें इतना विश्वास नहीं दिला सकते कि भविष्य में वह अछूतों के हाथ का पकाया नहीं खायेंगे? जब हम लोग इतना आगे बढ़ने को तैयार हैं, तो जमनालालजी हमारे सन्तोष के लिए थोड़ा-सा पीछे क्यों न हटें?" यह संक्षेप में उनकी दलील थी। जमनालालजी कहने लगे, "आश्रम में तो सभी जाति के लोग रहते हैं। क्या मैं आश्रम में खाने से इन्कार करूं?" "आश्रम की कौन कहता है? यह तो पुण्य-भूमि है! तीर्थस्थान के लिए कोई रुकावट नहीं। अन्य स्थानों पर आप ऐसा न करें, यही हमारी मांग है।" इस तरह बहस होती रही। अन्त में तय हुआ कि गांधीजी के सामने मामला पेश किया जाय। दूसरे दिन वृद्ध लोगों का एक शिष्टमण्डल गांधीजी के पास पहुंचा। गांधीजी ने चर्चा चलाते हुए समाज के अगुओं से बातें प्रारम्भ कीं। गांधीजी ने पूछा, "जमनालालजी अस्पृश्यों के हाथ का खाते हैं, इसमें आपको किसका डर है? समाज का या धर्म का?" एक वृद्ध ने कहा, "धर्म तो हम क्या समझें! समाज की रूढ़ि है कि ऐसा नहीं करना चाहिए। हम जमनालालजी की सब बातें मानते हैं, तो फिर हमारी इतनी बात जमनालालजी क्यों नहीं मानते?" गांधीजी ने कहा, "क्यों न मानें; किन्तु यदि रूढ़ि का जुल्म हो तो उस रूढ़ि का नाश कर देना चाहिए। प्राचीन काल में ऐसी रूढ़ि का बन्धन था, यह तो मैं नहीं जानता। मैं तो यह जानता हूं कि जो स्वच्छ है, शराबी नहीं है, व्यभिचारी नहीं है, उसके द्वारा स्वच्छता से पकाया हुआ खाने-योग्य पदार्थ हमारे लिए अवश्य भोज्य है। उनको यदि हम कहें कि तुम्हारे हाथ का हम नहीं खायेंगे तो क्या हमारे साथ वे रहेंगे? वे अवश्य हमारा त्याग कर देंगे। मैं तो केवल उनकी धमकी से भी नहीं डरता; किन्तु यदि हमारे दोष के कारण वे हमारा त्याग कर दें तो मैं उसे कैसे बर्दाश्त कर सकता हूं? जो अपवित्र रहते हैं, मुर्दे का मांस खाते हैं, शराबी हैं, उनके हाथ का खाने को तो मैं नहीं कहता। उनसे तो मैं कह सकता हूं कि पहले तुम अपनी बुराइयां दूर करो तो मैं तुम्हारे हाथ का खाऊं। किन्तु जो स्वच्छ हैं, उनके हाथ का तो न खाने से धर्म का नाश हो जायगा। आपमें यदि साहस न हो तो आप चाहे ऐसा न करें।

जमनालालजी को आशीर्वाद तो दें, क्योंकि वह तो धर्म ही के लिए ऐसा करते हैं। आप इनको क्यों पीछे हटाना चाहते हैं ? चाहो तो जमनालालजी से प्रतिज्ञा करा लो कि जो शौचादि को न माने, ब्राह्मण या अब्राह्मण किसी के भी हाथ का वह न खायं। किन्तु इससे थोड़े ही आपका काम बनेगा ! आप तो पंचों के त्रास से भयभीत हैं और इसलिए जमनालालजी से आग्रह करते हैं। मैं यह कहना चाहता हूं कि समाज को तो मैं भी मान लेता हूं, हमें हर बात में समाज से नहीं लड़ना चाहिए। किन्तु आपका समाज कैसा समाज है ? यदि गंगोत्री मैली हो जाय तो क्या फिर गंगा का पानी स्वच्छ रह सकता है ? आज के पंच पंच कहां रह गए ? पंच तो गंगोत्री है, और जैसे गंगोत्री का पवित्र प्रवाह गंगा में बहता है, वैसे ही पंच समाज को पवित्र प्रेरणा और न्यायबुद्धि देते हैं। किन्तु वर्तमान के पंच तो राक्षसी प्रथा के पुजारी हैं। आज के पंच पाखंड से, स्वार्थ से, क्रोध से और द्वेष से भरे हुए हैं। मेरी तो यह भविष्यवाणी है, आप इसे मानिए कि आज के पंचों का अन्याय हम नहीं मेट सके तो इस समाज का नाश हो जायगा। पंच न्याय कहां करते हैं ? धर्म की बड़ी-बड़ी बातें बनाने से न्याय नहीं हो सकता। वर्तमान के पाखण्डी पंचों से तो डरना भी अन्याय है। उनके जुल्म का सामना करके मरना ही अच्छा है। पंच-गंगोत्री मैली हो गई है। इसे शुद्ध करने के लिए हरएक को मर-मिटना चाहिए। यह धर्म के नाम पर पाप फैलाया जाता है। उसीका जमनालालजी सामना कर रहे हैं। उन्हें आप आशीर्वाद दें। आगे की पीढ़ी तो कहेगी कि जमनालालजी ने धर्म को बचा लिया। लाखों अछूतों को हिन्दू-समाज में रख लिया। रावण के दस सिर क्या थे, यह तो उनकी दस तरह की दुष्ट बुद्धि थी। उसी दुष्ट बुद्धि का सामना विभीषण ने किया।

"आप यदि सामना कर नहीं सकते, इतना साहस नहीं है, तो जमनालालजी आपको नहीं कहते कि आप भी उनके साथ चलें। जमनालालजी तो कहते हैं कि आप उनके साथ न चल सकें तो उन्हें छोड़ दें, किन्तु आप उनका मोह क्यों करते हैं ? उन्हें भी अग्रवाल-समाज के सुधार का मोह छोड़ देना चाहिए। जो संन्यासी हो गया, उसे कौन बांधता है ! वह तो अब व्यापक समाज की सेवा ही कर सकते हैं। उसीमें अग्रवाल-समाज की भी सेवा आ जाती है। आप जमनालालजी को छोड़ दें, किन्तु उनके लिए प्रेम कायम रखें और पंचायत के जो लोग विरोधी हैं, उनके प्रति भी विरोध न करें। हम क्रोध को अक्रोध से और अशान्ति को शान्ति से ही जीत सकते हैं। पंचायत के लोग क्रोध के पात्र नहीं हैं, दया के पात्र हैं। वे तो अवश्य ही समझते हैं कि हम समाज का भला कर रहे हैं। उन्हें क्या पता कि वे धर्म के नाम पर जुल्म करना चाहते हैं ! इसलिए आप तो उनसे भी प्रेम करो और जमनालालजी को आशीर्वाद दो कि वह धर्म की रक्षा और अन्याय का सामना करने में कृतकार्य हों।"

गांधीजी का वक्तव्य समाप्त होने पर सब लोग चुप हो गए। सन्नाटा-सा छा गया, किसीसे उत्तर देते नहीं बना। एक वृद्ध सज्जन ने चुपके से पगड़ी उतारकर गांधीजी के पैरों में रख दी और कहने लगे, "महाराज, आपने जो कहा, उसे सुनकर तो मैं गद्गद हो गया।" उस वृद्ध से अधिक कहते न बन पड़ा, किन्तु पंचों के त्रास से वह भी भयभीत था।

गांधीजी जब चर्खा चलाने बैठते हैं तो कातने की धुन में इतने मस्त रहते हैं, मानो त्रिलोक का राज्य मिल गया हो, और किसी भी गहन-से-गहन विषय पर उनसे बातें कीजिए, उनके कातने में कोई विघ्न नहीं पड़ता। असल में तो एक ओर सूत का अपने-आप उनके हाथ की पूनी में से निकलते जाना, दूसरी ओर उनकी अवाधित वचन-धारा का प्रवाह और साथ में चर्खे का संगीत, यह हर भावुक का मन मोहने को पर्याप्त है। मैं तो हर रोज उनके कातने के समय अपनी चक्की चलाने जा बैठता हूं। एक दिन वही बछड़े की कथा छिड़ी। मैंने कहा, "महात्माजी, श्रीकृष्ण ने भी बछड़ा मारा था, किन्तु वह तो आलंकारिक जमाना था, इसलिए बछड़े का वत्सासुर हो गया। किन्तु इस बीसवीं शताब्दी में तो लोग सीधी-सादी भाषा में ही बोलते हैं, इसलिए आपके इस काम ने काफी हलचल पैदा कर दी। आपने बहुत-से साहस किये, किन्तु इसमें तो हद हो गई। मुझे तो मालूम होता है, आपने इससे अधिक साहस का कोई और काम अपने जीवन में नहीं किया होगा।"

गांधीजी ने कहा, "ऐसी तो क्या बात है, मैंने तो सबकुछ सहज भाव से ही किया है।"

"तो आपने ऐसा कौन-सा काम किया है, जिसे साहस की दृष्टि से आप अपने जीवन में ऊंचे-से-ऊंचा स्थान दे सकें ?" मैंने पूछा।

"इस दृष्टि से तो मैंने कभी नहीं विचारा।" गांधीजी ने कहा, "किन्तु मैं समझता हूं कि बारडोली-सत्याग्रह स्थगित करके मैंने बहुत बड़े साहस का परिचय दिया। चौबीस घण्टे पहले सरकार को चुनौती देकर ललकारा और फिर अचानक सत्याग्रह को स्थगित करना, यह अपने-आपको बेहद हास्यास्पद बनाना था; किन्तु मैं तनिक भी नहीं झिझका। जो सत्य था, वही मेरा राजमार्ग था और इसीलिए मेरी अपनी हंसी होगी, इस विचार ने मुझे कभी भयभीत नहीं किया। मेरे जीवन के बड़े साहसिक कामों में यह एक था, ऐसा मैं मान सकता हूं।"

"सविनय आज्ञा-भंग अचानक बन्द करना पड़ा, इससे आपको क्लेश नहीं हुआ ?"

"किंचित् भी नहीं।" गांधीजी ने दृढ़ता से कहा।

जिस सीता के लिए लाखों बन्दरों और राक्षसों के प्राण गए, उसे छोड़

देने में राम को कुछ हिचकिचाहट न हुई। और जिस सविनय आज्ञा-भंग के लिए हजारों लोगों को जेल-यातनाएं मिलीं, उसे ढाह देने में गांधीजी को कोई संकोच नहीं हुआ। त्रेता में लोगों ने राम को बुरा-भला कहा होगा, कलि में गांधीजी को लोगों ने खरी-खोटी सुनाई; किन्तु कौन कह सकता है कि गांधीजी ने जो किया वह ठीक न था! असल में तो बड़े लोगों को समझने के लिए कुछ प्रयास की जरूरत पड़ती ही है। गांधीजी लंगोटी मारकर रहते हैं, सस्ते-से-सस्ता खाना खाकर निर्वाह करते हैं, तो भी उस सबके नीचे छिपी हुई चमक 'कभी-कभी' लाखों में चकाचौंध मचा ही देती है। गांधीजी लंगोटी मारकर गरीबों की तरह रहते हैं, इससे उनकी बुद्धि गरीब नहीं हो गई है। वस्तुस्थिति तो यह है कि बाज-बाज मौकों पर गांधीजी के वचन और कर्म को ठीक-ठीक समझने के लिए मनुष्य को विशेष प्रयास की जरूरत पड़ती है। हम रोजमर्रा देखते हैं कि अखबारवाले गांधीजी से वार्तालाप करके कुछ छाप देते हैं और पीछे गांधीजी को उसका खंडन करना पड़ता है। कारण यह है कि गांधीजी को लोग ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। गांधीजी 'अहिंसा-अहिंसा' पुकारते न कभी थके, न अब थकते हैं। अहिंसा के तो मानो वह अवतार बन गए हैं। फिर भी बछड़े की प्रख्यात हिंसा करते न केवल उन्हें हिचकिचाहट नहीं हुई, उलटा उन्होंने उसे धर्म माना। साधारण लोग सुनते ही हक्के-बक्के रह गए। किसी ने आंसू बहाए, किसी ने गालियां दीं, किन्तु साबरमती के महात्मा पर उसका क्या असर हो सकता था! उन्हें तो लेना-देना है बस एक ही से। चर्खा चलाते हैं तो उसमें ईश्वरीय संगीत सुनते हैं। अलसी के तेल से मिली रोटी खाते हैं तो उसमें ईश्वरीय स्वाद का अनुभव करते हैं। दुःख में, सुख में, हंसने में, रोने में, जागने में, सोने में, फिरने में अविच्छिन्न रूप से जो मनुष्य ईश्वर का अनुभव करता है, उसे जगत् की क्या परवा!

संतन ढिग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई,
अब तो बात फैल गई जाने सब कोई।

यह गांधीजी का हाल है। जगत् से न उनको शर्म है, न जगत् का भय है।

एक दिन मैंने पूछा, "महात्माजी, आपकी उत्तरोत्तर आत्मोन्नति हो रही है, ऐसा कुछ आपको अनुभव होता है?" शील-संकोच से गांधीजी ने कहा, "मेरा तो ऐसा खयाल है।" मैंने कहा, "महात्माजी, आपके इर्द-गिर्द की मण्डली क्या समझती है, मैं नहीं जानता, किन्तु मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि असहयोग-आन्दोलन के बाद आपकी आत्मा में बहुत चमक आ गई है।" महात्माजी मौन रहे। शायद सोचा होगा, मेरा ऐसा कहना भी तो अनधिकार था। किसी की आत्मा उठ रही है या गिर रही है, उसे पहचानने की भी तो लियाकत अधिकारी में ही हो सकती है। एक बार लार्ड रीडिंग से गांधीजी की चर्चा चली थी, उसका मुझे स्मरण हो आया। गांधीजी उन दिनों जेल में थे। देश के नेताओं का जिक्र छिड़ने पर मैंने

कहा, "मेरी राय में गांधीजी संसार में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं।" वाइसराय ने कहा, "हां, यह ठीक हो सकता था, यदि उनके संगी-साथी सब-के-सब ईमानदार होते।" मैं वाइसराय का मतलब समझ गया। यह कोई नहीं कह सकता कि असहयोग के दिनों में गांधीजी की सारी-की-सारी मण्डली भली थी। किन्तु गांधीजी को इससे क्या ! मैंने उन दिनों एक बार कहा था, "महात्माजी, आपके इर्द-गिर्द के लोगों में कितने बुरे आदमी भी आ गए हैं।" गांधीजी ने कहा, "मुझे क्या डर है ? मुझे कोई धोखा नहीं दे सकता। जो मुझे धोखा देने में अपने को दक्ष समझते हैं, वे स्वयं अपने-आपको धोखा देते हैं। मैं तो शैतान के पास भी रहने को तैयार हूं, किन्तु शैतान मेरे पास कैसे रहेगा ? जो बुरे हैं, वे स्वयं मुझे त्याग देंगे।" हुआ भी ऐसा ही। आज महात्माजी की मण्डली में इने-गिने लोग बचे हैं। शुरू से आजतक के उनके जीवन पर दृष्टिपात करें तो सारा चित्र आंखों के सामने नाचने लगता है। राजा ने छोड़ा, रौलट-एक्ट के जन्म के समय; प्रजा ने छोड़ा, बारडोली के निश्चय के समय। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, आर्यसमाजी, सनातनी, जात-पांत, मित्र-स्नेही, सबने—किसी ने कभी, किसी ने कभी—महात्माजी को समय-समय पर छोड़ दिया। युधिष्ठिर स्वर्ग में पहुंचे तो केवल एक कुत्ता साथ में निभा। महात्माजी के स्वर्गारोहण तक कौन उनके साथ टिक सकेगा, यह भविष्य के गर्भ में है। पर एक बात है, सबने एक-एक करके समय-समय पर गांधीजी को छोड़ दिया, पर फिर-फिरकर वही लोग गांधीजी से चिपटे ही रहते हैं। मैंने एक दिन कहा, "महात्माजी, आप इतनी तेजी से दौड़ लगा रहे हैं, मैं नहीं समझता कि अन्त तक बहुत व्यक्ति आपके साथ रह सकते हैं।" गांधीजी ने कहा, "यह तो मैंने बीस साल पहले ही सोच लिया था और मुझे तो इसी में सुख है।" मैंने कहा, "यदि प्राचीन समय होता और भारतवर्ष के बाहर आप पैदा हुए होते, तो इतनी तेजी की चाल लोग बर्दाश्त न करते। या तो ईसा की तरह आपको सूली पर चढ़ना होता, अथवा सुकरात की तरह जहर का प्याला पिलाया जाता। किन्तु यह तो ऋषियों का देश है और बीसवीं शताब्दी है, इसलिए लोगों ने आपकी महात्मापन की उपाधि छीनकर ही सन्तोष कर लिया है।"

गांधीजी ने हंसकर धीरे से कहा, "तो चढ़ा दें लोग मुझे भी सूली पर। मैं भी तैयार हूं और प्रसन्नता के साथ तैयार हूं।" पास बैठे लोगों ने लम्बी सांस ली। मेरे तो मन में आया कि इस मिश्रित धर्म से तो कहीं अन्धकार ही अच्छा है, जो अवतार को निकट ला देता है। आज न तो अधर्म का ह्रास ही होता है और न अवतार ही आता है। यह दशा तो असहनीय है, किन्तु कोई क्या करे !

गांधीजी के यहां त्याग का गुणगान रात-दिन रहता है। कम-से-कम कितने

रुपयों में निर्वाह हो सकता है, इसी का प्रयोग होता रहता है। गाँधीजी भी अलसी के तेल का प्रयोग इसलिए करते हैं कि जिसमें जीवन-निर्वाह का खर्च कम-से-कम हो। उनके इस आचरण के कारण वातावरण ही ऐसा बन गया है कि उनकी मण्डली में जीवन-निर्वाह की आवश्यक-से-आवश्यक सामग्रियों का उपयोग करना भी गुनाह-सा हो गया है। सेठ जमनालालजी का चौका भी सेठाई से शून्य है। बेमसाले की स्वादहीन एक तरकारी, मोटे टिक्कड़, दूध-दही तो औषध के रूप में—यह रोजमर्रा की रसद है। किसी मोटे मरीज के लिए तो आश्रम का भोजन या जमनालालजी का चौका रामबाण औषध है। क्योंकि हरिभाऊ उपाध्याय-जैसे अधमरे ब्राह्मण के लिए भी वहां वजन बढ़ाने की कोई गुंजाइश नहीं। किसी आश्रमवासी बालक या बालिका के चेहरे पर मैंने शारीरिक ओज के चिह्न नहीं पाये। संन्यासाश्रम का आदर्श भी यही था कि कम-से-कम खाओ, अधिक-से-अधिक उपजाओ; अर्थात् अल्प-मात्रा से जीवन-निर्वाह कर अधिक-से-अधिक संसार की सेवा करो। यह स्वेच्छा का त्याग था। आश्रमवासियों की भी यह स्वयं-निर्मित कैद है। किन्तु भारत के जनसाधारण को आश्रमवासियों से अधिक कहां मिलता है? भारतवर्ष के प्रत्येक मनुष्य की आय का औसत गोखले ने दो रुपये माहवार निश्चित किया था। किसी-किसी ने इससे ज्यादा का अन्दाजा किया। किन्तु भारत वर्ष को सब्जबाग दिखानेवाले अंग्रेज भी ४॥ रु० माहवार से अधिक की आय नहीं साबित कर सके। भारतवासी की आय ४॥ रु० और अंग्रेज की ५० रु० प्रतिमास!

आश्रमवासी बेचारे कम-से-कम खर्च करके भी १५ रु० माहवार से कम में गुजर नहीं कर सकते और भारत के दरिद्रनारायण ४॥ रु० माहवार में किसी तरह कीड़े-मकोड़े का जीवन व्यतीत करते हैं। आश्रमवासियों ने तो अपने-आप अपने ऊपर कैद लगाई है, सुख को तिलांजलि दी है, देश के लिए फकीरी ली है, इसलिए हरिभाऊजी के अधमुए शरीर को देखकर तरस खाना बेकार है। किन्तु देश के जनसमुदाय ने कब संन्यास-दीक्षा ली थी, जो उनकी गरीबी को हम सन्तोष समझ बैठे हैं? उनका सन्तोष क्या है. बुढ़िया का ब्रह्मचर्य है। उन्हें सन्तोष सिखाना उनकी गरीबी की निर्दय हंसी उड़ाना है। मैंने गांधीजी से कहा, "महात्माजी, त्याग तो आपको और आपके चेले-चांटियों को ही शोभा दे सकता है; किन्तु देश के असंख्य दरिद्रों को त्याग की कौन-कौन-सी गुंजाइश है? वे तो पहले से ही आधा पेट भोजन करते हैं और फिर वे लोग समझ बैठें कि ४॥ रु० माहवार या इससे भी कम में निर्वाह करना ही हमारा कर्त्तव्य है, तो फिर स्वराज्य की भावना को प्रोत्साहन देना फिजूल है। स्वराज्य की भावना दो ही कारणों से देश में पैदा हो सकती है—या तो धार्मिक असन्तोष के कारण, या आर्थिक वेदना के कारण। यूरोपीय देशों में पेट की चिन्ता ने स्वराज्य की भावना को जाग्रत

रखा। यहां धार्मिक असन्तोष ने समय-समय पर सुधर्मियों के राज्य की भावना को प्रोत्साहन दिया। किन्तु अंग्रेजों ने न हमारे मन्दिर गिराये, न मुसलमानों की मस्जिदें तोड़ीं। इसलिए स्वराज्य की भावना तो तभी पैदा हो सकती है, जब हम यह महसूस करें कि हमारी आर्थिक हीनावस्था बिना स्वराज्य के नहीं सुधर सकती। किन्तु यदि इस दारिद्र्य को ही आदर्श मानें तब तो फिर स्वराज्य के लिए कोई क्यों लड़े! इसलिए मेरी बुद्धि में तो वहां यह अपने-आप धारण की हुई गरीबी आश्रम-वासियों एवं अन्य कार्यकर्त्ताओं के लिए भूषण है; जनता की बेबस गरीबी, गरीबों का और देश का दूषण है। उन्हें तो हम यह कहें कि तुम्हारे पास जीवन-निर्वाह की सामग्री स्वल्प है, उसको मर्यादा के भीतर बढ़ाने का उद्योग करना तुम्हारा धर्म है।"

महात्माजी ने कहा, "मैं गरीबों से जीवन की आवश्यक सामग्री घटाने को कहां कहता हूं? आज गरीब जितने में निर्वाह करता है, वह तो हमारे लिए शरमाने की बात है। वर्तमान गरीबों का जीवन तो पशुओं का जीवन है। उनके सामने त्याग की बातें करना तो निर्दयता है। जिसके पास काफी सामग्री है, या जो सेवा करना चाहते हैं, मैं तो उन्हें ही गरीब बनने का उपदेश करता हूं।"

मैंने कहा, "आपका साहित्य पढ़ने से तो कुछ भ्रम पैदा हो सकता है। आप अलसी के तेल पर निर्वाह करें और आपकी मण्डली आपका अनुकरण करे, तो फिर लोग शायद यह भी समझ सकते हैं कि देश का हर मनुष्य कम-से-कम खाकर जीये?"

गांधीजी ने कहा, "लेकिन मेरा यह साहित्य गरीबों के लिए थोड़े ही है। जब गरीब लोग पढ़े-लिखे होने लगेंगे और मेरा साहित्य पढ़ने लगेंगे, तो शायद मुझे कुछ थोड़ा-सा फेरफार करना पड़े। किन्तु आज तो मैं त्याग का गुणगान धनी या मध्यम वर्ग के लोगों के लिए ही करता हूं। गरीबों को त्याग क्या सुझाऊं, वे तो परवशात् त्यागी बन बैठे हैं। उन्हें तो इससे अधिक की आवश्यकता है।"

मैंने पूछा, "आपकी राय में हर मनुष्य को खाने, पहनने और सुख से रहने के लिए कितने व्यय में निर्वाह करना चाहिए?"

गांधीजी ने कहा, "जितने में सुखपूर्वक स्वस्थ रहते हुए निर्वाह कर सके।"

"यानी रोटी, दाल, भात, तरकारी, फल, घी, दूध, सूती-ऊनी कपड़े, जूते?"

गांधीजी ने कहा, "जूते की आवश्यकता मैं इस देश में नहीं समझता, शायद खड़ाऊं की आवश्यकता हो। घी तो ज्यादा नहीं चाहिए।"

मैंने पूछा, "दन्तमंजन, साबुन, ब्रश इत्यादि?"

गांधीजी ने कहा, "अरे, इसकी कहीं आवश्यकता हो सकती है?"

मैंने पूछा, "घोड़ा?"

सब लोग हंसने लगे।

मैंने फिर पूछा "खैर, आपकी राय में गरीब आदमी का बजट कितने रुपये

का होना चाहिए ?" सौ रुपये माहवार से कम में कैसे कोई सुखपूर्वक गुजर कर सकता है, यह तो मेरे जैसे मनुष्य की बुद्धि के बाहर की बात थी। इसीलिए मैंने सौ रुपये का तखमीना रखा। हरिभाऊजी ने कहा, "मैंने साधारण आदमी का बजट गढ़कर देखा था, पचास रुपये प्रतिमास काफी है।" महात्माजी को तो पचास रुपये भी ज्यादा जंचे। "पच्चीस रुपये माहवार तो काफी हैं।"--यह उन्होंने अनुमान लगाया। मैंने कहा, "यह तो असम्भव है।"

गांधीजी ने कहा, "अच्छा, जो स्वास्थ्य के लिए चाहिए उतनी सामग्री का तखमीना कर लो। यदि पच्चीस रुपये से ज्यादा आता है तो भी मुझे क्या उज्र है ! किन्तु मैं जानता हूं कि पच्चीस रुपये माहवार हर मनुष्य को खाने को मिले तो यहां रामराज्य आ जाय।"

"और यदि किसी-किसी को पचास रुपये से ज्यादा मिल जाय तो ?" मैंने पूछा।

"ज्यादा मिल जाय तो उसका उपभोग करे," गांधीजी ने उत्तर दिया। "किंतु वह तो फिजूलखर्ची है। ऐसे मनुष्यों को तो मैं त्याग का ही उपदेश करूंगा।"

मैंने पूछा, "महात्माजी, यदि प्रत्येक मनुष्य की आय दो सौ रुपये औसत या इससे भी अधिक प्रतिमास हो जाय तो आपको क्या उज्र हो सकता है ?"

महात्माजी ने आवेश के साथ कहा, "उज्र नहीं हो सकता है ! उज्र तो हो ही सकता है। संसार में प्रकृति जितना पैदा करती है, वह तो इतना ही है कि हर मनुष्य को आवश्यक वस्त्र और जीवन-निर्वाह की अन्य आवश्यक सामग्री सुखपूर्वक मिल जाय; किन्तु प्रकृति मनुष्य के अपव्यय के लिए हर्गिज पैदा नहीं करती। इसके माने तो यह है कि यदि एक मनुष्य आवश्यकता से अधिक उपभोग कर लेता है तो दूसरे मनुष्य को भूखा रहना पड़ता है और इसलिए जो अधिक उपभोग करता है उसे मैं लुटेरे की उपमा देता हूं। इस हिसाब से पचास रुपये से अधिक जो अपने लिए खर्च करते हैं, वे लुटेरे हैं। इंग्लैंड एक छोटा-सा देश है। वहां के साढ़े तीन करोड़ आदमियों के भोग-विलास के लिए आज सारा एशिया उजाड़ा जा रहा है। किन्तु भारत के बत्तीस करोड़ मनुष्य यदि दो सौ माहवार या अधिक खा जाने का प्रयत्न करें, तो संसार तबाह हो जाय। भगवान् वह दिन लाये कि भारत के लोग अंग्रेजों की तरह उपभोग करना सीखें। किन्तु यदि ऐसा हुआ तो ईश्वर ही रक्षा करेगा। साढ़े तीन करोड़ की भोग-पिपासा मिटाने में तो यह देश मरा जा रहा है, बत्तीस करोड़ आदमियों के भोग की भूख मिटाने में तो संसार को मरना होगा।"

मैंने कहा, "महात्माजी, यदि पांच सौ या सौ रुपये से अधिक खानेवालों को लुटेरे समझें तब तो मारवाड़ी, गुजराती, पारसी, चेट्टी इत्यादि सब लुटेरे हैं।"

महात्माजी ने गम्भीरता से कहा, "इसमें क्या शक है ! वैश्यों के हितार्थ प्रायश्चित्त करने के लिए ही तो मैंने वैश्यपन छोड़ा है।"

५. उत्कल में पांच दिन

जब गांधीजी ने उत्कल में पैदल पर्यटन शुरू किया तो सुना कि वे सवेरे-सांझ छांह में चलते हैं, आम्र-कुंजों में टिकते हैं, तारों-जड़े आसमान के नीचे सोते हैं। खाने को खेतों से ताजा तरकारी मिलती है, आम तो ऊपर ही लटकते रहते हैं; तोड़ लिये और खा लिये। दूध सामने दुहा और पी लिया। गांधीजी के साथ कुछ दिन रहने का आनन्द और उसीके साथ ऊपर-नीचे, दायें-बायें, प्रकृति के सुहावने दृश्यों का यह मनमोहक विवरण किसके लिए लुभावना न होगा ! आखिर मैं भी पहुंच गया। पहुंचते ही देखता हूं कि गांधीजी पांच फुट लम्बी-चौड़ी एक तंग कोठरी में बैठे लिख रहे हैं। एक लड़का पंखा झल रहा है। बाहर छाया में लोग दरियों पर इधर-उधर पड़े हैं, कोई खा रहा है, कोई सो रहा है।

गांधीजी ने कहा, "अच्छे समय पर पहुंचे। कल रात तो वर्षा के मारे परेशानी रही। रात-भर कोई सोया नहीं। एक तंग कोठरी में पच्चीस जनों ने बैठकर रात बिताई।" सुनते ही मेरा माथा ठनका। गांधीजी ने मेरी ओर इशारा करके एक भाई से कहा, "अच्छा, इनके खाने का क्या प्रबन्ध है ?"

मैंने कहा, "जी, दूध लिया करता हूं।"

किसी ने आहिस्ते से कहा, "दूध तो नहीं है।"

अपनी परेशानी छिपाने के लिए मैंने कहा, "कोई चिन्ता नहीं, आमों से काम चल जायगा।"

श्री मलकानीजी मेरे अज्ञान पर मुस्कराते हुए कहने लगे, "यहां आम कहां ?"

मैंने साहस करते हुए कहा, "देख लेंगे !"

"खा लेंगे, ऐसा तो नहीं।" गांधीजी ने कहा, "अच्छा नहा तो लो !"

कुएं पर गया। अन्दर झांका तो पानी में कीचड़ भरा था। ऐसा पानी पीने की तो कौन कहे, पांव धोने में भी सूग आती थी। किसी तरह साफ-सूफ करके पोखर की पाज पर दरी डालकर सो रहा। सोचा, खाने-पीने को नहीं मिलता तो न सही, सो तो लें। दो घण्टे बाद एक स्वयंसेवक दो गांवों में 'हांड' कर पांच बकरियां दुहाकर आध सेर दूध लाया। उसे हसरत-भरी निगाह से देखकर मैं पी गया। पीने के बाद ही ध्यान आया कि न मालूम ये पांच बकरियां कितने बच्चों का मन भरतीं। पेट तो आधा सेर दूध से कितनों का क्या भरता ! फिर लम्बी सांस लेकर लेट रहा। बंकिमबाबू ने भारतवर्ष की वन्दना में इसे 'सुजलां सुफलां शस्यश्यामलां' कहा है। उत्कल में भी जल की कमी नहीं। सुफला भी है। भूमि उपजाऊ भी है, पर न 'सुखदा' है, न 'वरदा'। यहां बाढ़ खूब आती है। शान्तनु

जैसे पुत्र पैदा करता था और गंगा उन्हें बहा ले जाती थी, वैसे ही उड़िया बोता है और बाढ़ सब-कुछ वहाकर ले जाती है। जहां हम लोग बैठे थे, वहां बाढ़ आने पर पुरसों पानी चढ़ जायगा। खेती नष्ट हो जायगी। पशु मर जायंगे। घर से निकलना मुश्किल हो जायगा। बीमारी फैल जायगी। लोग बेमौत मरेंगे। बाढ़ के उत्तर जाने पर लोग थके-मांदे फिर खेती करेंगे। फिर झोंपड़ियों की मरम्मत करेंगे और फिर बाढ़ से लड़ने की तैयारी में लगेंगे।

शायद बाढ़ की मार से उड़िया इतना शिथिल हो गया है कि अब उसमें उत्साह नहीं। शायद दुःख को भूलने के लिए ही उसने अफीम की लाग भी लगा ली है। उसकी आंखों में न तेज है, न हृदय में उत्साह। बाढ़ निवारण के लिए सरकार ने एक कमेटी बैठाई। उसने कुछ अच्छी-अच्छी सिफारिशें भी कीं, पचासों लाख का खर्च बताते हैं। यदि इन सिफारिशों पर चला जाय तो उड़िये के जीवन में एक नई स्फूर्ति आ जाय, एक नई आशा पैदा हो जाय। पर फुर्सत किसे है? बाढ़-निवारण कमेटी की जांच-रिपोर्ट आज सरकारी अलमारियों की शोभा बढ़ा रही है। सुना, सिफारिशों को अमल में लाने से कुछ जमींदारों की भी क्षति है, इसलिए भी आगे बढ़ने में रुकावट है। मध्यप्रान्त से पानी चलता है, जो उत्कल में आकर बाढ़ उत्पन्न करता है। रेल न थी, तब पानी सीधा समुद्र में जा गिरता था। अब रेल और नहरों के बनने के बाद उसकी पाज के कारण पानी की रुकावट मिल गई है, ऐसा इस विषय के विशेषज्ञ लोग कहते हैं। दुःखी, दरिद्र, दीन उत्कल की यह करुण कहानी किसका दिल नहीं दहला देगी! यमलोक में पहुंचने के लिए वैतरणी नदी पार करनी पड़ती है। उत्कल में भी वैतरणी नदी है, मानो यह नाम उत्कल और यमलोक का सादृश्य दिखाने के लिए ही किसी ने रखा हो। फर्क इतना ही है कि यमलोक में भूख नहीं लगती, उत्कल में लगती है।

ऐसे प्रदेश में गांधीजी क्या आये, मानों भगवान् ही आ गए। उत्कल में गोपबाबू का, मेहताबबाबू का, जीवरामभाई का अलग-अलग आश्रम है। गांधी-सेवाश्रम नाम का एक और आश्रम है। ये सभी आश्रम उड़ीसा की सेवा में रत हैं। जैसे हाथी की खोज में सभी खोज समा जाती है, वैसे ही बाढ़ों में जितनी संस्थाएं सेवा के लिए उत्कल में पहुंचती हैं, उनके बारे में उड़िया यही समझता है कि ये गांधीजी के ही आदमी हैं। अब तो गांधीजी स्वयं आ गए, इसलिए उड़िये के हर्ष का क्या ठिकाना! उड़िया समझता है, अब दुःख दूर होगा। इसलिए गांधीजी के सामने कीर्तन करता है, नाचता है, स्त्रियां उल्लूध्वनि करती हैं। दो-दो हजार आदमी साथ में चलते हैं, प्रार्थना में हजारों मनुष्य आते हैं और बड़े जतन से तांबे के टुकड़े, पैसे-अधेले-पाई लाते हैं, जो गांधीजी के चरणों में रख जाते हैं। 'भोजने यन्त्र सन्देहो धनाशा तत्र कीदृशी।' पर उड़िया भूखा है तो भी गांधीजी को देता है। बीस-बीस कोस से चलकर आनेवाले नरकंकाल का धोती की सात

गांठों में से सावधानीपूर्वक एक पैसा निकालकर गांधीजी के चरणों में रख देने का दृश्य सचमुच रुलानेवाला होता है।

वर्षा आरम्भ होते ही पैदल यात्रा में रुकावटें आने लगीं। गांवों में झोंपड़ियों की तो वैसे ही कमी रहती है और गांधीजी का दल ठहरा सौ-डेढ़ सौ आदमियों का। जबतक वर्षा न थी, तबतक तो आकाश के नीचे सो लेते थे। अब झोंपड़ियों की जरूरत पड़ने लगी और रात को कष्ट होने लगा। कीड़े-मकोड़े, कनखजूरे बुरी तरह लोगों के बिस्तरों पर चक्कर काटने लगे। एक दिन डेरे के पास ही बड़े-बड़े चार सांप भी देखने में आये। रात को ओस के मारे सबके कपड़े भीग जाते थे। लोगों के बीमार होनेकी आशंका होने लगी, किन्तु गांधीजी के वातावरण में किसी को फिक्र न थी। मुझे लगा, मैं गांधीजी से कहूं कि यदि वर्षा में यह दौरा जारी रहा तो मण्डली में बीमारी फैल जाने की आशंका है।

भद्रक से जब हम लोग बारह मील की दूरी पर एक गांव में पड़ाव डाले पड़े थे, मैंने इसकी चर्चा छेड़ी। गांधीजी को बात जंची। कहने लगे, "अच्छा, तो कल एक ही मंजिल में हम भद्रक पहुंच जायंगे।"

मेरे लिए तो एक मंजिल में बारह मील तय करना कठिन काम था। इसीलिए मैंने मोटर से जाना निश्चित किया। गांधीजीअपने दलके साथ मुझसे अढ़ाई घण्टा पूर्व चले और यद्यपि मैं मोटर से चला तो भी गांधीजी मुझसे आध घण्टे पहले ही भद्रक-आश्रम में पहुंच गए। रास्ते में लोगों से पूछने पर पता चला कि गांधीजी बड़ी तेजी से चलते जा रहे थे और उनको पकड़ने के लिए उनके साथवालों को उनके पीछे-पीछे दौड़ना पड़ रहा था। पैंसठ वर्ष की अवस्था में गांधीजी की यह शारीरिक शक्ति अवश्य चित्त प्रसन्नकरती है। इसका रहस्य उनका संयमी जीवन है। दिन-भर में क़रीब एक सेर दूध और दो छटांक शहद, उबली हुई तरकारी और कुछ आम—यह उनका सारा भोजन है। रात को आमतौर से वह दो-तीन बजे नींद से उठ जाते हैं और जब संसार सोता है तब वह जागते हुए काम करते रहते हैं। इतना शारीरिक परिश्रम इस उम्र में अवश्य ही अद्‌भुत चीज है। जब इतनी फुरती के साथ गांधीजी को बारह मील की मंजिल तय करते देखा, तो मैंने मन-ही-मन मिन्नत की कि भगवान् हमारे भले के लिए उन्हें लम्बी उम्र दे। जो लोग गांधीजी के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहते हो, वे जान लें कि इन वर्षों में गांधीजी को मैंने इतना स्वस्थ कभी नहीं देखा। देश के लिए यह सौभाग्य की बात है।

उत्कल के सेवकों के विषय में कुछ लिखना आवश्यक है। इनमें गोपबन्धु चौधरी और श्री जीवरामभाई, दो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। दोनों मानों सेवा के साक्षात् अवतार हैं। गोपबन्धु तो असल वैष्णव हैं। 'परदुःखे उपकार करे, तोये मन अभिमान न आणे रे।' वह अपने जमाने में डिपुटी कलेक्टरी कर चुके,

किन्तु सेवा के लिए सबकुछ छोड़ दिया। अभिमान तो मानों इनको छू नहीं गया। जीवरामभाई का यह हाल है कि लाखों रुपये छोड़कर सेवक बने। हम लोग जब सो जाते थे, तब यह रात को अकेले डेढ़ सौ आदमियों का पाखाना साफ करते थे।

इस यात्रा में हास्य-रस की भी कमी नहीं थी। मि० ब्यूटो एक जर्मन युवक हैं, जो यात्रा में गांधीजी के साथ घूमते थे। गांव में खाने की योंही कमी थी। मि० ब्यूटो हट्टे-कट्टे जवान और बचपन से मांस पर पले हुए। इसीलिए अधभूखे रहते थे, पर अत्यन्त प्रसन्न। एक तहमद पहनकर फिरते थे। जवान तो हैं ही, मूंछें अभी आई नहीं। गांववाले पड़ाव के चारों तरफ सैकड़ों की संख्या में सुबह से शाम तक झांकते रहते थे कि उन्हें गांधीजी का दर्शन हो जाय। इस बीच तरह-तरह की चर्चा करते थे। एक ने ब्यूटो की तरफ अंगुली उठाकर कहा कि मीरा बहन यही हैं। सबको हंसी आ गई। कोई कहता, जवाहरलाल भी साथ आया है। गांधीजी कौन-से हैं, यह भी दर्शकों के लिए पहेली थी। एक ने मीरा बहन को देखकर कहा—यही गांधीजी हैं। दूसरे ने किसी अन्य की ओर इशारा करके कहा—नहीं, गांधीजी यह हैं। तीसरे ने कहा—नहीं, गांधीजी तो महात्मा हैं। वह सबको दिखाई नहीं देते !

गांधीजी के दल के लिए ऐसी-ऐसी बातें रसायन का-सा काम देती रहती थीं। किसी ने बताया कि मीराबहन एक मर्तबा जनाने डिब्बे में यात्रा कर रही थीं। इतने में टिकट-कलक्टर टिकट देखने आया। मीराबहन का सिर तो मुड़ा हुआ है ही। टिकट-कलक्टर आया, उस समय ओढ़नी सिर पर से उतर गई थी। टिकट-कलक्टर ने समझा कि यह पुरुष है और कहने लगा—"आपको पता है, यह जनाना डिब्बा है ? मीराबहन ने तुरन्त ओढ़नी सिर पर खींची। टिकट-कलक्टर बेचारा झेंपकर चलता बना। हम लोगों ने यह कहानी सुनी तो हंसते-हंसते आंखों में आंसू आ गए।

उत्कल की यह यात्रा हंसी और रुलाई का एक अद्भुत सम्मिश्रण थी।

२२ जून, १९३८

६. गांधीजी मानव के रूप में

गांधीजी का और मेरा प्रथम सम्पर्क १९१५ के जाड़ों में हुआ। वे दक्षिण अफ्रीका से नये-नये ही आये थे और हम लोगों ने उनका एक बृहत् स्वागत करने का

आयोजन किया था। मैं उस समय केवल बाईस साल का था। गांधीजी की उस समय की शक्ल यह थी : सिर पर काठियावाड़ी साफा, एक लम्बा अंगरखा, गुजराती ढंग की धोती और पांव बिलकुल नंगे। वह तस्वीर आज भी मेरी आंखों के सामने ज्यों-की-त्यों नाचती है। हमने कई जगह उनका स्वागत किया। उनके बोलने का ढंग, भाषा और भाव बिलकुल ही अनोखे मालूम दिये। न बोलने में जोश, न कोई अतिशयोक्ति, न कोई नमक-मिर्च; सीधी-सादी भाषा !

१९१५ में जो सम्पर्क बना, वह अन्त तक चलता ही रहा और इस तरह बत्तीस साल का गांधीजी के साथ का यह अमूल्य सम्पर्क मुझ पर एक पवित्र छाप छोड़ गया है, जो मुझे सदा स्मरण रहेगा। उनका सत्य, उनका सीधापन, उनकी अहिंसा, उनका शिष्टाचार, उनकी आत्मीयता, उनकी व्यवहार-कुशलता, इन सब चीजों का मुझ पर दिन-प्रतिदिन असर पड़ता गया और धीरे-धीरे मैं उनका भक्त बन गया। जब समालोचक था तब भी मेरी उनमें श्रद्धा थी; जब भक्त बना तो श्रद्धा और भी बढ़ गई। ईश्वर की दया है कि बत्तीस साल का मेरा और एक महान् आत्मा का सम्पर्क अन्त तक निभ गया। मेरा यह सद्भाग्य है।

गांधीजी को मैंने सन्त के रूप में देखा, राजनैतिक नेता के रूप में देखा और मनुष्य के रूप में भी देखा। मेरा यह भी खयाल है कि अधिक लोग उन्हें सन्त या नेता के रूप में ही पहचानते हैं। लेकिन जिस रूप ने मुझे मोहित किया, वह तो उनका एक मनुष्य का रूप था—न नेता का, न सन्त का। उनकी मृत्यु पर अनेक लोगों ने उनकी दुःख-गाथाएं गाई हैं और उनके अद्भुत गुणों का वर्णन किया है। मैं उनके क्या गुण गाऊं ! पर वह किस तरह के मनुष्य थे, यह मैं बता सकता हूं।

मनुष्य क्या थे, वे कमाल के आदमी थे। राजनैतिक नेता की हैसियत से वह अत्यन्त व्यवहार-कुशल तो थे ही। किसी से मैत्री बना लेना, यह उनके लिए चन्द मिनटों का काम था। द्वितीय गोलमेज कान्फ्रेंस में जब वे इंग्लैंड गये थे तब उनके कट्टर दुश्मन सैम्युअल होर से मैत्री हुई तो इतनी कि अन्त तक दोनों मित्र रहे। लिनलिथगो से उनकी न निभी, पर इसमें सारा दोष लिनलिथगो का ही था; गांधीजी ने मैत्री रखने में कोई कसर न रखी थी। जिनसे गांधीजी मैत्री रखते, छोटी चीजों में वह उनके गुलाम बन जाते थे। पर जहां सिद्धांत की बात आती, वहां डटकर लड़ाई होती थी। लेकिन उसमें भी वह कटुता नहीं लाते थे। लन्दन में जितने रोज रहे, बिना सेम्युअल होर की आज्ञा के कोई वक्तव्य या व्याख्यान देना उन्होंने स्वीकार नहीं किया। लिनलिथगो से भी कई बातों में ऐसा ही सम्बन्ध था।

निर्णय करने में वह न केवल दक्ष थे, वरन् साहसी भी थे। चौरीचौरा के कांड को लेकर सत्याग्रह का स्थगित करना और हिमालय-जितनी अपनी बड़ी भूल

मान लेना, इसमें काफ़ी साहस की जरूरत थी। सत्याग्रह स्थगित करने पर वह लोगों के रोष के शिकार बने, गालियां खाईं, मित्रों को काफी निराश किया, पर अपना दृढ़ निश्चय उन्होंने नहीं छोड़ा। १९३७ में कांग्रेस ने जब गवर्नमेंट बनाना स्वीकार किया तब गांधीजी के निर्णय से ही प्रभावित होकर कांग्रेस ने ऐसा किया। गांधीजी ने जहां कदम बढ़ाया, सब पीछे चल पड़े। कांग्रेस-नायक में उस समय झिझक थी, वे शंकाशील थे। १९४२ में, जब क्रिप्स आये, तब हाल इसके विपरीत था। कांग्रेस के कुछ नेता चाहते थे कि क्रिप्स की सलाह मान ली जाय और क्रिप्स-प्रस्ताव स्वीकार किया जाय, पर गांधीजी टस-से-मस न हुए, बल्कि उन्होंने 'हिन्दुस्तान छोड़ो' की धुन छेड़ी और लड़ पड़े। इस समय भी उन्होंने निर्णय करने में काफी साहस का परिचय दिया।

मुझे याद आता है कि राजनीति में उस समय करीब-करीब सन्नाटा था। लोगों में एक तरह की थकान थी; नेताओं में प्रायः एकमत था कि जनता लड़ने के लिए उत्सुक नहीं।

बिहार से एक नेता आये। गांधीजी ने उनसे पूछा, "जनता में क्या हाल है? क्या जनता लड़ने को तैयार है?" बिहारी नेता ने कहा, "जनता में कोई तैयारी नहीं है, कोई उत्साह नहीं है।" पीछे रुककर उन्होंने कहा कि मुझे एक कथा स्मरण आती है। एक मर्तबा नारद विष्णु के पास गये। विष्णु ने नारद से पूछा, "नारद, ज्योतिष के अनुसार वर्षा का कोई ढंग दीखता है?" नारद ने पंचांग देखकर कहा कि वर्षा होने की कोई सम्भावना नहीं है। नारद ने इतना कहा तो सही, पर विष्णु के घर से बाहर निकले तो वर्षा से सुरक्षित होने के लिए अपनी कमली ओढ़ ली। विष्णु ने पूछा, "नारद, कम्बल क्यों ओढ़ते हो?" नारद ने कहा, "मैंने ज्योतिष की बात बताई है, पर आपकी इच्छा क्या है, यह तो मैं नहीं जानता। अन्त में जो आप चाहेंगे, वही होने वाला है।" इतना कहकर उन बिहारी नेता ने कहा, "बापू, जनता में तो कोई जान नहीं है, पर आप चाहेंगे तो जान भी आ ही जायगी।" यह बिहारी नेता थे सत्यनारायणबाबू। जो उन्होंने सोचा था, वही हुआ। जनता में लड़ने की कोई उत्सुकता न थी, पर बिगुल बजते ही लड़ाई ठनी तो ऐसी कि अत्यन्त भयंकर।

पर यह तो मैंने उनकी नेतागिरी और राजकौशल की बात बताई। इतने महान् होते हुए भी किस तरह छोटों की भी उन्हें चिन्ता थी, यह आत्मीयता उनकी देखने लायक थी। यही चीज उनके पास एक ऐसे रूप में थी कि जिसके कारण लोग उनके बेदाम के गुलाम बन जाते थे। उनके पास रहनेवाले को यह डर रहता था कि बापू किसी भी कारण अप्रसन्न न हों; और यह भय इसलिए नहीं था कि वे महान् व्यक्ति थे, वरन् इसलिए कि मनुष्य में जो सहृदयता और आत्मीयता होनी चाहिए, वह उनमें कूट-कूटकर भरी थी।

बहुत वर्षों की बात है। करीब बाईस साल हो गए। जाड़े का मौसम था। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। गांधीजी दिल्ली आये थे। उनकी गाड़ी सुबह चार बजे स्टेशन पर पहुंची। मैं उन्हें लेने गया। पता चला कि एक घंटे बाद ही जाने वाली गाड़ी से वह अहमदाबाद जा रहे हैं। उनके गाड़ी से उतरते ही मैंने पूछा, "एक दिन ठहरकर नहीं जा सकते ?" उन्होंने फिर पूछा, "क्यों ? मुझे जाना आवश्यक है।" मैं निराश हो गया। उन्होंने कहा, "क्यों ?" मैंने कहा, "घर में कोई बीमार है। मृत्यु-शय्या पर है। आपके दर्शन करना चाहती है।" गांधीजी ने कहा, "मैं अभी चलूंगा।" मैंने कहा, "मैं इस जाड़े में ले जाकर आपको कष्ट नहीं दे सकता।" उन दिनों मोटरें भी खुली होती थीं। जाड़ा और ऊपर से जोर की हवा, पर उनके आग्रह के बाद मैं लाचार हो गया। मैं उन्हें ले गया, दिल्ली से कोई पन्द्रह मील की दूरी पर। वहां उन्होंने रोगी से बात कर उसे सान्त्वना दे दिल्ली-कंटूनमेंट पर अपनी गाड़ी पकड़ ली। मुझे आश्चर्य हुआ कि इतना बड़ा व्यक्ति मेरी जरा-सी प्रार्थना पर सुबह के कड़ाके के जाड़े में इतना परिश्रम कर सकता है और कष्ट उठा सकता है ! पर यह उनकी आत्मीयता थी, जो लोगों को पानी-पानी कर देती थी। मृत्यु-शय्या पर सोनेवाली यह मेरी धर्म-पत्नी थी।

परचुरे शास्त्री एक साधारण ब्राह्मण थे। उन्हें कुष्ठ था। उनको गांधीजी ने अपने आश्रम में रखा सो तो रखा, पर रोजमर्रा उनकी तेल की मालिश भी स्वयं अपने हाथों करते थे। लोगों को डर था कि कहीं कुष्ठ गांधीजी को न लग जाय। पर गांधीजी को इसका कोई भय न था। उनको ऐसी चीजों से अत्यन्त सुख मिलता था।

'४२ के शुरू में मैं वर्धा गया। कुछ दिन बाद उन्होंने मुझसे कहा, "तुम्हारा स्वास्थ्य गिरा मालूम होता है। इसलिए मेरे पास सेवाग्राम आ जाओ और यहां कुछ दिन रहो। मैं तुम्हारा उपचार करना चाहता हूं।" मैंने कहा, "वर्धा ठीक है। सेवाग्राम में क्यों आपको कष्ट दूं ?" मुझे संकोच तो यह था कि सेवाग्राम में पाखाना साफ करने के लिए कोई मेहतर नहीं होता। वहां पर टट्टी की सफाई आश्रम के लोग करते हैं। जहां मुझे ठहराना निश्चित किया गया था, वहां की टट्टी महादेवभाई साफ किया करते थे। मैंने उन्हें अपना संकोच बताया कि क्यों मैं सेवाग्राम नहीं आना चाहता था। मैं स्वयं अपनी टट्टी साफ नहीं कर सकता और यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि महादेवभाई-जैसा विद्वान् और तपस्वी ब्राह्मण उस काम को करे। गांधीजी को मेरा संकोच निरा वहम लगा। पाखाना उठाना क्या कोई नीच काम है ? महादेवभाई ने भी मजाक किया, परन्तु मेरे आग्रह पर मेहतर रखना स्वीकार कर लिया गया। आगाखां महल में जब उनका उपवास चलता था तो मैं गया। बड़े बेचैन थे। बोलने की शक्ति करीब-करीब

नहीं के बराबर थी। मैंने सोचा कि कुछ राजनैनिक बातें करूंगा, पर आश्चर्य हुआ। पहुंचते ही हम सबकी कुशल-मंगल, छोटे-मोटे बच्चों के बारे में सवाल और घर-गृहस्थी की बातें। इसीमें काफी समय लगा दिया। मैं उनको रोकता जाता था कि आपमें शक्ति नहीं है, मत बोलिये; पर उनको इसकी कोई परवा नहीं थी।

इस तरह की उनकी आत्मीयता थी, जिसने हजारों को उनका दास बनाया। नेता बहुत देखे, सन्त भी बहुत देखे, मनुष्य भी देखे, पर एक ही मनुष्य में सन्त, नेता और मनुष्य के ऊंचे दर्जे की आत्मीयता मैंने और कहीं नहीं देखी। मैं अगर गांधीजी का कायल हुआ तो उनकी आत्मीयता से। यह सबक है, जो हर मनुष्य के सीखने के लायक है। यह एक मिठास है, जो कम लोगों में पाई जाती है।

गांधीजी करीब पौने पांच महीने इस मर्तबा हमारे घर में रहे। जैसा कि उनका नियम था, उनके साथ एक बड़ी बारात आती थी। नये-नये लोग आते थे और पुराने जाते थे। भीड़ बनी रहती थी। घर तो उनके ही सुपुर्द था। कितने मेहमान उनके ऐसे भी आते थे, जो मुझे पसन्द नहीं थे, जो उनके पासवालों को भी पसन्द नहीं थे। बम गिरने के बाद बहुतों ने उन्हें बेरोक-टोक भीड़ में घुस जाने से मना किया। सरदार वल्लभभाई पटेल ने उनके लिए करीब तीस मिलिटरी पुलिस और पन्द्रह-बीस खुफिया बिड़ला-भवन में तैनात कर रखे थे, जो भीड़ में इधर-उधर फिरते रहते थे; पर मैं जानता था, इस तरह से उनकी रक्षा हो ही नहीं सकती। जो लोग आते थे, उनकी झड़ती लेने का विचार पुलिस ने किया, मगर गांधीजी ने रोक दिया। हर सवाल का एक ही जवाब उनके पास था—"मेरा रक्षक तो राम है।"

उपवास के बाद उनका हाजमा बिगड़ा। मैंने कहा, "कुछ दवा लीजिये।" फिर वही उत्तर—"मेरा वैद्य राम है। मेरी दवा राम है।" कुछ अदरक, नीबू, घृतकुमारी का रस, नमक और हींग साथ मिलाकर उनको देना निश्चय किया। आग्रह के बाद साधारण खान-पान की चीज समझकर उन्होंने इसे लेना स्वीकार किया। पर वह भी कितने दिन ! अन्त में तो राम ही उन्हें अपने मन्दिर में ले गए।

उनके अन्तिम उपवास ने उनके निकटस्थ लोगों में काफी चिन्ता पैदा की। उपवास के समय मैंने काफी बहस की। मैंने कहा, "मेरा आपका बत्तीस साल का सम्पर्क है। आपके अनेक उपवासों में मैं आपके पास रहा हूं। मुझे लगता है कि आपका यह उपवास सही नहीं है।" पर गांधीजी अटल थे। यह कहना भी गलत है कि गांधीजी आसपास के लोगों से प्रभावित नहीं होते थे। बुद्धि का द्वार उनका सदा खुला रहता था। बहस करनेवाले को प्रोत्साहन देते थे, और उसमें जो सार होता, उसे ले लेते थे, चाहे वह कितने ही छोटे व्यक्ति से क्यों न मिलता हो। बार-

बार बहस करते-करते मुझे लगा कि उनके उपवास के टूटने के लिए काफी सामग्री पैदा हो गई है। मुझे बम्बई जाना था। जरूरी काम था। मैंने उनसे कहा, "मैं बम्बई जाना चाहता हूं। मुझे लगता है कि अब आपका उपवास टूटेगा; न टूटने-वाला हो हो तो न जाऊं।" मैंने यह प्रश्न जान-बूझकर टटोलने के लिए किया। उन्होंने मजाक शुरू किया। कहा, "जब तुम्हें लगता है कि उपवास का अन्त होगा तो फिर जाने में क्या रुकावट है? अवश्य जाओ, मुझसे क्या पूछना है?" मैंने कहा, "मुझे तो उपवास का अन्त आया लगता है, पर आपको लगता है या नहीं, यह कहिये।" उन्होंने मजाक जारी रखा और साफ उत्तर न देकर फंदे में फंसने से इन्कार किया। मैंने कहा, "नचिकेता यम के घर पर भूखा रहा तो यम को क्लेश हुआ; क्योंकि ब्राह्मण घर में भूखा रहे तो पाप लगता है। आप यहां उपवास करते हैं तो मुझपर पाप चढ़ता है। इसलिए अब इसका अन्त होना चाहिए।" गांधीजी ने कहा, "मैं कहां ब्राह्मण हूं!" "पर आप तो महाब्राह्मण हैं।" इसपर बड़ा मजाक रहा मैंने कहा, "अच्छा; आप यह आशीर्वाद दीजिये कि मैं शीघ्र-से-शीघ्र आपके उपवास टूटने की खबर बम्बई में सुनूं।" फिर भी उनका मजाक तो जारी ही रहा। मैंने कहा, "अच्छा, यह बताइये कि आप जिन्दा रहना चाहते हैं या नहीं?" उन्होंने कहा, "हां, यह कह सकता हूं कि मैं जिन्दा रहना चाहता हूं। बाकी तो मैं राम के हाथ में हूं।" उपवास तो समाप्त हुआ, लेकिन राम ने उन्हें छोड़ा नहीं।

एक दीपक बुझ गया, पर हमारे लिए रोशनी छोड़ गया।

☐

पिछले फ्लैप का शेष

बात में व्यक्तिगत रूप से दिलचस्पी लेते थे—ठीक वैसे ही, जैसे कोई पिता अपनी संतान के कार्यकलाप में रस लेता है। उनकी दिलचस्पी यहां तक बढ़ गई थी कि वह घनश्यामदासजी जैसे व्यक्ति को, जिन्हें डाक्टरी मशवरे का कोई अभाव न था, चिकित्सा-संबंधी नुस्खे बताते, क्योंकि उन्हें पूरा भरोसा था कि उनकी नसीहत श्रद्धापूर्वक सुनी जाकर उस पर अमल किया जायगा।

मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक गांधीजी के जीवन और उनकी विचार-धारा का अध्ययन करने वाले प्रत्येक विद्यार्थी के लिए ही नहीं, उन इतिहासकारों के लिए भी सहायक सिद्ध होगी, जो इन घटनाओं में रुचि रखते हों, जिनकी इतिश्री भारत में स्वतंत्रता-स्थापन के रूप में हुई।

—राजेन्द्र प्रसाद

सेगांव, २०-३-४३

चि० घनश्यामदास

तुमको तार एक्सप्रेस भेजा है। नकल साथ भी है। क्या कितना कब खाते हैं? भाजी में क्या? कच्ची कि उबाली हुई? पानी फेंका तो नहीं जाता? टोस्ट से बेहतर खाकरा नहीं होगा? आटा के साथ चोकर है? दूध लेते हैं तो कितना? कुछ भी हो, आधा आउन्स मक्खन टोस्ट खाकरा पर लगाकर सेलाड के साथ लेना। बदहजमी हो तो दूसरा खाना कम करो, लेकिन मक्खन रखो। गहरा श्वास अत्या-वश्यक है। एक नाक बन्द करके दूसरे नाक से श्वास खींचो। आस्ते-आस्ते बढ़कर आध घंटे तक जा सकते हैं। प्रत्येक श्वास के साथ राम नाम मिलाओ। श्वास लेने के समय चौमेर से हवा होनी चाहिए। खुले में हो तो अच्छा ही है। प्रातः-काल में लेना ही है। बाकी खाना हजम होने के बाद। कम-से-कम चार बार लेना। श्वास लेना है, निकालना है। यह क्रिया आराम से करनी चाहिए। पखाना बराबर आता है? नींद आती है? यह सब समझपूर्वक होगा तो खांसी शीघ्र ही चला जायगी।

—बापू के आशीर्वाद